'पण्णा समिक्खए धम्मं'

(प्रथम पुष्प)

उपाध्याय अमरमुनि

वीरायतन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"दाये हाथ में श्रम है, तो बाये हाथ में श्री"
जीवनसूत्र के उद्‌बोधक पूज्य गुरुदेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्ना समिक्खए धम्मं

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन—राजगृह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक :

पन्ना समिक्खए धम्मं

लेखक :

उपाध्याय अमर मुनि

पुरोवाच :

आचार्य चन्दनाश्री

अर्थ सहयोगी :

श्री प्रफुल्लचन्द्र संघवी, जलगाँव
श्री नवरत्न जैन, बम्बई

प्रकाशक :

वीरायतन – राजगृह
(नालन्दा–बिहार)
पिन : ८०३ ११६

अनावरण तिथि :
शरद पूर्णिमा: गुरुपूजा महोत्सव
७ अक्टूबर १९८७

मूल्य :

एक सौ रुपये

प्रथम आवृत्ति: २०००

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक :

श्री सरस्वती प्रेस लि०, (पश्चिम बंगाल सरकार की एक उद्योग) कलकत्ता-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

I	प्रकाशकीय	iii
II	पुरोवाचा	vii

दार्शनिक-दृष्टिकोण

१.	आत्म-चेतना : आनन्द की तलाश में	३
२.	साधना का केन्द्र-बिन्दु : अन्तर्मन	९
३.	चेतना का विराट् रूप	१७
४.	तीर्थंकर : मुक्ति-पथ का प्रस्तोता	२७
५.	अरिहंत, अरहन्त, अरुहन्त	४३
६.	तत्त्वमसि	४७
७.	आत्मा और कर्म	५३
८.	बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झात्थेव	५७
९.	अवतारवाद या उत्तारवाद	७७
१०.	जैन-दर्शन : आस्तिक-दर्शन	८१
११.	अनेकता में एकता	८५
१२.	जैन-दर्शन की समन्वय-परम्परा	८९
१३.	विश्वतोमुखी मंगल दीप : अनेकान्त	९७

धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण

१.	जीवन परिबोध का मार्ग : धर्म	१०७
२.	आध्यात्मिक त्रिपथगा : भक्ति, कर्म और ज्ञान	११३
३.	वीतरागता का पाथेय : धर्म	१२१
४.	धर्म का अन्तर्-हृदय	१२७
५.	साधना के दो आदर्श	१३३
६.	राग का ऊर्ध्वीकरण	१३९
७.	जीवन में स्व का विकास	१४७
८.	आत्म-बोध : सुख का राज-मार्ग	१५५
९.	कल्याण का ज्योतिर्मय पथ	१६१
१०.	जीवन-पथ पर कांटे किसने बोए	१६९
११.	विविध आयामों में : स्वरूप-दर्शन	१७३
१२.	योग और क्षेम	१८९
१३.	धर्म का उद्देश्य क्या है ?	१९५
१४.	आत्म-जागरण	२०५
१५.	धर्म की परख का आधार	२११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. उत्सर्ग और अपवाद : दोनों ही मार्ग २२७
१७. महाव्रतों का भंग-दर्शन २४६
१८. जीवन की अर्थवत्ता : अहिंसा में २५६
१९. अहिंसा : विश्व-शान्ति की आधार-भूमि २६७
२०. भगवत्ता : महावीर की दृष्टि में २७३
२१. अस्तेय-व्रत : आदर्श प्रामाणिकता २८५
२२. ब्रह्मचर्य : साधना का सर्वोच्च शिखर २८६
२३. अपरिग्रह : अनासक्ति-योग ३०७
२४. सर्व-धर्म समन्वय : अनाग्रह-दृष्टि ३११
२५. पन्ना समिक्खए धम्मं ३१५

सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण

१. संस्कृति और सभ्यता ३२३
२. मानव-संस्कृति में व्रतों का योगदान ३३३
३. व्यक्ति और समाज ३४१
४. अन्तर्यात्रा ३४६
५. जीने की कला : कर्म में अकर्म ३५५
६. समाज-सुधार की स्वर्णिम रेखाएँ ३६३
७. विद्यार्थी जीवन : एक नवांकुर ३७१
८. नारी : धर्म एवं संस्कृति की सजग प्रहरी ३८७
९. देश की विकट समस्या : भूख ३९५
१०. युग-युग की मांग : समानता ४०७
११. राष्ट्रिय जागरण ४१५
१२. वसुधैव कुटुम्बकम् : बूंद नहीं, सागर ४२१
१३. विश्व कल्याण का चिरंतन पथ : सेवा-पथ ४२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

धर्म, अध्यात्म एवं दर्शन का सही अर्थ है—जीव, जगत् और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को समझना और धर्म को जीवन-व्यवहार में उतारना। धर्म, सिर्फ उपासना, पूजा की ही एक पद्धति नहीं है, प्रत्युत वह आत्मा का सहज-स्वभाव है, जो जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ अनुस्यूत रहना चाहिए। उपासकदशांग सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने दस प्रमुख श्रावकों के जीवन का वर्णन किया है, उसमें यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है—उनके जीवन का कण-कण धर्म से ओत-प्रोत था। उनका सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि के समय का जीवन ही नहीं, प्रत्युत उनका आजीविका अर्थात् व्यापार, खेती-बाड़ी, घर एवं अन्य सामाजिक-राष्ट्रिय व्यवहार भी धर्ममय थे। इसका अर्थ है, उनके जीवन का हर क्षण धर्म की ज्योति से ज्योतिर्मय था।

और, यह ज्योति, ज्योतित होती है, प्रज्ञा से, ज्ञान से। इसलिए भगवान् महावीर ने प्रज्ञा को, ज्ञान को महत्त्व दिया है। जो कुछ करो, वह प्रज्ञा के, ज्ञान के, विवेक के आलोक में करो, वही धर्म है। धर्म, किसी क्रिया एवं कार्य विशेष में नहीं, वह तो प्रज्ञा—ज्ञान में है। सम्यक्-ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया में पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता। यदि क्रिया, चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो, उसके साथ ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है, तो उससे पाप-कर्म का ही बन्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ—'पन्ना समिक्खए धम्मं' में जीवन के इसी चिरन्तन सत्य को उजागर किया है। धर्म की समीक्षा किसी क्रिया-काण्ड से नहीं, प्रज्ञा से करनी चाहिए। प्रज्ञा से ही दृष्टि स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र होती है और जीवन-यात्रा का पथ प्रशस्त होता है। अतः गुरुदेव की यह दिव्य-वाणी जीवन अभ्युदय के लिए महत्त्वपूर्ण है—"कर्म करो, अनासक्त रह कर करो। उसके कर्ता होने के अहंकार से मुक्त रहो। कर्तव्य भाव से सहज रूप से, किया जाने वाला कर्म ही धर्ममय कर्म है। उसमें साधक कर्म करते हुए भी अकर्म रहता है।"

प्रस्तुत ग्रन्थ दार्शनिक, धार्मिक-आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक, तीन खण्डों में सम्पन्न हुआ है। पूज्य गुरुदेव ने समग्र जीवन-पथ पर अपने विचारों का आलोक दिया है। जीवन-व्यवहार का कोई भी क्षेत्र अस्पर्शित नहीं रहा है। अतः सर्वतोमुखी विकास के लिए यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ पर श्रीमाँ आचार्य चन्दनाश्रीजी की पुरोवाचा ग्रन्थ के महत्त्व को उजागर करती है।

इस ग्रन्थ की प्रेस कापी करने, प्रूफ संशोधन एवं मेक-अप आदि में मुनि श्री समदर्शीजी एवं महासती श्री यशाजी का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। साथ में अन्य साध्वियों ने समय-समय पर सहयोग दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरायतन परिवार के सदस्य श्री प्रफुल्लचन्द्रजी संघवी, जलगाँव एवं श्री नवरतन मलजी जैन, बम्बई का प्रस्तुत प्रकाशन में आर्थिक सहयोग उल्लेखनीय है। इसके प्रकाशन में श्री प्रफुल्ल भाई की सक्रिय प्रेरणा भी रही है।

श्रमण भगवान् महावीर की २५८६ वीं जयन्ती के पावन-प्रसंग पर प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। विश्वास है, कि इसके अध्ययन एवं चिन्तन से जीवन-पथ प्रशस्त होगा।

श्री तनसुखराज डागा
मंत्री, वीरायतन राजगृह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री अमरमुनि

णमो ते सव्वसुत्तमहीदही

—प्रफुल्लचन्द्र
—नवरत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरोवाचा

—आचार्य श्री चन्दनाश्री

पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री अमरमुनिजी प्रबुद्ध विचारक, प्रज्ञा-पुरुष, तत्त्वज्ञ, महान् दार्शनिक एवं साहित्य-शिल्पी हैं। गुरुदेव का आगम दर्शन, सिद्धान्त एवं साहित्य का अध्ययन किसी परम्परा के क्षुद्र दायरे में सीमित नहीं है। जैन आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य एवं संस्कृत टीका ग्रन्थों तथा दर्शन-शास्त्र का तो गंभीर अध्ययन किया ही है, साथ ही वेद, आरण्यक, उपनिषद, गीता एवं वैदिक-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन एवं त्रिपिटक का भी सांगोपांग अध्ययन किया है। वे भारतीय वाङ्मय के महान् अध्येता हैं और अभी ८५ वर्ष की उम्र में भी उनके अध्ययन एवं चिन्तन की धारा निरन्तर प्रवहमान है। वे भारत के एक महान् दार्शनिक हैं, विद्वान् हैं।

परन्तु, दार्शनिक से भी ऊपर गुरुदेव प्रबुद्ध विचारक हैं। विचार-चिन्तन उनका सहज स्वभाव है। विचार, दर्शन से भी महत्त्वपूर्ण है। दर्शन एक दृष्टि है, वस्तु के स्वरूप को अवलोकन करने की, और उसे जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करने की, एक विधा है। परन्तु, उस देखे गए वस्तुस्वरूप की यथार्थता, सत्यता एवं वास्तविकता का निर्णय विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा ही हो सकता है। यदि दृष्टि साफ, स्वच्छ और निर्मल नहीं है, प्रज्ञा से अनुप्राणित नहीं है, तो दर्शन-शास्त्र तर्क के जाल में उलझा भी देता है। उस भ्रम-जाल को सुलझाने की भी क्षमता दर्शन में नहीं, प्रज्ञा में है। कोई भी आगम, शास्त्र, दार्शनिक ग्रन्थ एवं सर्वश्रेष्ठ आचार-शास्त्र मानव मन की भ्रान्ति को दूर नहीं कर सकता है। एकमात्र प्रज्ञा ही, निर्मल विचार-धारा ही मानव मन को यथार्थ बोध करा सकती है। लोक-प्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य श्रमण केशीकुमार श्रावस्ती के तिन्दुक उद्यान में महाश्रमण तीर्थंकर महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम के साथ हुए संवाद में प्रत्येक प्रश्न के समाधान के पश्चात् कहते हैं—

"साहु गोयम ! पन्ना ते"

—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है।

महान् श्रमण केशीकुमार, न तो गणधर गौतम के उत्कृष्टतम आचार की बात करते हैं, न उनके शास्त्र द्वारा उपदिष्ट द्वादशांग का स्वर आलापते हैं, न दर्शन-शास्त्र का उल्लेख करते हैं। उनका एक मात्र यही स्वर मुखरित होता है—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा, तुम्हारा विशिष्ट ज्योतिर्मय ज्ञान श्रेष्ठ है, जिसने मेरे मन को धूमिल कर रहे सन्देह के बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

गणधर गौतम ने भी केशीश्रमण के प्रश्नों के समाधान में भी शास्ता एवं शास्त्रों की दुहाई नहीं दी, न आगमों के प्रमाणों को ही उद्धृत किया। गौतम ने धर्म के यथार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रज्ञा को ही महत्त्व दिया। गौतम द्वारा दिया गया वह समाधान उत्तराध्ययन के तेवीसवें अध्ययन में इस प्रकार है--

"पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं।"

--तत्त्व का निर्णय जिसमें होता है, ऐसे धर्म-तत्त्व की समीक्षा प्रज्ञा करती है।

पूज्य गुरुदेव ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ ३१६ पर लिखा है--"जब मानव-चेतना पक्ष-मुक्त होकर, इधर उधर की प्रतिबद्धताओं से अलग होकर सत्याभिलक्षी चिन्तन करती है, तो उसे अवश्य ही धर्म-तत्त्व की सही दृष्टि प्राप्त होती है। पातञ्जल योगदर्शन में इसे ऋतंभरा-प्रज्ञा कहा है। ऋत् अर्थात् सत्य को वहन करनेवाली प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान चेतना।

माना कि साधारण मानव की प्रज्ञा की भी एक सीमा है। वह असीम और अनन्त नहीं है। फिर भी उसके बिना यथार्थ सत्य के निर्णय का अन्य कोई आधार भी तो नहीं है। अन्य जितने आधार हैं, वे तो सूने जंगल में भटकाने जैसे हैं और परस्पर टकराने-वाले हैं। अतः जहाँ तक हो सके, अपनी प्रज्ञा के बल पर ही निर्णय को आधारित रखना चाहिए। अन्तिम प्रकाश उसी से मिलेगा।"

वस्तुतः सत्य को देखने-परखने का एक मात्र आधार प्रज्ञा ही है। आगमों का आधार लेकर निर्णय करेंगे, तब भी प्रमुखता तो प्रज्ञा की ही रहेगी। आगमों में उल्लिखित शब्द तो जड़ हैं। प्रज्ञा ही उनमें निहित अर्थ को प्रकाशित करती है। इसलिए सत्य को समझने एवं सम्यक् रूप से साधना-पथ को अपनाने के लिए प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान-चेतना ही मुख्य आधार है। महाश्रमण तीर्थंकर महावीर की दिव्य देशना में स्पष्ट रूप से कहा गया है--"बिना ज्ञान के, बिना प्रज्ञा के चारित्र के गुण नहीं होते।"--

"नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा"

--उत्तरा. २८।३०

चारित्र क्या है? मोह-क्षोभ से, राग-द्वेष से मुक्त होकर समभाव में रमण करना। प्रवृत्ति मात्र से निवृत्त होना चारित्र का एकान्त स्वरूप नहीं है। प्रवृत्ति शरीर का, देह का अर्थात् मन, वचन, काय योग का धर्म है। वह तो रहेगी ही। उससे इन्कार किया नहीं जा सकता। अतः निवृत्त होना है साधक को, राग-द्वेष से, मोह-क्षोभ के विकल्पों से, न कि बाह्य प्रवृत्ति से। देह से होनेवाली प्रवृत्ति पाप नहीं है, पाप है उस प्रवृत्ति में संलग्न राग-द्वेषात्मक विकल्प। इसलिए देह में रहते हुए, देह की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हुए भी देहातीत रहना, उनमें लिप्त नहीं होना ही साधना है, चारित्र है और यह अवस्था प्रज्ञा से प्राप्त होती है।

इसलिए पूज्य गुरुदेव का दिव्य आघोष है, कि कर्म करो, परन्तु उसमें लिप्त मत होओ। कर्म के प्रति आसक्ति एवं कर्म करने का अहंकार अर्थात् मैं ही सब-कुछ करता हूँ--बन्धन है। और अनासक्त भाव से, सहज कर्तव्य बुद्धि से किया जानेवाला कर्म धर्म है। इस स्थिति में कर्म करते हुए भी साधक अकर्म अवस्था में रहता है। यह प्रवृत्ति भी निवृत्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाश्रमण भगवान महावीर ने भी अध्यात्म-साधना का, सामायिक की साधना का फल प्रवृत्ति का निरोध नहीं, राग-द्वेषात्मक पापकारी सावद्य प्रवृत्तियों का निरोध बताया है। वस्तुतः सामायिक समभाव की साधना है। ज्ञानपूर्वक समभाव में रमण करना ही सामायिक है। उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ है—

"सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयई ॥"

—उत्तरा. २९।९

यथार्थ में साधना बाह्य क्रिया-काण्ड की नहीं, वीतराग-भाव की है। क्रिया-काण्ड भले ही वह किसी भी परम्परा का हो और कितना ही कठोर एवं उत्कृष्ट क्यों न हो, बन्ध का हेतु आश्रव है, भले ही वह शुभ-आश्रव हो सकता है। वास्तव में वीतराग-भाव की साधना ही क्षायिक साधना है, इसीसे स्नेह (राग) के, तृष्णा के, द्वेष के बन्धन कट जाते हैं—

"वीयरागयाएणं नेहाणुबंधणाणि, तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ।

—उत्तरा. २९।४६

अतः धर्म केवल परम्परागत चले आ रहे बाह्य आचार के विधि-निषेधों एवं क्रिया-काण्डों में नहीं है। धर्म है—विवेक में, प्रज्ञा में। इसलिए युग के बदलते परिवेश में प्रज्ञा के द्वारा धर्म-साधनों की समीक्षा करनी चाहिए। देश-काल के अनुसार जो परम्पराएँ अनुपयोगी हो गई हैं, जो रूढियाँ निष्प्राण हो गई हैं, बिना सोचे-समझें, ज्ञानपूर्वक उनकी समीक्षा किए बिना उनके शव के बोझ को ढोते रहना, न स्वयं अपने लिए हितप्रद है और न समाज के लिए ही। उसमें से छल-कपट, राग-द्वेष, दम्भ-अहंकार आदि विकारों की 'सड़ांध' ही पैदा होगी। अतः आगम की भाषा में प्रज्ञा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का यथार्थ बोध करके धर्म-साधनों में युग के अनुसार परिवर्तन करना अपेक्षित है। युग-चेतना का तिरस्कार करके एवं प्रज्ञा (ज्ञान) की आँख को बन्द करके चलने वाला कोई भी साधक एवं कोई भी समाज अभ्युदय के पथ पर बढ़ नहीं सकता।

श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव का चिन्तन सागर से भी अधिक गंभीर है, तो उनकी प्रज्ञा-ज्योति एवं उनके विचार हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से भी अधिक ऊंचाई को स्पर्श कर रहे हैं। वह भी सिर्फ किसी एक सीमित क्षेत्र में नहीं, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों को उनकी प्रज्ञा आलोकित कर रही है।

श्रद्धेय गुरुदेव एक ओर अध्यात्म-साधक हैं, अनुत्तर ध्यान-योगी हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, तो दूसरी ओर अध्यात्म एवं तत्त्व-ज्ञान को एक युगीन स्वरूप प्रदान करने वाले, महान् विवेचक एवं सम्यक् दिशा-निर्देशक भी हैं। उनका चिन्तन तथाकथित निष्क्रिय धर्म एवं अध्यात्म के क्षुद्र दायरे में आबद्ध नहीं है। वह तो जीवन के कण-कण में परिव्याप्त है। श्रद्धेय गुरुदेव का स्पष्ट संदेश है कि धर्म किसी स्थान, किसी काल, किसी वेश-भूषा या किसी क्रिया-काण्ड विशेष में ही नहीं है, वह अक्षुण्ण एवं अखण्ड दिव्य ज्योति है, जो जीवन के हर व्यवहार में झलकती रहनी चाहिए। उसे जीवन की धारा से अलग करना धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से विमुख होना है। इसलिए गुरुदेव का चिन्तन सामाजिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में गतिशील रहा है। उन्होंने धर्म एवं अध्यात्म को जीवन-व्यवहार में साकार रूप दिया है। इसलिए बाह्य दिखावे के लिए किए जानेवाले प्राणहीन क्रिया-काण्ड, दम्भ-पाखण्ड, अन्ध-विश्वास के विरोध में उनका क्रान्तिकारी तेजस्वी स्वर सदा मुखर रहा है और आज भी मुखर है। वे पूर्णतः कष्टसहिष्णु है, मान-अपमान से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। वे आलोचना-प्रत्यालोचना सब-कुछ सह सकते हैं, लेकिन दम्भ, पाखण्ड एवं असत्य को नहीं सह सकते। वस्तुतः उनका जीवन प्रारम्भ से ही सत्य के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित रहा है। इसलिए उनका जीवन उनके ही स्वर में मुखरित है—

"कोई कुछ भी कहे-सुने या—
करे, मुझे क्या लेना-देना।
जो अपने में रम जाता है,
उसको दुनिया से क्या लेना?

वैर-भावना नहीं किसी से,
इक सत्य से प्यार मुझे है।
अस्तु दम्भ पर चोटें करना,
जन्म-सिद्ध अधिकार मुझे है।"

इसलिए गुरुदेव ने जीवन में धर्म के बाह्य रूप को—जो युग के अनुसार बदलता रहता है, महत्त्व न देकर प्रज्ञा को, ज्ञान को, विवेक एवं विचार को महत्त्व दिया है, जिसके आलोक में धर्म के सम्यक् स्वरूप को समझा जा सके और उसे जीवन में क्रियान्वित करके मोह-क्षोभ से मुक्त हुआ जा सकें। प्रस्तुत ग्रन्थ "पन्ना समिक्खए धम्मं" में प्रज्ञा-ज्योति प्रज्वलित है। गुरुदेव के सर्वतोमुखी समग्र चिन्तन का स्वरूप साकार है प्रस्तुत ग्रन्थराज में।

प्रस्तुत ग्रन्थ तीन खण्डों—दार्शनिक-दृष्टिकोण, धार्मिक एवं आध्यात्मिक-दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक-दृष्टिकोण, में विभक्त हैं। कहना चाहिए जीवन के सभी पक्षों को इस एक ही ग्रन्थ में उजागर कर दिया है पूज्य गुरुदेव ने।

दार्शनिक-दृष्टिकोण के अन्तर्गत—आत्म-चेतना : आनन्द की तलाश में, साधना का केन्द्र-बिन्दु : अन्तर्मन, चेतना का विराट् रूप, तीर्थंकर : मुक्ति-पथ का प्रस्तोता, अरिहन्त, अरहन्त और अरुहन्त, तत्त्वमसि, आत्मा और कर्म, बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव, अवतारवाद या उतारवाद, जैन-दर्शन : आस्तिक दर्शन, अनेकता में एकता, जैन-दर्शन की समन्वय-परम्परा, विश्वतोमुखी मंगलदीप : अनेकान्त आदि दार्शनिक विषयों पर सूक्ष्मता से सर्वांगीण स्पष्ट विचार प्रस्तुत किए हैं। इन दार्शनिक विषयों पर प्रायः सभी सम्प्रदायों के विचारकों ने काफी विचार चर्चा की है। परन्तु, पूज्य गुरुदेव के विचार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने तटस्थ उदार एवं समन्वयात्मक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किए हैं। न इसमें किसी परम्परा का आग्रह है, न साम्प्रदायिक मान्यताओं का दुराग्रह है और न अपने-पराए की भेद-बुद्धि है, यही विशेषता है गुरुदेव के चिन्तन की।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण में—जीवन परिबोध का मार्ग धर्म, आध्यात्मिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिपथगा : भक्ति, कर्म और ज्ञान, वीतरागता का पाथेय : धर्म, धर्म का अन्तर्-हृदय, साधना के दो आदर्श, राग का ऊर्ध्वीकरण, जीवन में स्व का विकास, आत्म-जागरण, धर्म की परख का आधार, उत्सर्ग और अपवाद : दोनों ही मार्ग, महाव्रतों का भंग-दर्शन, अहिंसा : विश्व-शान्ति की आधारभूमि, भगवत्ता : महावीर की दृष्टि में, आदर्शप्रामाणिकता, ब्रह्मचर्य : साधना का सर्वोच्च शिखर, अपरिग्रह : अनासक्ति योग, सर्व-धर्म समन्वय : अनाग्रह दृष्टि और पन्ना समिक्खए धम्मं आदि पच्चीस लेखों में धर्म एवं अध्यात्म का सर्वांग विवेचन किया है। प्रस्तुत खण्ड में धर्म एवं अध्यात्म की समीक्षा किसी परम्परा के दायरे में नहीं, प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर की गई है। प्रस्तुत लेखों की सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है और स्वाध्यायी को सम्यक्-दिशा दर्शन देती है।

सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक-दृष्टिकोण में—संस्कृति और सभ्यता, मानव संस्कृति में व्रतों का योगदान, व्यक्ति और समाज, अन्तर्यात्रा, जीने की कला : कर्म में अकर्म, समाज-सुधार की स्वर्णिम रेखाएँ, नारी : धर्म एवं संस्कृति की सजग प्रहरी, देश की विकट समस्या : भूख, युग-युग की मांग : समानता, राष्ट्रीय-जागरण, वसुधैव कुटुम्बकम् : बूंद नहीं, सागर, प्रभृति लेखों में गुरुदेव का विशुद्ध चिन्तन स्पष्ट रूप से मुखरित है कि धर्म जीवन के विभिन्न खण्डों में विभक्त नहीं है। जीवन के हर क्षेत्र में उसकी अखण्ड धारा प्रवहमान है। धर्म-स्थान में ही धर्म होगा, जीवन के अन्य क्षेत्रों में नहीं, यह संकीर्ण मान्यता धर्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझने का परिणाम है। वस्तुतः धर्म, द्रष्टा बनकर जीवन के हर क्षेत्र में, हर परिस्थिति में सम बने रहने में है, मानसिक सन्तुलन को बनाए रखने में तथा विवेकपूर्वक कर्म करने में है। अतः गुरुदेव का स्पष्ट चिन्तन है कि सिर्फ धर्म स्थान में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, हर कर्म में धर्म की ज्योति प्रज्वलित रहनी चाहिए। धर्मपूर्वक किया गया कर्म, अकर्म है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुशीलन से यह सम्यक् रूप से परिज्ञात हो जाता है कि गुरुदेव का चिन्तन विशाल है, स्पष्ट है, और जीवन पथ पर गति-प्रगति करने के लिए ज्योति-स्तंभ है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दायित्व का गुरुतर भार, फिर भी चित्त निर्भार

आचार्य पद-महोत्सव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम खण्ड

दार्शनिक दृष्टिकोण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१

आत्म-चेतना : आनन्द की तलाश में

भारतीय दर्शन और तत्त्व-चिन्तन ने एक बात मानी है, कि इस विराट् विश्व का अस्तित्व दो प्रमुख तत्त्वों पर निर्भर है।[१] दो तत्त्वों का मेल ही इस विश्व-स्थिति का आधार है। उनमें से एक है—शाश्वत, चिन्मय और अरूप। दूसरा है—क्षणभंगुर, अचेतन, रूपवान। प्रथम को, जीव कहा गया है और दूसरे को, जड़-पुद्गल। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये महल और यह धन-संपत्ति, सब पुद्गल का खेल हैं। ये कभी बनते हैं, कभी मिटते हैं। पुद्गल का अर्थ ही है—"पूरणात् गलनाद् इति पुद्गलः" मिलना और गलना। संघात और विघात, यही पुद्गल का लक्षण है।

यह विराट् विश्व परमाणुओं से भरा हुआ है। इनमें से भी कुछ परमाणु-पिण्डों का मिलन हुआ नहीं, कि शरीर का निर्माण हो गया। एक अवस्था एवं काल तक इसका विकास होता है और फिर बिखर जाता है। इसी प्रकार धन, ऐश्वर्य एवं मकान है। अनन्त-काल से ये तत्त्व चैतन्य के साथ मिल कर घूम रहे हैं, संसार का चक्कर लगा रहे हैं। अनन्त-अनन्त बार शरीर आदि के रूप में एक साथ मिले, नये-नये खेल किए और फिर गलने लगे, बिखर गए।

आकाश में बादलों का खेल होता है। एक समय यह अनन्त आकाश साफ है, सूर्य का प्रकाश चमक रहा है, किन्तु कुछ ही समय बाद काली-काली जल से भरी हुई घटाएँ घुमड़ती-मचलती चली आती हैं, आकाश में छा जातीं हैं और सूर्य का प्रकाश ढक जाता है। फिर कुछ समय बाद हवा का एक प्रचण्ड झोंका आता है, बादल चूर-चूर हो कर बिखर जाते हैं, आकाश स्वच्छ हो जाता है और सूर्य फिर पहले की तरह चमकने लगता है। यह पुद्गलों का रूप है। एक क्षण बिजली चमकती है, प्रकाश की लहर उठती है और दूसरे ही क्षण बुझ जाती है, समूचा दृश्य अन्धकार में डूब जाता है।

इस दृष्टादृष्ट अनन्त विश्व की सर्वात्मवादी व्याख्या सत्ता पर आधारित है। 'सत्ता' अर्थात् सामान्य, 'सामान्य' अर्थात् 'द्रव्य' अर्थात् अविनाशी मूल तत्त्व। सत्ता के दो मूल रूप हैं—जड़ और चेतन। ये दोनों ही तत्त्व विश्व के अनादि-निधन मौलिक भाग हैं। दोनों परिवर्तनशील हैं, क्रिया-धारा में प्रवहमान हैं। एक क्षण के लिए भी कोई क्रियाशून्य नहीं रह पाता। कभी स्वतन्त्र रूप से, तो कभी पारस्परिक प्रभाव-प्रतिप्रभाव से क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता ही रहता है। हम सब, जो यह परिवर्तन-चक्र देख रहे हैं, वह किसी ऐसे आधार की ओर संकेत देता है, जो परिवर्तित हो कर भी परिवर्तित नहीं होता अर्थात् अपनी मूल स्वरूप-स्थिति से कभी भी च्युत नहीं होता। और वह आधार क्या है? दर्शन का उत्तर है—'सत्ता'। सत्ता अर्थात् अनादि-अनन्त मूल तत्त्व। सत्ता का जन्म नहीं है। इसलिए उसकी आदि नहीं है। और, सत्ता का विनाश नहीं है, न स्वरूप परिवर्तन है। इसलिए उसका अन्त भी नहीं है। सत्ता, जिसके जड़ और चेतन—दो रूप हैं, अपने में एक वास्तविक शाश्वत तत्त्व है। यह न कोई आकस्मिक संयोग है और न कोई

१. जैन-दर्शन एवं वैदिक-दर्शन आदि में अनेकरूपी और अरूपी तत्त्व अर्थात् द्रव्य स्वीकृत हैं। किन्तु, यहाँ मुख्य रूप से पुद्गल और आत्म-तत्त्व की चर्चा है। मुख्य रूप से दोनों के मिलन से ही संसार है और परस्पर में दोनों की वियुक्ति—पार्थक्य होते ही आत्मा की मुक्ति है और यही परमात्म-भाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल्पनिक सत्य। यह किसी सर्वोच्च सत्ता के रूप में मान गए, ईश्वर, खुदा या गॉड की देन भी नहीं है और न ऐसी किसी तथाकथित शक्ति-विशेष से प्रशासित है। इस प्रकार उक्त अखण्ड, अविनाशी सत्ता का न कोई कर्ता है और न हर्ता है। यह अपने आप में शत-प्रतिशत पूर्ण है, स्वतन्त्र है। पूर्ण और स्वतन्त्र अर्थात् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र। इसकी अपनी नियम-बद्धता भी निश्चित है अर्थात् स्वतन्त्र है। इसके अस्तित्व में कोई हेतु नहीं है। तर्क की भाषा में कहा जाए, तो कह सकते हैं—**"सत्ता, सत्ता है, क्योंकि वह सत्ता है।"**

इस विराट् विश्व की व्यवस्था का मूल सूत्र है—'सत्ता'। इसके अनेकानेक महत्त्व-पूर्ण अंश मानव-बुद्धि के द्वारा परिज्ञात हो चुके हैं, फिर भी मानव का तर्कशील मस्तिष्क अभी तक विश्व के अनन्त रहस्यों का ठीक तरह उद्घाटन नहीं कर पाया है, न इसकी विराट्-शक्ति का कोई एक निश्चित माप ही ले सका है। विश्व की सूक्ष्मतम सीमाओं की खोज में, उसकी अज्ञात अतल गहराइयों को जानने की दिशा में मानव अनादि-काल से प्रयत्न करता आ रहा है। उसे एक सर्वथा अज्ञात रहस्य मान कर अथवा अनावश्यक प्रपंच समझ कर, वह कभी चुप नहीं बैठा है। शोध की प्रक्रिया निरन्तर चालू रही है। इसी अज्ञात को ज्ञात करने की धुन में विज्ञान के चरण निरन्तर आगे, और आगे बढ़ते रहे हैं, और वह अनेकानेक अद्भुत रहस्यों को रहस्य की सीमा में से बाहर निकाल भी लाया है। फिर भी, अभी तक निर्णयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है—"विश्व का यह अभिव्यक्त मानचित्र अन्तिम है। इसकी यह इयत्ता है, आगे और कुछ नहीं है।" सचमुच ही सर्व-साधारण जन-समाज के लिए यह विश्व एक पहेली है, जो कितनी ही बार बूझी जा कर भी अनबूझी ही रह जाती है।

चेतन और अचेतन :

साधारण मानव-बुद्धि के लिए भले विश्व आज एक पहेली हो, किन्तु भारतीय तत्त्व-दर्शन ने इस पहेली को ठीक तरह सुलझाया है। भारत का तत्त्व-दर्शन कहता है, कि विश्व की सत्ता के दो मौलिक रूप हैं—जड़ और चेतन। सत्ता का, जो चेतन भाग है, वह संवेदन-शील है, अनुभूति-स्वरूप है। किन्तु, जड़ भाग उक्त शक्ति से सर्वथा शून्य है। यही कारण है, कि चेतन की अधिकांश प्रवृत्तियाँ पूर्व-निर्धारित होती हैं। अपनी इस निर्धारण की क्रिया में, उपयोग की धारा में, चेतन स्वतन्त्र है। किन्तु, जड़ सर्वथा अचेतन है, चेतनाशून्य है। अतः जड़ की अपनी क्रिया में स्वयं जड़ का अपना कोई हेतु नहीं है। जड़ की क्रिया होती है, सतत होती है, परन्तु वह कोई हेतु एवं लक्ष्य निर्धारित करके नहीं होती।

चेतन : आनन्द की खोज में :

चेतन, अनादि-काल से आनन्द की खोज में रहा है। आनन्द ही उसका चरम लक्ष्य है, अन्तिम प्राप्तव्य है। चेतन को अपनी जीवन-यात्रा में तन और मन के चरम आनन्द मिले हैं, भौतिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं और वह इनमें उलझता भी रहा है, अटकता और भटकता भी रहा है। इन्हें ही वह अपना अन्तिम प्राप्तव्य मानकर सन्तुष्ट होता रहा है। परन्तु, यह आनन्द क्षणिक है। साथ ही दुःख-संपृक्त भी है। विष-मिश्रित मधुर मोदक जैसी स्थिति है इसकी। अतः जागृत चेतन कुछ और झांकने लगता है, शाश्वत, दुःख-मुक्त आनन्द की खोज में आगे चरण बढ़ा देता है। उक्त सच्चे और स्थायी आनन्द की खोज ने ही मोक्ष के अस्तित्व को सिद्ध किया है—परम्परागत दृष्ट जीवन से परे अनन्त, असीम, आनन्दमय जीवन का परिबोध दिया है। जड़ की स्वयं अपनी ऐसी कोई खोज नहीं है। जड़ की सक्रियता स्वयं उसके लिए सर्वतोभावेन निरुद्देश्य है, जबकि चेतन की क्रियाशीलता सोद्देश्य है। चेतन का परम उद्देश्य क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है?—इसी विश्लेषण की दिशा में मानव हजारों-हजार वर्षों से प्रयत्न कर रहा है। यह चिन्तन, यह मनन, यह प्रयत्न ही चेतन का अपना स्व-विज्ञान है, जिसे शास्त्र की भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्म-भूमिका ज्यों ही स्थिर स्थिति में पहुँचती है, साधक के अन्तर में से सहज आनन्द का अक्षय-स्रोत फूट पड़ता है।

चेतन के स्वरूप-बोध का मूलाधार :

स्थूल दृश्य पदार्थों को आसानी से समझा जा सकता है, उनकी स्थिति एवं शक्ति का आसानी से अनुमापन हो सकता है, किन्तु चेतना के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। चेतना अत्यन्त सूक्ष्म तथा गूढ़ है। दर्शन की भाषा में 'अणोरणीयान्' है। साधारण मानव-बुद्धि के पास तत्त्व-चिन्तन के, जो इन्द्रिय एवं मन आदि ऐहिक उपकरण हैं, वे बहुत ही अल्प हैं, सीमित हैं। साथ ही सत्य की मूल स्थिति के वास्तविक आकलन में अधूरे हैं, अक्षम हैं। इसके माध्यम से चेतना का स्पष्ट परिबोध नहीं हो पाता है। केवल ऊपर की सतह पर तैरते रहने वाले भला सागर की गहराई को कैसे जान सकते हैं? जो साधक अन्तर्मुख होते हैं—साधना के पथ पर एक निष्ठा से गतिमान रहते हैं—चेतना के चिन्तन तक ही नहीं, अपितु चेतना के ज्ञान-विज्ञान तक पहुँचते हैं—निजानुभूति की गहराई में उतरते हैं, वे ही चेतना के मूल-स्वरूप का दिन के उजाले की भाँति स्पष्ट परिबोध पा सकते हैं।

विश्व की क्षणभंगुरता :

भारतीय-दर्शन और भारतीय-संस्कृति में दुःख और क्लेश तथा अनित्यता और क्षणभंगुरता के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा गया है, और बहुत-कुछ कहा गया है। यही कारण है, कि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय दर्शन की उत्पत्ति अनित्यता और दुःख में से ही मानते हैं। क्या दुःख और अनित्यता भारतीय दर्शन का मूल हो सकता है? यह एक गम्भीर प्रश्न है, जिस पर भरपूर चिन्तन, मनन एवं विचार किया गया है। जीवन अनित्य है और जीवन दुःखमय है, इस चरम सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। संभवतः पाश्चात्य-जगत् के विद्वान् भी इस सत्य को ओझल नहीं कर सकते। जीवन को अनित्य, दुःखमय, क्लेशमय, क्षणभंगुर मान कर भी भारतीय दर्शन आत्मा को एक अमर और शाश्वत तत्त्व मानता है। आत्मा को अमर और शाश्वत मानने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता, कि उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। परिवर्तन तो जगत् का एक शाश्वत नियम है। चेतन और अचेतन, दोनों में ही परिवर्तन होता है। किन्तु, इतनी बात अवश्य है, कि जड़गत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र हो जाती है, जबकि चेतनगत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र नहीं हो पाती। यदि चेतन में परिवर्तन नहीं होता, तो आत्मा का दुःखी से सुखी होना, यह कैसे संभव हो सकता था? जीवन और जगत् में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, दर्शन-शास्त्र का यह एक चरम सत्य है।

भारतीय दर्शन अनित्य में से, दुःख में से जन्म लेता है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—**"अणिच्चे जीव-लोगम्मि।"** यह संसार अनित्य है और क्षणभंगुर है। क्या ठिकाना है इसका? कौन यहाँ पर अजर-अमर बनकर आया है? संसार में शाश्वत और नित्य कुछ भी नहीं है। यही बात तथागत बुद्ध ने भी कही है—**"अणिच्चा संखारा।"** यह संस्कार अनित्य है, क्षणभंगुर है। विशाल बुद्धि महर्षि व्यास ने भी कहा है—

"अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्म-संग्रहः॥"

—शरीर अनित्य है, धन-वैभव भी अनित्य है, शाश्वत नहीं है। मृत्यु सदा सिर पर मंडराती रहती है, न जाने कब मृत्यु आ कर पकड़ ले। अतः जितना हो सके, धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का यह अटल विश्वास है, कि मौत हर इन्सान के पीछे छाया की तरह चल रही है। जिस दिन जन्म लिया था, जिस दिन माँ के गर्भ में अवतरित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ था, उसी क्षण से इन्सान के पीछे मौत लग चुकी थी। न जाने, वह कब झपट ले और कब हमारे जीवन को समाप्त कर दे। जीवन का यह खिला हुआ फूल न जाने कब संसार की डाली से झड़ कर अलग हो जाए। जीवन, नदी के उस प्रवाह की तरह है, जो निरन्तर बहता ही रहता है। श्रमण भगवान् महावीर ने इस मानव-जीवन को अनित्य और क्षण-भंगुर बताते हुए कहा है—"यह जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान अस्थिर है। मरण के पवन का एक झोंका लगते ही धराशायी हो जाता है"—

"कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए।।"[1]

जिस शरीर पर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकार के रोगों से आक्रान्त है। पीड़ाओं और व्यथाओं का भण्डार है। न जाने कब और किस समय और कहाँ कौन रोग इसमें से फूट पड़े? यह सब-कुछ होने पर भी, भारतीय दर्शन और संस्कृति के उद्गाता उस दुःख का केवल रोना रो कर ही नहीं रह गए। क्षणभंगुरता और अनित्यता का उपदेश दे कर ही नहीं रह गए। केवल मनुष्य के दुःख की बात कह कर, अनित्यता की बात दुहरा कर तथा क्षणभंगुरता की बात सुना कर, निराशा के गहन गर्त में ला कर उसने जीवन को धकेल नहीं दिया, बल्कि निराश, हताश और पीड़ित जन-जीवन में आशा की सुख कर उपदेश रश्मियाँ प्रदान कर उसे प्रकाशित-प्रफुल्लित भी कर दिया। उसने कहा—"मानव, आगे बढ़ते जाओ। जीवन की क्षणभंगुरता और अनित्यता हमारे जीवन का लक्ष्य और आदर्श नहीं है।" अनित्यता एवं क्षणभंगुरता का उपदेश केवल इसलिए है, कि हम धन-वैभव में आसक्त न बनें। जब जीवन को और उसके सुख-साधनों को, अनित्य और क्षणभंगुर मान लिया जाएगा, तब उसमें आसक्ति नहीं जगेगी। आसक्ति का न होना ही भारतीय-संस्कृति की साधना का मूल लक्ष्य है, चरम उद्देश्य है।

भारतीय-संस्कृति में जीवन के दो रूप माने गए हैं—मर्त्य और अमर्त्य। इस जीवन में कुछ वह है, जो अनित्य है, क्षणभंगुर है। और, इस जीवन में वह भी है, जो अमर्त्य है, अमर है, अमृत है। जीवन का मर्त्य-भाग क्षण-प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, समाप्त होता जा रहा है। जिस प्रकार अञ्जलि में भरा जल बूंद-बूंद कर के रिसता चला जाता है, उसी प्रकार जीवन-पुञ्ज में से जीवन के क्षण निरन्तर बिखरते रहते हैं। जिस प्रकार एक फूटे घड़े से बूंद-बूंद करके पानी निकलता रहता है और कुछ काल में घड़ा खाली हो जाता है, प्राणी के जीवन की भी यही स्थिति है, यही दशा है। जीवन का मर्त्य भाग अनित्य है, क्षणभंगुर है और विनाशशील है। यह तन अनित्य है, यह मन क्षणभंगुर है, ये इन्द्रियाँ अशाश्वत हैं, धन और संपत्ति चंचल है। पुरजन और परिजन आज हैं और कल नहीं। घर की लक्ष्मी उस बिजली की रेखा के समान है, जो चमक कर क्षणभर में विलुप्त हो जाती है। आप जरा सोचिए तो, इस अन्तहीन और सीमाहीन संसार में किसकी विभूति नित्य रही है और किसका ऐश्वर्य स्थिर रहा है। रावण का परिवार कितना विराट् था। दुर्योधन का परिवार कितना विशाल था, विस्तृत था। किन्तु, उन सबको ध्वस्त होते, मिट्टी में मिलते कितनी देर लगी? जिस प्रकार जल का बुद-बुद जल में जन्म लेता है और जल में ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार धन, वैभव और ऐश्वर्य मिट्टी में से जन्म लेते हैं और अन्त में मिट्टी में ही विलीन हो जाते हैं। भारतीय-संस्कृति का वैराग्य रोने-विलखने के लिए नहीं है, बल्कि इसलिए है कि हम जीवन के मर्त्य-भाग में आसक्त न बनें, और जीवन के किसी मर्त्य रूप को पकड़ कर न बैठ जाएँ। सब-कुछ पा कर भी, सबके मध्य में रह कर भी, हम समझें कि यह हमारा अपना स्वरूप नहीं है। यह सब आया है और चला जाएगा। जो-कुछ आता है, वह जाने के लिए ही आता है, स्थिर रहने और टिकने के लिए नहीं आता है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, १०,२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय-दर्शन और संस्कृति का यह अनित्यता का, क्षणभंगुरता का उपदेश जीवन को जागृत करने के लिए है, जीवन को बन्धनों से विमुक्त करने के लिए है।

जीवन का दूसरा रूप है—अमर्त्य, अमृत और अमर। जीवन के अमर्त्य-भाग को आलोक और प्रकाश कहा जाता है। अमृत का अर्थ है—कभी न मरने वाला। अमर का तात्पर्य है—जिस पर मृत्यु का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वह क्या तत्त्व है? इसके उत्तर में भारतीय-दर्शन कहता है—इस क्षणभंगुर, अनित्य और मर्त्य-शरीर में, जो कुछ अमर्त्य है, जो कुछ अमर है, वह आत्म-तत्त्व है। यह आत्म-तत्त्व, वह तत्त्व है, जिसका न कहीं आदि है और न कहीं अन्त है। यह आत्म-तत्त्व अविनाशी है, नित्य है, शाश्वत है। न कभी इसका जन्म हुआ है और न कभी इसका मरण होगा। भारत के प्राचीन दार्शनिकों ने अपनी समग्र-शक्ति इस अविनाशी तत्त्व की व्याख्या में लगा दी थी। आत्मा क्या है? वह दर्शन है, वह ज्ञान है, वह वीतराग है, वह चिदानन्द है, वह चित्—प्रकाश है। अमृत वह होता है, जो अनन्त काल से है, और अनन्त-अनन्त काल तक रहेगा। वैदिक-परम्परा के एक ऋषि ने कहा है—**"अमृतस्य पुत्राः।"**

हम सब अमृत के पुत्र हैं। अतः हम सब अमृत हैं, हम सब नित्य हैं, हम सब शाश्वत हैं। अमृत-आत्मा का पुत्र अमृत ही हो सकता है, मृत नहीं। ईश्वर अमृत है और हम सब उसके भक्त-पुत्र हैं। जिन और सिद्ध शाश्वत हैं, इसलिए हम सब शाश्वत हैं, नित्य हैं। इस अमृत-भाग को जिसने जान लिया, समझ लिया, उस आत्मा के लिए इस संसार में कहीं पर भी न कोई रोग है, न शोक है, न क्षोभ है और न मोह है। क्षोभ और मोह की उत्पत्ति जीवन के मर्त्य-भाग में होती है, अमर्त्य भाग में नहीं। यदि किसी का प्रियजन मर जाता है, तो विलाप करता है। परन्तु, मैं पूछता हूँ, यह विलाप किसका किया जाता है? क्या आत्मा का या देह का? आत्मा के लिए विलाप करना तो बहुत बड़ा अज्ञान ही है, क्योंकि वह सदा काल के लिए शाश्वत है, फिर उसके लिए विलाप क्यों? यदि शरीर के लिए विलाप करते हैं तो यह भी एक प्रकार की मूर्खता ही है। क्योंकि शरीर तो क्षणभंगुर ही है। वह तो मिटने हेतु ही बना है। अनन्त अतीत में भी वह अनन्त बार बना है और अनन्त बार मिटा है। अनन्त आगत में भी वह अनन्त बार बन सकता है और अनन्त बार मिट सकता है। हाँ तो जिसका स्वभाव ही बनना-बिगड़ना है, फिर उसके लिए विलाप क्यों? जीवन में जो अमर्त्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जीवन में जो मर्त्य है, वह कभी टिक कर नहीं रह सकता। अतः क्षण-भंगुरता की दृष्टि से और नित्यता की दृष्टि से भी विलाप करना अज्ञान का ही द्योतक है। जो-कुछ मर्त्य-भाग है, वह किसी का भी क्यों न हो और किसी भी काल का क्यों न हो, कभी स्थिर रह नहीं सकता।

चक्रवर्ती का महान् ऐश्वर्य और तीर्थंकरों की विशाल भौतिक विभूति, देवताओं की सुख-समृद्धि तथा राजा-महाराजाओं का साम्राज्य-वैभव कभी स्थिर नहीं रहा है, फिर एक साधारण मनुष्य की साधारण धन-सम्पत्ति तो स्थिर कैसे रह सकती है? इस जीवन में परिवार आदि का जितना सम्बन्ध है, वह सब शरीर का है, आत्मा का तो सम्बन्ध होता नहीं है। इस जीवन में, जो-कुछ प्रपंच है, वह सब शरीर का है। आत्मा तो मूलतः प्रपंच-रहित होती है। प्रपंच और विकल्प तन-मन के होते हैं, आत्मा के नहीं। किन्तु, अज्ञान-वश इनको हमने अपना समझ लिया है और इसी कारण हमारा यह जीवन दुःखमय एवं क्लेशमय है। जीवन के इस दुःख और क्लेश को, क्षणभंगुरता और अनित्यता के उपदेश से दूर किया जा सकता है। क्योंकि जब तक भव के विभव में अपनत्व बुद्धि रहती है, तब तक वैभव के बन्धन से विमुक्ति कैसे मिल सकती है? पर में स्व बुद्धि को—मेरेपन की वृत्ति को तोड़ने के लिए ही अनित्यता का उपदेश दिया गया है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक चिदात्मा जान लिया तो,
शेष रहा क्या अनजाना।
साधक श्रेष्ठ वही है जिसने,
निज में निज को पहचाना ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२

साधना का केन्द्र-बिन्दु : अन्तर्मन

"मन को जीतना बड़ा कठिन है। मन पवन जैसा चंचल है।[1] वह दुष्ट घोड़े जैसा दुःसाहसिक है।[2] बस, मन के इन स्वरूप बोधक वचनों को ले कर उत्तर-काल में एकान्त दृष्टि से कहा जाने लगा—"मन जैसा अन्य कोई शत्रु नहीं है, अतः मन को मारो, मारो और इतना मारो कि मार-मार कर चकनाचूर कर दो।" परन्तु, मैं कहता हूँ कि यह तो एक तरफ की बात हुई। दूसरी ओर भी देखना चाहिए। यदि दूसरी ओर देखें, तो मन जैसा कोई अन्य मित्र नहीं है। बाहर में, जो कुछ भी दृश्य जगत् है, परिवार है, समाज है, और राष्ट्र है, व्यापार, वैभव और ऐश्वर्य है, वह सब मन से ही पैदा हुआ है। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि सृष्टि का निर्माता, यदि कोई ब्रह्मा है, तो वह मन ही है। और, वही सृष्टि का परिपालक विष्णु है और वही सृष्टि का संहर्ता महारुद्र है। तथागत बुद्ध ने ठीक ही कहा है—"सब धर्म, सब वृत्तियाँ, और सब संस्कार पहले मन में ही जन्म लेते हैं।"[3] मन सब में मुख्य है, मुख्य ही क्या, सब-कुछ यही है। अतः प्रतिकूल दिशा में गतिशील मन को अनुकूल दिशा में मोड़ लेना ही परमानन्द का द्वार पा लेना है।

मन की माया :

आचार्य शंकर, जो भारतीय चिन्तन-क्षितिज पर ज्योतिर्मय नक्षत्र की तरह आज भी चमक रहे हैं, उन्होंने कहा है—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।"** उक्त सूत्र को यदि मन के लिए कहा जाए, तो यह कहा जा सकता है—**"मनः सत्यं जगद् माया।"** मन ही सत्य है, यह जगत्, यह सृष्टि, उसी मन की माया है। इसलिए जगत् को मन की माया कह सकते हैं।

इन्सान, जब माता के उदर से जन्म ले कर इस पृथ्वी पर आया, तो उसके पास क्या था? धन था? अलंकार थे? वस्त्र-पात्र थे? मकान था? आज जो कुछ दीख रहा है उसके पास, इनमें से कुछ भी था? कुछ भी नहीं। जो था, वह केवल एक छोटा-सा शरीर। वह भी एक नंगा तन। इसके अतिरिक्त, और कुछ भी तो उसके पास नहीं था। फिर यह सब-कुछ कहाँ से आ गया? ये बड़े-बड़े भव्य भवन, ये कल-कारखाने, ये धरती-आकाश की परिक्रमा करने वाले विमान। ये सब कहाँ से आ गए? सभ्यता और संस्कृति का, जो विकास हुआ है, धर्म और दर्शन का, जो गंभीरतम चिन्तन हुआ है, अध्यात्म और विज्ञान का, जो गहनतम मनन हुआ है, वह सब कहाँ से जन्मा? मन की सृष्टि से ही तो! मनुष्य के मन ने मनन किया, चिन्तन किया और इस विशाल सृष्टि का निर्माण हो गया। इसलिए मैंने कहा—"मन ब्रह्म है। मन जैसा दूसरा कोई साथी नहीं, मित्र नहीं और परम शक्ति नहीं।"

यह ठीक है, मन शत्रु भी है, और बहुत बड़ा भयंकर शत्रु है। जब वह गलत सोचना

---

१. चंचलं ही मनः कृष्ण! ....वायोरिव सुदुष्करम्। —गीता, ६,३४
२. मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई। —उत्तराध्ययन, २३,५८
३. मनो पुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया। —धम्मपद, १,१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुरू करता है, तो सृष्टि में प्रलय मचा देता है। निरपराध मनुष्यों के रक्त की नदियाँ बहा देता है और हड्डियों के पहाड़ खड़े कर देता है।

मन ने राम को पैदा किया, तो रावण को भी। धर्म-पुत्र युधिष्ठिर को जन्म दिया, तो दुर्योधन को भी। और, एक-दो नहीं, संसार में लाखों-करोड़ों रावण, दुर्योधन, हिटलर आदि अपने ही विकृत मन से पैदा होते रहे हैं, जिनकी प्रलयंकर हुंकार से सृष्टि कांपती रही है। मानवीय रक्त से धरा नहाती रही है। फिर सोचिए, मन जैसा शत्रु कौन होगा ?

मारना या साधना :

मन की इस अपार शक्ति से, अद्भुत माया से, जब आप परिचित हैं, तो सहज ही यह प्रश्न आपके सामने आ जाता है—"इस मन का क्या करें ? इससे कैसे निपटें ?"

इस संबंध में साधना के क्षेत्र में दो विचार चलते रहे हैं—एक विचार वह है, जो मन को सदा शत्रु के रूप में ही देखता आया है, इसलिए वह मन को मारने की बात कहता है। वह कहता है—"मन हमारा सब से बड़ा शत्रु है, इसे यदि नहीं मारा, तो कुछ भी नहीं होगा।" **'मन मारा तन वश किया'**—यही उनके स्वर हैं, भजन हैं। मन को मारने के लिए उसने अनेक क्रियाएँ भी बताईं। हठयोग आया, आसन-प्राणायाम की क्रियाएँ आईं, मन को मूर्च्छित करने के अनेक कठोर-से-कठोर तरीके निकले। और, वे यहाँ तक पहुँच गये, कि मदिरा, भांग, गांजा, चरस, और धतूरा तक पी कर मन को मूर्च्छित करने के अशोभन प्रयत्न चल पड़े। हठयोगी साधकों ने कहा—"मन पारा है, पारे को मारने से जैसे रसायन बन जाता है, बस इसी तरह मन को मार लो, वह सिद्ध रसायन बन जाएगा।" इस प्रकार मन को मारने की यह एक साधना है, जो आज भी अनेक रूपों में चल रही है।

यहाँ एक बात समझ लेने की है—साधक, साधक होता है, मारक नहीं। मारक का अर्थ होता है—'हत्यारा'। और, साधक का अर्थ होता है—'साधने वाला।' साधक मारने की बात कदापि नहीं सोच सकता। उसकी दृष्टि साधना-प्रधान होती है। प्रत्येक वस्तु को वह साधने का प्रयत्न करता है। इसलिए मन को मारने की जगह, मन को साधने की बात भी आ गई। यह मन को मारने का नहीं, साध लेने का, वश में कर लेने का विचार उत्तम एवं श्रेष्ठ विचार है, सर्व श्रेयस्कर साधना है।

मन : एक बहुमूल्य उपलब्धि :

विचारकों की शिकायत है—"मन बड़ा चंचल है।" किन्तु, मैं पूछता हूँ, यह शिकायत ऐसी ही तो नहीं है—हवा क्यों चलती है ? अग्नि क्यों जलती है ? पानी क्यों बरसता है ? सूर्य क्यों तपता है ? इसके विपरीत, हवा स्थिर क्यों नहीं हो जाती ? अग्नि ठंडी क्यों नहीं बन जाती ? पानी रुक क्यों नहीं जाता ? सूर्य शीतलता क्यों नहीं देता ? दिल धड़कना—गतिशीलता, क्यों नहीं बन्द कर देता ?

इसका समाधान है, प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म होता है, स्वभाव होता है। हवा का धर्म चलना है। अग्नि का धर्म जलना है। और, मन का धर्म मनन करना है। मन है, तो मनन है। मनन है, तो मनुष्य है। मन, जब मनन करेगा, तो उसमें गतिशीलता आएगी ही। मन से शिकायत है, तो क्या आप मिट्टी-पत्थर आदि के रूप में तथा कीटादि के रूप में या एकेन्द्रिय आदि बिना मन वाले (असंज्ञी) प्राणी हो जाते, तो अच्छा रहता न ? न रहता बांस, न बजती बांसुरी। मन ही नहीं होता, तो उसमें चंचलता भी नहीं आती।

वस्तुतः बात यह है, मन कोई परेशानी और दुविधा की चीज नहीं है। यह तो, एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। महान् पुण्य से प्राप्त होनेवाली दुर्लभ निधि है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"बहुत बड़े पुण्य का जब उदय होता है, तो मन की प्राप्ति होती है।" सम्यक्-दर्शन, किसको प्राप्त होता है—संज्ञी को या असंज्ञी को ? जिसके पास मन नहीं है, क्या वह सम्यक्-दृष्टि हो सकता है ? नहीं, नहीं। सम्यक्-दृष्टि की श्रेष्ठतम उपलब्धि मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले व्यक्ति को ही हो सकती है। यह आप मानते हैं, फिर मन आपके लिए दुविधा की वस्तु क्यों है? उसे ऐसा भूत समझते हैं कि जो जबर्दस्ती आपके पीछे लग गया है। आत्मप्रिय बन्धुओ! यह तो वह देवत्व है, जिसके लिए बड़ी-बड़ी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। फिर भी मन को मारने की बात क्यों?

मन की साधना :

एक रात की बात है। रात ज्यों-ज्यों गहरा रही थी, त्यों-त्यों नील गगन में तारे अधिक प्रभास्वर हो रहे थे, चमक रहे थे। शान्त नीरव निशा। श्रावस्ती का अनाथ-पिण्डक जेतवन आराम! तथागत बुद्ध ध्यान-चिन्तन में लीन!

सघन अंधकार को चीरता हुआ एक प्रकाश-पुञ्ज-सा द्युतिमान देवता तथागत का अभिवादन करके चरणों में खड़ा हुआ। उसकी उज्ज्वल नील-प्रभा से सारा जेतवन आलोकित हो उठा। भन्ते, आपने कहा—"मन ही सब विषयों की प्रसव-भूमि है, तृष्णा एवं क्लेश सर्व-प्रथम मन में ही उत्पन्न होते हैं, तो क्या साधक, जहाँ-जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ-वहाँ से दुःख-क्लेश भी हट जाता है? क्या सभी जगह से मन को हटा लेने पर सब दुःख छूट जाते हैं?"[1] —अन्तर की सहज जिज्ञासा से स्फूर्त देवता की वचन-भंगिमा हवा में दूर तक तैरती चली गई।

"आवुस! मन को सभी जगह से हटाने की आवश्यकता नहीं है। चित्त जहाँ-जहाँ पापमय होता है, वहाँ-वहाँ से ही उसे हटाकर अपने वश में करना चाहिए। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है।"[2] —तथागत ने मन का सही समाधान प्रस्तुत किया।

घोड़े की लाश पर सवारी :

आप कहते हैं—"मन चंचल है। इस चंचलता से नुकशान होता है, परेशानी होती है। इसलिए मन को मारना चाहिए।" और, फिर मारने के लिए नशे किए जाते हैं, मन को मूर्छित किया जाता है और उसके साथ कठोर-से-कठोर संघर्ष किया जाता है।

मैं सोचता हूँ, यह कितना गलत चिन्तन है। घोड़ा किसी के पास है और वह बहुत चंचल है, हवा से बातें करता है। सवार चढ़ा, कि बस, लुढ़क गया और लगा घोड़े को कोसने, चाबुक मारने कि बड़ा चंचल है, बदमाश है, तो मतलब यह हुआ कि आपको कंबोजी घोड़ा नहीं चाहिए, प्रजापति का घोड़ा (गधा) चाहिए, जिसे कितना ही मारो, कितना ही पीटो, किंतु वह मन्द-मन्थर गति से घिसटता चलता है, गति नहीं पकड़ता। फिर तो आपको तेज घोड़ा नहीं, ठण्डा घोड़ा चाहिए, शीतला माता का घोड़ा चाहिए। घोड़े का अर्थ ही है—चंचल। ठण्डा घोड़ा तो घोड़ा नहीं, घोड़े की लाश होगी। इसी प्रकार मन को मूर्छित करके उस पर सवार होना, मन पर नहीं, बल्कि मन की लाश पर सवार होना है।

अभिप्राय यह है कि घोड़े की शिकायत करने वाले को वास्तव में अपने आप से शिकायत होनी चाहिए कि उसे घोड़े पर चढ़ना नहीं आया। अभी वह सवार सधा नहीं है, उसे अपने को साधना चाहिए। यात्रा के लिए घोड़ा और सवार, दोनों सधे हुए होने चाहिएँ। सधा हुआ सवार सधे हुए घोड़े की तेज-गति की कभी शिकायत नहीं करता, बल्कि वह तो उसका आनन्द ही लेता है। सधा हुआ सवार हवा से बातें करते चंचल घोड़े को इशारे पर नचाता है—जहाँ मोड़ना चाहे मोड़ लेता है और जहाँ रोकना चाहे रोक लेता है। आप भी अपने आप को, अपने मन को इस प्रकार साध लें कि मन को जहाँ मोड़ना चाहें, मोड़ लें और जहाँ

---

१. यतो-यतो मनो निवारये, न दुक्खमेति ततो-ततो।
स सव्वतो मनो निवारये, स सव्वतो दुक्खा पमुच्चति॥

२. न सव्वतो मनो निवारये, न मनो संयतत्तमागतं।
यतो-यतो च पापकं, ततो-ततो मनो निवारये॥

—संयुत्त निकाय, १,१,२३-२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोकना चाहें, रोक लें। फिर तो यह मन आपके लिए परेशानी की चीज नहीं, बल्कि बड़े आनन्द की चीज होगी।

एकाग्रता या पवित्रता :

अनेक जिज्ञासु व्यक्ति मन को एकाग्र करने की बात प्रायः मुझसे पूछते हैं। मैं कहा करता हूँ—मन को एकाग्र करना बहुत बड़ी बात नहीं है। आप जिसे अहम् सवाल या मुख्य प्रश्न कहते हैं, वह मन को एकाग्र करने का नहीं, बल्कि मन की पवित्रता का है। सिनेमा देखते हैं, तो वहाँ मन बड़ा स्थिर हो जाता है। खेल-कूद, गप-शप में समय का पता ही नहीं चलता, उसमें भी मन एकाग्र हो जाता है। फिर मन को एकाग्र करना कोई बड़ी बात हो, ऐसी बात नहीं है। सवाल है, मन को पवित्र कैसे किया जाए? मन यदि पवित्र एवं शुद्ध होता है, तो उसकी चंचलता में भी आनन्द आता है।

मन को छानिए :

पानी को छानकर पीने की बात जैनधर्मने बड़े जोर से कही है। यों तो **'वस्त्र पूतं पिवेज्जलम्'**[१] का सूत्र सर्वत्र मान्य है, पर इसी के साथ **'मनः पूतं समाचरेत्'** की बात भी कही गई है। मन को छानने की प्रक्रिया भी भारतीय धर्म में बतलाई गई है। मन को छानने से मतलब है, उसमें से असद्-विचारों का कूड़ा-कचरा निकाल कर उसे पवित्र बना लेना, उसे शुद्ध और निर्मल बना लेना। इसके लिए मन को मारने की जरूरत नहीं, साधने की जरूरत है। उसे शत्रु नहीं, मित्र बनाने की जरूरत है। सधा हुआ मन, जब चिन्तन-मनन, निदिध्यासन में जुड़ जाता है, फिर तो वह अपने आप सहज ही एकाग्र हो जाता है। फिर प्रयत्न करने की जरूरत नहीं पड़ती। केवल इशारा ही काफी है, दिशा-निर्देशन ही बहुत है। उसे पवित्र बना कर किसी भी रास्ते पर दौड़ा दीजिए, आप को आनन्द-ही-आनन्द आएगा, कष्ट का नाम भी नहीं होगा।

बिखरे मन की समस्याएँ :

बहुत बार सुना करता हूँ, लोग कहते हैं—"मन उखड़ा-उखड़ा-सा हो रहा है, मन कहीं लग नहीं रहा है, किसी बात में रस नहीं आ रहा है"—इसका मतलब क्या है? कभी-कभी मन बेचैन हो जाता है, तो आप लोग इधर-उधर घूमने निकल जाते हैं—चलो, मन को बहलाएँ। मतलब इसका यह हुआ, कि मन कहीं लग नहीं रहा है, इसलिए आप को बेचैनी है, परेशानी है। इधर-उधर घूम कर कैसे भी समय बिताना चाहते हैं।

एक सज्जन हैं, जिन्हें कभी-कभी रात को नींद नहीं आती है, तो बड़े परेशान होते हैं, खाट पर पड़े-पड़े करवटें बदलते रहते हैं, कभी बैठते हैं, कभी घूमते हैं, कभी लाइट जलाते हैं, कभी अंधेरा करते हैं। यह सब परेशानी इसलिए है कि नींद नहीं आती है और नींद इसलिए नहीं आती कि मन अशान्त है, उद्विग्न है। जिस मनको शान्ति नहीं मिलती, वह ऐसे ही करवटें बदलता रहता है, इधर-उधर भटकता फिरता है। परेशान और बेचैन दिखाई देता है। ये सब बिखरे मन की समस्याएँ हैं, मन की गाँठें हैं, जिन्हें खोले बिना, सुलझाए बिना चैन नहीं पड़ सकता।

काम में रस पैदा कीजिए :

प्रश्न यह है, मन की गाँठें कैसे खोलें? मन को नींद कैसे दिलाएँ? बिखरे हुए मन को शान्ति कैसे मिले? इसके लिए एक बड़ा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है।

---

१. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्-वाचं, मनःपूतं समाचरेत्॥

—मनुस्मृति, अ.६, श्लोक ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक-परम्परा में वाचस्पति मिश्र का बहुत ऊँचा स्थान है। वेदान्त के तो वे महान् आचार्य हो गए हैं, यों सभी विषयों में उनकी लेखनी चली है, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे, उनकी कुछ मौलिक स्थापनाओं को आज भी चुनौती नहीं दी जा सकती है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे विवाह से पूर्व ही वेदान्त-दर्शन के भाष्य पर टीका लिख रहे थे। विवाह हो गया, फिर भी वे अपने लेखन में ही डूबे रहे। रात-दिन उसी धुन में लगे रहे। संध्या होते ही पत्नी आती, दीपक जला जाती और वे अपने लिखने में लगे रहते। एक बार तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ गया, अंधेरा हो गया, तो लेखनी रुकी। पत्नी आई और तेल डाल कर दीपक फिर से जलाने लगी। तब वाचस्पति ने आँखे उठा कर प्रज्वलित दीपक के प्रकाश में पत्नी की ओर देखा। देखने पर पाया कि पत्नी का यौवन ढल चुका था, काले केश सफेद होने जा रहे थे। वाचस्पति मिश्र सहसा बोल उठे—"अरे! यह क्या? मुझे तो, ध्यान ही नहीं रहा कि मेरा विवाह हो गया है और तुम तो बूढ़ी भी हो गई।"

सोचिए, यह कैसी बात है? आप कहते हैं, काम में मन नहीं लगता है। और, एक वाचस्पति मिश्र थे कि यौवन बीत गया, पर उन्हें पता भी नहीं रहा कि विवाह किया भी है या नहीं? यह बात और कुछ नहीं, कर्म में आनन्द की बात है, रस की बात है। अपने कर्म में उसे इतना आनन्द आया कि वह तल्लीन हो गया। मन में रस जगा कि वह कर्म के साथ एकाकार हो गया। फिर न कोई विकल्प, न कोई तनाव, न कोई चंचलता, और न किसी तरह की थकावट।

इंग्लैन्ड के एक डॉक्टर के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि वह जन-हित के लिए जीवन भर किसी महत्त्वपूर्ण शोध में लगा रहा। बुढ़ापे में किसी एक मित्र ने पूछा—"आपके संतान कितनी है?"

डॉक्टर ने बड़ी संजीदगी से कहा—"मित्र! तुमने भी क्या खूब याद दिलाई। मुझे तो कभी शादी करने की याद ही नहीं आई।"

ये बातें मजाक नहीं हैं, जीवन के मूलभूत सत्य हैं। जिन्हें अपने काम में आनन्द आ जाता है, उन्हें चाहे जितना भी काम हो, थकावट महसूस नहीं होती। समय बीतता जाता है, पर उन्हें पता नहीं चलता। जीवन में वे कभी उद्विग्नता, विक्षिप्तता का अनुभव नहीं करते, उनका मन विकल्पों से परेशान होकर कभी करवटें नहीं बदलता। आपको मालूम होना चाहिए कि मन में विकल्प, थकावट, बेचैनी, ऊब तभी आती है, जब कर्म में रस नहीं आता। इन विकल्पों को भगाने के लिए, और कोई साधना नहीं है, सिवा इसके कि मन को किसी अच्छे निर्धारित कर्म के रस में डुबो दिया जाए।

रस का स्रोत : श्रद्धा

जैन-आगमों में रत्न-त्रय की चर्चा आती है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। दर्शन सबसे पहला रत्न है, वह साधना की मुख्य आधार-भूमि है। दर्शन का अर्थ है—श्रद्धा-निष्ठा। श्रद्धा मन को रस देती है, साधना में आनन्द जगाती है। आप कुछ भी कर रहे हैं, उस कर्म में आप की श्रद्धा है, तो उसमें आप को अवश्य रस मिलेगा, अवश्य आनन्द आएगा। कर्म करते हुए आपका मन मुरझाया हुआ नहीं रहेगा, प्रफुल्लित हो उठेगा। क्योंकि श्रद्धा रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है।

अतः मेरे दृष्टिकोण से कर्म से पहले, कर्म के प्रति श्रद्धा जगनी चाहिए। यदि मैं आपसे पूछूं—"अहिंसा पहले होनी चाहिए या अहिंसा के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए? सत्य पहले हो या सत्य के प्रति श्रद्धा पहले हो? तो आप क्या उत्तर देंगे?" बात अचकचाने की नहीं है और हमारे लिए तो बिल्कुल नहीं, चूंकि यहाँ तो पहला पाठ श्रद्धा का ही पढ़ाया जाता है। स्पष्ट है कि अहिंसा, तभी अहिंसा है, जब उसमें श्रद्धा है। सत्य, तभी सत्य है, जब उसमें श्रद्धा-निष्ठा है। यदि श्रद्धा नहीं है, तो अहिंसा हिंसा हो जाती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि अहिंसा में श्रद्धा-निष्ठा नहीं है, तो वह अहिंसा एक पॉलिशी या कूटनीति हो सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, परन्तु वह जीवन का सिद्धान्त एवं आदर्श कभी नहीं बन सकती। श्रद्धा के बिना अहिंसा और सत्य आदि की साधना कदापि नहीं हो सकती। गांधीजी कष्ट एवं संकट के झंझावातों में, जेल के सी कष्टों में भी आनन्द अनुभव करते थे, मुस्कराते रहते थे। वह आनन्द उन्हें कहाँ से प्राप्त होता था? बाहर से या भीतर से? भीतर में जो आनन्द का अमृत सरोवर था, वह श्रद्धा ही थी। अहिंसा-सत्य की श्रद्धा थी, इसलिए वे संकट के क्षणों में भी अपनी साधना से आनन्द की अनुभूति करते थे। इसलिए मैंने आपसे कहा—"श्रद्धा हमारे जीवन में रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है।"

मित्र और भगवान् है, श्रद्धा :

आप जीवन में किसी को मित्र बनाते हैं और फिर उस मैत्री का आनन्द प्राप्त करते हैं। मित्र बनाने का अर्थ क्या है? आप मित्र कहे जानेवाले व्यक्ति में अपना विश्वास स्थिर करते हैं, उस मैत्री भाव के भीतर श्रद्धा का रस संचार करते हैं और फिर उस विश्वास-श्रद्धा का आनन्द लेते हैं, प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। पति-पत्नी क्या हैं? केवल दैहिक सम्बन्ध ही पति-पत्नी नहीं है। पति-पत्नी (दाम्पत्य जीवन) एक भाव है, एक विश्वास है, एक श्रद्धा है। पहले एक-दूसरे में विश्वास स्थापित किया जाता है, श्रद्धा का रस एक-दूसरे के हृदय में डाला जाता है, और फिर उससे आनन्द-उल्लास प्राप्त किया जाता है। गुरु और शिष्य, भक्त और भगवान् के सम्बन्ध में भी और कुछ नहीं, केवल एक भाव है। श्रद्धा है, तो गुरु है। भाव है, तो भगवान् है। **'भावे हि विद्यते देवः'**—भाव में ही भगवान् है। यदि भाव नहीं है, तो भगवान् कहीं नहीं है।

ईश्वर के लिए, ब्रह्म के लिए जब जिज्ञासा उठी—वह क्या है? तो उत्तर मिला—**"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"**[1] —वह ईश्वर रसरूप है। तभी तो मनुष्य जहाँ कहीं रस पाता है, तो उसमें निमग्न हो जाता है, आनन्द-स्वरूप हो जाता है।

मन को रस दीजिए :

मेरा अभिप्राय यह है कि कर्म में पहले रस जागृत होना चाहिए। सत्कर्म में जब रस जगता है, तो आनन्द की उपलब्धि होती है और तब भगवज्ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। फिर प्रत्येक सत्कर्म, भक्ति एवं उपासना का रूप ले लेता है, आनन्द का स्रोत बन जाता है, जिससे निरन्तर हमारा मन अक्षय आनन्द प्राप्त करता रहता है।

मन को बिना रस दिए यदि कोई चाहे कि उसे किसी कार्य में लगा दें, तो यह संभव नहीं है। मधु-मक्षिका को जब रस मिलेगा, तो वह फूलों पर आएगी, मंडराएगी। यदि रस नहीं मिलेगा, तो आप कितना ही निमन्त्रण दीजिए, वह नहीं आएगी।

मधु-मक्षिका की बात हम पहले से कहते आए हैं। पर, राजगृह के चातुर्मास (सन् १९६२) में मैंने इसे बहुत निकट से और बारीकी से देखा। हम प्रायः वैभारगिरि पर्वत पर ध्यान-साधना हेतु वेणु-वन में से हो कर जाते थे। वेणु-वन भगवान् महावीर एवं बुद्ध के युग में बांसों का एक विशाल जंगल था और अब उसे फूलों का बगीचा बना दिया गया है। हाँ, प्राचीन इतिहास की कड़ी को जोड़े रखने के लिए, अब भी उसे वेणु-वन ही कहते हैं, और नाम की सार्थकता के लिए सौ-दो सौ बाँस भी लगा रखे हैं। मैंने वहाँ देखा, मधु-मक्खियाँ पहले फूलों पर ऊपर-ऊपर उड़ती हैं, गुनगुनाती हैं, रस खोजती हैं, फिर किसी फूल पर जाकर बैठती हैं। और, जब रस मिलने लगता है, तो बिल्कुल मौन, शान्त! ऐसा लगता है कि मधु-मक्खी फूल के भीतर लीन-विलीन होती जा रही है, बिल्कुल निष्पन्द, निश्चेष्ट।

हमारा मन भी एक तरह से मधु-मक्षिका ही है। इसे सत्कर्म के फूलों में जब तक रस नहीं मिलेगा, तब तक वह उनके ऊपर-ही-ऊपर मंडराता रहेगा, गुनगुनाता रहेगा। किन्तु,

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २,७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब रस मिलेगा, तब उसकी सब गुन-गुनाहट बन्द हो जाएगी, वह सत्कर्म में लीन होता चला जाएगा, एक रस, एकात्मा बन जाएगा। समस्त विकल्प समाप्त हो जाएँगे और आनन्द का अक्षय-सागर लहरा उठेगा।

विकल्पों को एक साथ मिटाएँ :

साधक के सामने कभी-कभी एक समस्या आती है—वह विकल्पों से लड़ने का प्रयत्न करते-करते कभी-कभी उनमें और अधिक उलझ जाता है। वह एक विकल्प को मिटाने जाता है, तो दूसरे हजार विकल्प खड़े हो जाते हैं और इस तरह साधक इस संघर्ष में विजयी बनने की जगह पराजित हो जाता है। वह निराश हो जाता है और उसे साधना नीरस प्रतीत होने लगती है। मैंने प्रारम्भ में कहा है—"मन के साथ झगड़ने का तरीका गलत है। संघर्ष करके मन को कभी वश में नहीं किया जा सकता, विकल्पों का कभी अन्त नहीं किया जा सकता।" कल्पना कीजिए—खेत में धान के पौधे लहलहा रहे हैं और उन पर पक्षी आ रहे हैं, तो उन्हें एक-एक करके यदि उड़ाने का प्रयत्न हो, तो कब तक उड़ाया जा सकता है? यदि एक चिड़िया को उड़ाने गए, तो पीछे दस चिड़ियाँ आ जाएँगी। उन्हें तो किसी एक धमाके से ही उड़ाना होगा और वह भी एक साथ उड़ाना होगा।

यह मन, एक विशाल वट-वृक्ष है। इस पर काम, क्रोध, मोह, माया अहंकाररूपी विकल्पों की असंख्य-असंख्य चिड़ियाँ बैठी हैं। यदि उन्हें हम एक-एक कर उड़ाने का प्रयत्न करते रहें, तो वे कभी भी उड़ नहीं सकेंगी। उनके लिए तो बन्दूक का एक धमाका ही करना पड़ेगा कि सब एक साथ उड़ जाएँ। धमाके की बात, मन को रस में डुबो देने की बात है। यदि मन रस में डूब जाता है, तो विकल्प समाप्त हो जाते हैं और वह भी एक ही साथ।

जीवन में यदि आप दान देते हैं, सेवा करते हैं, अध्ययन करते हैं या और कुछ भी सत्कर्म करते हैं, तो उसमें आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। आनन्द तब मिलेगा, जब उसमें आपकी श्रद्धा होगी, आपके मन में उस सत्कर्म के प्रति रस होगा। जिसे आप गहरी दिलचस्पी कहते हैं, वह रस ही तो है। जब रस उमड़ पड़ेगा, तो न विकल्पों का डर रहेगा, न मन की चंचलता की शिकायत रहेगी। तन अपने आप सत्कर्म में लग जाएगा और उसके आनन्द में विभोर हो उठेगा। फिर न किसी प्रेरणा की अपेक्षा रहेगी, न उपदेश की। बस, अपने आप सब अपेक्षाएँ पूर्ण होती जाएँगी। और, आप जीवन में अपार आनन्द एवं शान्ति का अनुभव करने लगेंगे। कहा भी है—"यह जाना गया कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।"[१]

★

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्तीति। —तैत्तिरीय उपनिषद्, ३,६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबतक मलिन चेतना तबतक,
यह संसारी आत्मा है।
शुद्ध चेतना के होते ही,
आत्मा ही परमात्मा है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३

चेतना का विराट् रूप

हमारे समग्र जीवन-चक्र का केन्द्र आत्मा है। यही सृष्टि का सम्राट् और शासक है। इसी सम्राट् की आज्ञा से शरीर और इन्द्रियाँ दास-दासियों की तरह काम करते हैं। मन भी, उसीकी आज्ञा एवं अनुशासन में रहता है। जो मन, शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार चलाता है, वह भी अन्ततः आत्मा के शासन में ही चलता है। मन, आत्मा की आज्ञा के विपरीत कुछ भी नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है, कि आत्मा आज्ञा देते समय होश में रहता है, या नहीं। आत्मा के शासन करने का तरीका जब गलत होता है और अधिकार के साथ विवेक नहीं रहता है, तब मन गलत रास्ते पर चल पड़ता है। जब आत्मा स्वयं ठोकर खाते एवं भटकते हुए, मन को आज्ञा देता है, तो मन के विकल्पों एवं क्रियाओं के लिए वह स्वयं ही उत्तर-दायी होता है। शरीर और इन्द्रियाँ, तो मन के दास हैं, इसलिए वे भी स्वयं किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। यह सब उत्तरदायित्व का भार अन्ततः आत्मा पर आ जाता है। अतः मन, शरीर, इन्द्रियों के प्रत्येक कार्य का दायित्व उनका अपना नहीं, आत्मा का है। क्योंकि इन पर आत्मा के सिवा और किसी का भी नियन्त्रण नहीं है।

मैंने आपसे प्रारम्भ में बताया है—मन, इन्द्रिय, शरीर आदि के द्वारा सकषाय आत्मा कर्मों का कर्ता है, इसलिए वही भोक्ता भी है। जब कर्म करने के आन्तरिक कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेष समाप्त हो जाएँगे, तब व्यक्ति कर्म करते हुए भी अकर्म-दशा को प्राप्त कर लेगा। उस अवस्था में जितना भी पुराना भोग है, वही शेष रह जाएगा। वह भोग समाप्त होते ही आत्मा परमात्म-स्वरूप मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाएगा।

जैन-दर्शन, भोग के एवं भोग्य पदार्थों के त्याग से भी अधिक भोगासक्ति के त्याग पर बल देता है। जब तक जीवन की धारा प्रवहमान है, तब तक बाह्य भोग के त्याग की एक सीमा होती है। शरीर है, तो समय पर भोजन-पानी भी चाहिए, वस्त्र-पात्र एवं निवास भी चाहिए। त्यागी-से-त्यागी भी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से हमेशा के लिए बचकर नहीं चल सकता। सर्व-साधारण जनता को भ्रान्ति में रखने के लिए भोगोपभोग से अपने को सर्वथा मुक्त बताते रहना, अलग बात है, किन्तु जीवन की यथार्थ स्थिति कुछ और ही है। जैन-परिभाषा के अनुसार भोजन, पानी, वस्त्र-पात्र एवं निवास आदि सब भोगोपभोग की सीमा में आते हैं। अतः जैन-दर्शन ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय दिया है—जीवन में उसी भोगोपभोग का त्याग आवश्यक है, जो मर्यादाहीन, अनैतिक, दूषित एवं अनावश्यक हो। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का विश्लेषण करना आवश्यक है और जो मर्यादा-प्रधान, नैतिक, निर्मल एवं आवश्यक भोगोपभोग हों, उनका भी अनासक्त भाव से उपयोग होना चाहिए। नीति-मूलक बाह्य भोग भी अन्तरंग में अनासक्त दृष्टि रहने से एक प्रकार का अभोग ही अर्थात् त्याग ही बन जाता है। यही भोग और त्याग का निष्कर्ष है। मूलतः राग-द्वेष की तीव्रता कम करने एवं क्षय करने का ही जैन-धर्म का उपदेश है। और, यही वह मार्ग है, जिस पर चल कर साधक भोग से अभोग की ओर, कर्म से अकर्म की ओर अग्रसर हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा मूलतः शुद्ध है :

भारतीय-दर्शन का एक शाश्वत विचार चला आ रहा है—"मूलतः आत्मा, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और निर्विकार है। वही ईश्वर या परमात्मा है। उसे कहीं भी विकारी, पापी या दोषों से लिप्त नहीं कहा गया है।" प्रश्न होता है—"जब आत्मा एकदम निर्मल स्वरूप है, तो फिर काम, क्रोध, लोभ, मात्सर्य, अहंकार आदि दुर्गुणों के कीड़े कहाँ से आ गए?"

ये सब वैभाविक परिणतियाँ हैं। शुद्ध आत्म-स्वरूप की दृष्टि से आत्मा इनसे परे है। जैन-दर्शन के महान् आचार्य नेमिचन्द्र ने 'द्रव्य-संग्रह' में कहा है—

"मग्गण-गुणठाणेहि, चउदसहि तह हवन्ति असुद्धनया।
विन्नेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धनया॥"

जब-जब जीवों के भेदों की गिनती करता हूँ, एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय आदि तथा मन वाले और बिना मन वाले—इन भेदों की ओर जब जाता हूँ, तो तीर्थंकर तक भी अशुद्ध ही प्रतीत होते हैं। जहाँ पर मोक्ष में केवल पल भर की ही देरी हो, वहाँ की स्थिति में भी अशुद्धि ही दृष्टि गोचर होती है। गुणठाणों की दृष्टि वहाँ भी चलती है और एक से चौदह गुणस्थान तक अर्थात् मोक्ष से पूर्व तक की स्थिति अशुद्ध ही प्रतीत होती है। वहाँ तक सभी संसारी जीव हैं। और, जो संसारी हैं, वे सब बद्ध हैं। और, बद्धता का अर्थ है—कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क। जब तक कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, तब तक आत्मा पूर्ण मुक्त नहीं, पूर्ण शुद्ध नहीं। और, इस दृष्टि से भी यह यथार्थ प्रतीत होता है कि यदि अशुद्धता नहीं, तो गुणस्थान कहाँ टिकेंगे। गुणस्थानों का श्रेणी-विभाजन आत्मा की क्रमिक विशुद्धि के आधार पर ही किया गया है। यदि चौदहवें गुणस्थान को छोड़ने से पहले पूर्ण शुद्धि हो गई, तो फिर गुणस्थान की कोई सीमा नहीं रही। अतः चौदहवें गुणस्थान वालों को भी मुक्त होना बाकी रहता है। इस प्रकार अशुद्धनय से, यानि संसार के प्रपंचों, भाव-विभावों, भाव-मन के उछल-कूद के आधार पर देखें, तो कहीं दर्शन मोह, कहीं चारित्र मोह, कहीं ज्ञानावरण, कहीं दर्शनावरण आदि का खेल देखने को मिलेगा और उससे भी परे वीतराग-सर्वज्ञ अवस्था में भी वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म का।

इसी उपर्युक्त स्थिति को यदि हम शुद्ध-नय की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें, तो सभी विकल्पों, विभावों और प्रपंचों से परे हमें शुद्ध-निर्मल आत्मा के दर्शन होंगे। एकेन्द्रिय निगोद से लेकर पञ्चेन्द्रिय आदि समस्त चेतना-जगत् में शुद्ध आत्म-तत्त्व की अमर ज्योति स्थित है; पापी, दुराचारी और परमाधार्मिक तथा नरक की अग्नि में जलने वाले नैरयिकों में भी आत्मा का शुद्ध रूप परिलक्षित होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—"प्रत्येक प्राणी में आत्मा की अनन्त शक्ति एवं अमित उज्ज्वलता छिपी है।" इसलिए उन्होंने कहा—"इस मूलदृष्टि से सब आत्माएँ एक समान हैं, स्वरूप की दृष्टि से सब एक हैं—

"एगे आया" —स्थानांग सूत्र, प्रथम स्थान

—संग्रह-नय तथा मूल-स्वरूप की भाषा में 'आत्मा, एक है।'

इसी दृष्टि से मन्त्र-द्रष्टा वैदिक ऋषियों ने यह उद्घोष किया—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"

—'सत्' आत्मा एक ही है। शुद्धि, शान्ति, सामर्थ्य आदि गुण की अपेक्षा से संसार की कोई आत्मा एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। यह आत्मा का शुद्ध रूप देखने का दृष्टिकोण है।

यही प्रश्न सन्त तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' की आदि में मंगलाचरण में ही उठाया है—"नमस्कार किसको करें? ब्रह्मा, विष्णु, महेश और विभिन्न सम्प्रदायों के अनेकानेक देवताओं में से किसको चुनें और किसको छोड़ें? और, जब बाहर से हटकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरात्मा की शुद्धता की ओर दृष्टि गई, तो प्रत्येक प्राणी में एक ही विराट् शुद्धता उन्हें तुरन्त दिखलाई पड़ी और तत्काल ही अपने प्रश्न का उत्तर उन्होंने स्वयं दे दिया—

"'सिया-राममय' सब जग जानी।
करहुं प्रणाम जोरि जुग-पानी।।"

इस चौपाई में एक विराट् सत्य का उद्घाटन उन्होंने कर दिया है। उन्होंने सर्वत्र और सभी आत्माओं में सीता-राम का दर्शन किया। राम और सीता की पवित्र आत्मा से भिन्न उन्हें कोई भी दुष्ट आत्मा दिखलाई नहीं पड़ी, कहीं भी उन्होंने रावण या कुंभकरण का दर्शन नहीं किया। उन्हें हर आत्मा, राम और सीता के उज्ज्वल रूप में जगमगाती परिलक्षित हुई।

जैनों के द्वारा जब नमस्कार करने का प्रश्न उठा, तो विचार किया गया। किसी एक ही विशिष्ट तीर्थंकर, परमात्मा या भगवान् पर जा कर बुद्धि नहीं रुकी। उन्होंने कहा—**'णमो अरहंताणं'**—इसी एक पद में सभी भूत, भविष्य एवं वर्तमान अरहंतों को नमस्कार हो गया। नहीं तो, कितने अरहंतों के अलग-अलग नाम गिनाते या किसको नमस्कार करते, किसको छोड़ते? किसका नाम पहले लेते और किसका पीछे? इस प्रकार अनेक विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हो जाते, जिनमें नमस्कार का भाव ही तिरोहित हो जाता। इसी प्रकार इसके आगे— **'णमो सिद्धाणं'** भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सभी सिद्धों को, **'णमो आयरियाणं'** में सभी आचार्यों को, **'णमो उवज्झायाणं'** में सभी उपाध्यायों को और **'णमो लोए सव्व साहूणं'** में लोक में स्थित समस्त साधुओं को नमस्कार कर लिया गया। इसमें यह भेद नहीं किया गया, कि जैन-धर्म या किसी विशेष सम्प्रदायों के ही आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार हो, बल्कि इस नमस्कार में सभी सम्प्रदायों और पंथों के आत्म-निष्ठ, शुद्ध, सदाचारी आचार्य, उपाध्याय और साधु सम्मिलित हो गए। कुछ लोग, इसे जैन अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं तक ही सीमित कर लेते हैं, किन्तु यह तो विचारों को सही एवं सम्यक् रूप में नहीं समझने के कारण है। वास्तव में जैनत्व, तो अन्दर की ज्योति है, जो किसी बाड़े, वेष, पंथ, ग्रन्थ या सम्प्रदाय में बन्द नहीं है। जो धर्म किसी बाड़े, वेष, पंथ-मान्यता और क्रिया-काण्डों में बन्द हो जाता है, वह धर्म जड़ और निस्तेज हो जाता है। धर्म का प्रकाश आत्मा में होता है, वेष में नहीं। वेष की भूल-भुलैय्या में हम धर्म के शुद्ध स्वरूप को यदि नहीं पहचान पाते, तो यह ठीक नहीं है।

आत्मा : ज्ञान-स्वरूप है :

भारतीय-दर्शन में एक मात्र चार्वाक को छोड़ कर, शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यद्यपि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति सबकी भिन्न-भिन्न है, पर इसमें जरा भी शंका नहीं है, कि वे सब समवेत स्वर में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय-दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में सब से अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है, कि ज्ञान आत्मा का निज गुण है या आगन्तुक गुण है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण तो स्वीकार करते हैं, पर उनके वहाँ वह आत्मा का स्वाभाविक गुण न हो कर, आगन्तुक गुण है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार तो, जब तक आत्मा की संसारी अवस्था है, तब तक ज्ञान आत्मा में रहता है, परन्तु मुक्त अवस्था में ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कुछ दर्शनों की यह भी मान्यता है कि संसारी आत्मा का ज्ञान अनित्य है, पर ईश्वर का ज्ञान नित्य है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त-दर्शन ज्ञान-चेतना को आत्मा का निज स्वरूप स्वीकार करते हैं। वेदान्त-दर्शन में इस दृष्टि से ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। एक शिष्य अपने गुरु से पूछता है—

"गुरुदेव! किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके उत्तर में गुरु कहता है--"यदात्मको भगवान्।"
शिष्य पुनः पूछता है--"किमात्मको भगवान् ?"
गुरु समाधान करता है--"ज्ञानात्मको भगवान्।"

वेदान्त-दर्शन के इन प्रश्नों से स्पष्ट हो जाता है--वेदान्त आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानता है। वेदान्त के अनुसार, ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप ही है।

जैन-दर्शन में आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म, गंभीर और व्यापक विचार किया गया है। आत्मा जैन-दर्शन का मूल केन्द्र-बिन्दु रहा है। जैन-दर्शन में अभिव्यक्त नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, षड् द्रव्य और पञ्च अस्तिकाय में चैतन्य आत्मा ही मुख्य है। आगम-युग से ले कर आज के तर्क-युग तक जैनाचार्यों ने आत्मा का विश्लेषण प्रधान रूप से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म-ग्रन्थ तो प्रधानतया आत्म-स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं। तर्क-युग के जैनाचार्य भी, तर्कों के विकट वन में रहते हुए भी आत्मा को भूले नहीं हैं। यदि जैन-दर्शन में से आत्मा के वर्णन को निकाल दिया जाए, तो जैन-दर्शन में अन्य कुछ भी शेष नहीं बचेगा। इस प्रकार जैन-दर्शन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आत्म-स्वरूप के प्रतिपादन में लगा दी है। अतः जैन-दर्शन और जैन-संस्कृति का प्रधान सिद्धान्त है--आत्म स्वरूप का प्रतिपादन और आत्म-स्वरूप का विवेचन।

आत्म-तत्त्व, ज्ञान-स्वरूप है। कुछ आचार्यों ने कहा है, कि आत्मा ज्ञानवान है। इसका अर्थ यह रहा कि, आत्मा अलग है और ज्ञान अलग है। अतः आत्मा ज्ञान-स्वरूप नहीं, ज्ञानवान है। इस कथन में द्वैतभाव की प्रतीति स्पष्ट है। जिस प्रकार आप कहते हैं कि यह व्यक्ति धनवान अर्थात् धनवाला है, तो इसका अर्थ यह हुआ--व्यक्ति अलग है और धन अलग है। वह व्यक्ति धन को पाने से धनवाला हो गया और जब उसके पास धन नहीं रहेगा, तो धनवाला भी नहीं रहेगा। इस कथन में द्वैत-दृष्टि स्पष्ट रूप से झलकती है। जैन-दर्शन की भाषा में इस द्वैत-दृष्टि को व्यवहार नय कहा जाता है। निश्चय नय की भाषा में आत्मा ज्ञानवान है, ऐसा नहीं कहा जाता है, वहाँ तो यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है, आत्मा ज्ञाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि--ज्ञान ही आत्मा है। जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा है और जो कुछ आत्मा है, वह ज्ञान ही है। यह शुद्ध निश्चय नय का कथन है। शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा को ज्ञानवान नहीं कहा जाता, बल्कि ज्ञान-स्वरूप ही कहा जाता है। भगवान् महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है, कि **"जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।"** इसका अभिप्राय यह है, कि जो आत्मा है वही विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान के बिना उसकी कोई स्थिति नहीं है। जैन-दर्शन के महान् दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है--**'आत्मा ज्ञानं, स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?"** आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करती है। आत्मा और ज्ञान दो नहीं, एक ही है। जब आत्मा ज्ञान को ही करती है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करती, तब इसका अर्थ यह होता है कि एक ज्ञान-गुण में ही आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश कर लिया गया है।

जब आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, तब आत्मा को निर्मल करने का अर्थ है, ज्ञान को निर्मल करना और ज्ञान को निर्मल करने का अर्थ है, आत्मा को निर्मल करना। शास्त्रों में इसलिए कहा गया है कि मानव ! तू अपने ज्ञान को निर्मल बना, अपने ज्ञान को स्वच्छ बना और जब तेरा ज्ञान निर्मल और स्वच्छ हो जाता है, तब तेरे अन्य समस्त गुण स्वतः ही निर्मल और स्वच्छ हो जाते हैं। ज्ञान को निर्मल बनाने का अर्थ क्या है ? संसार में अनन्त पदार्थ हैं, संसार के उन पदार्थों में चेतन पदार्थ भी हैं और जड़ पदार्थ भी हैं। उन पदार्थों को जैसे तैसे जानना मात्र ही ज्ञान का काम नहीं है। किसी भी पदार्थ में, किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना भी ज्ञान का काम नहीं है। ज्ञान का काम तो केवल इतना ही है कि जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में जान ले। कल्पना कीजिए, किसी कमरे में दीपक जला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया है, तो दीपक का काम यह है, कि वह जलता रहे और अपना प्रकाश फैलाता रहे। रात भर भी यदि कोई व्यक्ति उस कमरे में न आए और काम न करे, तब भी दीपक जलता ही रहेगा। कमरे में कोई आए अथवा न आए, दीपक का काम है, कमरे को प्रकाशित करते जाना। कोई पूछे उससे कि क्यों व्यर्थ में अपना प्रकाश फेंक रहे हो? जब तुम्हारे प्रकाश का कोई उपयोग नहीं हो रहा है, तब क्यों अपना प्रकाश फैला रहे हो? यहाँ तो कोई भी नहीं है, जो तुम्हारे प्रकाश का उपयोग कर सके। दीपक के पास भाषा नहीं है। अगर उसके पास भाषा होती, तो वह कहता कि मुझे इससे क्या मतलब? कोई मेरा उपयोग कर रहा है, अथवा नहीं कर रहा है, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा अपना काम है, जलते जाना। प्रकाश फैलाते जाना ही मेरा स्वभाव है। किसी भी पदार्थ को अन्दर लाना या बाहर निकालना मेरा काम नहीं है, परन्तु जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में प्रकाशित कर देना ही मेरा अपना काम है। जो सिद्धान्त दीपक का है, वही सिद्धान्त ज्ञान का भी है। ज्ञान पदार्थ को प्रकाशित करता है, किन्तु पदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन करना ज्ञान का अपना कार्य नहीं है। ज्ञान एक गुण है और उसका अपना काम क्या है? अपने ज्ञेय को जानना। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब ज्ञान के ज्ञेय हैं और ज्ञान उनका ज्ञाता है। ज्ञान अनन्त है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है, परन्तु ज्ञान जब तक आवृत है, तब तक वह अनन्त को नहीं जान सकता और जब उसका आवरण हट जाता है, तब वह असीम और अनन्त बन जाता है।

आचारांग सूत्र में एक उदात्त बोध-सूत्र है कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही ज्ञाता है।

'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।'

आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। चेतना आत्मा का गुण है। जहाँ आत्मा का अस्तित्व नहीं, वहाँ ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं। जहाँ लक्ष्य है, वहीं लक्षण है। जहाँ लक्षण है, वहीं लक्ष्य है। आत्मभूत लक्ष्य और लक्षण कभी अलग-अलग नहीं रह सकते। जैसे सूर्य और प्रकाश कभी अलग-अलग नहीं किए जा सकते। जहाँ अग्नि है, वहीं उष्णता है, जहाँ मिश्री है, वहीं मिठास है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान है।

संसार के पदार्थों का ठीक-ठीक विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि गुण और गुणी एक-दूसरे से कभी भी अलग-अलग नहीं हुए, और न कभी होंगे ही। दीपक की लौ और दीपक की लौ का प्रकाश, कभी एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते, उसी प्रकार आत्मा और आत्मा का ज्ञान, कभी एक-दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। दोनों में उभयमुखी व्याप्ति है।

आत्मा और ज्ञान का सम्बन्ध एक-पक्षीय सम्बन्ध नहीं, उभय-पक्षीय है। जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है, और जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा भी अवश्य है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ज्ञान और आत्मा का उभय-पक्षीय सम्बन्ध है। ज्ञान कभी आत्मा से अलग नहीं हो सकता, चाहे संसारदशा हो या मुक्तदशा। चूंकि ज्ञान और आत्मा का वियोग होने का मतलब ही है--चेतन का जड़ हो जाना। और यह न कभी हुआ है, न कभी हो सकेगा। इसलिए यह सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान आत्मा का आत्मभूत स्वरूप है।

चेतना का केन्द्र :

वेदान्त में कहा गया है--**'विज्ञानं ब्रह्म'** विज्ञान ही ब्रह्म है, परमात्मा है। और उसके आगे कहा है--**'तत्त्वमसि'**--तू वह है। अर्थात् तू ही ज्ञान स्वरूप परमात्मा है। भारतीय-दर्शन की यह विशेषता रही है कि वह शरीर, इन्द्रिय और मन तथा उसके विकल्पों के घने जंगल के बीच भी आत्मा के स्वरूप की पहचान कर लेता है। शरीर, इन्द्रिय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन के चक्रवात के बीच भी वह जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट झाँक लेता है। यद्यपि प्रकट में जितनी भौतिक क्रियाएँ चलती हैं, सब इन्हीं शरीर आदि की चलती हैं। अतः साधारण दृष्टि से देखनेवाला इन्हें ही आत्मा का स्वरूप समझ लेता है। परन्तु, यह सत्य नहीं है। यह सब विकृतियाँ आत्मा के औपचारिक धर्म हैं, मूल धर्म नहीं हैं।

जब लोहा अग्नि में पहुँचकर लाल हो जाता है, तब यदि कोई उसका स्पर्श करता है, तो स्पर्श करनेवाले का हाथ जल जाता है। अब यदि कोई उससे पूछता है कि कैसे जल गया, तो यही उत्तर मिलता है कि लोहे के गोले को छूने से हाथ जल गया। किन्तु इस उक्ति में दार्शनिक दृष्टि से सत्य नहीं है। हाथ लोहे से नहीं, किन्तु उसके कण-कण में जो अग्नि-तत्त्व व्याप्त हो गया है, उस अग्नि-तत्त्व से जला है। जब लोहे के गोले से अग्नि-तत्त्व निकल जाता है, और वह बिल्कुल ठंडा हो जाता है, तब उसी लोहे के गोले को छूने से हाथ नहीं जलता। उक्त उदाहरण का स्पष्ट अर्थ है कि जलानेवाली अग्नि है, लोहे का गोला नहीं, अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने के कारण दाहक्रिया का लोहे के गोले में आरोप कर दिया है। यही बात दूध और घी के द्वारा जलने पर है। दूध और घी से कोई नहीं जलता। जलता है, उसके अन्दर की अग्नि से। इसी प्रकार राग-द्वेष आदि की विकृतियों का आत्मा में विचार किया जाता है। वस्तुतः ये आत्मा की औपाधिक-वैभाविक विकृतियाँ हैं, अपनी निजी विकृतियाँ नहीं हैं।

इन्द्रिय और मन आदि के माध्यम से जो ज्ञान होता है, उसके सम्बन्ध में स्थिति यह है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, इन्द्रिय आदि का नहीं। इन्द्रियज्ञान, मनोज्ञान आदि जो कहा जाता है, वह आत्मा के ज्ञान का इन्द्रिय आदि में उपचार है। शरीर, इन्द्रिय आदि में जब तक चैतन्य-तत्त्व व्याप्त रहता है, तब तक उसकी क्रियाएँ शरीर के अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से परिलक्षित होती रहती हैं। लोहे के गोले के उदाहरण में यह स्पष्ट किया था कि वह लोहखण्ड अग्नि का आधार जरूर था, किन्तु जलाने की क्रिया और उसमें व्याप्त ताप उसके निजगुण नहीं, बल्कि तद्गत अग्नि-तत्त्व के गुण थे। अतः अग्नि और लोहे के परस्पर एक-दूसरे की संगति एवं सहावस्थान हो जाने के कारण व्यवहार भाषा में जलाने की क्रिया का आरोप लोहे पर किया गया, न कि उस अग्नि-तत्त्व पर, जो कि उसके मूल में स्थित था। वास्तव में लोह-तत्त्व एवं अग्नि-तत्त्व की संगति हो जाने पर भी, दोनों की सत्ता अलग-अलग है। यही बात शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन की, जो चैतन्य क्रियाएँ होती हैं, वे उनकी अपनी नहीं होकर, आत्मा की हैं। आत्मा ही उनकी संचालिका है; किन्तु आरोप से उन्हें आत्मा से सम्बन्धित न कर शरीर, इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित कर लिया जाता है। चिन्तन-मनन करने की क्रियाएँ आत्मा की हैं, परन्तु हम उनकी क्रियाओं का आरोप व्यवहार दृष्टि से मन पर करते हैं। दर्शन-शास्त्र का यह ध्रुव सिद्धान्त है कि जड़ की क्रियाएँ जड़ होती हैं और चेतन की क्रियाएँ चेतन होती हैं। चेतन की क्रिया जड़ नहीं कर सकता, और जड़ की क्रिया चेतन नहीं कर सकता। इसलिए यह स्पष्ट हुआ कि हम जिस चेतनाशक्ति का दर्शन कर रहे हैं, वह आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञानमय है—इस बात को भारत का प्रत्येक अध्यात्मवादी-दर्शन स्वीकार करता है। भगवान् महावीर ने भी यही कहा था—"जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है।" यही बात वेदान्त दर्शन कहता है—"विज्ञान ही ब्रह्म है।" मन, शरीर और इन्द्रियों से आत्मा को इस प्रकार अलग किया गया है, जैसे दूध से मक्खन को। आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध है अवश्य, किन्तु वह दूध और मक्खन का सम्बन्ध है, जो समय पर विच्छिन्न हो सकता है। आत्मा अनादिकाल से अपना स्वरूप भूल कर इनकी भूलभुलैयों में भटक रही है। वह जानती हुई भी अनजान बन रही है। विश्व-स्वरूप का, अनन्तानन्त पदार्थों का ज्ञाता—द्रष्टा होते हुए भी अज्ञान के अन्धेरे में पड़ी है, मिथ्यात्व के जंगल में भटक रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ :

हमारा पुरुषार्थ सबसे पहले अपने स्वरूप को जानने में लगना चाहिए। उपनिषद्-काल के एक आचार्य ने अपने शिष्य से पूछा था कि संसार का वह कौनसा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब-कुछ जाना जा सकता है—**'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** शिष्य ने गुरु से ही पूछ लिया भगवन्—आप ही बतलाइए, वह कौनसा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है? गुरु ने शिष्य में जिज्ञासा पैदा की और फिर उसका समाधान भी दिया। चूंकि जिज्ञासा का यदि समाधान न हो, तो वह फिर शंका का रूप धारण कर लेती है। गुरु ने शिष्य का समाधान किया—**'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**—एक आत्मा को जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है। विश्व की अनन्त वस्तुओं का एक-एक करके यदि ज्ञान प्राप्त किया जाए, तो अनन्त-काल तक भटकते रहने पर भी सब ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। किन्तु उस एक परम तत्त्व को जान लेने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

'आचारांग' सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में बहुत ही उदात्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।" —१-३-४

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिसने एक भी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने समस्त विश्व को जान लिया। क्योंकि जो किसी भी एक द्रव्य की अनन्त पर्यायों को पूर्ण रूप में जान लेता है, वह अनन्त ज्ञानी होगा। अनंत ज्ञानी में सब-कुछ को जानने की शक्ति है। किसी भी एक पदार्थ के अनन्त धर्मों और उसकी अनन्त पर्यायों को जानने का अर्थ होता है—उसने सम्पूर्ण पदार्थ को पूर्ण रूप से जान लिया। किसी भी पदार्थ को पूर्ण रूप से जानने का सामर्थ्य, केवलज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान में नहीं है। केवलज्ञान, ज्ञान का पूर्ण विकास है। वह असीम है, अनन्त है। अतः उसमें अनन्त को जानने की शक्ति है।

जैन-दर्शन के अनुसार संख्या की दृष्टि से पुद्गल भी अनन्त हैं और जीव भी अनन्त है। किन्तु, एक द्रव्य को भी तद्गत अनन्त गुण-धर्मों की अपेक्षा से अनन्त माना गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने आप में अनन्त है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण-धर्म होते हैं। और एक-एक गुण-धर्म की अनन्त पर्याय होती हैं। प्रश्न यह है, एक साथ अनन्त पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? अनन्त भूतकाल के, अनन्त भविष्य कल्प के और अनन्त वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? और क्या, एक-एक पदार्थ में अनन्त-अनन्त गुण विद्यमान हैं और एक-एक गुण की अनन्त-अनन्त पर्याय हैं? अनन्त पर्याय वर्तमान की, अनन्त पर्याय भूतकाल की और अनन्त पर्याय भविष्य की हैं? एक पदार्थ की अनन्त पर्याय कैसे होती हैं?

इसको समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—आपके सामने एक वृक्ष है और उस वृक्ष में हजारों हजार पत्ते हैं। उनमें से एक पत्ता लीजिए। जिस पत्ते को आप इस वर्तमान क्षण में देख रहे हैं, क्या भूतकाल में वह वैसा ही था और क्या भविष्य में भी वह वैसा ही रहेगा? यदि आपको दर्शन-शास्त्र का थोड़ा-सा भी परिज्ञान है, तो आप यह कदापि नहीं कह सकते कि यह पत्ता जिसे आप वर्तमान क्षण में प्रत्यक्ष देख रहे हैं, भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्यकाल में भी ऐसा ही रहेगा। एक पत्ता जब जन्म लेता है, तब उसका रूप और वर्ण कैसा होता है? उस समय उसके रूप और वर्ण को ताम्र कहा जाता है। फिर धीरे-धीरे वह हरा हो जाता है और फिर धीरे-धीरे वह एक दिन पीला पड़ जाता है। ताम्रवर्ण, हरितवर्ण और पीतवर्ण एक ही पत्ते की ये तीन अवस्थाएँ बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल है। इनके बीच की सूक्ष्म अवस्थाओं का यदि विचार किया जाए, तो ताम्र से हरित तक हजारों-लाखों अवस्थाएँ हो सकती हैं और हरित से पीत तक करोड़ों अवस्थाएँ हो सकती हैं। वस्तुतः यह हमारी परिगणना भी बहुत ही स्थूल है। जैन-दर्शन के अनुसार तो उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन आ रहा है, जिसे हम अपनी चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते। कल्पना कीजिए, आपके समक्ष कोमल कमल के शतपत्र एक के ऊपर एक गड्डी बना कर रखे हुए हों, आपने एक सूई ली और एक झटके में उन्हें बींध दिया। नुकीली सूई एक साथ एक झटके में ही कमल के शतपत्रों को पार कर गई। पर, सूक्ष्मता से देखा जाए, तो सूई ने पत्तों को एक साथ नहीं, क्रमशः ही पार किया है। किन्तु यह काल-गणना सहसा ध्यान में नहीं आती। शत-पद्म कमल-भेदन में काल-क्रम की व्यवस्था है, किन्तु उसकी प्रतीति हमें नहीं होने पाती है। इसी प्रकार हर परिवर्तन के काल-क्षणों की धारा असंख्य है। जो अत्यधिक सूक्ष्म होने से हमारी दृष्टि की पकड़ में नहीं आ पाती है। और फिर पत्ते में केवल वर्ण ही नहीं होता, वर्ण के अतिरिक्त उसमें गन्ध, रस और स्पर्श आदि भी रहते हैं। किन्तु, जब हम नेत्र के द्वारा पत्ते को देखते हैं, तब उसके रूप का ही परिज्ञान होता है। जब हम उसे सूंघते हैं, तब हमें उसकी गंन्ध का ही परिज्ञान होता है, रूप का नहीं। जब हम उसको अपनी जिह्वा पर रखते हैं, तब हमको उसके रस का ही परिबोध होता है, वर्ण और गन्ध का नहीं। जब हम उसे हाथ से छूते हैं, तब हमें उसके स्पर्श का ही ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध और रस का नहीं। जब हम तज्जन्य शब्द को सुनते हैं, तब शब्द का ही हमें ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का नहीं। फिर हम यह कैसे दावा कर सकते हैं कि हमने नेत्र से पत्ते को देखकर उसकी सम्पूर्णता का ज्ञान कर लिया। जब तक हमारा ज्ञान सावरण है, तब तक हम किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप को नहीं जान सकते। सावरण ज्ञान खण्ड-खण्ड में ही वस्तु का परिज्ञान करता है। वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान तो एकमात्र निरावरण केवलज्ञान में ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिए आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने कहा है—

"तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र ॥"

—जिस प्रकार दर्पण के सामने आया हुआ पदार्थ, उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी प्रकार जिस ज्ञान में अपने-अपने अनन्त गुणों—अनन्त पर्यायों के साथ अनन्त-अनन्त पदार्थ युगपद् झलकते हैं, वह ज्ञान-ज्योति केवलज्ञान है। केवलज्ञान आवरण रहित होता है। उसमें किसी प्रकार का आवरण नहीं रह पाता। अतः पदार्थ का सम्पूर्ण रूप ही उसमें प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण में जब किसी भी पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता कि पदार्थ दर्पण बन गया अथवा दर्पण पदार्थ बन गया। पदार्थ, पदार्थ के स्थान पर है और दर्पण, दर्पण के स्थान पर। दोनों की अपनी अलग-अलग सत्ता है। दर्पण में बिम्ब के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति है और बिम्ब में प्रतिबिम्बित होने की शक्ति है। अतः दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब ही पड़ता है। केवल-ज्ञान में पदार्थ को जानने की शक्ति है, और पदार्थ में ज्ञान का ज्ञेय बनने का स्वभाव है। जब ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जाना जाता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान पदार्थ बन गया है, अथवा पदार्थ ज्ञान बन गया है। ज्ञान, ज्ञान की जगह है और पदार्थ, पदार्थ की जगह है। दोनों को एक समझना एक भयंकर मिथ्यात्व है। ज्ञान का स्वभाव है जानना और पदार्थ का स्वभाव है, ज्ञान के द्वारा ज्ञात होना। केवलज्ञान एक, पूर्ण और निरावरण ज्ञान है। इसीलिए उसमें संसार के अनन्त पदार्थ एक साथ झलक जाते हैं। और एक पदार्थ के अनन्त-अनन्त पर्याय भी एक साथ झलक जाते हैं। इसीलिए आचार्य ने यह कहा है कि विश्व की सम्पूर्ण पदार्थमालिका केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती है। केवलज्ञान अनन्त होता है, इसीलिए उसमें विश्व के अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है। अनन्त ही अनन्त को जान सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा में विकार विजातीय है

राग और द्वेष आदि कषाय के कारण निर्मल आत्मा मलिन बन जाती है। आत्म में जो कुछ भी मलिनता है, वह अपनी नहीं है, बल्कि पर के संयोग से आई है। और जो वस्तु पर के संयोग से आती है, वह कभी स्थायी नहीं रहती। अमल-धवल वसन में जो मल आता है, वह शरीर संयोग से आता है। धवल वस्त्र में जो मलिनता है, वह उसकी अपनी नहीं है। वह पर की है, इसीलिए उसे दूर भी किया जा सकता है। यदि मलिनता वस्त्र की अपनी होती, तो हजार बार धोने से भी वह कभी दूर नहीं हो सकती थी। धवल वस्त्र को आप किसी भी रंग में रंग लें, क्या वह रंग उसका अपना है? वह रंग उसका अपना रंग कदापि नहीं है। जैसे संयोग मिलते रहे, वैसा ही उसका रंग बदलता रहा। अतः वस्त्र में जो मलिनता है अथवा रंग है, वह उसका अपना नहीं है, वह पर-संयोग जन्य है। विजातीय तत्त्व का संयोग होने पर, पदार्थ में जो परिवर्तन आता है, जैन-दर्शन की निश्चय-दृष्टि और वेदान्त की परमार्थ-दृष्टि उसे स्व में स्वीकार नहीं करती। जो भी कुछ पर है, यदि उसे अपना मान लिया जाए, तो फिर संसार में जीव और अजीव की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। पर-संयोग-जन्य राग-द्वेष को यदि आत्मा का अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो करोड़ों वर्षों की साधना से भी राग-द्वेष दूर नहीं किए जा सकते।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म से भिन्न है, शरीर आदि नोकर्म से भिन्न है और कर्म-संयोगजन्य रागादि अध्यवसाय से भी भिन्न है। कर्म में, मैं हूँ, और नोकर्म में, मैं हूँ, इस प्रकार की बुद्धि तथा यह कर्म और नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार की बुद्धि, मिथ्यादृष्टि है। यदि कर्म को आत्मा मान लिया जाए, तो फिर आत्मा को कर्म-स्वरूप मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीव में अजीवत्व आ जाएगा और अजीव में जीवत्व चला जाएगा। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का यह कथन यथार्थ है कि यह राग, यह द्वेष, यह मोह और यह अज्ञान न कभी मेरा था और न कभी मेरा होगा। आत्मा के अतिरिक्त संसार में अन्य जो भी कुछ है, उसका परमाणु मात्र भी मेरा अपना नहीं है। अज्ञानी आत्मा यह समझती है कि मैं कर्म का कर्ता हूँ और मैं ही कर्म का भोक्ता हूँ। व्यवहार-नय से यह कथन हो सकता है, किन्तु निश्चय-नय से आत्मा पुद्गल रूप कर्म का न कर्ता है और न कर्म-फल का भोक्ता है। पर का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा के धर्म नहीं हैं। क्योंकि परम शुद्ध नय से आत्मा निज स्वभाव का ही कर्ता और भोक्ता है। वह तो एकमात्र ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञातामात्र है। ज्ञान आत्मा का अपना निज स्वभाव है। उस में जो कुछ मलिनता आती है, वह विजातीय तत्त्व के संयोग से ही आती है। विजातीय तत्त्व के संयोग के विलय हो जाने पर ज्ञान स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो जाता है। सावरण ज्ञान मलिन होता है और निरावरण ज्ञान निर्मल और स्वच्छ होता है। ज्ञान की निर्मलता और स्वच्छता तभी सम्भव है, जबकि राग और द्वेष के विकल्पों का आत्मा में से सर्वथा अभाव हो जाए। निर्विकल्प और निर्द्वन्द्व स्थिति ही आत्मा का अपना सहज स्वभाव है। रागी आत्मा प्रिय वस्तु पर राग करती है और अप्रिय वस्तु पर द्वेष करती है, पर यथार्थ दृष्टिकोण से देखा जाए, तो पदार्थ अपने आप में न प्रिय है, न अप्रिय है। हमारे मन की रागात्मक और द्वेषात्मक मनोवृत्ति ही किसी भी वस्तु को प्रिय और अप्रिय बनाती है। जब तक किसी भी प्रकार का विकल्प, जो कि पर-संयोग-जन्य है, आत्मा में विद्यमान है, तब तक स्वरूप की उपलब्धि हो नहीं सकती है। ज्ञानात्मक भगवान् आत्मा को समझने के लिए निर्मल और स्वच्छ ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान में यदि निर्मलता का अभाव है, तो उससे वस्तु का यथार्थ बोध भी नहीं हो सकता। जैन-दर्शन की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं, अभिन्न ही हैं। ज्ञान से भिन्न आत्मा अन्य कुछ भी नहीं है, ज्ञान-गुण में अन्य सब गुणों का समावेश हो जाता है।

कहने का भाव यही है कि हमारे अशुभ विकल्प शुभ विकल्पों से लड़ें और इस प्रकार इन दोनों की लड़ाई में आत्मा तटस्थ बन कर देखती रहे। जब दोनों ही खत्म हो जाएँगे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो आत्मा अपने निरंजन, निर्विकार शुद्ध स्वरूप में आ जाएगी। मन, इन्द्रिय और शरीर के घेरे को तोड़कर, जो अपना शुद्ध लक्षण है---ज्ञानमय-स्वरूप है, उस में सदा-सर्वदा के लिए विराजमान हो जाएगी। तब वह इस संसार की दास नहीं, स्वामी होगी और होगी, चिन्मय प्रकाश-पुञ्ज!

---"अणंत नाणी य अणंत दंसी"

★

स्वपरविवेको हि दर्शनम्।

---स्व और पर का विवेक-बोध ही दर्शन है।

चिदचिद् भेदविज्ञानं ही दर्शनम्।

---जड़ और चेतन का भेद-विज्ञान ही दर्शन है।

---उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४

तीर्थंकर : मुक्ति-पथ का प्रस्तोता

'तीर्थंकर' जैन-साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इसके लिए इतिहास के फेर में पड़ने की जरूरत नहीं। आजकल का विकसित-से-विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने में असमर्थ है। और, एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर-परे की चीज।

जैन-धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों को दो अलग-अलग स्थानों में विभक्त करना, मानो दोनों के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनों की देखा-देखी यह शब्द अन्य परंपराओं[1] में भी कुछ-कुछ प्राचीन काल में व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नहीं के बराबर है। जैनों की तरह उनके यहाँ यह एकमात्र रूढ़ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नहीं रह सका।

तीर्थंकर की परिभाषा :

जैन-धर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है, और इसका क्या महत्त्व है? यह समझ लेने की बात है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ का कर्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिरानेवाला एकमात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है। अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द-शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थंकर अपने समय में संसार-सागर से पार करनेवाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक (गृहस्थ पुरुष) और श्राविका (गृहस्थ स्त्री-रूप) चतुर्विधसंघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करनेवाले महापुरुषों को तीर्थंकर कहते हैं।

जब-जब संसार में अधर्म का, अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारों से उत्पीड़ित हो जाती है, लोगों में धार्मिक-भावना क्षीण होकर पाप-भावना जोर पकड़ लेती है, तब-तब संसार में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का अवतरण होता है। और, संसार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखंड साधना में रम कर, अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर, पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन-परिभाषा के अनुसार केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव-संसार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य-प्रपंच के चंगुल से छुड़ाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं और संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं।

तीर्थंकरों के शासन-काल में प्रायः आसन्न भव्य स्त्री-पुरुष अपने आप को पहचान लेते हैं, और 'स्वयं सुख पूर्वक जीना, दूसरों को सुख पूर्वक जीने देना तथा दूसरों को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अपने सुखों की कुछ भी परवाह न करके अधिक-से-अधिक सहायता देना'—उक्त महान् सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार लेते हैं। अस्तु तीर्थंकर वह है, जो संसार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने

१. देखिए, बौद्ध साहित्य का 'लंकावतार सूत्र'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले पापाचारों से बचाता है। संसार को भौतिक सुखों की लालसा से हटाकर आध्यात्मिक सुखों का प्रेमी बनाता है। और, बनाता है नरक-स्वरूप उन्मत्त एवं विक्षिप्त संसार को 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का स्वर्ग!

तीर्थंकर की विशेष व्याख्या अपेक्षित है। तीर्थंकर का मूल अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा संसाररूप मोहमाया का महानद सुविधा के साथ तिरा जाए, वह धर्म, तीर्थ कहलाता है। संस्कृत-भाषा में घाट के लिए भी 'तीर्थ' शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के बनानेवाले तैराक, लोक में तीर्थंकर कहलाते हैं। हमारे तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अतः तीर्थंकर कहलाते थे। आप जानते हैं, यह संसार-रूपी नदी कितनी भयंकर है! क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारों विकाररूप मगरमच्छ, भँवर और गर्त हैं इसमें, जिन्हें पार करना सहज नहीं है। साधारण साधक इन विकारों के भँवर में फँस जाते हैं, और डूब जाते हैं। परन्तु तीर्थंकर देवों ने सर्व-साधारण साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचाररूपी विधि-विधानों की एक निश्चित योजना तैयार कर दी है, जिससे कोई भी साधक सुविधा के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। बिना पुल के नदी से पार होना बड़े-से-बड़े बलवान् के लिए भी अशक्य है; परन्तु पुल बन जाने पर साधारण, दुर्बल एवं रोगी यात्री भी बड़े आनन्द से पार हो सकता है। और तो क्या, नन्हीं-सी चींटी भी इधर से उधर पार हो सकती है। हमारे तीर्थंकर वस्तुतः संसार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ बना गए हैं, पुल बना गए हैं, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध संघ की धर्म-साधना, संसार-सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुल पर चढ़िए, किसी भी धर्म-साधना को अपनाइए, आप उस पार हो जाएँगे।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्म-तीर्थ की स्थापना करनेवाले तो भारत-वर्ष में सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव भगवान् हुए थे; अतः वे ही तीर्थंकर कहलाने चाहिए। दूसरे तीर्थंकरों को तीर्थंकर क्यों कहा जाता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा में समयानुसार परिवर्तन करता है, अतः नये तीर्थ का निर्माण करता है। पुराने घाट जब खराब हो जाते हैं, तब नया घाट बनाया जाता है न? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानों में विकृति आ जाने के बाद नये तीर्थङ्कर, संसार के समक्ष नये धार्मिक विधानों की योजना उपस्थित करते हैं। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड-रूप शरीर बदल देते हैं। जैन-समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओं पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दों और पुरानी पद्धतियों पर। जैन तीर्थंकरों का शासन-भेद, उदाहरण के लिए, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद, मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

अष्टादश दोष :

जैन-धर्म में मानव-जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अठारह दोष माने गए हैं—

१. मिथ्यात्व=असत्य विश्वास, विपरीत दृष्टि।
२. अज्ञान=मिथ्यात्वग्रस्त कुज्ञान।
३. क्रोध।
४. मान।
५. माया=कपट।
६. लोभ।
७. रति=मन पसन्द मनोज्ञ वस्तु के मिलने पर हर्ष।
८. अरति=अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर क्षोभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. निद्रा=सुप्त चेतना।
१०. शोक।
११. अलीक=झूठ।
१२. चौर्य=चोरी।
१३. मत्सर=डाह।
१४. भय।
१५. हिंसा।
१६. राग=आसक्ति।
१७. क्रीड़ा=खेल-तमाशा, नाच-रंग।
१८. हास्य=हँसी-मजाक।

जब तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता, तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म-शुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् उक्त अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष, उनके जीवन में नहीं रहता।

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं :

जैन तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि जैन अपने तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूँगा कि वे भूल में हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं है। वह संसार के कर्ता, धर्ता और संहर्ता किसी एक ईश्वर को नहीं मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारों भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश करने वाला, भक्तों का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष कोई एक ईश्वर है। और वह यथासमय त्रस्त संसार पर दयाभाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौड़कर संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं भी है, वहीं से बैठा हुआ संसार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा बजा देता है—

"भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढ़ानि माययां।"

—गीता, १८/६१

जैन-धर्म में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा महान् प्राणी नहीं है। जैन-शास्त्रों में आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पाएँगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-संसार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एवं आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियों का भंडार है। वह दूसरे शब्दों में स्वयंसिद्ध ईश्वर है, परन्तु संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अतः बादलों से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक्-रूप से अपना प्रकाश नहीं प्रसारित कर सकता।

परन्तु ज्यों ही वह होश में आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों को अपनाता है; तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनंत शक्तियों का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हन्त, परमात्मा, शुद्ध, बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा में सदा के लिए अमर-अविनाशी—जैन-परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तु, तीर्थंकर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अजीब, अद्भुत दैवी सृष्टि के प्राणी, ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अंश जैसे कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह ही वासनाओं के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, संसार के दुःख, शोक, आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, उसी की कल्पना के पीछे अनादि-काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला, चैतन्य और जड़ का भेद समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्य-पथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की साधना में पूर्व के अनेक जन्मों से ही आगे बढ़ते गए और अन्त में एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हें हो गई। ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे अर्हन्त एवं तीर्थंकर के रूप में प्रकट हो गए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा-महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थंकर हो गए। उन्हें भी राज्य-वैभव छोड़ना होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना में निरन्तर जुटा रहना होता है, पूर्ण विरक्त मुनि बनकर एकान्त-निर्जन स्थानों में आत्म-मनन करना होता है। अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहारी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना बहाना होता है, तब कहीं पाप-मल से मुक्ति होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है।

तीर्थंकर का पुनरागमन नहीं :

बहुत से स्थानों में जैनेतर बन्धुओं द्वारा यह शंका सामने आती है कि "जैनों में २४ ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र में बारी-बारी से जन्म लेते हैं और धर्मोपदेश देकर पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं।" इस शंका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दों में यह बात बतला देना चाहता हूँ—जैन-धर्म में ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया है। प्रथम तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नहीं है। यह एक वैष्णव-परम्परा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के बार-बार जन्म लेने के रूप में राम, कृष्ण आदि सत्पुरुषों के लिए आया है। आगे चलकर यह मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन-बन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार बता देते हैं, और तीर्थंकरों को अवतार कह देते हैं। परन्तु इसके पीछे किसी एक व्यक्ति के द्वारा बार-बार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है; जिसको लेकर अबोध जनता में यह विश्वास फैल गया है कि २४ तीर्थंकरों की मूल संख्या एक शक्तिविशेष के रूप में निश्चित है और वही महाशक्ति प्रत्येक काल-चक्र में बार-बार जन्म लेती है, संसार का उद्धार करती है और फिर अपने स्थान में जा कर विराजमान हो जाती है।

जैन-धर्म में मोक्ष प्राप्त करने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है। बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। बीज होगा, तभी अंकुर हो सकता है; धागा होगा, तभी वस्त्र बन सकता है। आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था में नहीं रहता। अतः कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है—जो आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर मोक्ष पा चुकी, वह फिर संसार में कैसे आ सकती है? बीज तभी उत्पन्न हो सकता है, जब तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है। जब बीज एक बार भुन गया, तो फिर कभी भी उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है। जब उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया, तो फिर जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा? आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य में, इस सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं,
प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवांकुरः॥

बहुत दूर चला आया हूँ; परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैन तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु, प्रत्येक कालचक्र में जो २४ तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं, एक नहीं।

तीर्थंकरों एवं अन्य मुक्त-आत्माओं में अन्तर :

अब एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं—'जैन अपने २४ तीर्थंकरों को ही मुक्त होना मानते हैं और कोई इनके यहाँ मुक्त नहीं होते।' यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है। इसमें सत्य का कुछ भी अंश नहीं है।

तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के अधिकार में ही मुक्ति का ठेका नहीं रखता। उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज या धर्म का क्यों न हो, जो अपने आप को बुराइयों से बचाता है, आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणों से पवित्र बनाता है, वह अनन्त-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके मुक्त हो सकता है।

तीर्थंकरों की तथा और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओं की आंतरिक शक्तियों में कोई भेद नहीं है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि आत्मिक शक्तियाँ सभी मुक्त होने वाले अर्हन्तों में समान होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योगसम्बन्धी अद्भुत शक्तियों का है। तीर्थंकर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय तेजोबल से अज्ञान एवं अन्ध-विश्वासों का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण, गले-सड़े मानव-संसार की काया-पलट कर डालते हैं। उनकी योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बड़ी ही अद्भुत होती हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ एवं निर्मल रहता है, मुख के श्वास-उच्छ्वास सुगन्धित होते हैं। वैरानुबद्ध जन्मजात विरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं। उनकी उपस्थिति में दुर्भिक्ष एवं अतिवृष्टि आदि उपद्रव नहीं होते, महामारी भी नहीं होती। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियों के रोग भी दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा में वह चमत्कार होता है—क्या आर्य और क्या अनार्य मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सभी उनकी दिव्य-वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले जीव-आत्मा ऐसे नहीं होते। अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं, और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अर्हद्-भाव में प्रतिष्ठित हो कर अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर तीर्थंकर के समान अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है, जो तीर्थंकर और मुक्त आत्माओं में भेद करती है।

प्रस्तुत विषय के साथ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपरिवर्णित यह भेद मात्र जीवन्मुक्त-दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष प्राप्ति के बाद सिद्धदशा में कोई भी भेदभाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्मा, सभी एक ही स्वरूप में रहते हैं। क्योंकि जब तक जीवात्मा जीवन-मुक्त दशा में रहता है, तब तक तो प्रारब्ध-कर्म का भोग बाकी ही रहता है, अतः उसके कारण जीवन में भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष में तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, फलतः कर्म-जन्य भेद-भाव भी नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान कालचक्र के चौबीस तीर्थंकर :

वर्तमान काल-प्रवाह में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीसों ही तीर्थंकरों का विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है। परन्तु, यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चौबीस तीर्थंकरों का परिचय प्रस्तुत है।

१. ऋषभदेव :

भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम तीर्थंकर थे। उनका जन्म मानव-सभ्यता के आदिकाल में युगलियों के भोगप्रधान अकर्म-युग में हुआ था, जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वन-फल तथा कन्द-मूल खाकर जीवन यापन करते थे। उनके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था। उन्होंने युवावस्था में कर्म-प्रधान आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखाईं। राजनीति, कृषि, व्यापार, उद्योग आदि का शिक्षण दे कर मात्र प्रकृति पर आश्रित मानव-जाति को अपने पुरुषार्थ एवं कर्म पर खड़ा किया। जैन-पुराणों के अनुसार कोशल देश में अयोध्या—विनीता नगरी की स्थापना भी ऋषभदेव ने की। वे विवाहित हुए। बाद में राज्य त्यागकर दीक्षा-ग्रहण की और कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् ऋषभदेव का जन्म, चैत्रकृष्णा अष्टमी को और निर्वाण—मोक्ष, माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि अष्टापद (कैलाश) पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, भागवत आदि वैदिक-साहित्य में भी उनका गुण-कीर्तन किया गया है।

२. अजितनाथ :

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर इनके चाचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। भगवान् अजितनाथ का जन्म माघशुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है, जो आजकल दक्षिण-बिहार में पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

३. संभवनाथ :

भगवान् संभवनाथ तीसरे तीर्थंकर थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश में श्रावस्ती नगरी में हुआ था। पिता का नाम इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होंने पूर्व जन्म में विपुलवाहन राजा के रूप में अकालग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दीनों के हितार्थ लुटा दिया था। भगवान् संभवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

४. अभिनंदन :

भगवान् अभिनंदननाथ चौथे तीर्थंकर थे। इनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सिद्धार्था था। भगवान् अभिनंदननाथ का जन्म माघशुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाखशुक्ला अष्टमी को हुआ था। इनकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

५. सुमतिनाथ :

भगवान् सुमतिनाथ पाँचवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ था। उनके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगलादेवी थीं। भगवान् सुमतिनाथ का जन्म वैशाखशुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्रशुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि सम्मेतशिखर है। वे जब गर्भ में आए, तब माता की बुद्धि बहुत श्रेष्ठ और तीव्र हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

६. पद्मप्रभ :

भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर थे। उनका जन्म वत्स देश में कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिककृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

७. सुपार्श्वनाथ :

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि काशी (वाराणसी), पिता राजा प्रतिष्ठेन और माता पृथ्वी थीं। आपका जन्म ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर ही है।

८. चन्द्रप्रभ :

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि चन्द्रपुरी नगरी थी। पिता राजा महासेन और माता लक्ष्मणा थीं। भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म पौषशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

९. सुविधिनाथ :

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि काकन्दी नगरी थी। पिता राजा सुग्रीव एवं माता रामादेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१०. शीतलनाथ :

भगवान् शीतलनाथ दशवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि भद्दिलपुर नगरी थी। पिता राजा दृढ़रथ और माता नन्दारानी थीं। आपका जन्म माघकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख-कृष्णा द्वितीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

११. श्रेयांसनाथ :

भगवान् श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि वाराणसी के पास सिंहपुर नगरी थी। पिता राजा विष्णुसेन और माता विष्णुदेवी थीं। आपका जन्म फाल्गुन-कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावणकृष्णा तृतीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने पूर्व-जन्म में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान् श्रेयांसनाथजी के चरणों में उपदेश प्राप्त किया था।

१२ वासुपूज्य :

भगवान् वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि चम्पा नगरी थी। पिता राजा वासुपूज्य और माता जयादेवी थीं। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी है। वे आजन्म बालब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं किया।

१३ विमलनाथ :

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि पांचाल देश में कम्पिलपुर नगरी थी। पिता राजा कर्तृवर्म और माता श्यामादेवी थीं। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ़-कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४ अनन्तनाथ :

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी थी। पिता राजा सिंहसेन और माता सुयशा थीं। आपका जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१५ धर्मनाथ :

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि रत्नपुर नामक नगरी थी। पिता भानुराजा और माता सुव्रता थीं। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१६ शान्तिनाथ :

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म हस्तिनागपुर, आज के हथिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। आपका जन्म ज्येष्ठकृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् शान्तिनाथ भारत के १२ चक्रवर्तियों में पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। ऐसा कहा जाता है कि इनके जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी, इसलिए माता-पिता ने इनका नाम शान्तिनाथ रखा था। ये बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। ऐसी कथा मिलती है कि पहले जन्म में जबकि वे मेघरथ राजा थे, कबूतर की रक्षा के लिए उसके बदले में बाज को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।

१७ कुन्थुनाथ :

भगवान् कुन्थुनाथ सतरहवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर है। पिता सूरराजा और माता श्रीदेवी थीं। आपका जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् कुन्थुनाथ भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८ अरनाथ :

भगवान् अरनाथ अठारहवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर है, पिता राजा सुदर्शन और माता श्रीदेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् अरनाथ भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी थे।

१९ मल्लिनाथ :

भगवान् मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म-स्थान विदेहदेश की राजधानी मिथिला नगरी है। पिता कुम्भराजा और माता प्रभावतीदेवी थीं। आपका जन्म मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को और निर्वाण फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को सम्मेतशिखर पर हुआ। ये वर्तमानकाल के चौबीस तीर्थङ्करों में स्त्री-तीर्थङ्कर थे। उन्होंने विवाह नहीं किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री शरीर होते हुए भी उन्होंने बहुत व्यापक भ्रमण कर धर्म-प्रचार किया। चालीस हजार मुनि और पचपन हजार साध्वियाँ इनके शिष्य हुए। तथा इनके एक लाख उन्यासी हजार श्रावक और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थीं।

२० मुनिसुव्रतनाथ :

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि मगध देश में राजगृह नगरी थी। पिता हरिवंश-कुलोत्पन्न राजा सुमित्र और माता पद्मावतीदेवी थीं। आपका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

२१ नमिनाथ :

भगवान् नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर थे। इनकी जन्मभूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी बताते हैं। पिता राजा विजयसेन और माता वप्रादेवी थीं। आपका जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

२२ नेमिनाथ :

भगवान् नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर थे। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आपकी जन्मभूमि आगरा के पास शौरीपुर नगर है। पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय और माता शिवादेवी थी। आपका जन्म श्रावणशुक्ला पंचमी और निर्वाण आषाढ़शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत है, जिसे पुराने युग में रैवतगिरि भी कहते थे। भगवान् अरिष्टनेमि कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र के ताऊ के पुत्र भाई थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से धर्मोपदेश सुना था। इनका विवाह-सम्बन्ध महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशु-वध होता देख कर इनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा, फलतः इन्होंने विवाह नहीं किया और वापस लौट कर मुनि बन गए।

२३ पार्श्वनाथ :

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्मभूमि वाराणसी (बनारस) है। पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थीं। आपका जन्म पौष कृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग को बचाया था।

२४ महावीर :

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनकी जन्मभूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड —सम्प्रति वासुकुण्ड) है। आपके पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशलादेवी थीं। आपका जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी और निर्वाण कार्तिक कृष्णा पंदरस (दिवाली) को हुआ। निर्वाण-भूमि पावापुरी है। भगवान् महावीर बड़े ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हिंसामय यज्ञों का निषेध करके दया और प्रेम का प्रचार किया। बौद्ध-साहित्य में भी उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। तथागत महात्मा बुद्ध महाश्रमण महावीर के समकालीन थे। वर्तमान में श्रमण भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

स्वयं-सम्बुद्ध :

तीर्थंकर भगवान् स्वयं-सम्बुद्ध कहलाते हैं। स्वयं-सम्बुद्ध का अर्थ है—अपने-आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले, जगने वाले। हजारों लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नहीं जगते। उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जग सकते, परन्तु दूसरों के द्वारा जगाए जाने पर अवश्य जग उठते हैं। यह श्रेणी साधारण साधकों की है। तीसरी श्रेणी उन पुरुषों की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोहमाया की निद्रा त्याग देते हैं और मोह-निद्रा में प्रसुप्त विश्व को भी अपनी एक आवाज से जगा देते हैं। हमारे तीर्थंकर इसी श्रेणी के महापुरुष हैं। तीर्थंकर देव किसी के बताये हुए पूर्व निर्धारित संयम-साधना पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विश्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्थान के लिए स्वयं अपने-आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तीर्थंकर का पथ-प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र। वह स्वयं ही अपना पथ-प्रदर्शक गुरु है, स्वयं ही उस पथ का यात्री है। वह अपना पथ स्वयं खोज निकालता है। स्वावलम्बन का यह महान् आदर्श, तीर्थंकरों के जीवन में कूट-कूट कर भरा होता है। तीर्थंकर देव पुरातन जीर्ण-शीर्ण हुई अनुपयोगी अन्ध और व्यर्थ परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर जन-हित के लिए नयी परम्पराएँ, नयी योजनाएँ स्थापित करते हैं। उनकी क्रान्ति का पथ स्वयं अपना होता है, वह कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होते।

पुरुषोत्तम :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषों में उत्तम—श्रेष्ठ। भगवान् के क्या बाह्य और क्या आभ्यन्तर—दोनों ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते हैं। भगवान् का रूप त्रिभुवन-मोहक होता है। और, उनका तेज सूर्य को भी हतप्रभ बना देने वाला है। भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन-मनोहारी होता है। और, उनके दिव्य शरीर में एक-से-एक उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं, जो हर किसी दर्शक को उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रऋषभनाराच संहनन का बल और समचतुरस्र संस्थान का सौन्दर्य तो अत्यन्त ही अनूठा होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समक्ष देवताओं का दीप्तिमान वैक्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है बाह्य ऐश्वर्य की बात! अब जरा अन्तरंग ऐश्वर्य की बात भी मालूम कर लीजिए। तीर्थंकर देव अनन्त चतुष्टय के धर्ता होते हैं। उनके अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुणों की समता भला दूसरे साधारण देवपद-वाच्य कहाँ कर सकते हैं? तीर्थंकर देव के अपने युग मे कोई भी संसारी पुरुष उनके समकक्ष नहीं होता।

पुरुषसिंह :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में सिंह होते हैं। सिंह एक अज्ञानी पशु है, हिंसक जीव है। अतः कहाँ वह निर्दय एवं क्रूर पशु और कहाँ दया एवं क्षमा के अपूर्व भंडार भगवान्? भगवान् को सिंह की उपमा देना, कुछ उचित नहीं मालूम देता! किन्तु, यह मात्र एकदेशी उपमा है। यहाँ सिंह से अभिप्राय, सिंह की वीरता और पराक्रम मात्र से है। जिस प्रकार वन में पशुओं का राजा सिंह अपने बल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता में उसकी बराबरी नहीं कर सकता, उसी प्रकार तीर्थंकर देव भी संसार में निर्भय रहते हैं, कोई भी संसारी व्यक्ति उनके आत्म-बल और तपस्त्याग सम्बन्धी वीरता की बराबरी नहीं कर सकता।

सिंह की उपमा देने का एक अभिप्राय और भी हो सकता है। वह यह कि संसार मे दो प्रकृति के मनुष्य होते हैं—एक कुत्ते की प्रकृति के और दूसरे सिंह की प्रकृति के। कुत्ते को जब कोई लाठी मारता है, तो वह लाठी को मुंह में पकड़ता है और समझता है कि लाठी मुझे मार रही है। वह लाठी मारने वाले को नहीं काटने दौड़ता, लाठी को काटने दौड़ता है। इसी प्रकार जब कोई शत्रु किसी को सताता है, तो वह सताया जाने वाला व्यक्ति सोचता है कि यह मेरा शत्रु है, यह मुझे तंग करता है, मैं इसे क्यों न नष्ट कर दूं? वह उस शत्रु को शत्रु बनाने वाले अन्तर-मन के विकारों को नहीं देखता, उन्हें नष्ट करने की बात नहीं सोचता। इसके विपरीत, सिंह की प्रकृति लाठी पकड़ने की नहीं होती, प्रत्युत लाठी वाले को पकड़ने की होती है। संसार के वीतराग महापुरुष भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नहीं समझते, प्रत्युत उनके मन में स्थित विकारों को ही शत्रु समझते हैं। वस्तुतः शत्रुता पैदा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है। अपने दया, क्षमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से दूसरों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकारों को शान्त करते हैं। फलतः शत्रु को भी मित्र बना लेते हैं। तीर्थंकर भगवान्, उक्त विवेचन के प्रकाश में पुरुष-सिंह हैं, पुरुषों में सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुरुषवर पुण्डरीक :

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुण्डरीक कमल की उपमा बड़ी ही सुन्दर-सार्थक दी गई है। पुण्डरीक श्वेत-कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा श्वेत-कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध में अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा जितना सुगन्धित हो सकता है, उतना अन्य हजारों कमलों से नहीं हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-वृन्द उसकी सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलतः कमल के आस-पास भँवरों का एक विराट् मेला-सा लगा रहता है। और इधर कमल बिना किसी स्वार्थभाव के दिन-रात अपनी सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के बदले की भूख है, और न ही कोई अन्य वासना। चुप-चाप मूक सेवा करना ही कमल के उच्च जीवन का आदर्श है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर में सर्वश्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय में वे अहिंसा और सत्य आदि सद्गुणों की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान कालावच्छेदेन ही होता है; किन्तु तीर्थंकरदेवों के जीवन की सुगन्ध तो हजारों-लाखों वर्षों बाद आज भी भक्त-जनता के हृदयों को महका रही है। आज ही नहीं, भविष्य में भी हजारों वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषों के जीवन की असीम अनन्त सुगन्ध को न दिशा ही अवरुद्ध कर सकती है, और न काल ही।

जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है, उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी राग, द्वेष आदि से मुक्त वीतराग-भाव के कारण पूर्णतया निर्मल श्वेत होता है। उसमें क्रोधादि कषाय-भाव का जरा भी रंग नहीं होता।

पुण्डरीक के समान भगवान् भी निस्वार्थभाव से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हें किसी से किसी भी प्रकार की लौकिक अपेक्षा, सांसारिक वासना नहीं होती। कमल अज्ञान अवस्था में ऐसा करता है, जबकि भगवान् ज्ञान के विमल प्रकाश में निष्काम-भाव से जन-कल्याण का कार्य करते हैं। यह कमल की अपेक्षा भगवान् की उच्च विशेषता है।

कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जबकि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर विश्व के सभी भव्य प्राणी, बिना किसी जाति, कुल या देश आदि भेद के, उनके पावन चरणों में उपस्थित हो जाते हैं।

कमल की उपमा का एक भाव और भी है। वह यह है कि भगवान् संसार में रहते हुए भी संसार की वासनाओं से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, जिस प्रकार पानी से लबालब भरे हुए सरोवर में रहकर भी कमल पानी से लिप्त नहीं होता। कमल-पत्र पर पानी की एक भी बूंद अपनी रेखा नहीं डाल सकती। कमल की यह उपमा जैन, बौद्ध, वैदिक आदि प्रायः सभी विशिष्ट सम्प्रदायों में सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक उपमा है।

गन्ध-हस्ती :

भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नहीं। परन्तु, गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना देती है।

गन्ध-हस्ती एक महान् विलक्षण हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद जल बहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूंजते रहते हैं। गन्ध-हस्ती की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि युद्धभूमि में जाते ही उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारों हाथी त्रस्त होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ देर के लिए भी नहीं ठहर पाते। यह गन्धहस्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय-साहित्य में बड़ा मंगलकारी माना गया है। यह जहाँ रहता है, उस प्रदेश में अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि के उपद्रव नहीं होते। सदा सुभिक्ष रहता है, कभी भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानव-जाति में गन्ध-हस्ती के समान हैं। भगवान् का प्रताप और तेज इतना महान् है कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड आदि कितने ही भयंकर क्यों न हों, ठहर ही नहीं सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विश्वास, भगवान् की वाणी के समक्ष सहसा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, सब ओर सत्य का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

भगवान् गन्ध-हस्ती के समान विश्व के लिए मंगलकारी हैं। जिस देश में भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से उपद्रव हो भी रहे हों, तो भगवान् के पधारते ही सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। समवायांग-सूत्र में तीर्थङ्कर देव के चौतीस अतिशयों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि "जहाँ तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते हैं, वहाँ आस-पास सौ-सौ कोस तक महामारी आदि के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से हों भी, तो शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।" यह भगवान् का कितना महान् विश्व-हितंकर रूप है! भगवान् की महिमा केवल अन्तरंग के काम, क्रोध आदि उपद्रवों को शान्त करने में ही नहीं है, अपितु बाह्य उपद्रवों की शान्ति में भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार तो जीवों की रक्षा करना, उन्हें दुःख से बचाना पाप है। दुःखों को भोगना, अपने पाप-कर्मों का ऋण चुकाना है। अतः भगवान् का यह जीवों को दुःखों से बचाने का अतिशय क्यों? उत्तर में निवेदन है कि भगवान् का जीवन मंगलमय है। वे क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, सभी प्रकार से जनता के दुःखों को दूर कर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। यदि दूसरों को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना पाप होता, तो भगवान् को यह पाप-वर्द्धक अतिशय मिलता ही क्यों? यह अतिशय तो पुण्यानुबन्धी पुण्य के द्वारा प्राप्त होता है, फलतः जगत् का कल्याण करता है। इसमें पाप की कल्पना करना अज्ञानता है। कौन कहता है कि जीवों की रक्षा करना पाप है? यदि पाप है, तो भगवान् को यह पाप-जनक अतिशय कैसे मिला? यदि किसी को सुख पहुँचाना वस्तुतः पाप ही होता, तो भगवान् क्यों नहीं किसी पर्वत की गुहा में बैठे रहे? क्यों दूर-सुदूर देशों में भ्रमण कर जगत् का कल्याण करते रहे? अतएव यह भ्रान्त कल्पना है कि किसी को सुख-शान्ति देने से पाप होता है। भगवान् का यह मंगलमय अतिशय ही इसके विरोध में सबसे बड़ा और प्रबल प्रमाण है।

लोक-प्रदीप :

तीर्थंकर भगवान् लोक में प्रकाश करने वाले अनुपम दीपक हैं। जब संसार में अज्ञान का अन्धकार घनीभूत हो जाता है, जनता को अपने हित-अहित का कुछ भी भान नहीं रहता है, सत्य-धर्म का मार्ग एक प्रकार से विलुप्त-सा हो जाता है, तब तीर्थंकर भगवान् अपने केवलज्ञान का प्रकाश विश्व में फैलाते हैं और जनता के मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर सन्मार्ग का पथ आलोकित करते हैं।

घर का दीपक घर के कोने में प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुंधला होता है। परन्तु, भगवान् तो तीन लोक के दीपक हैं, तीन लोक में प्रकाश करने का महान् दायित्व अपने पर रखते हैं। घर का दीपक प्रकाश करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता है, अपने-आप प्रकाश नहीं करता, जलाने पर प्रकाश करता है, वह भी सीमित प्रदेश में और सीमित काल तक! परन्तु तीर्थंकर भगवान् तो बिना किसी अपेक्षा के अपने-आप तीन लोक और तीन काल को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् कितने अनोखे दीपक हैं!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवन् को दीपक की उपमा क्यों दी गई है? सूर्य और चन्द्र आदि की अन्य सब उत्कृष्ट उपमाएँ छोड़ कर दीपक ही क्यों अपनाया गया? प्रश्न ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरता से सोचिए, नन्हें से दीपक की महत्ता, स्पष्टतः झलक उठेगी। बात यह है कि सूर्य और चन्द्र प्रकाश तो करते हैं, किन्तु किसी को अपने समान प्रकाशमान नहीं बना सकते। इधर लघु दीपक अपने संसर्ग में आए, अपने से संयुक्त हुए हजारों दीपकों को प्रदीप्त कर अपने समान ही प्रकाशमान दीपक बना देता है। वे भी उसी की तरह जगमगाने लगते हैं और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने लगते हैं। अतः स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश देकर ही नहीं रह जाता, वह दूसरों को अपने समान भी बना लेता है। तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार केवलज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर मौन-विश्रान्ति नहीं लेते, प्रत्युत अपने निकट संसर्ग में आने वाले अन्य साधकों को भी साधना का पथ प्रदर्शित कर, अन्त में अपने समान ही अर्हन्त बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, सदा ध्याता ही नहीं रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्ततोगत्वा, ध्येय-रूप में परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षी के लिए गौतम और चन्दना आदि के इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण, हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अभयदय:—अभय-दान के दाता :

संसार के सब दानों में अभय-दान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अभय-दान में ही पूर्णतया तरंगित होती है। अभयदान की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा का अनुभूत बोध-वचन है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।'

—सूत्रकृतांग, ६।२३

अस्तु, तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में अलौकिक एवं अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय में करुणा का सागर हर क्षण तरंगित रहता है। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की सतत धारा ही बहा करती है। गोशालक कितना उद्दण्ड प्राणी था? परन्तु, भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी की तेजोलेश्या से जलते हुए बचाया। चण्डकौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है? तीर्थंकर देव उस युग में जन्म लेते हैं, जब मानव-सभ्यता अपना पथ भूल जाती है। फलतः सब ओर अन्याय एवं अत्याचार का दम्भपूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थंकर भगवान् क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या राजा, क्या रंक, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, सभी को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। संसार के मिथ्यात्व-वन में भटकते हुए मानव-समूह को सन्मार्ग पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अभय-प्रदान करना, एकमात्र तीर्थंकर देवों का ही महान् कार्य है!

चक्षुर्दय : ज्ञाननेत्र के दाता :

तीर्थंकर भगवान् आँखों के देने वाले हैं। कितना ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नहीं, तो कुछ भी नहीं। आँखों के अभाव में जीवन भार हो जाता है। अंधे को आँख मिल जाए, फिर देखिए, कितना आनंदित होता है वह। तीर्थंकर भगवान् वस्तुतः अंधों को आँखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञाननेत्रों के समक्ष अज्ञान का तिमिर-जाल छा जाता है, तब तीर्थंकर ही जनता को ज्ञान-नेत्र अर्पण करते हैं, अज्ञान का जाला साफ करते हैं।

पुरानी कहानी है कि एक देवता का मन्दिर था, बड़ा ही चमत्कार पूर्ण! वह, आने वाले अन्धों को नेत्र-ज्योति दिया करता था। अन्धे लाठी टेकते आते और इधर आँखें पाते ही द्वार पर लाठी फेंक कर घर चले जाते! तीर्थंकर भगवान् भी वस्तुतः ऐसे ही चमत्कारी देव हैं। इनके द्वार पर जो भी काम और क्रोध आदि विकारों से दूषित अज्ञानी अन्धा आता है, वह ज्ञान-नेत्र पाकर प्रसन्न होता हुआ लौटता है। चण्डकौशिक आदि ऐसे ही जन्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मान्तर के अन्धे थे, परन्तु भगवान् के पास आते ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया, सत्य का प्रकाश जगमगा गया। ज्ञान-नेत्र की ज्योति पाते ही सब भ्रान्तियाँ क्षण-भर में दूर हो गईं।

धर्मचक्रवर्ती :

तीर्थंकर भगवान् धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं, चार दिशारूप चार गतियों का अन्त करने वाले हैं। जब देश में सब ओर अराजकता छा जाती है, तथा छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होकर देश की एकता नष्ट हो जाती है, तब चक्रवर्ती का चक्र ही पुनः अखण्ड-एकछत्र राज्य की सुव्यवस्था करता है, यह सम्पूर्ण बिखरी हुई देश की शक्ति को एक शासन के नीचे लाता है। सार्वभौम राज्य के बिना प्रजा में शान्ति की व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओं में समुद्र-पर्यन्त तथा उत्तर में हिमवान् पर्वत पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है। अतः वह चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थंकर भगवान् भी नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप चारों गतियों के विकारों का अन्त कर सम्पूर्ण विश्व में अपना अहिंसा और सत्य का धर्म-राज्य स्थापित करते हैं। दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्म की साधना वे स्वयं अन्तिम कोटि तक करते हैं, और जनता को भी इस पवित्र धर्म का उपदेश देते हैं, अतः वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं। भगवान् का धर्म-चक्र ही वस्तुतः संसार में भौतिक एवं आध्यात्मिक—सर्व-प्रकारेण अखण्ड-शान्ति कायम कर सकता है। अपने-अपने मत-जन्य दुराग्रह के कारण फैली हुई धार्मिक अराजकता का अन्त कर अखण्ड धर्म-राज्य की स्थापना तीर्थंकर ही करते हैं। वस्तुतः यदि विचार किया जाए, तो भौतिक जगत् के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह संसार कभी स्थायी शान्ति पा ही नहीं सकता। चक्रवर्ती तो भोग-वासना का दास एक पामर संसारी प्राणी है। उसके चक्र के मूल में साम्राज्य-लिप्सा का विष छुपा रहता है। जनता का परमार्थ नहीं, अपना स्वार्थ निहित रहता है। यही कारण है कि जहाँ चक्रवर्ती का शासन मानव-प्रजा के निरपराध रक्त से सींचा जाता है, वहाँ हृदय पर नहीं, शरीर पर विजय पाने का प्रयत्न होता है। परन्तु तीर्थंकर धर्म-चक्रवर्ती हैं। अतः वे पहले अपनी ही तपःसाधना के बल से काम, क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करते हैं, पश्चात् जनता के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना कर अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य कायम करते हैं। तीर्थंकर शरीर के नहीं, हृदय के सम्राट् बनते हैं। फलतः वे संसार में पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का, त्याग एवं वैराग्य का विश्व-हितंकर शासन चलाते हैं। वास्तविक सुख-शान्ति, इन्हीं धर्म-चक्रवर्तियों के शासन की छत्रछाया में प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र नहीं। तीर्थंकर भगवान् का शासन तो चक्रवर्तियों पर भी होता है। भोग-विलास के कारण जीवन की भूल-भुलैय्या में पड़ जाने वाले और अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो जाने वाले चक्रवर्तियों को तीर्थंकर ही उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हैं, कर्तव्य का भान कराते हैं। अतः तीर्थंकर भगवान् चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं।

व्यावृत्त छद्म :

तीर्थंकर देव व्यावृत्त-छद्म कहलाते हैं। व्यावृत्त-छद्म का अर्थ है—'छद्म से रहित।' छद्म के दो अर्थ हैं—आवरण और छल। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, उक्त चार घातिया कर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तियों को छादन किए रहते हैं, ढँके रहते हैं, अतः वे छद्म कहलाते हैं—

'छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादि'

—प्रतिक्रमण सूत्र पदविवृत्ति, प्रणिपात-दण्डक

और, जो इस छद्म से, ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों से पूर्णतया अलग हो गये हैं, वे 'व्यावृत्त-छद्म' कहलाते हैं। तीर्थंकर देव अज्ञान और मोह आदि से सर्वथा रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। छद्म का दूसरा अर्थ है—'छल और प्रमाद।' अतः छल और प्रमाद से रहित होने के कारण भी तीर्थंकर 'व्यावृत्तछद्म' कहे जाते हैं।

तीर्थंकर भगवान् का जीवन पूर्णतया सरल और समरस रहता है। किसी भी प्रकार की गोपनीयता या विषमता उनके मन में नहीं होती। क्या अन्दर और क्या बाहर, सर्वत्र समभाव रहता है, स्पष्ट भाव रहता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों का जीवन पूर्ण आप्त पुरुषों का जीवन रहा है। उन्होंने कभी भी दुहरी बातें नहीं की। परिचित और अपरिचित, साधारण जनता और असाधारण सम्राट् आदि, नासमझ बालक और समझदार वृद्ध—सबके समक्ष एक समान रहे। जो कुछ भी परम सत्य उन्होंने प्राप्त किया, निश्छल-भाव से जनता को अर्पण किया। यही आप्त-जीवन है, जो शास्त्र में प्रामाणिकता लाता है। आप्त-पुरुष का कहा हुआ प्रवचन ही प्रमाणाबाधित, तत्त्वोपदेशक, सर्व-जीव-हितंकर, अदृष्ट-दृष्ट के विरोध से रहित अकाट्य तथा मिथ्या-मार्ग का निराकरण करने वाला होता है। आचार्य सिद्धसेन तथा आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्र का उल्लेख करते हुए कहा है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य—
मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं,
शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥"
—न्यायावतार सूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार

तीर्थंकर की वाणी : जन-कल्याणी :

तीर्थंकर भगवान् के लिए जिन, जापक, तीर्ण, तारक, बुद्ध, बोधक, मुक्त और मोचक के विशेषण बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरों का उच्च-जीवन वस्तुतः इन विशेषणों पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेष को स्वयं जीतना और दूसरे साधकों से जितवाना, संसार-सागर से स्वयं तैरना और दूसरे प्राणियों को तैराना, केवलज्ञान पाकर स्वयं बुद्ध होना और दूसरों को बोध देना, कर्म-बन्धनों से स्वयं मुक्त होना और दूसरों को मुक्त कराना, कितना महान् एवं मंगलमय आदर्श है! जो लोग एकान्त निवृत्ति-मार्ग के गीत गाते हैं, अपनी आत्मा को ही तारने मात्र का स्वप्न रखते हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए!

मैं पूछता हूँ, तीर्थंकर भगवान् गंगा आदि महानदियों को पार करते हुए क्यों दूर-दूर देशों में भ्रमण कर अहिंसा और सत्य का सन्देश देते हैं? वे तो केवलज्ञान और केवलदर्शन को पाकर कृतकृत्य हो गए हैं। अब उनके लिए क्या पाना और क्या करना शेष है? संसार के दूसरे जीव मुक्त होते हैं या नहीं, इससे उनको क्या हानि-लाभ? यदि लोग धर्म-साधना करेंगे, तो उन्हीं को लाभ है और नहीं करेंगे, तो उन्हीं को हानि है। उनके लाभ और हानि से, भगवान् को क्या लाभ-हानि है? जनता को प्रबोध देने से उनकी मुक्ति में क्या विशेषता हो जाएगी? और यदि प्रबोध न दें, तो कौन-सी विशेषता कम हो जाएगी?

इन सब प्रश्नों का उत्तर जैनागमों का मर्मी पाठक यही देता है कि जनता को प्रबोध देने और न देने से, भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत हानि-लाभ नहीं है। भगवान् किसी स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर कुछ भी नहीं करते। न उनको पंथ चलाने का मोह है, न शिष्यों की टोली जमा करने का स्वार्थ है। न उन्हें पूजा-प्रतिष्ठा चाहिए और न मान-सम्मान! वे तो पूर्ण वीतराग पुरुष हैं। अतः उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति केवल करुणाभाव से होती है। जन-कल्याण की श्रेष्ठ भावना ही धर्म-प्रचार के मूल में निहित है, और कुछ नहीं। तीर्थंकर अनन्त-करुणा के सागर हैं। फलतः किसी भी जीव को मोह-माया में आकुल देखना उनके लिए करुणा की वस्तु है। यह करुणा-भावना ही उनके महान् प्रवृत्तिशील जीवन की आधारशिला है। जैन-संस्कृति का गौरव प्रत्येक बात में केवल अपना हानि-लाभ देखने में ही नहीं है, प्रत्युत जनता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का हानि-लाभ देखने में भी है। केवलज्ञान पाने के बाद तीस वर्ष तक भगवान् महावीर निष्काम भाव से जन-सेवा करते रहे। तीस वर्ष के धर्म-प्रचार से एवं जन-कल्याण से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत लाभ न हुआ, और न उनको इसकी अपेक्षा ही थी। उनका अपना आध्यात्मिक जीवन बन चुका था, और कुछ साधना शेष नहीं रहा था; फिर भी विश्व-करुणा की भावना से जीवन के अन्तिम क्षण तक जनता को सन्मार्ग का उपदेश देते रहे। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग सूत्र की अपनी टीका में इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है—

"धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजा-सत्कारार्थम्"

—सूत्रकृतांग टीका १।६।४.

केवल टीका में ही नहीं, जैन-धर्म के मूल आगम-साहित्य में भी यही भाव बताया गया है—

"सव्वजगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र २।१

तीर्थंकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी :

सूत्रकार ने 'जिणाणं' आदि विशेषणों के बाद **'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं'** के विशेषण बड़े ही गम्भीर अनुभव के आधार पर रखे हैं। जैन-धर्म में सर्वज्ञता के लिए शर्त है, राग और द्वेष का क्षय हो जाना। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय किए बिना, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग भाव सम्पादन किए बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं। सर्वज्ञता प्राप्त किए बिना पूर्ण आप्त-पुरुष नहीं हो सकता। पूर्ण आप्त-पुरुष हुए बिना त्रिलोक-पूज्यता नहीं हो सकती, तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। उक्त 'जिणाणं' पद ध्वनित करता है कि जैन-धर्म में वही आत्मा सुदेव है, परमात्मा है, ईश्वर है, परमेश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, जिसने चतुर्गति-रूप संसार-वन में परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को पूर्णरूप से नष्ट कर दिया है। जिसमें राग-द्वेष आदि विकारों का थोड़ा भी अंश हो, वह साधक भले ही हो सकता है, परन्तु वह देवाधिदेव तीर्थंकर अथवा अर्हन्त परमात्मा नहीं हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

"सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
यथास्थितार्थ-वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥"

—योगशास्त्र २।४

सर्वज्ञता का, एक बड़ा ही सरल एवं व्यावहारिक अर्थ है—**'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** की उदात्त दृष्टि। तात्पर्य यह है कि जब एक साधक व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास ऐसे उच्च एवं विस्तृत धरातल पर कर लेता है, जहाँ विश्व की समस्त अनुभूति को, सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, प्रमोद एवं पीड़ा की भावनाओं को अपनी मैत्री-करुणा की भावना में अन्तर्भूत कर लेता है, विश्व की समस्त आत्माओं में अपनी आत्मा को मिला देता है, वस्तुतः ऐसी ही विश्व-पीठिका पर, वह सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ का सीधा फलितार्थ यही है कि हम भी उनके समान ही विश्व की सभी आत्माओं को समभाव से, समानरूप से देखें। इस स्थिति में वैयक्तिक आत्मा की आवाज, विश्वात्मा की आवाज होती है, उसका चिन्तन विश्व-आत्मा का चिन्तन होता है, उसकी अनुभूति, विश्व-आत्मा की अनुभूति होती है। भावरूप से विश्व उसमें निहित होता है और वह विश्वमय हो जाता है। वही सर्वज्ञ होता है, सर्वदर्शी होता है, तीर्थंकर होता है, अर्हन्त होता है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५

शब्द-रूप भिन्न, किन्तु भावरूप एक :

अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त

जैन-दर्शन के अनुसार वीतरागदेव अरिहन्त होते हैं। अरिहन्त हुए बिना वीतरागता हो ही नहीं सकती। दोनों में कार्य-कारण का अटूट सम्बन्ध है। अरिहन्तता कारण है, वीतरागता उसका कार्य है। जैन-धर्म विजय का धर्म है, पराजय का नहीं। विरोधी शत्रुओं को जड़-मूल से नष्ट करने वाला धर्म है, उसकी दासता करने वाला नहीं। यही कारण है कि सम्पूर्ण जैन-साहित्य अरिहन्त और जिन के मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है, और अन्त में इससे ही समाप्त होता है। जैन-धर्म का मूलमन्त्र नमस्कार-नवकार है, उसमें भी सर्व-प्रथम 'नमो-अरिहंताणं' है। जैन-धर्म की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है, उसके सम्यक्त्व-प्रतिज्ञा-सूत्र में भी सर्व-प्रथम 'अरिहन्तो मह देवो' है। अतएव 'नमोत्थुणं' सूत्र का प्रारम्भ भी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं' से ही हुआ है। जैन-संस्कृति और जैन-विचार-धारा का मूल अरिहंत ही है। जैन-धर्म को समझने के लिए अरिहन्त शब्द को समझना अत्यावश्यक है।

अरिहन्त का अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु, उनका हनन करनेवाला। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह भी कोई धार्मिक आदर्श है? अपने शत्रुओं को नष्ट करने वाले सब ओर हजारों लोग हैं, हजारों क्षत्रिय हैं, राजा हैं, क्या वे वन्दनीय हैं? क्षत्रिय के लिए 'अरिसूदन' शब्द आता है, उसका अर्थ भी शत्रुओं का नाश करने वाला ही है। अतः क्या वे भी अरिहन्त हुए, जैन-संस्कृति के आदर्श देव हुए? उत्तर में निवेदन है कि यहाँ अरिहन्त से अभिप्राय, बाह्य शत्रुओं को हनन करना नहीं है, प्रत्युत अन्तरंग काम-क्रोधादि शत्रुओं को हनन करना है। बाहर के शत्रुओं को हनन करने वाले हजारों वीर क्षत्रिय मिल सकते हैं, भयंकर सिंहों और बाघों को मृत्यु के घाट उतारने वाले भी अति साहसी शिकारी मिलते हैं; परन्तु अपने अन्दर में स्थित कामादि शत्रुओं को हनन करने वाले सच्चे आध्यात्म-क्षेत्र के क्षत्रिय विरल ही मिलते हैं। एक साथ करोड़ शत्रुओं से जूझने वाले कोटि भट-वीर भी अपने मन की वासनाओं के आगे थर-थर काँपने लगते हैं, उनके इशारे पर नाचने लगते हैं। हजारों वीर धन के लिए प्राण देते हैं, तो हजारों सुन्दर स्त्रियों पर मरते हैं। रावण-जैसा विश्व-विजेता वीर भी अपने अन्दर की काम-वासना से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका। अतएव जैन-धर्म कहता है कि अपने-आप से लड़ो! अन्दर की वासनाओं से लड़ो! बाहर के शत्रु इन्हीं के कारण जन्म लेते हैं। विष-वृक्ष के पत्ते नोचने से काम नहीं चलेगा, जड़ उखाड़िए, जड़! जब अन्तरंग हृदय में कोई सांसारिक वासना ही न होगी, काम, क्रोध, लोभ आदि की छाया ही न रहेगी, तब बिना कारण के बाह्य शत्रु क्यों कर जन्म लेंगे? जैन-धर्म का युद्ध, धर्म-युद्ध है। इसमें बाहर से नहीं लड़ना है, अपने-आपसे लड़ना है। विश्व-शान्ति का मूल इसी भावना में है। अरिहन्त बनने वाला, अरिहन्त बनने की साधना करने वाला एवं अरिहन्त की उपासना करने वाला ही विश्व-शान्ति का सच्चा स्रष्टा हो सकता है, अन्य नहीं। इसी अन्तःशत्रुओं को हनन करने वाली भावना को लक्ष्य में रखकर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि—'ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कर्म ही वस्तुतः संसार के सब जीवों के अरि हैं। अतः जो महापुरुष उन कर्म-शत्रुओं का नाश कर देता है, वह अरिहन्त कहलाता है।"

"अट्ठविहं पि य कम्मं,
अरिभूयं होइ सव्व-जीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता,
अरिहंता तेण वुच्चंति ॥"

—आवश्यक निर्युक्ति ९१४

प्राचीन मागधी, प्राकृत और संस्कृत आदि भाषाएँ बड़ी गम्भीर एवं अनेकार्थ-बोधक भाषाएँ हैं। यहाँ एक शब्द, अपने अन्दर में स्थित अनेकानेक गम्भीर भावों की सूचना देता है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने अरिहन्त आदि शब्दों के भी अनेक अर्थ सूचित किए हैं। अधिक विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि संक्षेप में परिचय के नाते कुछ लिख देना आवश्यक है।

'अरिहन्त' शब्द के स्थान में अनेक प्राचीन आचार्यों ने अरहन्त और अरुहन्त पाठान्तर भी स्वीकार किए हैं। उनके विभिन्न संस्कृत रूपान्तर होते हैं—अर्हन्त, अरहोऽन्तर्, अरथान्त, अरहन्त और अरुहन्त आदि।

'अर्ह-पूजायाम्' धातु से बनने वाले अर्हन्त शब्द का अर्थ पूज्य है। वीतराग तीर्थंकर-देव विश्व-कल्याणकारी धर्म के प्रवर्तक हैं, अतः असुर, सुर, नर आदि सभी के पूजनीय हैं। वीतराग की उपासना तीन लोक में की जाती है, अतः वे त्रिलोक-पूज्य हैं, स्वर्ग के इन्द्र भी प्रभु के चरण-कमलों की रज मस्तक पर चढ़ाते हैं, और अपने को धन्य-धन्य समझते हैं।

अरहोऽन्तर् का अर्थ—सर्वज्ञ है। रह का अर्थ है—रहस्यपूर्ण—गुप्त वस्तु। जिनसे विश्व का कोई रहस्य छुपा हुआ नहीं है, अनन्तानन्त जड़-चैतन्य पदार्थों को हस्तामलक की भाँति स्पष्ट रूप से जानते-देखते हैं, वे अरहोऽन्तर् कहलाते हैं।

अरथान्त का अर्थ है—परिग्रह और मृत्यु से रहित। 'रथ' शब्द उपलक्षण से परिग्रह-मात्र का वाचक है और अन्त शब्द विनाश एवं मृत्यु का। अतः जो सब प्रकार के परिग्रह से और जन्म-मरण से अतीत हो गया, वह अरथान्त कहलाता है।

अरहन्त का अर्थ—आसक्ति-रहित है। रह का अर्थ आसक्ति है। अतः जो मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देने के कारण राग-भाव से सर्वथा रहित हो गए, वे अरहंत कहलाते हैं।

अरुहन्त का अर्थ है—कर्म-बीज को नष्ट कर देने वाले, फिर कभी जन्म न लेने वाले। 'रुह' धातु का संस्कृत भाषा में अर्थ है—सन्तान अर्थात् परम्परा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, फिर बीज से वृक्ष-और वृक्ष से बीज—यह बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। यदि कोई बीज को जलाकर नष्ट कर दे, तो फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा, बीज-वृक्ष की इस प्रकार की परम्परा समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार कर्म से जन्म, और जन्म से कर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई साधक रत्न-त्रय की साधना की अग्नि से कर्म-बीज को पूर्णतया जला डाले, तो वह सदा के लिए जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो जाएगा, अरुहन्त शब्द की इसी व्याख्या को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य में कहते हैं—

"दग्धेबीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाऽङ्कुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाऽङ्कुरः॥"

—उपसंहार कारिका, ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरहन्त भगवान् का स्वरूप :

भारतवर्ष के दार्शनिक एवं धार्मिक-साहित्य में भगवान् शब्द, बड़ा ही उच्चकोटि का भावपूर्ण शब्द माना जाता है। इसके मूल में एक विशिष्ट भाव-राशि स्थित है। 'भगवान्' शब्द 'भग' शब्द से बना है। अतः भगवान् का शब्दार्थ है—'भगवाली आत्मा।'

आचार्य हरिभद्र ने भगवान् शब्द पर विवेचन करते हुए 'भग' शब्द के छः अर्थ बतलाए हैं—ऐश्वर्य=प्रताप, वीर्य=शक्ति अथवा उत्साह, यश=कीर्ति, श्री=शोभा, धर्म=सदाचार और प्रयत्न=कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ। जैसा कि उन्होंने कहा है—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य[1] यशसः श्रियः।
धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना॥"

—दशवैकालिक-सूत्र टीका, ४।१

अतः यहाँ स्पष्ट है कि जिस महान् आत्मा में पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म और पूर्ण प्रयत्न स्थित हो, वह भगवान् कहलाता है। तीर्थंकर महाप्रभु में उक्त छहों गुण पूर्णरूप से विद्यमान होते हैं, अतः वे भगवान् कहे जाते हैं।

जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति है। यह मानव में ही भगवत्-स्वरूप की झाँकी देखती है। अतः जो साधक, साधना करते हुए वीतराग-भाव के पूर्ण विकसित पद पर पहुँच जाता है, वही यहाँ भगवान् बन जाता है। जैन-धर्म यह नहीं मानता कि मोक्षलोक से भटक कर ईश्वर यहाँ अवतार लेता है, और वह संसार का भगवान् बनता है। जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नहीं; परन्तु पूर्ण विकास पाया हुआ जागृत मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है। उसी के चरणों में स्वर्ग के इन्द्र अपना मस्तक झुकाते हैं, उसे अपना आराध्य देव स्वीकार करते हैं। तीन लोक का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसके चरणों में उपस्थित रहता है। उसका प्रताप, वह प्रताप है, जिसके समक्ष कोटि-कोटि सूर्यों का प्रताप और प्रकाश भी फीका पड़ जाता है—'**आइच्चेसु अहियं पयासयरा।**'

अरहन्त : आदिकर

अरहन्त भगवान् आदिकर भी कहलाते हैं। आदिकर का मूल अर्थ है, आदि करने वाला। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसकी आदि करने वाला? धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी? उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह संसार है, संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी है। जब संसार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु, यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि अरहन्त भगवान् धर्म का निर्माण नहीं करते, प्रत्युत धर्म की व्यवस्था का, धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग में धर्म में जो विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या-आचार फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अतः अपने युग में धर्म की आदि करने के कारण अरहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरहन्त भगवान् श्रुतधर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् श्रुत-धर्म का निर्माण करने वाले हैं। जैन-साहित्य में आचारांग आदि धर्म-सूत्रों को श्रुत-धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने चले आये धर्म-शास्त्रों के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नहीं तैयार करते। उनका जीवन अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा ही वे अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पोथी-पन्नों का भार लादकर चलना,

१. आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि में 'वीर्य' के स्थान में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें अभीष्ट नहीं है। हर एक युग का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि-विधान होना चाहिए। तभी जनता का वास्तविक हित हो सकता है, अन्यथा जो शास्त्र चालू युग की अपनी दुरूह गुत्थियों को नहीं सुलझा सकते, वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, वे शास्त्र मानव-जाति के अपने वर्तमान युग के लिए अकिंचित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध हैं। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते हैं, न जनता को चलाते हैं। स्वानुभव के बल पर संयमोचित नये विधि-विधान का निर्माण करके जनता का कल्याण करते हैं, अतः वे आदिकर कहलाते हैं।[1]

---

१. उपर्युक्त निबन्ध में 'अरिहन्त, अरहन्त तथा अरुहन्त' तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। और, उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यायित किए गए हैं। किन्तु, प्राचीन आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वहाँ सर्वत्र 'अरहन्त' शब्द का ही प्रचुर प्रयोग है। आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग आदि अनेक आगम एतदर्थ द्रष्टव्य है। वहाँ कहीं 'अरहा' शब्द का प्रयोग है, तो कहीं 'अरहंताणं' का।

भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने भी 'अरहन्त' पाठ को ही मुख्य रखा है और 'अरिहन्त' को अपनी टीका में पाठान्तर के रूप में अंकित किया है। भगवती आराधना आदि उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी 'अरहन्त' शब्द ही प्रयुक्त है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में मूल शब्द 'अर्हत्' मान कर, उसके ही अकार, इकार, उकार, उच्चारण के रूप में तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं।

अर्हत् शब्द मूलतः 'अर्ह पूजायाम्' धातु से निष्पन्न है। इसीलिए अरहन्त भगवान् को त्रिलोक-पूजित के रूप में उपास्य देव माना गया है। इस सम्बन्ध में प्राचीन शिलालेख का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण भी हमारे समक्ष है। उड़ीसा के उदयगिरि-खण्डगिरि पर्वत में कलिंग सम्राट् खारवेल का शिलालेख अंकित है, जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का प्रमाणित हुआ है। उसमें भी 'णमो अरहंताणं' पाठ ही उल्लिखित है।

वैसे साधक अपनी भावनानुसार किसी भी प्रयोग का उपयोग कर सकता है। इससे सर्वत्र परमात्म स्वरूप के बोध के साथ स्व-स्वरूप के बोध की उपलब्धि होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

तत्त्वमसि

मानव-जीवन संगमरमर के समान है और मानव एक शिल्पकार है। कुशल शिल्पी के हाथों मानव-जीवन सुन्दरतम रूप में परिणत हो जाता है। मानव, यदि कुशल शिल्पकार नहीं बन पाया, तो जीवन-संगमरमर का कोई मूल्य अथवा उपयोग नहीं रह जाता। वह मात्र संगमरमर का एक खण्ड पत्थर, केवल पत्थर ही रह जाएगा, इससे अधिक कुछ नहीं। यदि मनुष्य अपने को एक शिल्पकार की भूमिका में ले आए, तो अपने जीवन-संगमरमर को उसे क्या रूप देना है, उसमें कौन-सा सौन्दर्य लाना है, उसके लिए कुछ भी बताने की आवश्यकता किसी को नहीं है। एक शिल्पकार ही तो संगमरमर को काट-छांट कर मूर्ति के रूप में उसे भगवान् का रूप देता है। बस, मनुष्य भी अपना शिल्पकार स्वयं बना नहीं कि उसके जीवन संगमरमर को भगवान् बनने में कुछ देर नहीं लगेगी। हे मानव! तू एक बार अपने को पहचान ले, स्वयं को कुशल शिल्पकार बना ले। बस, फिर तुझे अनन्त शक्तिमान भगवान् बनते क्या देर होगी? कुछ भी तो नहीं।

भारत के कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की एक अलग सत्ता मान कर और उसे विश्व की जीव-जन्तु रूप कठ-पुतलियों को मन चाहे ढंग से नचाने वाले सर्व-शक्तिमान सूत्रधार की संज्ञा दे कर, मनुष्य का महत्त्व कम कर दिया है। इसके विपरीत, जैन-दार्शनिकों की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है, कि उन्होंने सर्व-शक्तिमान के रूप में ईश्वर की अलग सत्ता नहीं मान कर, मनुष्य-मात्र को ही अनन्त-शक्तिमान माना। कितना गहरा और स्वस्थ विचार दिया है, जैन-दार्शनिकों ने। मनुष्य को उसके अपने स्व में ही केन्द्रित कर दिया, कहीं अन्यत्र भिक्षा-पात्र लिए इधर-उधर भटकने नहीं दिया, तनिक भी आने-जाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होने दिया। और, परम सुख एवं अनन्त ज्ञान की अनुभूतियों का परमानन्द प्राप्त करने का कितना सत्य एवं सरल मार्ग है। दर्शन-चेतना के एक कवि ने सत्य ही कहा है--

"बीज, बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज, मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है॥"

मनुष्य, तू केवल मनुष्य ही नहीं, हाड़-मांस का चलता-फिरता ढांचा ही नहीं, प्रत्युत तू बहुत-कुछ है। बहुत-कुछ ही नहीं, सब-कुछ है। बस, एक बार स्वयं को पहचान ले। तू अपना परिचय स्वयं अपने से कर ले। तेरे में अनन्त प्रकाश की जो रश्मियाँ अंधकार में बन्द पड़ी हैं, उन्हें एक बार खोलने की आवश्यकता है। एक बार अपनी आत्मा पर लगी राग-द्वेष की गन्दगी को धोकर देख, बस, सुगन्ध ही सुगन्ध है, प्रकाश ही प्रकाश है। तू ठोकरें खानेवाला अन्धकार स्वयं प्रकाश बनकर ठोकरों से बचाने वाला बन जाएगा।

आत्मा को विकारों से बचाने की आवश्यकता है, फिर तो बाजी अपने हाथ में है। राग-द्वेष के वातावरण से बाहर आकर एक बार जो श्वास लिया कि उसकी सुगन्ध स्वयमेव सर्व-शक्तिमान् की अनुभूति करा देगी। सोई हुई आत्मा के जागृत होने पर विकार रूपी शत्रुओं का कहीं अता-पता भी न लगेगा। जीवन में एक नयी चमक आ जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन को सच्चे आनन्द की ओर एक नया मोड़ मिल जाएगा। जीवन में पूर्णता आने लगेगी। जीवन के साम्राज्य में सर्व-शक्तियों का उदय हो जाएगा।

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्म-ज्योति विद्यमान है। प्रत्येक चेतन में परम चेतन विराजमान है। चेतन और परम चेतन दो नहीं हैं, एक है। अशुद्ध से शुद्ध होने पर चेतन ही परम चेतन हो जाता है। कोई भी चेतन, परम चेतन की ज्योति से मूलतः शून्य या रिक्त नहीं है। वह दीन, हीन एवं भिखारी नहीं है। यह मत समझिए कि कर्म के आवरण के कारण जो आत्मा आज संसार में भटक रही है, वह कभी संसार के बन्धनों से मुक्त न हो सकेगी। इस विराट् विश्व का प्रत्येक चेतन अपने स्वयंसिद्ध अध्यात्म-राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है, उसे भिखारी समझना सर्वथा भूल है। भिखारी हर चीज को माँगता है और साधक प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मैं आपसे कहता हूँ कि प्रत्येक साधक अधिकारी है, वह भिखारी नहीं है। अधिकारी का अर्थ है—अपनी सत्ता एवं शक्ति पर विश्वास करने वाला और भिखारी का अर्थ है—अपनी सत्ता एवं शक्ति पर विश्वास न करके दूसरे की दया और करुणा पर अपना जीवन व्यतीत करनेवाला। जैन-दर्शन का तत्त्व-चिन्तन उस परम-ज्योति, परम-प्रकाश और परमात्म-तत्त्व की खोज कहीं बाहर में नहीं, अपने अन्दर में ही करता है। वह कहता है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत् त्वमसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। मात्र आवश्यकता है—अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की।

भारत के कुछ दर्शन केवल प्रकृति की व्याख्या करते हैं, पुद्गल के स्वरूप का ही वे प्रतिपादन करते हैं। भौतिक-दर्शन पुद्गल और प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करता है, किन्तु पुद्गल और प्रकृति से परे आत्म-तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल और प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह सकता है और बहुत कुछ लिख भी सकता है, परन्तु वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी जान नहीं पाता, कुछ भी कह नहीं पाता और कुछ भी लिख नहीं पाता। वह अपने को भी प्रकृति का ही परिणाम मानता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी-दर्शन प्रकृति के वात्याचक्र में न उलझकर आत्मा की बात कहता है। वह कहता है कि आत्मा स्वयं क्या है और वह क्या होना चाहती है? अध्यात्मवादी दार्शनिक यह सोचता है और विश्वास करता है कि मेरी यह आत्मा यद्यपि मूल-स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन एवं निर्विकार है, फिर भी जब तक इसके साथ कर्म का संयोग है, जब तक इस पर माया एवं अविद्या का आवरण है, तब तक यह विविध बन्धनों में बद्ध है। पर, जैसे ही यह आत्मा निर्मल हुई कि शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है। अध्यात्मवादी-दर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था की ओर अपने लक्ष्य को स्थिर करता है। जैन-दर्शन ने कहा है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप में वैसी नहीं है, जैसी कि वर्तमान में दृष्टिगोचर होती है। यह तो केवल व्यवहार-नय है। शुद्ध निश्चय-नय से तो प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप है। निश्चय-नय से संसारस्थ आत्मा में और सिद्ध आत्मा में अणुमात्र भी भेद नहीं है। जो कुछ भेद है, वह औपाधिक है, कर्म-प्रकृति के संयोग से है। अतः प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास करना चाहिए कि भले ही आज मैं बद्ध-दशा में हूँ, किन्तु एक दिन मैं मुक्त-दशा को भी अवश्य ही प्राप्त कर सकता हूँ। क्योंकि आत्मा चैतन्य-स्वरूप है और उस चैतन्य-स्वरूप आत्मा में अनन्त-अनन्त शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता शक्ति की उत्पत्ति की नहीं, अपितु शक्ति की अभिव्यक्ति की है।

जब भी कोई रोती एवं बिलखती आत्मा सद्गुरु के समक्ष हताश और निराश होकर खड़ी हुई है, भारत के प्रत्येक सद्गुरु ने उसके आँसुओं को पोंछकर उसे स्व-स्वरूप की शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जागृत करने की दिशा में अमोघ सान्त्वना एवं प्रेरणा दी है। साधना के मार्ग पर लड़-खड़ाते पंगु मन को केवल बाह्य क्रियाकलापरूपी लाठी का सहारा ही नहीं दिया गया, बल्कि इधर-उधर की पराश्रित भावना की बैसाखी छुड़ाकर, उसमें आध्यात्म-मार्ग पर दौड़ लगाने की एक अद्‌भुत शक्ति भी जागृत कर दी। सद्‌गुरु ने उस दीन-हीन आत्मा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करके उसे भिखारी से सम्राट् बना दिया। उस दीन एवं हीन आत्मा को, जो अपने अन्दर अनन्त शक्ति के होते हुए भी विलाप करती थी, अध्यात्म-भाव की मधुर प्रेरणा देकर इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न बना दिया कि वह स्वयं ही सन्मार्ग पर अग्रसर नहीं हुई, बल्कि उसने दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न में महान् सफलता प्राप्त की।

भारतीय-दर्शन कहता है कि संसार की कोई भी आत्मा, भले ही वह अपने जीवन के कितने ही नीचे स्तर पर क्यों न हो, भूल कर भी उससे घृणा और द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि न जाने कब उस आत्मा में परमात्म-भाव की जागृति हो जाए। प्रत्येक आत्मा अध्यात्म-गुणों का अक्षय एवं अनन्त अमृत कूप है, जिसका न कभी अन्त हुआ है और न कभी अन्त होगा। विवेक ज्योति प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक आत्मा अपने उस परमात्म-स्वरूप अमृत-रस का आस्वादन करने लगती है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप अमृत कहीं बाहर नहीं, बल्कि स्वयं उसके अन्दर में ही है। वह शुद्ध स्वरूप कहीं दूर नहीं है, अपने समीप ही है। समीप भी क्या ? जो है, वह स्वयं ही है। बात बस इतनी-सी है, जो गलत रास्ता पकड़ लिया गया है, उसे छोड़कर सम्यक् राह पर आ जाना है। जीवन की गति-प्रगति को रोकना नहीं, बल्कि उसे अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर मोड़ देना है।

जैन-दर्शन के अनुसार, प्रत्येक चेतन एवं प्रत्येक आत्मा—अक्षय एवं अनन्त चित्-कूप है, जिसमें शुद्ध चिदानन्दरूप अमृत-रस का अभाव नहीं है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं। वह कभी गुणों से रिक्त एवं शून्य नहीं हो सकता। आत्मा उस धन-कुबेर के पुत्र के समान है, जिसके पास कभी धन की कमी नहीं होती, भले ही अज्ञानता के कारण वह अपने उस अक्षय भंडार का दुरुपयोग ही क्यों न कर रहा हो। शक्ति का यह अक्षय धन तो आपके पास भी है, परन्तु उसे दुरुपयोग से हटा कर सदुपयोग में लगाना है। यदि इतना कर सकें, तो फिर समझ लीजिए, आपके जीवन का समस्त दुःख, सुख में बदल जाएगा, समस्त अशान्ति, शान्ति में बदल जाएगी और सारी विषमताएँ, समता में बदल जाएँगी। जीवन का हा-हाकार, 'अहो-अहो' की आनन्द-धारा में परिणत हो जाएगा। फिर जीवन में किसी भी प्रकार के द्वन्द्व, संघर्ष और प्रतिकूल भाव कभी नहीं रहेंगे।

जड़ प्रकृति के पास केवल सत्ता है, चेतना नहीं। संसारी आत्मा के पास सत्ता भी है और चेतना भी है। यदि उसके पास कुछ कमी है, तो सिर्फ स्थायी सुख एवं स्थायी आनन्द की कमी है। आत्मा को परमात्मा बनने के लिए यदि किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह है उसका अक्षय एवं अनन्त आनन्द। अक्षय आनन्द की उपलब्धि के लिए आत्मा में निरन्तर उत्कण्ठा रहती है। वह सदा आनन्द और सुख की खोज करती है। प्रश्न यह है कि संसार के प्रत्येक प्राणी को सुख की खोज क्यों रहती है ? उसका कारण यह है कि सुख और आनन्द आत्मा का निज रूप है, वह इसके बिना नहीं रह सकती। इसलिए वह इसे पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। चींटी से लेकर हाथी तक और गन्दी नाली के कीट से लेकर सुरलोक में रहने वाले इन्द्र तक सभी सुख चाहते हैं, आनंद चाहते हैं। विश्व की छोटी-से-छोटी चेतना भी सुख चाहती है; भले ही, उस सुख को वह अपनी भाषा में अभिव्यक्त न कर सके। हाँ, यह सम्भव है कि सबकी सुख की कल्पना एक जैसी न हो, किन्तु यह निश्चित है कि सबके जीवन का एकमात्र ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख कहाँ मिलेगा ? कैसे मिलेगा ? यह तथ्य भी सबकी समझ में एक जैसा नहीं है। किन्तु, सचेतन जीवन में कभी भी सुख की अभिलाषा का अभाव नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। सुख की अभिलाषा तो सभी को है, किन्तु उसे प्राप्त करने का प्रयत्न और वह भी उचित प्रयत्न कितने कर पाते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो उचित एवं सही प्रयत्न करेगा, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक-न-एक दिन अवश्य ही सुख पाएगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। सुख की अभिलाषा प्रत्येक में होने पर भी वह सुख कहाँ मिलेगा, इस तथ्य को बिरले ही समझ पाते हैं। निश्चय ही उक्त अनन्त एवं अक्षय सुख का केन्द्र हमारी स्वयं की आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त विश्व के किसी भी बाह्य पदार्थ में सुख की परिकल्पना करना, एक भयंकर भ्रम है। जिस आत्मा ने अपने अन्दर में—अपने स्वरूप में ही रहकर अक्षय आनन्द का अनुसंधान कर लिया, उसे अधिगत कर लिया, दर्शन की भाषा में, वह आत्मा सच्चिदानन्द बन जाता है। सत् और चित् तो उसके पास व्यक्त स्वरूप में पहले भी थे, किन्तु आनन्द के व्यक्त-स्वरूप की कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही, आनन्द की उपलब्धि होते ही वह सच्चिदानन्द बन गया। जीव से ईश्वर बन गया, आत्मा से परमात्मा बन गया, भक्त से भगवान् बन गया और उपासक से उपास्य बन गया। यही भारतीय-दर्शन का मर्म है। इसी मर्म को प्राप्त करने के लिए साधक निरन्तर अध्यात्म-साधना का दीप जलाता है।

ईश्वर कौन है, कहाँ है?

ईश्वरत्व के सम्बन्ध में ऊपरि विचार-चर्चा के उपरान्त अब हमें निष्कर्ष रूप में यह विचार करना है कि ईश्वर क्या है? उसकी वास्तविक स्थिति क्या है?

मानव-जाति ईश्वर के विषय में काफी भ्रान्त रही है। सम्भव है, अन्य किसी विषय में उतनी भ्रान्त न रही हो, जितनी कि ईश्वर के विषय में रही है। कुछ धर्मों ने ईश्वर को एक सर्वोपरि प्रभुसत्ता के रूप में माना है। वे कहते हैं—"ईश्वर एक है, अनादिकाल से वह सर्वसत्ता सम्पन्न एक ही चला आ रहा है। दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। नहीं क्या? दूसरा कोई ईश्वर हो ही नहीं सकता। वह ईश्वर अपनी इच्छा का राजा है। जो चाहता है, वही करता है। वह असंभव को सम्भव कर सकता है, और संभव को असंभव! जो हो सकता है, उसे न होने दे, जो नहीं हो सकता, उसे करके दिखा दे। जो किसी अन्य रूप में होने जैसा हो, उसे सर्वथा विपरीत किसी अन्य रूप में कर दे।" ऐसा है ईश्वर का तानाशाही व्यक्तित्व, जिसे एक भक्त ने **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः'** कहा है। वह जगत् का निर्माता है, संहर्ता है। एक क्षण में वह विराट् विश्व को बना सकता है, और एक क्षण में उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी लीला का कुछ पार नहीं है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। और वह रहता कहाँ है? किसी का ईश्वर वैकुण्ठ में रहता है, किसी का ब्रह्मलोक में, तो किसी का सातवें आसमान पर रहता है, तो किसी का समग्र विश्व में व्याप्त है।

ईश्वरीय-सत्ता की उक्त स्थापना ने मनुष्य को पंगु बना दिया है। उसने पराश्रित रहने की दुर्बल मनोवृत्ति पैदा की है। देववाद के समान ही ईश्वरवाद भी मानव को भय एवं प्रलोभन के द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है। वह ईश्वर से डरता है, फलतः उसके प्रकोप से बचने के लिए वह नाना प्रकार के विचित्र क्रिया-काण्ड करता है, स्तोत्र पढ़ता है, माला जपता है, यज्ञ करता है, मूक-पशुओं की बलि तक देता है। वह समझता है कि इस प्रकार करने से ईश्वर मुझ पर प्रसन्न रहेगा, मेरे सब अपराध क्षमा कर देगा, और मुझे किसी प्रकार का दण्ड न देगा। इस तरह ईश्वरीय उपासना मनुष्य को पापाचार से नहीं बचाती, अपितु पापाचार के फल से बच निकलने की दूषित मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है। मनुष्य को कर्तव्य-निष्ठ नहीं, अपितु खुशामदी बनाती है।

यही बात प्रलोभन के सम्बन्ध में है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न्यायोचित प्रयत्न करना चाहिए। जो पाना है, उसके लिए अपने पुरुषार्थ का भरोसा रखना चाहिए। परन्तु ईश्वरवाद मनुष्य को इसके विपरीत आलसी, निष्कर्मण्य एवं भिखारी बनाता है। वह हर आवश्यकता के लिए ईश्वर से भीख माँगने लगता है। वह समझता है, यदि ईश्वर प्रसन्न हो जाए, तो बस कुछ का कुछ हो सकता है। ईश्वर के बिना मेरी भाग्य-लिपि को कौन पलट सकता है? कोई नहीं। और, उक्त प्रलोभन से प्रभावित मनोवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आखिर यही परिणाम होता है कि जैसे भी हो ईश्वर को प्रसन्न किया जाए और अपना मतलब साधा जाए !

भगवान् महावीर ने प्रस्तुत सन्दर्भ में मानव को उद्बोधन देते हुए कहा है—"मानव ! विश्व में तू ही सर्वोपरि है। यह जो दीनता और हीनता है वह तेरे स्वयं के अज्ञान का दुष्फल है। जो तू अच्छा-बुरा कुछ भी पाता है, वह तेरा अपना किया हुआ होता है, वह किसी का दिया हुआ नहीं होता। तू ईश्वर की सृष्टि नहीं है, बल्कि ईश्वर ही तेरी सृष्टि है।" ईश्वर का अस्तित्व है; परन्तु वह मनुष्य से भिन्न कोई परोक्ष सत्ता नहीं है। ईश्वर शासक है और मनुष्य शासित, ऐसा कुछ नहीं है। मानवीय-चेतना का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। ईश्वर कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं, अपितु एक आध्यात्मिक भूमिका विशेष है, जिसे हर कोई मानव प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व की स्थिति पाने के लिए न किसी तथाकथित देश का बन्धन है, न किसी जाति, कुल और पन्थ विशेष का। जो मनुष्य आध्यात्मिक विकास की उच्च भूमिका तक पहुँच जाता है, राग-द्वेष के विकारों से अपने को मुक्त कर लेता है, स्व में स्व की लीनता प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा हो जाता है। भगवान् का कहना था कि हर आत्मा शक्ति रूप से तो अब भी ईश्वर है, सदा ही ईश्वर है। आवश्यकता है उस शक्ति को अभिव्यक्ति देने की। हर बिन्दु में सिन्धु छिपा है। सिन्धु का क्षुद्र रूप बिन्दु है, बिन्दु का विराट् रूप सिन्धु है। मानवीय-चेतना जब क्षुद्र रहती है, राग-द्वेष के बन्धन में बद्ध रहती है, तब तक वह एक साधारण संसारी प्राणी है। परन्तु जब चेतना विकृति-शून्य होती है, आध्यात्मिक-विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुँचती है, तो वह परम चेतना बन जाती है, परमात्मा हो जाती है। परमात्मा मूलतः और कुछ नहीं है, सदा-सदा के लिए चेतना का शुद्ध हो जाना ही परमात्मा होना है।

सांसारिक वासना की भूमिका पर खड़ी बद्ध चेतना अन्दर में दुर्बलताओं की शिकार है, अतः वह अन्तर्मन के सागर में तरंगायित होनेवाली विकृतियों के आदेशों का पालन करती है, निर्दिष्ट माँगों का अनुसरण करती है। तन और मन की कुछ सुविधाओं को पाकर वह सन्तुष्ट हो जाती है। परन्तु चेतना के सूक्ष्म अन्तःस्तर पर जब परिवर्तन होता है, अधोमुखता से ऊर्ध्वमुखता आती है, तब जीवन के समग्र तोष-रोष अर्थात् राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, आत्मानन्द की शाश्वत-धारा प्रवाहित हो जाती है, और इस प्रकार चेतना अनन्त प्रज्ञा में परिवर्तित एवं विकसित होकर परमात्मा हो जाती है। चेतना का शुद्ध रूप ही प्रज्ञा है, जिसे दर्शन की भाषा में ज्ञान-चेतना कहते हैं। बाहर के किसी विकारी प्रभाव को ग्रहण न करना ही अर्थात् राग या द्वेष के छद्म रूपों से प्रभावित न होना ही चेतना का प्रज्ञा-चेतना हो जाना है, ज्ञान-चेतना हो जाना है। यही आध्यात्मिक पवित्रता है, वीतरागता है, जो आत्म-चेतना को परमात्म-चेतना में रूपान्तरित करती है, जन से जिन और नर से नारायण बना देती है। यह विकासप्रक्रिया क्रमिक है। जितना-जितना प्रज्ञा के द्वारा चेतना का जड़ के साथ चला आया रागात्मक संपर्क टूटता जाता है, जितना-जितना भेद-विज्ञान के आधार पर जड़ और चेतन का विभाजन गहरा, और गहरा होता जाता है, उतनी-उतनी चेतना में परमात्व-स्वरूप की अनुभूति स्पष्ट होती जाती है। अध्यात्म-भाव की इस विकास-प्रक्रिया को महावीर ने गुण-स्थान की संज्ञा दी है। आत्मा से परमात्मा होने की विकास-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है—"परमात्मा विश्व-प्रकृति का द्रष्टा है, स्रष्टा नहीं। स्रष्टा स्वयं विश्व-प्रकृति है। विश्व-प्रकृति के दो मूल तत्त्व हैं—जड़ और चेतन। दोनों ही अपने अन्दर में कर्तृत्व की वह शक्ति लिए हुए हैं, जो स्वभाव से विभाव और विभाव से स्वभाव की ओर गतिशील रहती है। पर के निमित्त से होनेवाली कर्तृत्व शक्ति विभाव है, और पर के निमित्त से रहित स्वयंसिद्ध सहज कर्तृत्वशक्ति स्वभाव है। जब चेतन-तत्त्व पूर्ण शुद्ध होकर परमात्म-चेतना का रूप लेता है, तब वह पराश्रितता से मुक्त हो जाता है, पर के कर्तृत्व का विकल्प उसमें नहीं रहता, 'स्व' अपने ही 'स्व' रूप में पूर्णतया समाहित हो जाता है।" यह चेतना की विभाव से स्वभाव में पूरी तरह वापस लौट आने की अन्तिम स्थिति है। और, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति ही वह परमात्म-सत्ता है, जो मानव-जीवन की सर्वोत्तम शुद्ध चेतना में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने संसार की अन्धेरी गलियों में भटकते मनुष्य को जीवनशुद्धि का दिव्य सन्देश देकर अनन्त ज्योतिर्मय ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया। महावीर ईश्वर को, जैसा कि कुछ लोग मान रहे थे, शक्ति और शासन का प्रतीक नहीं, अपितु शुद्धि का प्रतीक मानते थे। उनका कहना था कि मानव-आत्मा जब पूर्ण शुद्धि की भूमिका पर जा पहुँचती है, तब वह सिद्ध हो जाती है, आत्मा से परमात्मा हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७

आत्मा और कर्म

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है, इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं—पहला है नीर-क्षीरवत्। जैसे जल और दुग्ध परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। दूसरा विचार है—अग्निलोहपिण्डवत्। जिस प्रकार लोह-पिण्ड को अग्नि में डाल देने से उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणा के कर्म दलिक सम्बद्ध हो जाते हैं, संश्लिष्ट हो जाते हैं। तीसरा विचार है—सर्प-कंचुलीवत्। जिस प्रकार सर्प का उसकी कंचुली के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार आत्मा का भी कर्म के साथ सम्बन्ध होता है। यह तृतीय मान्यता जैन-परम्परा के ही एक विद्रोही विचारक सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल की है। जैन-दर्शन में और कर्म-ग्रन्थों में इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया है। जीव और कर्म के सम्बन्ध को ठीक तरह समझने के लिए अग्नि-लोहपिण्ड का उदाहरण ही सर्वोत्तम उदाहरण है।

कर्म और उसका फल :

हम देखते हैं कि संसार में जितने भी जीव हैं, वे दो ही प्रकार के कर्म करते हैं—शुभ और अशुभ, अच्छा और बुरा। कर्म-शास्त्र के अनुसार शुभ-कर्म का फल अच्छा होता है और अशुभ-कर्म का फल बुरा होता है। आश्चर्य है कि सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, किन्तु दुःख कोई नहीं चाहता। अस्तु, यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब कर्म स्वयं जड़ है, वह चेतन नहीं है, तब वह फल कैसे दे सकता है? क्योंकि चेतन की बिना प्रेरणा के फल-प्रदान करना संभव नहीं हो सकता। और, यदि स्वयं कर्म-कर्ता चेतन ही उसका फल भोग लेता है, तो वह सुख तो भोग सकता है, परन्तु वह दुःख स्वयं कैसे भोगेगा? दुःख तो कोई भी नहीं चाहता। अतः कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्म-फल का भोग कराने वाला ईश्वर माना है। परन्तु जैन-दार्शनिक इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फिर, यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जैन-दर्शन में कर्म-फल-भोग की क्या व्यवस्था रहेगी? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—प्राणी अपने अशुभ कर्म का फल नहीं चाहता, यह ठीक है, पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि चेतन-आत्मा के संसर्ग से अचेतन कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कर्म अपने शुभाशुभ फल को नियत समय पर स्वयं ही प्रकट कर देता है। जैन-दर्शन यह नहीं मानता कि जड़ कर्म चेतन के संसर्ग के बिना भी फल देने में समर्थ है। चैतन्य से स्पृष्ट कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। प्राणी जैसे भी कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। जिस प्रकार जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता का अनुभव स्वतः होता है, व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद नहीं आए, यह नहीं हो सकता। उस मिर्च के तीखेपन का अनुभव कराने के लिए किसी अन्य चेतन-आत्मा या परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही बात कर्म-फल भोगने के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ और अशुभ कर्म :

जैन-दर्शन के अनुसार कर्म-वर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। उनमें शुभत्व और अशुभत्व का भेद नहीं है, फिर कर्म पुदगल-परमाणुओं में शुभत्व एवं अशुभत्व का भेद कैसे पैदा हो जाता है ? इसका उत्तर यह है—जीव अपने शुभ और अशुभ परिणामों के अनुसार कर्म-वर्गणा के दलिकों को शुभ एवं अशुभ में परिणत स्वरूप को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम एवं विचार ही, कर्मों की शुभता एवं अशुभता के कारण हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्म-पुद्गल स्वयं अपने आप में शुभ और अशुभ नहीं होता, बल्कि जीव का परिणाम ही उसे शुभ एवं अशुभ बनाता है। दूसरा कारण है, आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत बद्ध संसारी जीव का भी यह वैभाविक स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत करके ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार कर्मों में भी कुछ ऐसी योग्यता रहती है कि वे शुभ एवं अशुभ परिणाम-सहित जीव द्वारा ग्रहण किए जाकर ही, शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत होते रहते हैं, बदलते रहते हैं एवं परिवर्तित होते रहते हैं। पुद्गल की शुभ से अशुभ रूप में और अशुभ से शुभ रूप में परिणति का क्रम सदा चलता रहता है।

प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशों के अल्प-बहुत्व का भी भेद जीव कर्म-ग्रहण के समय ही करता है। इस तथ्य को समझने के लिए आहार का एक दृष्टान्त यहाँ उपस्थित है। सर्प और गाय को प्रायः एक जैसा ही भोजन एवं आहार दिया जाए, किन्तु उन दोनों की परिणति विभिन्न प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए, सर्प और गाय को एक साथ और एक जैसा दूध पीने के लिए दिया गया, वह दूध सर्प के शरीर में विष रूप में परिणत हो जाता है और गाय के शरीर में दूध, दूध रूप में ही परिणत होता है। ऐसा क्यों होता है ? इस प्रश्न का समाधान स्वतः स्पष्ट है कि आहार का यह स्वभाव है कि वह अपने आश्रय के अनुसार ही परिणत होता है। एक ही समय पड़ी वर्षा की बूँदों का आश्रय के भेद से, भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे कि स्वाति नक्षत्र में गिरी बूँदें सीप के मुख में जाकर मोती बन जाती हैं और सर्प के मुख में विष। यह तो हुई भिन्न-भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता की बात, किन्तु एक शरीर में भी एक जैसे आहार के द्वारा प्राप्त भिन्न-भिन्न परिणामों की विचित्रता देखी जा सकती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ एक ही आहार अस्थि, मज्जा, रक्त, वीर्य एवं मल-मूत्र आदि के अच्छे-बुरे विविध रूपों में परिणत होता रहता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव के शुभाशुभ भावानुरूप ग्रहण किए जाने पर शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत होते रहते हैं। एक ही कार्माण पुद्गल-वर्गणा में विभिन्नता का हो जाना सिद्धान्त बाधित नहीं कहा जा सकता।

जीव का कर्म से अनादि सम्बन्ध :

आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। फिर यहाँ प्रश्न यह उठता है—चेतन-आत्मा का जड़-कर्म के साथ सम्बन्ध कब से है ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है—कर्म-सन्तति का आत्मा के साथ अनादि-काल से संबंध है। यह नहीं बताया जा सकता कि जीव से कर्म का सर्व-प्रथम संबंध कब और कैसे हुआ ? शास्त्र में कहा गया है कि जीव सदा क्रियाशील रहता है। वह प्रतिक्षण मन, वचन और काय से एकताबद्ध हो विभिन्न व्यापारों में प्रवृत्त रहता है। अतः वह हर समय कर्म-बंध करता ही रहता है। इस प्रकार किसी अमुक कर्म विशेष की दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का संबंध सादि ही कहा जा सकता है। परन्तु, कर्म-सन्तति के सतत प्रवाह की अपेक्षा से जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है। प्रतिक्षण पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं।

यदि कर्म-सन्तति को किसी एक दिन प्रारम्भ होनेवाली सादि मान लिया जाए, तो फिर जीव कर्म सम्बन्ध से पूर्व सिद्ध, बुद्ध, मुक्त दशा में रहा है। यदि शुद्ध और मुक्त रहा है, तो फिर वह कर्म से लिप्त कैसे हो गया ? यदि अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जीव भी कर्म से लिप्त हो सकता है, तो सिद्ध और मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म से लिप्त क्यों नहीं हो जाती ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार संसार और मोक्ष का कोई महत्त्व न रहेगा, कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके अतिरिक्त कर्म-सन्तति को सादि मानने वालों को भी यह बताना होगा, कि कब से कर्म आत्मा के साथ लगे और क्यों लगे ? इस प्रकार किसी प्रकार का समाधान नहीं किया जा सकता। इन सब तर्कों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ कर्म का अनादि-काल से संबंध है।

कर्म-बन्ध के कारण :

यदि यह मान लिया जाए कि जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु, फिर इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह प्रश्न सामने आता है, यह बन्ध किन कारणों से होता है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कर्म-ग्रन्थों में दो अभिमत उपलब्ध होते हैं—पहला, कर्म-बन्ध के पाँच कारण मानता है—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। दूसरा, कर्म-बन्ध के कारण केवल दो मानता है—कषाय और योग। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि कषाय में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः संक्षेप की दृष्टि से कर्म-बंध के हेतु दो और विस्तार की अपेक्षा से कर्म-बन्ध के हेतु पाँच हैं। दोनों अभिमतों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

कर्म-ग्रन्थों में बन्ध के चार भेद बताए गए हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[1] इनमें से प्रकृति—कर्म का अपना फल प्रदान रूप स्वभाव और प्रदेश—कर्म-पुद्गलों का दल, इनका बन्ध योग से होता है तथा कर्म की स्थिति और उसका तीव्र-मन्द आदि अनुभाग—रस, का बन्ध कषाय से होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने बनाए हुए जाले में फंस जाती है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी राग-द्वेष—कषाय रूपी प्रवृत्ति से अपने आपको कर्म-पुद्गल के जाल में फंसा लेता है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अपने शरीर में तेल लगाकर यदि धूलि में, मिट्टी में लेट जाए, तो वह धूलि-मिट्टी उसके शरीर पर चिपक जाती है। अतः जिस प्रकार से वह धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी अपने स्निग्ध परिणामों के योग से कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और राग-द्वेष रूप कषाय-भाव के कारण उन कर्म-दलिकों का आत्म-प्रदेशों के साथ अमुक काल तक संश्लेष हो जाता है। वस्तुतः यही बन्ध है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है। शब्द-भेद और प्रक्रिया-भेद होने पर भी मूल भावनाओं में मौलिक भेद नहीं है। न्याय एवं वैशेषिक-दर्शन में मिथ्या-ज्ञान को, योग-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को, वेदान्त में अविद्या एवं अज्ञान को तथा बौद्ध-दर्शन में वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है।

कर्म-बन्ध से मुक्ति के साधन :

भारतीय-दर्शन में जिस प्रकार कर्म-बन्ध और कर्म-बन्ध के कारण माने गए हैं, उसी प्रकार उस कर्म-बन्ध से मुक्ति-प्राप्ति के साधन भी बताए गए हैं। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण प्रायः समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एवं मोक्ष कहा जाता है। यह सत्य है, जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण नया-नया बन्ध होता है। एक ओर पुरातन कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते जाते हैं, और दूसरी ओर नये कर्म प्रतिक्षण बंधते रहते हैं। परन्तु, इसका फलितार्थ यह नहीं निकाल लेना चाहिए कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगा ही नहीं। जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिल कर एकमेक हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग कर के शुद्ध स्वर्ण को अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म-साधना से आत्मा कर्म एवं कर्म-फल से छूट कर शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो सकता है। यदि आत्मा एक बार कर्म-विमुक्त हो जाता

---

१. स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थिति कालावधारणम्।
अनुभावो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दल-संचयः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तो फिर कभी वह कर्म-बद्ध नहीं होता। क्योंकि कर्म-बन्ध के कारणभूत राग-द्वेष रूप साधनों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर, उससे फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्मरूपी बीज के जल जाने पर, उससे संसार-रूप अंकुर उत्पन्न नहीं हो पाता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, जो आत्मा एक दिन बद्ध हो सकती है, वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकती है।

प्रश्न होता है—"कर्म-बन्धन से मुक्ति का उपाय क्या है?" उक्त प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति के तीन साधन एवं उपाय बताता है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। कहीं पर यह भी कहा गया है—**"ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"** अर्थात् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का हेतु मानने का यह अर्थ नहीं है कि यहाँ सम्यक्-दर्शन को मानने से इन्कार कर दिया। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ पर सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र होता है, वहाँ पर सम्यक्-दर्शन अवश्य ही होता है। आगमों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष-प्राप्ति में कारण माना गया है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन में मोक्ष के हेतु चार भी सिद्ध होते हैं। परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है, कि वास्तव में मोक्ष के हेतु तीन ही हैं—१. सम्यक्-तत्त्व-श्रद्धान, २. सम्यक्-तत्त्व-ज्ञान और ३. सम्यक्-वीतराग- आचरण। बद्ध कर्मों से मुक्त होने हेतु साधक संवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना से पूर्व संचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। इस प्रकार साधक कर्म-बन्ध से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

वस्तुस्थिति यह है कि कर्मों के शुभ-अशुभ फलों के उपभोग-काल में साधारण व्यक्ति शुभ-फल में राग और अशुभ-फल में द्वेष करने लगता है, तो भविष्य के लिए फिर नये कर्म बान्ध लेता है। यदि साधक भोग-काल में राग-द्वेष से परे होकर तटस्थ हो जाए, तो फिर नये कर्मों का बंध नहीं होता। नये-पुराने सभी कर्मों से मुक्त होने के लिए वीतराग-भावना प्रमुख हेतु है। वीतराग-भावना नये कर्म-बन्ध को रोकने के रूप में संवर का काम करती है, पुरातन बद्ध-कर्मों को क्षय करने के रूप में निर्जरा का भी काम करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८

बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव

यह आत्मा अनन्तकाल से बन्धन में बँधी चली आ रही है। बन्धन भी एक नहीं, बल्कि अनन्तानन्त बन्धन आत्मा पर लगे हुए हैं। ऐसी बात भी नहीं है कि आत्मा उन बन्धनों को पुरुषार्थहीन बनकर चुपचाप सहती आई है, बल्कि वह उन्हें तोड़ने के प्रयत्न सदा-सर्वदा करती रही है। भले ही भोग कर ही क्यों न तोड़ा हो, पर तोड़ा जरूर है। इस प्रकार यह आत्मा बन्धन और मोक्ष के बीच से गुजरती रही है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि ये बन्धन आत्मा में कहाँ से आए हैं? ये शरीर, ये परिवार और ये ऐश्वर्य आदि कहाँ से जुटाए गए हैं? क्या इन्हीं बाहरी पदार्थों ने आत्मा को बाँध रखा है? या अन्दर के काम-क्रोध आदि ने उसके गले में फंदा डाल रखा है? इन दोनों--बाहरी और भीतरी बन्धनों के स्वरूप को समझे बिना 'आत्मा के बन्धन क्या हैं?' इस प्रश्न का उत्तर ठीक तरह नहीं समझा जा सकता। और जब तक बन्धन का स्वरूप नहीं समझा जाता, तब तक मोक्ष का स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। जैसा कि कहा गया है--"बन्धन का स्वरूप समझने के बाद ही उसे तोड़ने का प्रयत्न किया जा सकता है—**बुझिज्जित्ति तिउटिज्जा बन्धनं परिजाणिया।**"--सूत्रकृतांग, १, १,

बन्धन क्या है?

बन्धन का स्वरूप समझने के लिए हमें मूल कर्म और उसकी उत्तरकालीन परिणति को समझना होगा। कर्म के दो रूप हैं—एक कर्म, दूसरा नोकर्म। पहला कर्म है, दूसरा वास्तव में तो कर्म नहीं है, किन्तु कर्म जैसा ही लगता है। इसलिए साधारण भाषा में उसको नोकर्म कह दिया जाता है। शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सब नोकर्म हैं। नोकर्म भी दो प्रकार के होते हैं--एक बद्ध नोकर्म, दूसरा अबद्ध नोकर्म। बद्ध का अर्थ है—बँधा हुआ और अबद्ध का अर्थ है---नहीं बँधा हुआ। संसार दशा में जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है, वहाँ शरीर है। दोनों दूध और पानी की तरह परस्पर मिले हुए हैं, एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। इसलिए शरीर आत्मा से बँधा हुआ होने के कारण बद्ध नोकर्म है। यद्यपि दोनों का स्वरूप अलग-अलग है, सत्ता अलग-अलग है, किन्तु अनन्तानन्त काल से शरीर में आत्मा का निवास रहा है, एक शरीर छोड़ा, तो दूसरा मिल गया और दूसरा छोड़ा, तो तीसरा मिल गया। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की ओर जाते समय, मध्य के समय में भी, जिसे विग्रह गति कहते हैं, तैजस और कार्मण शरीर साथ रहते हैं। संसारी आत्मा का ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जबकि वह बिना किसी भी प्रकार के शरीर के संसार में रही हो। इस प्रकार शरीर आत्मा के साथ बद्ध है। अतः शास्त्रकारों ने उसे बद्ध नोकर्म कहा है।

अबद्ध नोकर्म वे हैं, जो आत्मा के साथ बद्ध नहीं है। शरीर की तरह वे प्रत्येक समय आत्मा के साथ सम्पृक्त नहीं रहते। उनका कोई भी निश्चय नहीं होता कि कहाँ साथ रहें, कहाँ नहीं, जैसे कि धन, मकान, परिवार आदि शरीर के समान बद्ध रूप में सदा साथ नहीं रहते। ये सब आत्मा में दूध और पानी की तरह एकमेक संपृक्त हो कर भी नहीं रहते, अपितु पृथग्भाव से रहते हैं। अतः इन्हें अबद्ध नोकर्म कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर बन्धन नहीं है :

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि धन-संपत्ति, परिवार आदि अबद्ध नोकर्म आत्मा को नहीं बाँधते हैं, तो क्या शरीर आदि बद्ध नोकर्म आत्मा को बाँधते हैं? आखिर आत्मा किसके बन्धन में बँधी है? इसका उत्तर होगा कि शरीर तो जड़ है। यदि इस शरीर ने आत्मा को बाँधा है, तो यह कहना होगा कि गीदड़ की ठोकरों से शेर लुढ़क गया है। जो शेर समूचे जंगल पर अपना प्रभुत्व जमाए रखता है, वह गीदड़ की हुँकार के सामने पराजित हो गया है। जिस प्रकार अबद्ध नोकर्म में आत्मा को बाँधने की शक्ति नहीं है, उसी प्रकार इस बद्ध नोकर्म रूप शरीर में भी आत्मा को बाँधने की शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं है। आत्मा, जो अनन्त पौरुषशाली तत्त्व है, वह इनके चंगुल में कभी नहीं फँस सकती।

इस पर फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि शरीर आत्मा को नहीं बाँधता तो, फिर आत्मा को कौन बाँधता है? क्या इन्द्रियाँ, आत्मा को बाँधती हैं? ये कान, ये आँखें, ये जिह्वा---क्या आत्मा इन सबके बंधन में बँधती है? शरीर और इन्द्रिय आदि में यह शक्ति नहीं है कि वे अनन्त बलशाली आत्मा को बाँध लें। यदि इनमें यह शक्ति होती तो भगवान् महावीर आदि वीतराग आत्माओं को भी बाँध लेते। किसी को मुक्त होने ही नहीं देते। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, यह धरती, यह आकाश तथा नोकर्म के फल को भोगने के रूप में और भी, सिंहासन, छत्र, चामर आदि कितने ही पदार्थ उनके पास रहे, फिर भी इन सभी पदार्थों ने भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों को क्यों नहीं बाँध लिया?

बन्धन भाव में है :

जहाँ तक बंधन का प्रश्न है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि बन्धन न तो शरीर में है, न इन्द्रियों में है, और न बाहर के किसी द्रव्य में ही है। वे सब जड़ हैं। बन्धन और मोक्ष देने की क्षमता जड़ में कभी हो नहीं सकती। बन्धन तो आत्मा के अपने ही विचार में है, भाव में है। जहाँ तक द्रव्य, द्रव्य है, वहाँ तक बन्धन नहीं है, परन्तु ज्योंही द्रव्य भाव की पकड़ में आया नहीं कि बन्धन हो गया। भाव से ही बन्धन होता है, भाव से ही मुक्ति। इसलिए यह ठीक कहा गया है---**"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"**

मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। बन्धन शरीर आदि से नहीं होता, बल्कि इनके निमित्त से मन में जो विकल्प होते हैं, जो राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उन विकल्पों और परिणामों के कारण बन्धन होता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बन्धन नहीं हैं, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा जो रूपादि का बोध और जानकारी होती है, और उसके पश्चात् जो भावना में विकृति आती है, राग-द्वेष का संचार होता है, वह आसक्ति एवं राग-द्वेष का घेरा ही आत्मा को बन्धन में डालता है। उस घेरे में वह पदार्थ, जो कि राग-द्वेष के विकल्प का निमित्त बना, नहीं बँधता, किन्तु विकल्प करने वाली आत्मा बँध जाती है। अन्य पदार्थ पर आत्मा का अधिकार कभी नहीं हो सकता। यदि इन पर आत्मा का अधिकार होता, तो वह किसी भी अभीष्ट पदार्थ को कभी नष्ट नहीं होने देती। और तो क्या, शरीर तक पर अधिकार नहीं है। बचपन के बाद जवानी आने पर मनुष्य सदा जवान ही रहना चाहता है, परन्तु संसार की कोई भी शक्ति इस दिशा में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। शरीर के पर्याय प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इन पर किसी का कोई अधिकार नहीं चल सकता। आज अनेक औषधियाँ, वैज्ञानिक अनुसंधान, इसके लिए हो रहे हैं। बड़े-बड़े मस्तिष्क इस चेष्टा में सक्रिय हैं कि मनुष्य अपने शरीर पर मनचाहा अधिकार रख सके, किन्तु आज तक भी यह संभव नहीं हो पाया है। जब अपने एकदम निकट के संगी-साथी बद्ध शरीर पर भी आत्मा का नियन्त्रण नहीं हो सकता, तो फिर धन, सम्पत्ति आदि अबद्ध नोकर्म की तो बात ही क्या है? जब हमारे बिना चाहे भी आँख, कान, नाक और शरीर आदि के कण-कण जवाब देना शुरू कर देते हैं, तो बाहरी पदार्थ हमारे अनुकूल किस प्रकार होंगे? यह हमारे मन का विकल्प ही है, जो कि सबको अपना ही समझ रहा है, शरीर आदि पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों के साथ मेरापन का सम्बन्ध जोड़ रहा है। किन्तु, वास्तव में ये आत्मा के कभी नहीं होते। शरीर तथा इन्द्रिय आदि पर-पदार्थ आत्मा का न कभी अहित कर सकते हैं और न कभी हित। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरी रूप-दर्शक ये आँखें मुझे पतित कर रही हैं, तो यह बात ठीक नहीं है। आँखों में मानव का उत्थान और पतन करने की क्षमता है ही नहीं, यह क्षमता तो मानव की अपनी आत्मा में ही है। आँखें तो सिर्फ निमित्त बन सकती हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने कहा है कि आँखें जब हैं, तो वे रूप को ग्रहण करेंगी ही। अच्छा या बुरा, जो भी दृश्य उनके सम्मुख आएगा, उसका रूप आँखें ग्रहण कर लेंगी। साधक बनने के लिए सूरदास बनना जरूरी नहीं है। किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि आँखों के सामने अच्छा या बुरा जो भी रूप आए, उसे वे ग्रहण तो भले ही करें, किन्तु उसके सम्बन्ध में राग-द्वेष का भाव न आए, मन में किसी प्रकार का दुर्विकल्प न हो, तो आँखों से कुछ भी देखने में कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार कान हैं, तो जो भी स्वर या शब्द उसकी सीमा के अन्दर में होगा, उसे वह ग्रहण करेगा ही, सुनेगा ही। निन्दा और स्तुति, जय-जयकार और भर्त्सना—दोनों ही ध्वनियाँ कान में अवश्य आएँगी, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष का विकल्प न उठना चाहिए। यही बात गंधादि ग्राहक घ्राण, जिह्वा, कर्ण, स्पर्शन इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। यदि वास्तव में साधक अपने को तटस्थ वीतराग बना लेता है, तो संसार के कोई भी पदार्थ उसे बन्धन में नहीं डाल सकते। बन्धन तो निज के विकल्पों के कारण होता है। यदि अन्दर के भावों में राग-द्वेष की चिकनाई नहीं रहती है, तो बाह्य पदार्थों के रजकण उस पर चिपक नहीं सकते, फलतः उस आत्मा को मलिन ही नहीं कर सकते। इस प्रकार जैन-दर्शन का यह निश्चित मत है कि बन्धन का कारण एकमात्र भाव ही है, अन्य द्रव्य, वस्तु एवं पदार्थ नहीं।

मुक्ति का दाता कौन ?

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बन्धन का कारण भाव है, तो मुक्ति का कारण भी कोई दूसरा नहीं हो सकता। जब बेचारे शरीर और इन्द्रियाँ बन्धन में नहीं डाल सकते, तो मुक्ति कैसे दिला सकते हैं ? शरीर में यह शक्ति है ही नहीं, भले ही वह तीर्थंकर का वज्रऋषभनाराच संहनन वाला शरीर ही क्यों न हो। समस्त विश्व में ऐसी कोई भी बाहरी शक्ति नहीं है, जो किसी आत्मा को बन्धन में डाल दे या उसे मुक्ति दिला दे। जैन एवं वेदान्त जैसे महान्-भारतीय दर्शन एक स्वर से यही कहते हैं—हे आत्मन् ! तेरी मुक्ति तेरे ही हाथ में है, तू ही बन्धन करने वाला है और तू ही अपने को मुक्त करने वाला भी है।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते ।।"

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करती है और स्वयं ही उसे भोगती है। अपने स्वयं के कर्मों के कारण ही संसार में भ्रमण करती है और स्वयं ही कर्मों से मुक्त होकर सदा के लिए मोक्ष रूप में विराजमान हो जाती है। इसलिए हमें मुक्ति के लिए कहीं बाहर भटकने की जरूरत नहीं है, वह इसी आत्मा में है, आत्मा ही मुक्ति का दाता है।

आत्मा ही मित्र है :

जब-जब आत्मा बाहर झाँकती है और जब-जब सुख, दुःख, शत्रु और मित्र को बाहर में देखने का विकल्प करती है, तभी आत्मा उन विकल्पों में उलझकर अपने आपको बन्धनों में फँसा लेती है। वास्तव में जब तक आत्मा का दृष्टिकोण बहिर्मुखी रहता है, तब तक उसके लिए बन्धन ही बन्धन है। जब वह बाहर में किसी मित्र को खोजेगी, तो एक मित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ बाहर में इसे शत्रु भी मिल जाएँगे। किन्तु जब अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा को ही मित्र की दृष्टि से देखेगी, तो बाहर में न कोई मित्र होगा और न कोई शत्रु ही होगा। संसार के सभी बाह्य शत्रु और मित्र नकली प्रतीत होंगे। भगवान् महावीर ने भी कहा है—

"पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि?"—आचारांग, १, ३, ३.

मानव! तू ही तेरा मित्र है, बाहर के मित्रों को क्यों खोजता है? जब आत्मा अपने स्वरूप में, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपयोग में रहती है, तो वह अपना परम मित्र है और जब वह अपने स्वरूप से हटकर पर-भाव में चली जाती है, तो अपना सबसे बड़ा शत्रु भी वही होती है। जहाँ शुद्ध चेतना है, वहाँ वीतराग-भाव होता है और जो वीतराग-भाव है, वह अपना परम मित्र है और वही मोक्ष है। इसके विपरीत जहाँ आत्मा राग-द्वेष की लहरों में थपेड़े खाने लग जाती है, अशुद्धता में, मिलावट में चली जाती है, तो वही भाव अपना शत्रु-भाव है। इसलिए जब अपनी आत्मा को मित्र रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न होगा, तभी वह मुक्ति का दाता हो सकेगी।

आत्मा की अनन्त-शक्ति :

कुछ लोगों का विचार है कि बन्धनों में बहुत अधिक शक्ति है, उन्हें तोड़ना अपने बलबूते से परे की बात है, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। आत्मा में बन्धन की शक्ति है, तो मुक्त होने की भी उसी में शक्ति है। जैन-दर्शन के कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यही है कि प्रत्येक प्राणी अपनी स्थिति का स्रष्टा, अपने भाग्य का विधाता स्वयं ही है। वह स्वयं ही अपने नरक और स्वर्ग का निर्माण करता है और स्वयं ही बन्धन और मोक्ष का कर्ता है। जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त ने मनुष्य को बहुत बड़ी प्रेरणा, साहस और जीवन दिया था। किन्तु आगे चलकर कर्मों की इस दासता ने मानव को इस प्रकार घेर कर जकड़ लिया कि प्रत्येक क्षण उसके दिमाग में सिर्फ यही एक बात घूमती रहती है कि काम, क्रोध, अभिमान आदि बहुत बलवान हैं, इनसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार कुछ व्यक्ति देवी-देवताओं और संसार के अन्य पदार्थों की दासता से मुक्त होकर भी कर्मों की दासता में फँस गए। वे यह भूल गए कि 'कर्म' की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो मन के विकल्पों का ही एक परिणाम है। अपने मन का विकल्प ही उसका स्रष्टा है। वह एक पग में जहाँ बन्धन डालता है, वहाँ दूसरे पग में वह मुक्त भी कर सकता है। कर्म-वर्गणाओं के अनन्त दल को आत्मीय-चेतना की शुद्ध शक्ति क्षणभर में नष्ट कर सकती है।

"वायुना चीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते।
मनसा कल्पते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्पते॥"

साफ खुला आकाश है, सूर्य चमक रहा है, किन्तु अकस्मात् ऐसा होता है कि कुछ ही देर में घटाएँ घिर आती हैं और मूसल-धार वृष्टि होने लगती है। उन काली घटाओं को किसने बुलाया? हवा ने ही न? और वही हवा एक क्षण में उन सब घटाओं को बिखेरकर आकाश को बिल्कुल साफ भी तो कर देती है। अतः स्पष्ट है कि हवा से ही बादल बने और हवा से ही नष्ट हुए। इसी प्रकार मन का रागात्मक विकल्प कर्म के बादलों को लाकर आत्मा रूपी सूर्य पर फैला देता है और अन्धकार-ही-अन्धकार सामने छा जाता है। जब वर्षा-रूपी कर्मों का उदय होता है, तब व्यक्ति चीखता है, पुकारता है और अपने को बिल्कुल असहाय और दुर्बल मानने लग जाता है। किन्तु यह सब मन के एक विकल्प का ही प्रतिफल है। जब चैतन्य देव वीतराग-भाव की दूसरी करवट बदलता है, तो उन कर्म रूप घटाओं को छिन्न-भिन्न कर देता है, आत्मा रूपी सूर्य का तेज पुनः निखर उठता है। और, चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हँसता नजर आता है। घटाओं के बनने में समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है, किन्तु बिखरने में अधिक समय नहीं लगता। इसी प्रकार आत्मा को स्वरूप में आने के लिए अधिक समय की अपेक्षा नहीं रहती, उसमें कोई संघर्ष या कष्ट की अधिकता नहीं रहती। विलम्ब और संघर्ष तो पर-रूप की ओर जाने में होता है। उसमें पुरुषार्थ की अधिक आवश्यकता रहती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि आत्मा का एक समय-मात्र का शुद्ध ज्ञानरूप पुरुषार्थ कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओं के समूह को समाप्त कर डालता है। किसी गुफा में हजारों, लाखों वर्षों से संचित अंधकार की राशि को सूर्य की एक किरण और दीपक की एक ज्योति क्षणमात्र में नष्ट कर देती है। इसके लिए यह बात नहीं है कि अंधकार यदि लाखों वर्षों से संचित है, तो प्रकाश को भी उसे समाप्त करने में उसी अनुपात में समय लगेगा। वह तो प्रथम क्षण में ही उसे विलीन कर देगा। यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाए, तो एक क्षण भी नहीं लगता। अपितु अंधकार का अंत और प्रकाश का उदय दोनों एक ही क्षण में होते हैं। वही अंधकार के नाश का क्षण है और वही प्रकाश के आविर्भाव का भी क्षण है।

पाप बड़ा है या पुण्य?

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि रात्रि के सघन अन्धकार की शक्ति अधिक है या सूर्य की एक उज्ज्वल किरण की? अवश्य ही सूर्य-किरण की शक्ति अधिक है। इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न है कि पाप बड़ा है या पुण्य बड़ा है? रावण की शक्ति अधिक है या राम की शक्ति? रावण की अतुल राक्षसी शक्तियों से लड़ने के लिए राम के पास केवल एक धनुष-बाण था। रावण को अभिमान था कि उसके पास अपार राक्षसी विद्याएँ हैं, मायाएँ हैं, समुद्र का घेरा है और अन्य भी अनेक भौतिक शक्तियाँ उसके पंजे के नीचे दबी हुई हैं। जबकि राम के पास केवल कुछ वानर हैं और एक छोटा-सा धनुष-बाण है। किन्तु क्या आप नहीं जानते कि उस छोटे से धनुष-बाण ने रावण की समस्त मायावी शक्तियों को समाप्त कर डाला, समुद्र को भी बाँध लिया और अन्त में सोने की लंका के अधिपति रावण को भी मौत के घाट उतार डाला। इसलिए पाशविक शक्ति की अपेक्षा, मानवीय (आत्मिक) शक्ति हमेशा प्रबल होती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि तुम कर्मों की प्रबल शक्ति को देखकर घबराते क्यों हो? भयभीत क्यों होते हो? घबराओ, कि खत्म! हिम्मत और साहस बटोर कर उनसे लड़ो। तुम्हारी आत्मा की अनन्त अपराजेय शक्तियाँ उन कर्मों को क्षणभर में नष्ट कर डालेंगी।

जैन-इतिहास में ऐसे अनेक सम्राट् हो गए हैं, जिनका जीवन अधिकतर भोग, विलास, हत्या, संग्राम आदि में ही व्यतीत हुआ। समुद्रों की छाती रौंद कर व्यापार करनेवाले सेठ, हत्या और लूट करनेवाले डाकू, जिनकी समूची जिन्दगी उन्हीं क्रूर कर्मों में व्यतीत हुई। परन्तु जब वे भगवान् के चरणों में आए, तो ऐसा कह कर पश्चात्ताप करने लगे कि भगवन्! जब आपके ज्ञान की जरूरत थी और जब हममें कुछ करने की सामर्थ्य थी, उस समय तो प्रभु! आपके दर्शन हुए नहीं। अब आखिरी घड़ियों में, जब शरीर जरा-जर्जर हो गया है, अशक्ति से घिर गया है, तब हम क्या कर सकते हैं? इन शब्दों के पीछे उनकी अन्तर्-आत्मा की वेदनाएँ झलक रही थीं। उनके मन का परिताप उनको कचोट रहा था। और शुद्ध स्वरूप की ओर प्रेरित कर रहा था। उनकी इस दयनीय स्थिति का उद्धार करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

"पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं,
जेसिं पिओ तवो, संजमो, य खन्ती य बंभचेरं च।"

—दशवैकालिक, ४, २८

भगवान् ने उन्हें आत्म-बोध कराया। तुम क्यों बिलखते हो? जिसे तुम बुढ़ापा समझ रहे हो, वह तो तुम्हारे शरीर को आया है, न कि उसके अन्तर् में जो प्रकाशमान आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसको आया है ? तुम ५०-६० वर्ष की जिन्दगी गुजर जाने की बात करते हो, किन्तु मेरी दृष्टि में तो तुम्हारी अनन्तानन्त काल की लम्बी जीवन-यात्रा की झलक है, जो अनन्त अतीत से आज तक तुम नहीं कर सके, वह अब नहीं कर सकते क्या ? कर सकते हो। जो आत्मा का ज्ञान आज तक नहीं मिला, वह ज्ञान, वह प्रकाश, आज मिला है। अपने आत्म-स्वरूप का जागरण तुम में आज हुआ है। यह कोई साधारण बात नहीं है। जो आज तक नहीं हो सका, वह अब हो सकता है। आवश्यकता सिर्फ एक करवट बदलने की है, अंगड़ाई भरने की है। जब बन्धन को समझ लिया, उसकी अत्यन्त तुच्छ हस्ती को देख लिया, तो फिर तोड़ने में कोई विलम्ब नहीं हो सकता—

"बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।"

सूत्रकृतांग, १, १, १, १

बन्धन को समझो और तोड़ो ! तुम्हारी अनन्त-शक्ति के समक्ष बन्धन की कोई हस्ती नहीं है।

बस, भगवान् महावीर का यह एक ही उपदेश उनके लिए आलोक-स्तम्भ बन गया और जीवन की अन्तिम घड़ियों में उन्होंने वह कर दिखाया, जो अनन्त जन्म लेकर भी नहीं कर सके थे। बन्धन-मुक्त होने में उन्हें कितनी देर लगी, बहुतों को तो कुछ भी नहीं।

सारांश यह है कि बंधन का कर्ता आत्मा ही बंधन को तोड़ने वाला है। इसके लिए अपने स्वरूप को, अपनी शक्ति को जगाकर प्रयत्न करने की आवश्यकता है, बस, मुक्ति तैयार है। और मुक्ति प्राप्त करने पर चौरासी लाख योनियों में भटक कर बार-बार प्राप्त होने वाले जन्म और मृत्यु के अपार दुःखों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

वह मुक्तावस्था कब आती है? वह तब आती है, जब प्राणी अपने अन्तर्-देव की पहचान कर लेता है। अन्तर्-देव की पहचान होते ही व्यक्ति स्वयं परमात्मा बन जाता है। परमात्मरूप प्राप्त करने पर स्वयं आत्मदेव बन जाता है। और आत्मदेव की स्थिति पर पहुँच कर आत्मा सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि इन समस्त बंधनों से मुक्त सर्वज्ञ वीतराग पद को प्राप्त करने में सहज समर्थ होता है। मुक्ति का यही प्रशस्त द्वार है।

मुक्ति का साधन :

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक् है। मन और मस्तिष्क से भी भिन्न है। वह जो कुछ भी है, इस मिट्टी के ढेर से परे है। वह जन्म लेकर भी अजन्मा है और मर कर भी अमर है।

कुछ लोग आत्मा को परमात्मा या ईश्वर का अंश कहते हैं। परन्तु, वह किसी का भी अंश-वंश नहीं है, किसी परमात्मा का स्फुलिंग नहीं है। वह तो स्वयं पूर्ण परमात्मा, विशुद्ध आत्मा है। आज वह बेबस है, बे-भान है, लाचार है, परन्तु जब वह मोह-माया और अज्ञान के परदों को भेद कर, उन्हें छिन्न-भिन्न करके अलग कर देगा, तो अपने पूर्ण परमात्म-स्वरूप में चमक उठेगा ! अनन्तानन्त कैवल्य-ज्योति जगमगा उठेगी उसके अन्दर !

भारतीय-दर्शनों ने, जिनका मूलस्वर प्रायः एक ही है। किन्तु, अपनी बात को कहने की जिनकी शैली भिन्न-भिन्न है, प्रश्न उठाया गया है कि मोक्ष एवं मुक्ति का मार्ग, उपाय, साधन एवं कारण क्या है? यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है। प्रत्येक युग के समर्थ आचार्य ने अपने युग की जन-चेतना के समक्ष इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैसे-जैसे युग आगे बढ़ा, वैसे-वैसे वह प्रश्न भी आगे बढ़ता रहा, और हजारों वर्ष पहले, जैसा प्रश्न था, वैसा प्रश्न आज भी है। भौतिकवादी-दर्शनों को छोड़कर समग्र अध्यात्म-वादी-दर्शनों का साध्य एक ही है—मोक्ष एवं मुक्ति। साध्य में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, विवाद है केवल साधन में। एक ने कहा है—मुक्ति का एकमात्र साधन ज्ञान ही है। दूसरे ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन, भक्ति ही है। और, तीसरे ने कहा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति का एकमात्र साधन कर्म है। मैं विचार करता हूँ कि एक ही साध्य को प्राप्त करने के लिए, उसके साधन के रूप में किसी ने ज्ञान पर बल दिया, किसी ने भक्ति पर बल दिया और किसी ने कर्म पर बल दिया। संसार में जितने भी साधना के मार्ग हैं, क्रिया-कलाप हैं अथवा क्रिया-काण्ड हैं, वे सब साधना के अलंकार तो हो सकते हैं, किन्तु उसकी मूल आत्मा नहीं। यहाँ मेरा उद्देश्य किसी भी पंथ का विरोध करना नहीं है, बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो कुछ भी किया जाए, सोच-समझ कर किया जाए। प्रत्येक साधक की रुचि अलग-अलग होती है, कोई दान करता है, कोई तप करता है और कोई सेवा करता है। दान, तप और सेवा तीनों धर्म हैं, किन्तु कब ? जबकि विवेक का दीपक घट में प्रकट हो गया हो। इसी प्रकार कोई सत्य की साधना करता है, कोई अहिंसा की साधना करता है और कोई ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की साधना करता है। किसी भी प्रकार की साधना की जाए, कोई आपत्ति की बात नहीं है, परन्तु ध्यान इतना ही रहना चाहिए कि वह साधना विवेक के प्रकाश में चलती रहे। बाहर में अलग-अलग राह पर चलना भी कोई पाप नहीं है। यदि आत्मा के मूलस्वरूप की दृष्टि को पकड़ लिया है, तो जिस व्यक्ति के हृदय में विवेक के दीपक का प्रकाश जगमगा उठा है, वह जो भी साधना करता है, वह उसी में एकरूपता, एकरसता और समरसता प्राप्त कर लेता है। जीवन में आत्म-लक्षी समरस-भाव की उपलब्धि होना ही, वस्तुतः सम्यक्-दर्शन है।

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में विशुद्ध ज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है। भारत के अध्यात्म-वादी-दर्शनों में इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि ज्ञान भी मुक्ति का एक साधन है। वेदान्त और सांख्य एकमात्र तत्त्व-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान को ही मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दर्शन केवल भक्ति को ही, मुक्ति का सोपान मानते हैं और कुछ केवल क्रिया-काण्ड एवं कर्म को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। जैन-दर्शन का कथन है कि तीनों का समन्वय ही, मुक्ति का साधन हो सकता है। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि अज्ञान और वासना के सघन जंगल को जलाकर भस्म करने वाला दावानल ज्ञान ही है। ज्ञान का अर्थ यहाँ पर किसी पुस्तक या पोथी का ज्ञान नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। "मैं आत्मा हूँ" यह सम्यक्-ज्ञान जिसे हो गया, उसे फिर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु, यह स्वरूप का ज्ञान भी तभी सम्भव है, जबकि उससे पहले सम्यक्-दर्शन हो चुका हो। क्योंकि सम्यक्-दर्शन के बिना शुद्ध जिनत्व-भाव का एक अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। यदि सम्यक्-दर्शन की एक किरण भी जीवन-क्षितिज पर चमक जाती है, तो गहन से गहन गर्त में पतित आत्मा का भी उद्धार होने में कोई सन्देह नहीं है। सम्यक्-दर्शन की उस किरण का प्रकाश भले कितना ही मन्द क्यों न हो, परन्तु उसमें आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति होती है। याद रखिए, उस निरंजन, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा को खोजने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है, वह आपके अन्दर में ही है। जिस प्रकार घनघोर घटाओं के बीच, बिजली की क्षीण रेखा के चमक जाने पर क्षणमात्र के लिए सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार एक क्षण के लिए भी सम्यक्-दर्शन की ज्योति के प्रकट हो जाने पर कभी न कभी आत्मा का उद्धार अवश्य ही हो जाएगा। बिजली की चमक में सब-कुछ दृष्टिगत हो जाता है, भले ही वह कुछ क्षण के लिए ही क्यों न हो। इसी प्रकार यदि परमार्थ तत्त्व के प्रकाश की एक किरण भी अन्तर्हृदय में चमक जाती है, तो फिर भले ही वह कितनी ही क्षीण तथा क्षणिक क्यों न हो, उसके प्रकाश में प्राप्त ज्ञान सम्यक्-ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान को, सम्यक्-ज्ञान का रूप देनेवाला तत्त्व-दृष्टि रूप तत्त्व-बोध सम्यक्-दर्शन ही है। यह सम्यक्-दर्शन जीवन का मूलभूत तत्त्व है।

तत्त्वों में अर्थात् पदार्थों में सबसे पहला जीव है। जीव, चेतन, आत्मा आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस अनन्त विश्व में सबसे महत्त्वपूर्ण यदि कोई तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है। 'मैं' की सत्ता का सच्चा विश्वास और सच्चा बोध, यही अध्यात्म-साधना का चरम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य है। इस समग्र संसार में जो कुछ भी ज्ञात एवं अज्ञात है, उस सबका चक्रवर्ती एवं अधिष्ठाता, यह आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में अन्य दूसरे तत्त्व या पदार्थ हैं, वे सब उसके सेवक या दास हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँचों द्रव्य जीव के सेवक और दास हैं। इनको इतना भी अधिकार नहीं है कि वे जीव रूपी राजा की आज्ञा में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित कर सकें। जीव रूपी राजा को धर्मास्तिकाय सेवक यह आदेश नहीं दे सकता कि चलो, जल्दी करो। अधर्मास्तिकाय सेवक उस राजा को यह नहीं कह सकता कि जरा ठहर जाओ। आकाशास्तिकाय यह नहीं कह सकता कि यहाँ ठहरिए और यहाँ नहीं। पुद्गलास्तिकाय सदा उसके उपभोग के लिए तैयार खड़ा रहता है। काल भी उसकी पर्याय-परिवर्तन के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। ये सब जीव के प्रेरक नहीं, मात्र उदासीन और तटस्थ हेतु ही होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सात तत्त्वों में, षड्द्रव्यों में और नव पदार्थों में सबसे मुख्य और सबसे प्रधान जीव ही है। इसी आधार पर जीव को चक्रवर्ती और अधिष्ठाता कहा जाता है। एक बात और है, हम जीव को अपनी अलंकृत भाषा में भले ही चक्रवर्ती कह लें, वस्तुतः वह चक्रवर्ती से भी महान् है, क्योंकि चक्रवर्ती केवल सीमित क्षेत्र का ही अधिपति होता है। सीमा के बाहर एक अणुमात्र पर भी उसका अधिकार नहीं होता और न ही उसका शासन चल सकता है। परन्तु जीव में वह शक्ति है कि जब वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं अरहन्त बन जाता है, तब वह त्रिलोकनाथ और त्रिलोक-पूजित हो जाता है। त्रिलोक के समक्ष चक्रवर्ती के छह खण्ड का विशाल राज्य भी महासिन्धु में मात्र एक बिन्दु के समान ही होता है। चक्रवर्ती को चक्रवर्ती का उत्तराधिकार या किसी अन्य रूप में अन्य कोई व्यक्ति नहीं बनाता है, वह अपनी निज की शक्ति से ही चक्रवर्ती बनता है। इसी प्रकार इस आत्मा को भी त्रिलोकनाथ और त्रिलोकपूजित बनानेवाली अन्य कोई शक्ति नहीं है, आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही, तीन लोक का नाथ और तीन लोक का पूज्य बन जाता है। आत्मा को परमात्मा बनाने वाला अन्य कोई नहीं होता, बल्कि स्वयं आत्मा ही अपने विकल्प और विकारों को नष्ट करके, आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

आप इस बात को जानते ही हैं कि सिंह को वन-राज कहा जाता है। वन-राज का अर्थ है—वन का राजा, वन का सम्राट् और वन का चक्रवर्ती। मैं आपसे पूछता हूँ कि आखिर उस सिंह को वन का राजा किसने बनाया? कौन ऐसा पशु एवं पक्षी है, जो आगे बढ़कर उसका राज्याभिषेक करता है। स्पष्ट है कि सिंह को वन का राज्य दिया नहीं जाता, बल्कि वह स्वयं अपनी शक्ति से उसको प्राप्त करता है। यहाँ पर भी यही बात सत्य है कि इस जीव को त्रिलोक का नाथ दूसरा कोई बनानेवाला नहीं है, यह स्वयं ही अपनी शक्ति से तीन लोक का नाथ बन जाता है। जैसे राजा के सेवक सदा राजा के आदेश का पालन करने के लिए तत्पर खड़े रहते हैं, वैसे ही जीव रूपी राजा के आदेश का पालन करने के लिए, अन्य द्रव्य, अन्य तत्त्व और अन्य पदार्थ सदा तत्पर खड़े रहते हैं। किसी में यह शक्ति नहीं है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे चला सके, ठहरा सके अथवा अन्य कोई कार्य करा सके। जब उसकी इच्छा होती है, वह चलता है, जब उसकी इच्छा होती है, तब वह ठहरता है, जब उसकी इच्छा होती है, तभी वह अपना अन्य कोई कार्य संपादन करता है। अन्य पदार्थ तो केवल उसकी आज्ञा-पालन में तैयार खड़े रहते हैं। कुछ भी करनेवाला और कुछ भी न करनेवाला तो स्वयं जीव ही है। अन्य पदार्थ उसके कार्य में अथवा क्रियाकलाप में निमित्तमात्र ही रहते हैं। और, निमित्त भी प्रेरक नहीं, केवल उदासीन ही। यह जड़ शरीर और इसके अन्दर रहने वाली ये इन्द्रियाँ और मन भी तभी तक कार्य करते हैं, जब तक जीव रूपी राजा इस शरीर रूपी प्रासाद में रहता है। उसकी सत्ता पर ही इस संसार के सारे खेल चलते हैं। इस जड़ात्मक जगत् का अधिष्ठाता और चक्रवर्ती यह जीव जब तक इस देह में है, तभी तक यह देह हरकत करती है, इन्द्रियाँ अपनी प्रवृत्ति करती हैं और मन अपना काम करता है। इस तन में से जब चेतन जीव निकल जाता है, तब तन, मन और इन्द्रियाँ सब निरर्थक हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः यह कहा जा सकता है कि समस्त तत्त्वों में मुख्य तत्त्व जीव है, द्रव्यों में मुख्य द्रव्य जीव है और पदार्थों में प्रधान पदार्थ जीव ही है। इस अनन्त सृष्टि का अधिनायकत्व जो जीव को मिला है, उसका मुख्य कारण, उसका ज्ञान गुण ही है। ज्ञान होने के कारण ही यह ज्ञाता है और शेष संसार ज्ञेय है। जीव उपभोक्ता है और शेष समग्र संसार उसका उपभोग्य है। ज्ञाता है, तभी ज्ञेय की सार्थकता है। उपभोक्ता है, तभी उपभोग्य की सफलता है। इस अनन्त विश्व में जीवात्मा अपने शुभ या अशुभ कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है। वह अच्छा भी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। पाप करके वह नरक में जा सकता है, पुण्य करके वह स्वर्ग में जा सकता है तथा संवर एवं निर्जरा रूप धर्म की साधना करके, वह मोक्ष में भी जा सकता है। मोक्ष अथवा मुक्ति जीव की ही होती है, अजीव की नहीं। जब अजीव शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसमें भी मुख्य रूप से जीव की ध्वनि ही ध्वनित होती है। क्योंकि जीव का विपरीत भाव ही तो अजीव है।

कुछ लोग तर्क करते हैं कि जीव से पहले अजीव को क्यों नहीं रखा? यदि सात तत्त्वों में, षड् द्रव्यों में और नव पदार्थों में पहले जीव को न कहकर, अजीव का ही उल्लेख किया जाता, तो क्या आपत्ति थी? सबसे पहले हमारी अनुभूति का विषय यह जड़ पदार्थ ही बनता है। यह शरीर भी जड़ है, इन्द्रियाँ भी जड़ हैं और मन भी जड़ है। जीवन की प्रत्येक क्रिया जड़ एवं पुद्गल पर ही आधारित है, फिर जीव से पूर्व अजीव को क्यों नहीं रखा?

आपने देखा कि कुछ लोग अजीव की प्रमुखता के समर्थन में किस प्रकार तर्क करते हैं? मेरा उन लोगों से एक ही प्रतिप्रश्न है, एक ही प्रतितर्क है? यदि इस तन में से चेतन को निकाल दें, तो इस शरीर की क्या स्थिति रहेगी? चेतन-हीन और जीव-विहीन शरीर को आप लोग शव कहते हैं। याद रखिए, जीव रूप शिव के सम्बन्ध से ही, देह रूप शव का स्वरूप बना हुआ है। यदि सात तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव से पहले अजीव को रख दिया गया होता, तो यह इन्सान के दिमाग का दिवालियापन ही होता। और तो क्या, मोक्ष की बात को भी पहले नहीं रखा, सबसे अन्त में रखा है। सबका राजा तो आत्मा ही है, उसी के लिए यह सब-कुछ है, उसकी सत्ता से ही अजीव की सार्थकता है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा स्वतन्त्र कहाँ हैं। जीव की ही अवस्था-विशेष हैं, ये सब। मोक्ष भी जीव की ही अवस्था है, और मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा भी जीव के ही स्वरूप हैं। बन्ध और मोक्ष जीव के अभाव में किसको प्राप्त होंगे? अतः संसार में जीव की ही प्रधानता है।

संस्कृत-भाषा में जिसे आत्मा कहते हैं, हिन्दी भाषा का 'आप' शब्द उसी का अपभ्रंश है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा से ही प्राकृत का अप्पा और अप्पा से हिन्दी का 'आप' बना है। आप और आत्मा दोनों का अर्थ एक ही है। आत्मा की बात अपनी बात है और अपनी बात आत्मा की बात है। यही जीवन का मूल तत्त्व है, जिस पर जीवन की समस्त क्रियाएँ आधारित हैं। जब तक यह शरीर में विद्यमान रहता है, तभी तक शरीर क्रिया करता है। शुभ क्रिया अथवा अशुभ क्रिया का आधार जीव ही है। जीवन के अभाव में न शुभ क्रिया हो सकती है और न अशुभ क्रिया हो सकती है। मन, वचन और शरीर की जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका आधार जीव ही तो है। यदि आत्म-तत्त्व न हो, तो फिर इस विश्व में कोई भी व्यवस्था न रहे। विश्व की व्यवस्था का मुख्य आधार जीव ही है।

जीवन में तब तक ही मन, वचन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, जब तक चेतन इनमें अधिष्ठित है। चेतन के निकलते ही सब का काम एक साथ और एकदम बन्द हो जाता है।

उपमा की दृष्टि से आत्मा इस संसार में रानी मधुमक्खी है। जब तक वह इस देह रूप छत्ते पर बैठी होती है, तब तक ही, मन, वचन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि रूप अन्य कर्मकर मधुमक्खियों का तथा पुण्य, पाप, शुभ एवं अशुभ आदि का व्यापार चलता रहता है। यह आत्मारूपी रानी मधुमक्खी जब अपना छत्ता छोड़ देती है, तो इस जीवन की शेष समस्त क्रियाएँ स्वतः बन्द हो जाती हैं, उन्हें किसी बाह्य कारण से बन्द करने की जरूरत नहीं रहती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। आत्मा न बाल है, न तरुण है, न प्रौढ़ है, न वृद्ध है। ये सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं, शरीर की होती हैं। अतः इनके आधार पर शरीर को आत्मा समझना और आत्मा को शरीर समझना, एक भयंकर मिथ्यात्व है। जब तक यह मिथ्यात्व नहीं टूटेगा, तब तक आत्मा का उद्धार और कल्याण कभी नहीं हो सकेगा। इस मिथ्यात्व को तोड़ने की शक्ति एकमात्र भेद-विज्ञानरूप सम्यक्-दर्शन में ही है।

जीवन के रहने पर ही सब कुछ रहता है, जीवन के न रहने पर तो कुछ भी नहीं रहता। इसी आधार पर अध्यात्मवादी-दर्शन में जीव को अन्य सभी तत्त्वों का राजा कहा गया है। यदि इस जीव, चेतन और आत्मा का वास्तविक बोध हो जाता है, तो जीव से भिन्न अजीव को एवं जड़ को पहचानना आसान हो जाता है। अजीव के परिज्ञान के लिए भी, पहले जीव का परिबोध ही आवश्यक है। स्व को जानो, स्व को पहचानो, यही सब से बड़ा सिद्धान्त है, यही सबसे बड़ा ज्ञान है और यही सब से बड़ा सम्यक्-ज्ञान है। जीव की पहचान ही सबसे पहला तत्त्व है।

जब जीव का यथार्थ परिज्ञान हो जाता है, तब प्रश्न यह उठता है—क्या इस संसार में जीव का प्रतिपक्षी भी कोई तत्त्व है? इसके उत्तर में स्पष्ट है कि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। अजीव शब्द में पूर्व का 'अ' शब्द अभाव वाचक नहीं है, अपितु प्रतिपक्ष का, विरोधी भाव का वाचक है, जैसे कि अधर्म। अधर्म, धर्म का अभाव नहीं है, अपितु धर्म-विरुद्ध अधर्म है, कदाचार है। अतः प्रतिपक्ष रूप अजीव के ज्ञान के लिए, जीव को ही आधार बनाना पड़ता है। इसलिए मैंने पूर्व में कहा था—'सप्त तत्त्वों में, षड्-द्रव्यों, नव पदार्थों में सबसे मुख्य तत्त्व, सबसे मुख्य द्रव्य एवं सबसे प्रधान पदार्थ जीव ही है। जीव के ज्ञान के साथ अजीव का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। शास्त्रकारों ने जीव का लक्षण बताया है—उपयोग। और, अजीव के लिए कहा है, कि जिसमें उपयोग न हो, वह अजीव है। अजीव का शब्दार्थ ही है—जो जीव न हो, वह अजीव अर्थात् अ+जीव। जीव का प्रतिपक्षी भाव रूप पदार्थ, अभाव रूप नहीं। अतः अजीव से पहले जीव का ही प्रमुख स्थान है।

जीव और अजीव के बाद आस्रव-तत्त्व आता है। आस्रव क्या है? जीव और अजीव का परस्पर विभाव रूप परिणति में प्रवेश ही आस्रव है। दो विजातीय पृथग्भूत तत्त्वों के मिलन की क्रिया, विभाव परिणाम है। जीव और पुद्गलरूप अजीव का विभाव रूप परिणाम ही आस्रव है। जीव की विभाव रूप परिणति और अजीव की विभाव रूप परिणति ही वास्तव में आस्रव है। एक ओर, पूर्व बद्ध मोह-कर्म के उदय से आत्मा राग-द्वेष रूप विभाव अवस्था में परिणत होता है, तो दूसरी ओर कार्मण-वर्गणा के पुद्गल भी उनके निमित्त से कर्मरूप विभाव अवस्था में परिणति करते हैं। उक्त उभयमुखी विभाव के द्वारा जब जीव और अजीव का संयोग होता है, उस अवस्था को शास्त्रकारों ने आस्रव कहा है। इसलिए जीव और अजीव के बाद आस्रव रखा है।

आस्रव के बाद बन्ध आता है। बन्ध का अर्थ है—कर्म-पुद्गल रूप अजीव और जीव का दूध और पानी अथवा अग्नि-तप्त-लोह-पिण्डवत् एक क्षेत्र अवगाही हो जाना। बन्ध का अर्थ—वह अवस्था है, जब दो विजातीय तत्त्व परस्पर मिल कर संबद्ध हो जाते हैं। इसी को संसार अवस्था कहते हैं।

पुण्य और पाप, जो कि मन, वचन और काय-योग की शुभ और अशुभ क्रियाएँ हैं। उनका अन्तर्भाव पहले आस्रव में और फिर बन्ध में कर दिया जाता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। आस्रव के बाद आत्मा के साथ बन्ध की प्रक्रिया होती है। अतः बन्ध भी दो प्रकार का होता है—शुभ-बन्ध और अशुभ-बन्ध। इस प्रकार शुभ और अशुभ रूप पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव और बन्ध के अन्तर्गत है।

यहाँ तक मुख्यतः संसार अवस्था का ही वर्णन किया गया है। संसार अवस्था का अर्थ बाहर के किसी भी वन, पर्वत, नदी और जड़ पदार्थ नहीं, प्रत्युत वास्तविक संसार तो कर्म-परमाणुओं का अर्थात् कर्म-दलिकों का आत्मा के साथ संबद्ध हो जाना है। जब तक जीव और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुदगल की यह संयोग अवस्था बनी रहेगी, तब तक संसार की स्थिति और सत्ता भी बनी रहेगी! यह स्वर्ग और नरकों के खेल, यह पशु-पक्षी, कीट-पतंग एवं मानव आदि का जीवन, सब आस्रव और बन्ध पर ही आधारित हैं। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य और पाप, यह सब भी संसार के ही खेल हैं। इनसे आत्मा का कोई हित नहीं होता, बल्कि अहित ही होता है। अध्यात्म-ज्ञानी की दृष्टि में शुभ भी बन्धन है और अशुभ भी बन्धन है। पाप भी बन्धन है और पुण्य भी बन्धन है। सुख भी बन्धन है और दुःख भी बन्धन है।

आश्रव और बन्ध के अनन्तर प्रश्न यह होता है कि यदि यह सब-कुछ संसार है, बंधन है, तो संसार का विपरीत भाव मोक्ष क्या वस्तु है? इसके समाधान में यह कहा गया है कि आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है, जो शुभ और अशुभ दोनों से अतीत है। दुःख की व्याकुलता यदि संसार है, तो सुख की आसक्ति रूपी आकुलता भी संसार ही है। मोक्ष की स्थिति में न दुःख की व्याकुलता रहती है और न सुख की ही आकुलता रहती है। जब तक जीव इस भेद-विज्ञान को नहीं समझेगा, तब तक वह संसार से निकल कर मोक्ष के स्वरूप में रमण नहीं कर सकेगा। पुद्गल और जीव का संयोग यदि संसार है, तो पुद्गल और जीव का वियोग ही मोक्ष है।

मोक्ष के लिए यह आवश्यक है कि जो अजीव कर्म-पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला है या हो चुका है, उसे जीव से अलग रखने या अलग करने का प्रयत्न किया जाए। और इसी को मोक्ष की साधना कहते हैं। इस साधना का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है—आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान। जब तक जीव और अजीव परस्पर पृथक् है, इस भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं हो जाता है, तब तक मोक्ष की साधना सफल नहीं हो सकती। इस भेद-विज्ञान का ज्ञान तभी होगा, जबकि आत्मा को सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि हो जाएगी। सम्यक्-दर्शन के अभाव में न मोक्ष की साधना ही की जा सकती है और न वह किसी भी प्रकार से फलवती ही हो सकती है। भेद-विज्ञान का मूल आधार सम्यक्-दर्शन ही है। सम्यक्-दर्शन के अभाव में जीवन की एक भी क्रिया मोक्ष का अंग नहीं बन सकती, प्रत्युत उससे संसार की अभिवृद्धि ही होती है। मोक्ष की साधना के लिए साधक को जो कुछ करना है, वह यह है कि वह शुभ और अशुभ दोनों विकल्पों से दूर हो जाए। न शुभ को अपने अन्दर आने दे और न अशुभ को ही अपने अन्दर झाँकने दे। जब तक अन्दर के शुभ एवं अशुभ के विकल्प एवं विकार दूर नहीं होंगे, तब तक मोक्ष की सिद्धि नहीं की जा सकेगी। आस्रव से बन्ध और बन्ध से फिर आस्रव, यह चक्र आज का नहीं, बल्कि अनादिकाल का है। परन्तु इससे विमुक्त होने के लिए, आत्म-सत्ता का पूर्ण श्रद्धान जाग्रत होना ही चाहिए। शुभ और अशुभ के विकल्प जब तक बने रहेंगे, तब तक संसार का अन्त नहीं हो सकता, भले ही हम कितना ही प्रयत्न क्यों न कर लें।

संसार के विपरीत मोक्ष-मार्ग की साधना करना ही अध्यात्म है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था, जिसमें आत्मा का किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और समग्र विकल्प एवं विकारों का अभाव होकर, आत्मा निज-स्वरूप में स्थिर हो जाती है। अतः आत्मा को विजातीय-भावों से अलग करना ही मोक्ष का हेतु है। जिस प्रकार संसार के दो कारण हैं—आस्रव और बन्ध। उसी प्रकार मोक्ष के भी दो कारण हैं—संवर और निर्जरा। संवर क्या है? प्रतिक्षण कर्म-दलिकों का जो आत्मा में आगमन है, उसे रोक देना ही संवर है। प्रतिक्षण आत्मा कषाय और योग के वशीभूत होकर, नवीन कर्मों का उपार्जन करती रहती है। उन नवीन कर्मों के आगमन को अकषाय-भाव और योग-निरोध से रोक देना ही, संवर कहा जाता है। प्रश्न है, निर्जरा क्या है? उत्तर है, पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश से आत्मा से अलग हटते रहना ही निर्जरा है। इस प्रकार धीरे-धीरे जब पूर्वबद्ध कर्म आत्मा से अलग होता रहेगा, तब एकक्षण ऐसा आता है, जबकि आत्मा सर्वथा कर्म-विमुक्त हो जाती है। इसी को मोक्ष कहा जाता है। संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। क्योंकि ये दोनों आस्रव और बन्ध के विरोधी तत्त्व हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब तक संवर और निर्जरा रूप धर्म की साधना नहीं की जाएगी, तब तक मुक्ति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्धि भी सम्भव नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर एवं निर्जरा की साधना आवश्यक है, इसके बिना आत्मा को स्व-स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सप्त तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव ही प्रधान है। जीव के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ एवं तत्त्व हैं, वे सब किसी न किसी रूप में जीव से ही सम्बन्धित हैं। जीव की सत्ता से ही आस्रव और बन्ध की सत्ता रहती है और जीव के आधार पर ही संवर एवं निर्जरा की सत्ता रहती है। मोक्ष भी क्या है? जीव की ही एक सर्वथा शुद्ध अवस्था-विशेष ही तो मोक्ष है। इस दृष्टि से विचार करने पर फलितार्थ यही निकलता है कि जीव की प्रधानता ही सर्वत्र लक्षित है। समग्र अध्यात्म-विद्या का आधार यह जीव ही है, अतः जीव के स्वरूप को समझने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। जीव के स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर और यह निश्चय हो जाने पर, कि मैं पुद्गल से भिन्न चेतन तत्त्व हूँ, फिर आत्मा में किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार शेष नहीं रह जाता। अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक 'पर' में स्वबुद्धि और 'स्व' में पर-बुद्धि रहती है। स्व में पर-बुद्धि और पर में स्व-बुद्धि का रहना ही बन्धन है। स्व में स्व-बुद्धि का रहना ही वस्तुतः भेद-विज्ञान है। जब स्व में स्व-बुद्धि हो गई, तब पर में पर-बुद्धि तो अपने आप ही हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रयत्न की आवश्यकता केवल निज-स्वरूप को समझने के लिए है। जिसने निज-स्वरूप को समझ लिया, उसे फिर अन्य किसी बात की अपेक्षा नहीं रहती।

संसार एक बाजार है। आप जानते हैं कि बाजार में हजारों दुकानें होती हैं, जिनमें नाना प्रकार की सामग्री भरी रहती है। बाजार में अच्छी चीज भी मिल सकती है और बुरी-से-बुरी चीज भी मिलती है। बाजार में कम कीमत की चीज भी मिल सकती है और अधिक मूल्य की वस्तु भी बाजार में उपलब्ध हो सकती है। यह खरीदने वाले की भावना पर है कि वह क्या खरीदता है और क्या नहीं खरीदता है? यदि कोई व्यक्ति वस्तु खरीद लेता है, तो वह उसे लेनी होगी, और उसकी कीमत चुकानी होगी। यदि कोई बाजार में से तटस्थ दर्शक के रूप में गुजरता है, कुछ भी नहीं खरीदता है, तो उसे बाजार की किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है, और न मूल्य चुकाने के लिए ही कोई दबाव डाला जा सकता है। संसार के बाजार में भी सभी कुछ है। यहाँ विष भी है और अमृत भी, अर्थात् शुभ भी है, अशुभ भी है। सुख भी है और दुःख भी है। स्वर्ग भी है और नरक भी है। यदि आपकी दृष्टि कुछ भी पाने की नहीं है, मात्र तटस्थ दर्शक ही ह आप, तब तो किसी वस्तु को लेने की बाध्यता नहीं है आपको। स्पष्ट है, बाजार की वस्तु उसी से चिपकती है, जो उसे खरीदता है। जो व्यक्ति कुछ खरीदता ही नहीं, उस के साथ कोई भी वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध चिपक नहीं सकती। यदि आप संसार रूपी बाजार की यात्रा खरीददार बनकर कर रहे हैं, संसार की वस्तुओं के साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव रख रहे हैं, तो तन्निमित्तक कर्म आपके साथ अवश्य चिपक जाएगा। इसके विपरीत यदि आप संसार रूप बाजार की यात्रा केवल एक दर्शक के रूप में कर रहे हैं, राग-द्वेष का भाव नहीं रख रहे हैं, तो एक भी कर्म आपके साथ सम्बद्ध न हो सकेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप संसार के बाजार की यात्रा एक दर्शक के रूप में कीजिए, खरीददार बनकर नहीं। यदि एक बार भी कहीं कुछ खरीदा, राग-द्वेष का भाव किया, तो फिर वही समस्या खड़ी हो जाएगी। राग और द्वेष के वशीभूत होकर ही यह आत्मा अच्छे एवं बुरे कर्मों को प्राप्त करती है, जिसका सुख-दुःखात्मक फल उसे भोगना ही पड़ता है।

अध्यात्म-साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए, राग और द्वेष के विकल्पों को जीतने की आवश्यकता है। जब तक जीवन में अनासक्ति का भाव और वीतरागता का भाव नहीं आएगा, तब तक जीवन का कल्याण नहीं हो सकेगा। वीतरागता की वह कला प्राप्त करो, जो ऐसी अद्भुत है, कि संसार-सागर में गोता लगाने पर भी, उसकी एक भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बूंद आप पर असर नहीं डाल पाती और यह कला राग-द्वेष के विकल्प को जीतने की ही है। जब आत्मा में वीतराग-भाव आ जाता है, तब संसार के किसी भी पदार्थ का उसके जीवन पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। संसार का विपरीत भाव ही मोक्ष है। जैसे दूध—दूध है और पानी—पानी है, यह दोनों की शुद्ध अवस्था है। जब दोनों को मिला दिया जाता है, तब यह दोनों की अशुद्ध अवस्था कहलाती है। इस प्रकार जीव और पुद्गल की संयोगावस्था संसार है और इन दोनों की वियोगावस्था ही मोक्ष है। इस मोक्ष अवस्था में जीव, जीव रह जाता है और पुद्गल, पुद्गल। वस्तुतः यही दोनों की विशुद्ध स्थिति है।

यहाँ पर एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह कि प्रत्येक मत और प्रत्येक पंथ, अपने को सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा समझता है। वास्तव में कौन सच्चा है और कौन झूठा है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक हो जाता है। मैं समझता हूँ, जो धर्म और दर्शन सत्य की उपासना करता है, फिर भले ही वह सत्य अपना हो अथवा दूसरों का हो, बिना किसी मताग्रह एवं पूर्वाग्रह के तटस्थ-भाव से सत्य को सत्य समझना ही वास्तविक सम्यक्-दर्शन है। सत्य तत्त्वों पर निश्चित दृष्टि, प्रतीति अर्थात् श्रद्धान ही मोक्ष-साधना का प्रथम अंग है। अध्यात्म-साधना में सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक होता है कि आत्म-धर्म क्या है और आत्म-स्वभाव क्या है? आत्मा और अनात्मा के भेद-विज्ञान को अध्यात्म-भाषा में सम्यक्-दर्शन कहा जाता है। आत्म-स्वरूप का स्पष्ट दर्शन और कल्याण-पथ की दृढ़ आस्था, यही सम्यक्-दर्शन है। कभी-कभी हमारी आस्था में और हमारी श्रद्धा में भय से और लोभ से चंचलता और मलिनता आ जाती है। इस प्रकार के प्रसंग पर भेद-विज्ञान के सिद्धान्त से ही, उस चंचलता और मलिनता को दूर हटाया जा सकता है। सम्यक्-दर्शन की ज्योति जगते ही, तत्त्व का स्पष्टतः दर्शन होने लगता है। स्वानुभूति और स्वानुभव, यही सम्यक्-दर्शन की सबसे संक्षिप्त परिभाषा हो सकती है। कुछ विचार-मूढ़ लोग बाह्य जड़-क्रियाकाण्ड में ही सम्यक्-दर्शन मानते हैं। किन्तु, सम्यक्-दर्शन का सम्बन्ध किसी भी जड़-क्रियाकाण्ड से नहीं है, बल्कि उसका एकमात्र सम्बन्ध है, आत्म-भाव की विशुद्ध परिणति से। सम्यक्-दर्शन का सम्बन्ध न किसी वेश-विशेष से है, न किसी जाति-विशेष से है और न किसी पंथ-विशेष से ही है। जब तक यह आत्मा स्वाधीन सुख को प्राप्त करने की ओर उन्मुख नहीं होती है,तब तक किसी भी प्रकार की धर्म-साधना से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अपनी आत्मा में अविचल आस्था होना ही सम्यक्-दर्शन का वास्तविक अर्थ है, तब शरीरापेक्षित किसी भी जड़ क्रियाकाण्डों में और सम्प्रदाय विशेष के विविध विधि-निषेधों में सम्यक्-दर्शनन हीं हो सकता।

सम्यक्-दर्शन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा चुका है, किन्तु सम्यक्-दर्शन एक ऐसा विषय है कि जीवन भर भी यदि इस पर विचार किया जाए, तब भी इस विषय का अन्त नहीं आ सकता। फिर भी, संसार के किसी भी पदार्थ को रागात्मक दृष्टि से देखना निश्चय ही अधर्म है, और उसे स्वरूप-बोध की दृष्टि से देखना, निश्चय ही धर्म है। किसको देखना? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि इस संसार में अनन्त पदार्थ हैं, तुम किस-किस को देखोगे? यह जटिल समस्या है। अतः किसी ऐसे पदार्थ को देखो, जिसके देखने से अन्य किसी के देखने की इच्छा ही न रहे और वह पदार्थ अन्य कोई नहीं, एकमात्र आत्मा ही है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि किसको देखना? इस प्रश्न का एक ही समाधान है, कि आत्मा को ही देखो। आत्मा को देखने पर ही हम अपने लक्ष्य को अधिगत कर सकेंगे। अभी तक यह आत्मा अपने को अनन्त-काल से मिथ्या-दृष्टि से ही देखती रही है, किन्तु जब तक सम्यक्-दृष्टि से नहीं देखा जाएगा, तब तक आत्मा का कल्याण एवं उत्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार जब हम वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं, तब हमें जीवन की वास्तविकता का परिबोध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति और मुक्ति का मार्ग :

भारत के अध्यात्म-दर्शन में स्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य को कोई भी साधक अपनी साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। भले ही वह साधक गृहस्थ हो अथवा भिक्षु हो। पुरुष हो अथवा नारी हो। बाल हो अथवा वृद्ध हो। भारत का हो अथवा भारत के बाहर का हो। जाति, देश और काल की सीमाएँ शक्ति-पुञ्ज आत्म-तत्त्व को अपने में आबद्ध नहीं कर सकती। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति—राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन सकता है। किन्तु जीवन की इस ऊँचाई को पार करने की उसमें जो क्षमता और योग्यता है, तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। भारतीय-संस्कृति में महापुरुषों के उच्च एवं पवित्र जीवन की पूजा एवं प्रतिष्ठा तो की गई, किन्तु उसे कभी अप्राप्य नहीं बताया गया। जो अप्राप्य है, अलभ्य है, भारतीय-संस्कृति उसे अपना आदर्श नहीं मानती। वह आदर्श उसी को मानती है—जो प्राप्य है, प्राप्त किया जा सकता है। यह बात अलग है कि उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कितना प्रयत्न करना पड़ता है, कितनी साधना करनी पड़ती है। भारतीय-दर्शन यथार्थ और आदर्श में समन्वय करके चलता है। भारत का प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि मेरा पुत्र राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बने तथा मेरी पुत्री ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता और सावित्री बने। जीवन का यह आदर्श ऐसा कुछ नहीं है, जिसे प्राप्त न किया जा सके। भारतीय-जीवन की यह एक विशेषता है कि वह अपनी संतान का नाम भी महापुरुषों के नाम पर रखती है। भारत के घरों के कितने ही आँगन ऐसे हैं—जिनमें राम, कृष्ण, शंकर, महावीर और गौतम खेलते हैं। सीता, सावित्री, पार्वती और त्रिशला भी कम नहीं हैं। इसके पीछे एक ध्येय है और वह यह कि जैसा तुम्हारा नाम है, वैसे ही तुम बन सकते हो। ये नाम केवल आदर्श ही नहीं हैं, यथार्थ भी हैं। अतः स्पष्ट है, एक साधक अपने जीवन में जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर चलता है, वह आदर्श केवल आदर्श ही नहीं है, जीवन के धरातल पर उतरने वाला एक यथार्थ सत्य है। आदर्श को यथार्थ में बदलने की अध्यात्म-कला का यहाँ चरम विकास हुआ है। भारतीय-संस्कृति का यह एक स्वस्थ संतुलित सुन्दर एवं स्पष्ट सिद्धान्त रहा है कि जीवन को शान्त एवं आनन्दित बनाने के लिए विचार को आचार में बदला जाए और आचार को विचार में बदला जाए। भारतीय-दर्शन का आदर्श आत्मा के सम्बन्ध में सच्चिदानन्द रहा है। जहाँ सत् अर्थात् सत्ता, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख—तीनों की स्थिति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी अवस्था को यहाँ परमात्म-भाव कहा गया है। उसकी प्राप्ति के बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। इसकी साधना कर लेने के बाद अन्य कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। आप ही विचार कीजिए, जब अनन्त आनन्द मिल गया, अक्षय सुख मिल गया, फिर तो अब क्या पाना शेष रह गया? कुछ भी तो शेष नहीं बचा, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए एवं साधना की जाए! भारतीय-दर्शन में इसी को मोक्ष कहा गया है, इसी को मुक्ति कहा गया है और इसी को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। यहाँ एक बात याद रखने की है कि जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का अनन्त आनन्द सत् है, असत् नहीं। वह केवल दुःखाभावरूप तुच्छ अभाव नहीं है, अपितु अनन्त काल से विकृत चले आ रहे आनन्द का शुद्ध रूप है। जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका आनन्द असत् कैसे हो सकता है? जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका चित् (ज्ञान) असत् कैसे हो सकता है? आत्मा में सत्, चित्, और आनन्द शाश्वत है, नित्य है, इनका कभी अभाव नहीं होता।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा सुख-रूप एवं आनन्द रूप है, तब उसमें दुःख कहाँ से आता है? और क्यों आता है? दुःख का मूल कारण बन्धन है। जब तक आत्मा की बद्धदशा है, तभी तक आनन्द विकृत होकर दुःख की स्थिति में बदला रहता है। दुःख एवं क्लेश का मूल कारण कर्म, अविद्या, माया एवं वासना को माना गया है। जब तक आत्मा कर्म के बन्धन से बद्ध है, तभी तक आनन्द विकृत रहता है, तभी तक उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख और क्लेश रहते हैं। जब आत्मा का कर्म के साथ संयोग न रहेगा, तब आनन्द अपने शुद्ध रूप में परिणत हो जाएगा, फलतः सर्व प्रकार के दुःख एवं क्लेशों का क्षय हो जाएगा।

देह का नाश या शरीर का छूट जाना ही मोक्ष नहीं है। ग्राम, नगर और समाज को छोड़कर शून्य निर्जन वन में चले जाना ही मोक्ष नहीं है। इस प्रकार का मोक्ष तो एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार हो चुका है। वास्तविक मोक्ष तो यही है, कि अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म, विकार, अविद्या और माया को दूर किया जाए। विकारों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। जीवन-मुक्ति पहले है, और विदेह-मुक्ति उसके बाद में है।

भारतीय-दर्शन का लक्ष्य आनन्द है। भले ही वह दर्शन भारत की किसी भी परम्परा से सम्बद्ध रहा हो, किन्तु प्रत्येक अध्यात्मवादी-दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि साधक के जीवन का लक्ष्य एकमात्र आनन्द है। यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है, कि उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति वर्तमान जीवन में भी हो सकती है, या नहीं? क्या मृत्यु के बाद ही उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी? मैंने इस तथ्य को अनेक बार दुहराया है कि मुक्ति एवं मोक्ष जीवन का अंग है। स्वयं चैतन्य का ही एक रूप है। एक ओर संसार है और दूसरी ओर मुक्ति है। जब यह जीवन संसार हो सकता है, तब यह जीवन मोक्ष क्यों नहीं हो सकता? जीवन से अलग न संसार है और न मोक्ष है। संसार और मोक्ष दोनों ही जीवन के दो पहलू हैं, दो दृष्टिकोण हैं। दोनों को समझने की आवश्यकता है। यह बात कितनी विचित्र है, कि संसार को तो हम जीवन का अंग मान लें, किन्तु मुक्ति को जीवन का अंग न मानें। जैन-दर्शन कहता है कि एक ओर करवट बदली, तो संसार है और दूसरी ओर करवट बदली, तो मोक्ष है। किन्तु दोनों ओर करवट बदलने वाला जीवन शाश्वत है। वह संसार में भी है और मोक्ष में भी है। इसलिए मोक्ष जीव का ही होता है, और वह जीवन में ही होता है, मृत्यु में नहीं। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी आखिर क्या वस्तु है? मृत्यु जीवन का ही एक परिणाम है, जीवन का ही एक पर्याय है। मोक्ष एवं मुक्ति यदि जीवन-दशा में नहीं मिलती है, तो मृत्यु के बाद वह कैसे मिलेगी? अतः भारतीय-दर्शन का यह एक महान् आदर्श है, कि जीवन में ही मुक्ति एवं मोक्ष प्राप्त किया जाए। इसको दर्शनशास्त्र में अर्हन्तदशा एवं जीवन-मुक्त अवस्था कहा जाता है। जीवन मुक्ति का अर्थ है—जीवन के रहते हुए ही, शरीर और श्वासों के चलते हुए ही, काम, क्रोध आदि विकारों से इस आत्मा का सर्वथा मुक्त हो जाना। काम-क्रोध आदि विकार भी रहें और मुक्ति भी मिल जाए, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार राग एवं द्वेष आदि कषायों को सर्वथा क्षय कर देना ही मुक्ति है।

आत्मवादी-दर्शन के समक्ष दो ही ध्रुव-केन्द्र हैं—आत्मा और उसकी मुक्ति। मोक्ष क्या वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मवादी-दर्शन घूम-फिर कर एक ही बात और एक ही स्वरों में कहते हैं कि मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है—जहाँ आत्मा सर्वथा अमल एवं धवल हो जाती है। मोक्ष में एवं मुक्ति में जीवन का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव-बुद्धि में जो एक प्रकार का मिथ्या-दृष्टिकोण है, उसी का विसर्जन होता है। मिथ्या-दृष्टिकोण का विसर्जन हो जाना, साधक जीवन की एक बहुत बड़ी उत्क्रान्ति है। जैन-दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्-दर्शन का, मिथ्या-ज्ञान के स्थान पर सम्यक्-ज्ञान का और मिथ्या-चारित्र के स्थान पर सम्यक्-चारित्र का पूर्णतया एवं सर्वतोभावेन विकास हो जाना ही मोक्ष एवं मुक्ति है। मोक्ष को जब आत्मा की विशुद्ध स्थिति स्वीकार कर लिया जाता है, तब मोक्ष के विपरीत आत्मा की अशुद्ध स्थिति को ही संसार कहा जाता है। संसार क्या है? स्थूल रूप में संसार का अर्थ आकाश, सूर्य, चन्द्र, भूमि, वायु, जल और अग्नि आदि समझा जाता है। परन्तु क्या वस्तुतः अध्यात्म-भाषा में भी यही संसार है? क्या अध्यात्म-शास्त्र इन सब को छोड़ने की बात कहता है? क्या यह सम्भव है कि भौतिक जीवन के रहते, इन भौतिक तत्त्वों को छोड़ा जा सके? पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में भी, मोक्ष में भी आत्मा रहेगी तो लोक में ही, लोकाकाश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही। लोकाकाश के बाहर कहाँ जाएगी? जब एक व्यक्ति वैराग्य की भाषा में संसार छोड़ने की बात कहता है, तब वह क्या छोड़ता है? अशन, वसन और भवन इनमें से वह क्या छोड़ सकता है? कल्पना कीजिए, कदाचित् इनको भी वह छोड़ दे, फिर भी अपने तन और मन को वह कैसे छोड़ सकता है? इस भूमि और आकाश का परित्याग वह कैसे कर सकेगा? तब फिर उसने क्या छोड़ा? हम वैराग्य की भाषा में यह कह देते हैं कि वैराग्यशील ज्ञानी साधक ने संसार को छोड़ दिया, किन्तु इस संसार-परित्याग का क्या अर्थ है? संसार छोड़कर वह कहाँ चला गया? और, उसने छोड़ा भी क्या है? वही शरीर रहा, वस्त्र भी वही रहा, भले ही उसकी बनावट में कुछ परिवर्तन आ गया हो। एक गृहस्थ की वेषभूषा के स्थान पर एक साधु का वेष आ गया हो। शरीर-पोषण के लिए वही भोजन, वही जल और वही वायु रही, तब संसार छोड़ने का क्या अर्थ हुआ? इससे स्पष्ट होता है कि यह सब-कुछ संसार नहीं है। तब संसार क्या है? अध्यात्म-भाषा में यह कहा जाता है, कि वैषयिक आकांक्षाओं, कामनाओं और इच्छाओं का हृदय में जो अनन्त-काल से आवास है, वस्तुतः वही बन्धन है, वही संसार है। उस आकांक्षा का, कामना का और वासना का परित्याग ही सच्चा वैराग्य है। कामनाओं की दासता से मुक्त होना ही संसार से मुक्त होना है। जब साधक को अपने चित्त में आनन्द की उपलब्धि होती है, जब उसके जीवन में निराकुलता की भावना आती है, जब साधक के जीवन में व्याकुलता-रहित शान्त स्थिति आती है और यह आकुलता एवं व्याकुलता-रहित अवस्था जितने काल के लिए चित्त में बनी रहती है, शुद्ध आनन्द का वह एक मधुर क्षण भी मानव-जीवन की अंशतः क्षणिक मुक्ति ही है। भले ही आज वह स्थायी न हो और साधक का उस पर पूर्ण अधिकार न हो पाया हो, परन्तु जिस दिन वह उस क्षणिकता को स्थायित्व में बदल कर मुक्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा, उसी दिन, उसी क्षण उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाएगी। जो अध्यात्म-साधक शरीर में रह कर भी शरीर में नहीं रहता, जो जीवन में रह कर भी जीवन में नहीं रहता और जो जगत् में रहकर भी जगत् में नहीं रहता, वही वस्तुतः विमुक्त आत्मा है। देह के रहते हुए भी, देह की ममता में बद्ध न होना, सच्ची मुक्ति है। जो देह में रहकर भी देह-भाव में आसक्त न होकर देहातीत अवस्था में पहुँच जाता है, वही अर्हत है, वही जिन है और वही वीतराग है। अध्यात्म-दर्शन साधक को जगत् से भागते फिरने की शिक्षा नहीं देता। वह तो कहता है कि तुम प्रारब्ध कर्मजन्य भोग में रहकर भी भोग के विकारों और विकल्पों के बन्धन से मुक्त होकर रहो, यही जीवन की सबसे बड़ी साधना है। जीवन की प्रारब्ध-प्रक्रिया से भयभीत होकर कहाँ तक भागते रहोगे? और, कब तक भागते रहोगे? आखिर एक दिन उससे मोर्चा लेना ही होगा। देह आदि की तथाकथित आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी विकारों से निर्लिप्त रहना ही होगा, अन्तर्द्वन्द्व में विजेता बनना ही होगा, यही जीवन की सच्ची अध्यात्म–कला है।

भारत के अध्यात्म साधकों की जीवन-गाथा एक-से-एक सुन्दर है, एक-से-एक मधुर है। भारत के अध्यात्म-साधक शूली की नुकीली नोंक पर चढ़कर भी मुक्ति का राग अलापते रहे हैं। भारत के अध्यात्म-साधक शूलों की राह पर चलकर भी मुक्ति के मार्ग से विमुख नहीं हो सके हैं। चाहे वे भवन में रहे हों या वन में रहे हों; चाहे वे एकाकी रहे हों या अनेकों के मध्य में रहे हों; चाहे वे सुख में रहे हों या दुःख में रहे हों—जीवन की प्रत्येक स्थिति में वे अपनी मुक्ति के लक्ष्य को भूल नहीं सके हैं। शूली की तीक्ष्ण नोंक पर और फूलों की कोमल सेज पर अथवा रंगीले राजमहलों में या वीरान जंगलों में रहनेवाले ये अध्यात्म-साधक अपने जीवन का एक ही लक्ष्य लेकर चले और वह लक्ष्य था—मुक्ति एवं मोक्ष। और तो क्या भारत की ललनाएँ अपने शिशुओं को पालने में झुलाते हुए भी उन्हें अध्यात्म की लोरियाँ सुनाती रही हैं। मदालसा जैसी माताएँ गाती हैं—

"शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि,
संसार माया परिवर्जितोऽसि।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तू शुद्ध है, निरंजन है और निर्विकार है। इस संसार में तू संसार की माया में आबद्ध होने के लिए नहीं आया है। तेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—भव-बन्धनों का विच्छेद करना, माया के जाल को काट देना और सर्व प्रकार के प्रपंचों एवं समग्र द्वन्द्वों से विमुक्त होकर रहना। जिस भारत की ललनाएँ अपने दूधमुहे शिशुओं को पालने में झुलाते हुए लोरियों में भी अध्यात्मवाद के संगीत सुनाती हैं, उस भारत के समक्ष मोक्ष एवं मुक्ति से ऊँचा अन्य कोई लक्ष्य हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस मुक्ति की चर्चा भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन जन्म-घुट्टी से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करता रहता है, जीवन के किसी भी क्षण में वह उसे विस्मृत नहीं कर सकता, आखिर उस मुक्ति का उपाय और साधन क्या है? क्योंकि साधक बिना साधन के सिद्धि को प्राप्त कैसे कर सकता है? कल्पना कीजिए, आपके समक्ष एक वह साधक है, जिसने मुक्ति की सत्ता और स्थिति पर विश्वास कर लिया है, जिसने मुक्ति प्राप्ति का अपना लक्ष्य भी स्थिर कर लिया है। यह सब कुछ तो ठीक है—परन्तु यदि उसे यह मालूम न हो कि मुक्ति का साधन और उपाय क्या है, तब उसके सामने एक बड़ी विकट समस्या आ जाती है। साधक के जीवन में इस प्रकार की स्थिति बड़ी विचित्र और बड़ी विकट होती है। यदि कोई अकुशल नाविक नाव में बैठकर किसी विशाल नदी को पार कर रहा हो, और ऐसे ही चलते-चलते मँझधार में पहुँच भी चुका हो, पर इस प्रकार की स्थिति में यदि सहसा झँझावात आजाए, तूफान आ जाए, तब वह अपने को कैसे बचा सकेगा, यदि उसने बचने का उपाय पहले से नहीं सीखा है, तो नौका एक माध्यम है जल-धारा को पार करने के लिए। परन्तु नौका चलाने की कला यदि ठीक तरह नहीं सीखी है, तो कैसे पार हो सकता है? यही स्थिति संसार-सागर को पार करते हुए अध्यात्म-साधक की होती है। मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उससे भी बढ़कर आवश्यक यह है, एक साधक उसे कैसे प्राप्त कर सके? भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन में मात्र मुक्ति के लक्ष्य को सूचित ही नहीं किया गया, बल्कि उस लक्ष्य तक पहुँचने और उसे प्राप्त करने का मार्ग और उपाय भी बताया गया है। मुक्ति के आदर्श को बताकर साधक से यह कभी नहीं कहा गया कि वह केवल तुम्हारे जीवन का आदर्श है, किन्तु तुम उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी प्राप्ति का कोई अमोघ साधन नहीं है। इसके विपरीत उसे सतत एक ही प्रेरणा दी गई कि मुक्ति का आदर्श अपने में बहुत ऊँचा है, किन्तु वह अलभ्य नहीं है। तुम उसे अपनी साधना के द्वारा एक दिन अवश्य प्राप्त कर सकते हो। जिस साध्य की सिद्धि का साधन न हो, वह साध्य ही कैसा?

आश्चर्य है, कुछ लोग आदर्श की बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। उनके जीवन के शब्द-कोष में आदर्श का अर्थ है—'मानव-जीवन की वह उच्चता एवं पवित्रता, जिसकी कल्पना तो की जा सके, किंतु जहाँ पहुँचा न जा सके।' मेरे विचार में आदर्श की यह व्याख्या सर्वथा भ्रान्त है, बिल्कुल गलत है। भारत की अध्यात्म-संस्कृति कभी यह स्वीकार नहीं करती कि 'आदर्श, आदर्श है, वह कभी यथार्थ की भूमिका पर नहीं उतर सकता। हम आदर्श पर न कभी पहुँचे हैं और न कभी पहुँच सकेंगे।'

अध्यात्मवादी-दर्शन यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता का हम चिन्तन तो करें, किन्तु जीवन में उसका अनुभव न कर सकें। मैं उस साधना को साधना मानने के लिए तैयार नहीं हूँ, जिसका चिन्तन तो आकर्षक एवं उत्कृष्ट हो, किन्तु वह चिन्तन साक्षात्कार एवं अनुभव का रूप न ले सके। मात्र कल्पना एवं स्वप्नलोक के आदर्श में भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन की आस्था नहीं है, होनी भी नहीं चाहिए। यहाँ तो चिन्तन को अनुभव बनना पड़ता है और अनुभव को चिन्तन बनना पड़ता है। चिन्तन और अनुभव यहाँ सहजन्मा और सदा से सहगामी रहे हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानव-जीवन का आदर्श स्वप्नलोक की वस्तु नहीं है कि ज्यों-ज्यों उसकी ओर आगे बढ़ते जाएँ, त्यों-त्यों वह दूर से दूरतर होती जाए। आदर्श उस अनन्त क्षितिज के समान नहीं है, जो दृष्टिगोचर तो होता रहे, किन्तु कभी प्राप्त न हो। धरती और आकाश के मिलन का प्रतीक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह क्षितिज, जो केवल दिखलायी तो पड़ता है, किन्तु वास्तव में जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता—मानव-जीवन का आदर्श इस प्रकार का नहीं है। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन मानव-जीवन के आदर्श को भटकने की वस्तु नहीं मानता। वह तो जीवन के यथार्थ जागरण का एक मूलभूत तत्त्व है। उसे पकड़ा जा सकता है, उसे ग्रहण किया जा सकता है और उसे जीवन के धरातल पर शत-प्रतिशत उतारा जा सकता है। मोक्ष केवल आदर्श ही नहीं, बल्कि वह जीवन का एक यथार्थ तथ्य है। यदि मोक्ष केवल आदर्श ही होता, यथार्थ न होता, तो उसके लिए साधन और साधना का कथन ही व्यर्थ होता। मोक्ष अदृष्ट दैवी हाथों में रहने-वाली वस्तु नहीं है, जिसे मनुष्य प्रथम तो अपने जीवन में प्राप्त ही न कर सके अथवा प्राप्त करे भी तो रोने-धोने, हाथ पसारने और दया की भीख माँगने पर, अन्यथा नहीं। जैन-दर्शन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि साधक! मुक्ति किसी दूसरे के हाथों की चीज नहीं है। और न वह केवल कल्पना एवं स्वप्नलोक की ही वस्तु है, बल्कि वह यथार्थ की चीज है, जिसके लिए प्रयत्न और साधना की जा सकती है तथा जिसे सतत अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैन-दर्शन ने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की है कि प्रत्येक साधक के अपने ही हाथों में मुक्ति को अधिगत करने का उपाय एवं साधन है। और वह साधन क्या है? वह है सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। इन तीनों का समुचित समग्र रूप ही मुक्ति का वास्तविक उपाय एवं साधन है।

कुछ विचारक भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन को निराशावादी-दर्शन कहते हैं। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन निराशावादी क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि वह वैराग्य की बात करता है, वह संसार से भागने की बात करता है, वह दुःख और क्लेश की बात करता है। परन्तु, वैराग्यवाद और दुःखवाद के कारण उसे निराशावादी-दर्शन कहना, कहाँ तक उचित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि अवश्य ही अध्यात्मवादी-दर्शन ने दुःख, क्लेश और बन्धन की बात की है। वैराग्य-रस से आप्लावित कुछ जीवन-गाथाएँ इस प्रकार की मिलती भी हैं, जिनके आधार पर अन्य विचारकों को भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन को निराशावादी-दर्शन कहने का दुस्साहस करना पड़ा। किन्तु, वस्तु-स्थिति का सम्यक् विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह केवल विचारकों का मतिभ्रम-मात्र है। भारतीय अध्यात्मवादी-दर्शन का विकास अवश्य ही दुःख एवं क्लेश के मूल में से हुआ है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि भारतीय-दर्शन ही क्यों, विश्व के समग्र दर्शनों का जन्म इस दुःख एवं क्लेश में से ही तो हुआ है। मानव के वर्तमान दुःखाकुल जीवन से ही संसार के समग्र दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तथ्य को कैसे भुलाया जा सकता है कि हमारे जीवन में दुःख एवं क्लेश नहीं हैं। यदि दुःख एवं क्लेश है, तो उससे छूटने का उपाय भी सोचना ही होगा। और यही सब कुछ तो अध्यात्मवादी-दर्शन ने किया है, फिर उसे निराशावादी-दर्शन क्यों कहा जाता है? निराशावादी तो वह तब होता, जबकि वह दुःख और क्लेश की बात तो करता, विलाप एवं रुदन तो करता, किन्तु उसे दूर करने का कोई उपाय न बतलाता। पर बात ऐसी नहीं है। अध्यात्मवादी-दर्शन ने यदि मानव-जीवन के दुःख एवं क्लेशों की ओर संकेत किया है, तो उसने वह मार्ग भी बतलाया है, जिस पर चलकर मनुष्य सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त हो सकता है। और वह मार्ग है—त्याग, वैराग्य, अनासक्ति और अन्तर्-जीवन का शोधन।

अध्यात्मवादी-दर्शन का कहना है—दुःख है, और दुःख का कारण है। दुःख अकारण नहीं है, क्योंकि जो अकारण होता है, उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। किंतु जिसका कारण होता है, यथावसर उसका निराकरण भी अवश्य ही किया जा सकता है। कल्पना कीजिए—किसी को दूध गरम करना है। तब क्या होगा? दूध को पात्र में डालकर अँगीठी पर रख देना होगा और उसके नीचे आग जला देनी होगी। कुछ काल बाद दूध गरम होगा, उसमें उबाल आ जाएगा। दूध का उबलना तब तक चालू रहेगा, जब तक कि उसके नीचे आग जल रही है। नीचे की आग भी जलती रहे और दूध का उबलना बन्द हो जाए, यह कैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है ? उष्णता का कारण आग है और जब तक वह नीचे जल रही है, तब तक दूध के उबाल और उफान को शान्त करना है, तो उसका उपाय यह नहीं है कि दो-चार पानी के छींटे दे दिए जाए, और बस ! अपितु उसका वास्तविक उपाय यही है, कि नीचे जलने वाली आग को या तो बुझा दिया जाए या उसे नीचे से निकाल दिया जाए। इसी प्रकार अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में अनादि-काल के दुःख को दूर करने का वास्तविक उपाय यही है कि उसे केवल ऊपरी सतह से दूर करने की अपेक्षा उसके मूलकारण का ही उच्छेद कर दिया जाए। मानव-जीवन में दुःख एवं क्लेश की सत्ता एवं स्थिति इस तथ्य एवं सत्य को प्रमाणित करती है कि दुःख का मूल कारण अन्यत्र नहीं, हमारे अन्दर ही है। जब तक उसे दूर नहीं किया जाएगा, तब तक दुःख की ज्वाला कभी शान्त नहीं होगी। अतः अध्यात्मवादी-दर्शन कहता है कि दुःख है। क्योंकि दुःख का कारण है और वह कारण बाहर में नहीं, स्वयं तुम्हारे अन्दर में है। दुःख के कारण का उच्छेद कर देने पर दुःख का उबाल-उफान स्वतः ही शान्त हो जाएगा। तब दुःख का अस्तित्व समाप्त होकर सहज-निर्मल आनन्द का अमृत-सागर हिलोरें लेने लगेगा।

शरीर में रोग होता है, तभी उसका इलाज किया जा सकता है। रोग होगा, तो रोग का इलाज भी अवश्य होगा। यदि कोई रोगी वैद्य के पास आए और वैद्य उसे यह कह दे कि आपके शरीर में कोई रोग नहीं है, तो उसका यह कथन गलत होगा। शरीर में यदि रोग की सत्ता और स्थिति है, तो उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। शरीर में रोग की सत्ता स्वीकार करने पर भी यदि वैद्य यह कहता है कि रोग तो है, किन्तु उसका इलाज नहीं हो सकता, तो यह भी गलत है। जब रोग है, तब उसका इलाज क्यों नहीं हो सकता ? संसार का कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकता कि रोग होने पर उसका प्रतिकार न हो सके। रोग को दुस्साध्य भले ही कहा जा सके, किन्तु असाध्य नहीं कहा जा सकता। यदि चिकित्सा के द्वारा रोग का प्रतिकार न किया जा सके, तो संसार में चिकित्सा-शास्त्र का कोई अर्थ ही न रहेगा। विचारक लोग उसे व्यर्थ समझ कर छोड़ बैठेंगे। अस्तु, चिकित्सा-शास्त्र उपयोग एवं प्रयोग के द्वारा रोग का स्वरूप निश्चित करता है, रोगोत्पत्ति का कारण मालूम करता है, रोग को दूर करने का उपाय एवं साधन बतलाता है, वस्तुतः यही उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्र में यदि कहा जाता कि दुःख तो है, किन्तु उसे दूर नहीं किया जा सकता, तो यह गलत होगा। किसी भी बुद्धिमान के गले यह नकार उतर नहीं सकता। जब दुःख है, तो उसका प्रतिकार क्यों नहीं किया जा सकता ? अध्यात्म-दर्शन कहता है, कि दुःख के प्रतिकार का सबसे सीधा और सरल मार्ग यही है कि दुःख के कारण को दूर किया जाए। भारत का अध्यात्म-साधक दुःख की सत्ता और स्थिति को स्वीकार करके भी उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, साधना करता है और उसमें सफलता भी प्राप्त करता है। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन निराशावादी-दर्शन नहीं है, वह शत-प्रतिशत आशावादी है। जीवन को मधुर प्रेरणा देनेवाला दर्शन है। अध्यात्मवादी-दर्शन मानव-मात्र के सामने यह उद्घोषणा करता है कि अपने को समझो और अपने से भिन्न जो पर है, उसे भी समझने का प्रयत्न करो। स्व और पर के विवेक से ही तुम्हारी मुक्ति का भव्य द्वार खुलेगा। शरीर में रोग है, इसे भी स्वीकार करो। और, उसे उचित साधन के द्वारा दूर किया जा सकता है, इस पर भी आस्था रखो। दुःख है, इसे स्वीकार करो, और वह दुःख दूर किया जा सकता है, इस पर भी विश्वास रखो। साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त किया जा सकता है, इससे बढ़कर मानव-जीवन का और आशावाद क्या होगा ? भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन कहता है कि साधक ! तू अपने वर्तमान जीवन में ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता है, केवल अपने जीवन की बहिर्मुख दिशा को अन्तर्मुखता में बदलने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध-मोक्ष क्या बाहर में है,
कहीं नहीं है, कहीं नहीं है।
तत्त्व-दृष्टि से देख स्वयं में,
जो भी है सब तुझमें ही है।।

*

तेरी भाव-चेतना जब भी,
पूर्ण सुनिर्मल होती है।
तभी मलिनता के बन्धन से,
मुक्त चिदात्मा होती है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

अवतारवाद या उत्तारवाद

ब्राह्मण-संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है, परंतु श्रमण-संस्कृति इस तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण-संस्कृति का आदिकाल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने-बिगाड़नेवाली शक्ति ईश्वर या अन्य किसी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जबकि लोक-प्रकल्पित सर्वसत्ताधारी ईश्वर ही कोई नहीं है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ, शक्तिमान क्यों नीचे उतर कर आए? क्यों मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले? क्या वह जहाँ है, वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता?

अवतारवाद बनाम दास्य-भावना

अवतारवाद के मूल में एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? अतः संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे वस्तुतः मनुष्य नहीं थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे, तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा, बेचारा आदमी यह सब-कुछ कैसे कर सकता था?

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को विध्वंस करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो, सब प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र-से-शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है।

अवतारवाद कहता है कि देखना, तुम कहीं कुछ कर न बैठना। तुम मनुष्य हो, पामर हो, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम, भला दो हाथ वाला हाड़-मांस का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, परलेसिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूलरूप में दास्य-भावना का पृष्ठ-पोषक है।

अवतारवाद की मान्यता पर खड़ी की गई संस्कृति मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता में विश्वास नहीं रखती। उसकी मूल भाषा में मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नहीं है, वह एकमात्र जगन्नियंता ईश्वर के हाथ में है। वह, जो चाहे कर सकता है। मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली मात्र है। पुराणों की भाषा में वह **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** के रूप में सर्वतंत्र स्वतंत्र है, विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट् है। गीता में कहा गया है **"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया"**[१] वह सब जगत् को अपनी माया से घुमा रहा है, जैसे कुम्हार चाक पर रखे मृत्पिंड को, सूत्रधार जैसे काष्ठ की पुतलियों को घुमाता है।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरों पर

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता, १८।६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे, इसीलिए तो श्रमणेतर-संस्कृति का ईश्वर कहता है—"मनुष्य! तू मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर। तू क्यों डरता है? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास!"[२] बस इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नहीं।

अवतारवाद या शरणवाद :

कोई भी तटस्थ विचारक इस बात पर विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नहीं? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं उठा सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक-स्तर बराबर नीचे गिरता जा रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते, सिर्फ पाप के फल से बचना चाहते हैं। और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं मानते, बल्कि केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार राम, कृष्ण आदि की शरण में पहुँच जाना ही इनकी दृष्टि में सबसे बड़ी साधना है, बस इसी से बेड़ा पार हो जाएगा। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिए तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हों और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र नारायण को पुकारने भर से सर्व-नियन्ता नारायण के दूत दौड़े आते हों एवं उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग में ले पहुँचते हों, वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है? सस्ती भक्ति, धर्माचरण के महत्त्व को गिरा देती है और इस प्रकार अन्ध-भक्ति से पल्लवित हुआ अवतारवाद का सिद्धान्त जनता में 'शरणवाद' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पाप करो, और उसके फल से बचने के लिए प्रभु की शरण में चले जाओ।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्शमात्र रह जाते हैं, वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम-कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं, तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झट-पट कह उठते हैं कि "अहा, क्या कहना है! अजी भगवान् थे, भगवान्! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है!" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा, दया, सत्य, परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं, अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है, आचरण करने के लिए नहीं। भला, सर्वशक्तिमान ईश्वर के कामों को मनुष्य कहीं अपने आचरण में उतार सकता है?

अवतारों का चरित्र : श्रव्य या कर्तव्य?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषों को ढंकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप में माने जानेवाले व्यक्ति का जीवन चरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है, तो वह विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है। किन्तु अवतार-वादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं—"अरे, तुम क्या जानो? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी! हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए!" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतन्त्र चिन्तन एवं गुण-दोष के परीक्षण

२. अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'—गीता १८।६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सिंह-द्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना, तो वह चौंक उठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण! कुछ समझ में नहीं आया! उस समय श्री शुकदेवजी ने, कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है। वे कहते हैं—"राजन्! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए हैं, आचरण करने के लिए नहीं।" कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं, जिनके जीवन-वृत्त केवल सुनने के लिए हों, विधि-निषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं? क्या इनके जीवन-चरित्रों से फलित होनेवाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतार-वादी साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतारवाद को विचार-परम्परा में एकमात्र नकार के अतिरिक्त, और कुछ भी स्थान नहीं मिल सकता।

'अवतरण' नहीं, 'उत्तरण':

श्रमण-संस्कृति का आदर्श, ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप में अवतरण नहीं माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण-संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजर नहीं है, प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयंसिद्ध ईश्वर है। परन्तु, जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा।

हाँ तो, ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक-शक्तियों का पुंज बन कर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अर्हन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्धदशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। कहा भी है—**"कर्म-बद्धो भवेज्जीवः, कर्ममुक्तस्तथा जिनः।"**

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर उत्प्रेरित करता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर उत्साह भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह उद्घोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना और घृणा, जो भी कड़वे-से-कड़वे रूप में मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त-पथ से विचलित नहीं हुई। उसकी हर कदम पर यही ध्वनि रही कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श सिखा सकता है? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व से हमें क्या कुछ मिल सकता है? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्यदेव आदर्श हो सकता है, जो कभी हमारे जैसा मनुष्य रहा हो, हमारे समान ही संसार के सुख-दुःख एवं माया-मोह से संत्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक-जागरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को ठुकरा कर निर्वाण-पद का पूर्ण अधिकारी बना हो, फलस्वरूप सदा के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर, अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो।

'जन' में 'जिनत्व' के दर्शन :

श्रमण-संस्कृति के तीर्थंकर, अर्हन्त, जिन एवं सिद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे। वे कोई प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार भी न थे, अलौकिक देवता न थे। वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के सामान्य प्राणी थे, पाप-मल से लिप्त एवं दुःख, शोक, आधि, व्याधि से संत्रस्त थे। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादि-काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक-साधना के पथ पर आए, तो सम्यक्-दर्शन के द्वारा जड़-चेतन के भेद को समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर पर विचार किया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्पथ के पथिक बन गए और आत्म-संयम की साधना में लगातार ऐसी तपःज्योति जगाई कि दृश्य ही बदल गया। तपः साधना के बल पर एकदिन उन्होंने मानव का वैसा दिव्य जीवन प्राप्त किया कि आत्म-साधना के विकास एवं वरदान स्वरूप अर्हन्त, जिन एवं तीर्थंकर के रूप में प्रकट हुए। श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र एवं धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण-चिन्ह मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक साधारण-जन में जिनत्व के अंकुर हैं, जो उन्हें अपनी साधना के जल-सिंचन से विकसित करके महावृक्ष के रूप में पल्लवित कर सकता है, उसे 'जिनत्व' का अमर-फल प्राप्त हो सकता है। राग-द्वेष-विजेता अर्हन्तों के जीवन-सम्बन्धी उच्च आदर्श, साधक-जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है, अपितु जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं, अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए मनुष्यों के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड-ज्योति जगा देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०

जैन-दर्शन : आस्तिक-दर्शन

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है, तब वह कभी-कभी बहुत भयंकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय में मतभेद होना उतना बुरा नहीं है, जितना कि मतभेद में घृणा का जहर भर जाना। भारतवर्ष में यह साम्प्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एवं विषाक्त हो गया है कि आज हमारी अखण्ड राष्ट्रीयता भी इसके कारण छिन्न-भिन्न हो रही है।

हिन्दू, मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं और मुसलमान, हिन्दुओं को काफिर कहते हैं। इसी प्रकार कुछ महानुभाव जैन-धर्म को भी नास्तिक कहते हैं। मतलब यह कि जिसके मन में जो आता है, वही आँख बन्द करके अपने विरोधी सम्प्रदाय को कह डालता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह कहाँ तक सत्य है? इसका क्या परिणाम निकलेगा? किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना तथा किसी के प्रति घृणा का वातावरण फैलाना अनुचित ही नहीं, बल्कि एक नैतिक अपराध भी है।

क्या जैन-धर्म नास्तिक है?

जैन-धर्म पूर्णतः आस्तिक-धर्म है। उसे नास्तिक-धर्म कहना, सर्वथा असंगत है। न तो यह कथन तर्क-संगत है और न सत्य है। पूर्णतः कपोल-कल्पित है।

भारत के कुछ लोग जैन-धर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे, इसके पीछे एक लम्बा इतिहास है। ब्राह्मण धर्म में जब यज्ञ-याग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन-हीन मूक पशुओं की हिंसा प्रारम्भ हुई, तब भगवान् महावीर ने इस अंध-विश्वास और यज्ञीय हिंसा का जोरदार विरोध किया। यज्ञ-याग आदि के समर्थन में आधार-भूत ग्रन्थ वेद थे, अतः हिंसा का समर्थन करनेवाले वेदों को भी अप्रामाणिक सिद्ध किया गया। इस पर कुछ मताग्रही ब्राह्मणों में बड़ा क्षोभ फैला। वे मन-ही-मन झुँझला उठे। जैन-धर्म की अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया, उलटे यह कह कर शोर मचाया जाने लगा कि जो वेदों को नहीं मानते हैं, जो वेदों की निन्दा करते हैं, वे नास्तिक हैं—**'नास्तिको वेद-निन्दकः।'** तब से लेकर आज तक जैन-धर्म पर यही आक्षेप लगाया जा रहा है। तर्क का उत्तर तर्क से न देकर गाली-गलौज करना, तो स्पष्ट ही दुराग्रह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश है। कोई भी तटस्थ प्रबुद्ध विचारक कह सकता है, यह सत्य के निर्णय करने की कसौटी कदापि नहीं है।

वैदिक-धर्मावलम्बी जैन-धर्म को वेद-निन्दक होने के कारण यदि नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैन भी वैदिक-धर्म को जैन-निन्दक होने के कारण नास्तिक कह सकते हैं—**'नास्तिको जैन-निन्दकः।'** परन्तु यह कोई अच्छा मार्ग नहीं है। यह कौन-सा तर्क है कि ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों को न माननेवाला नास्तिक कहलाए और जैन-धर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए? सच तो यह है कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी अन्य धर्म के ग्रन्थों को न मानने मात्र से नास्तिक नहीं कहला सकता। यदि ऐसा है, तो फिर विश्व के सभी धर्म नास्तिक हो जाएँगे, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सभी धर्म क्रिया-काण्ड आदि के रूप में कहीं न कहीं एक-दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। दुःख है, आज के प्रगतिशील-युग में भी इन थोथी दलीलों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से काम लिया जा रहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या करके एक-दूसरे को नास्तिक कहा जा रहा है।

वेदों का विरोध क्यों ?

जैन-धर्म को वेदों से कोई द्वेष नहीं है। वह किसी प्रकार की द्वेष बुद्धिवश वेदों का विरोध नहीं करता है। जैन-धर्म जैसा समभाव का पक्षपाती धर्म भला क्यों किसी की निन्दा करेगा ? वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार है। आप कहेंगे, फिर वेदों का विरोध क्यों किया जाता है ? वेदों का विरोध इसीलिए किया जाता है कि वेदों में अजमेध, अश्वमेध आदि हिंसामय यज्ञों का विधान है और जैन-धर्म हिंसा का स्पष्ट विरोधी है। अतः जैन-धर्म, धर्म के नाम पर किए जानेवाले निरीह पशुओं का वध तो तलवारों की छाया के नीचे भी सहन नहीं कर सकता।

क्या जैन परमात्मा को नहीं मानते ?

जैन-धर्म को नास्तिक कहने के लिए आजकल एक और कारण बताया जाता है। वह कारण बिल्कुल ही बेसिर-पैर का है, निराधार है। लोग कहते हैं कि 'जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।'

लेकिन प्रश्न यह है कि यह कैसे पता चला कि जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता ? परमात्मा के सम्बन्ध में जैन-धर्म की अपनी एक निश्चित मान्यता है। वह यह कि **जो आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो, जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो, केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर चुकी हो, न शरीर हो, न इन्द्रियाँ हों, न कर्म हो, न कर्मफल हो—वह अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा ही परमात्मा है।** जैन-धर्म इस प्रकार के वीतराग-आत्मा को परमात्मा मानता है। वह प्रत्येक आत्मा में इसी परम-प्रकाश को छुपा हुआ देखता है। कहता है कि हर कोई साधक वीतराग-भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। इस स्पष्टीकरण के बाद भी यह सोचा जा सकता है कि जैन-धर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता है ?

वैदिक-धर्मावलम्बी विचारक कहते हैं कि 'परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं, वैसा जैन-धर्म नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।' यह तर्क नहीं, मताग्रह है। जिन्हें वे आस्तिक कहते हैं, वे लोग भी परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कहाँ एकमत हैं ? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और ही बताते हैं, ईसाई कुछ और ही। वैदिक-धर्म में भी सनातन-धर्म का ईश्वर और है, आर्य-समाज का ईश्वर और है। सनातन-धर्म का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है, परन्तु आर्य-समाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक ? सिर्फ परमात्मा को मानने भर से ही कोई आस्तिक है, तो जैन-धर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है, अतः वह भी आस्तिक है, परम आस्तिक है।

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत् का कर्ता नहीं मानते, इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी ऊपर के तर्क के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है, रागद्वेष से रहित है, तब वह जगत् का क्यों निर्माण करेगा ? और फिर उस जगत् का, जो आधि-व्याधि के भयंकर दुःखों से संत्रस्त है, तथा अनेक हास्यास्पद विसंगतियों से ग्रस्त है। इस प्रकार जगत् की रचना में वीतराग-भाव कैसे सुरक्षित रह सकता है ? और बिना शरीर के, निर्माण होगा भी कैसे ? अस्तु, परमात्मा के द्वारा जगत्-कर्तृत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता।

किसी वस्तु का अस्तित्व होने पर ही तो उसे माना जाए ! मनुष्य के पंख नहीं हैं। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पंख होना मानो, नहीं तो तुम नास्तिक हो, तब तो अच्छा तमाशा शुरू हो जाएगा ! यह भी एक अच्छी बला है। इस प्रकार से तो सत्य का गला ही घोंट दिया जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नास्तिक कौन ?

वैदिक-सम्प्रदाय में मीमांसा, सांख्य और वैशेषिक आदि दर्शन कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन हैं। जगत-कर्ता तो दूर की बात रही, ये तो ईश्वर का अस्तित्व तक ही स्वीकार नहीं करते। फिर भी वे आस्तिक हैं। और, जैन-धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह सिर्फ स्व-मत के प्रति मिथ्या राग और पर-धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नहीं, तो और क्या है? आज के बुद्धिवादी-युग में ऐसी बातों का कोई महत्त्व नहीं।

शब्दों के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दों के सम्बन्ध में व्याकरण ही विद्वानों को मान्य होता है, अपनी मनःकल्पना नहीं। आस्तिक और नास्तिक शब्द संस्कृत-भाषा के शब्द हैं। अतः इन शब्दों को प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण के आधार पर विवेचित करके, इसका यथार्थ अर्थ स्पष्ट कर लेना परमावश्यक है। यह व्याकरण भी वैदिक-संप्रदाय का ही है।

महर्षि पाणिनि के द्वारा रचित व्याकरण के अष्टाध्यायी नामक ग्रंथ के चौथे अध्याय के चौथे पाद का साठवाँ सूत्र है—**'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' ४।४।६०**

महान् व्याकरणाचार्य भट्टोजी दीक्षित ने अपनी सिद्धान्त-कौमुदी में इसका अर्थ किया है—

"अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः,
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।"

हिन्दी अर्थ यह है—"जो परलोक को मानता है, वह आस्तिक है। और, जो परलोक को नहीं मानता है, वह नास्तिक है।"

कोई भी विचारक यह सोच सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये कुछ पड़ोसी मित्र क्या कहते हैं? जैन-दर्शन आत्मा को मानता है, परमात्मा को मानता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों में विश्वास करता है। आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देता है। वह परलोक को मानता है, पुनर्जन्म को मानता है, पाप-पुण्य को मानता है, बंध और मोक्ष को मानता है। फिर भी उसे नास्तिक कहने का कौन-सा आधार शेष रह जाता है? जिस धर्म में कदम-कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो, जिस धर्म में सत्य-सदाचार के लिए सर्वस्व का त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो, जिस धर्म में परम वीतराग भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों की विश्व-कल्याणमयी वाणी का अमर स्वर गूंज रहा हो, वह धर्म नास्तिक कदापि नहीं हो सकता। यदि इतने पर भी जैन-धर्म को नास्तिक कहा जा सकता है, तब तो संसार में एक भी धर्म ऐसा नहीं है, जो आस्तिक कहलाने का दावा कर सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्तिकता, नास्तिकता क्या है,
अल्पाक्षर में तत्त्व यही है।
चित्स्वरूप की निष्ठा में ही,
आस्तिकता की ज्योति रही है ।।

*

देह विनश्वर सदा अचेतन,
इससे भिन्न शुद्ध है चेतन।
जड़-चेतन का भेद बोध ही,
पूर्ण अबाधित आस्तिक दर्शन ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११

अनेकता में एकता

भारतवर्ष में दार्शनिक विचार-धारा का जितना विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्मभूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न विचार, बिना किसी प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के, फूलते-फलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए, तो एक बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाएगा। अतः अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय यहाँ दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में भी इन दर्शनों का अस्तित्व था और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं। पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—

१. कालवाद, २. स्वभाववाद, ३. कर्मवाद, ४. पुरुषार्थवाद और ५. नियतिवाद। इन पाँचों दर्शनों का आपस में भयंकर वैचारिक संघर्ष है और प्रत्येक दर्शन परस्पर में एक-दूसरे का खण्डन कर मात्र अपने ही द्वारा कार्य-सिद्ध होने का दावा करता है।

१. कालवाद :

कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। वह काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसे उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही कार्य का अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक यदि वह आज ही जन्मा हो, तो आप उसे कितना ही चलाएँगे, लेकिन वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा और बोलेगा। जो बालक आज सेर-भर का पत्थर नहीं उठा सकता, वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन-भर के पत्थर को उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है, तो क्या आप आज ही उसके मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षों के बाद कहीं आम्रफल के दर्शन होंगे। ग्रीष्मकाल में ही सूर्य तपता है। शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूंछें आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। यह काल की महिमा है।

२ स्वभाववाद :

स्वभाव-वाद का दर्शन भी कुछ कम नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े ही पैने तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, वे सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब-कुछ कर सकता है, तो क्या काल निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को वर्षों-वर्ष गुड़ और घी से सींचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है? दही मथने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं, क्योंकि दही में ही मक्खन होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव शीतलता है, सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है और तारों का स्वभाव रात में चमकना है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष विचारे काल आदि क्या कर सकते हैं?

३ कर्मवाद :

कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत चिर-प्रसिद्ध दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचार-धारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार में सर्वत्र कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए--एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान होता है, और दूसरा वज्र-मूर्ख! ऊपर का वातावरण एक होने पर भी परस्पर भेद क्यों है? मनुष्य के नाते सब मनुष्य एक समान होने पर भी उनमें कर्म के कारण ही भेद हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान चतुर पुरुष भूखों मरते हैं और वज्रमूर्ख गद्दी-तकियों के सहारे सेठ बनकर आराम करते हैं। एक को माँगने पर भीख भी नहीं मिलती, दूसरा रोज हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपड़े के नाम पर चिथड़े भी नहीं हैं, और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दों पर लेटा करते हैं। यह सब क्या है? अपने-अपने कर्म हैं। राजा को रंक और रंक को राजा बनाना, कर्म के बाँएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है--**'गहना कर्मणो गतिः'** अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

४ पुरुषार्थवाद :

पुरुषार्थवाद का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि लोगों ने पुरुषार्थ-वाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उन्होंने कर्म, स्वभाव, काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी, जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल में कर्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा होता है। कालवाद कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो, तो क्या हो जाएगा? आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में आम का पेड़ लग जाएगा? कर्म का फल भी बिना पुरुषार्थ के, यों ही हाथ धरकर बैठे रहने से मिल जाएगा? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, सागर में तैर रहा है, पहाड़ों को मिट्टी के ढेले की तरह तोड़ रहा है, चाँद पर एवं अन्य ग्रहों पर पहुँच रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है। यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं, तो और क्या है? एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है। वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है, और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख बुझ जाएगी? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा! तभी तो कहा गया है--**"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।"**

५ नियतिवाद :

नियतिवाद का दर्शन जरा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है--संसार में जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यों नहीं? पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं, गधे-घोड़े क्यों नहीं उड़ते? हंस श्वेत क्यों हैं, और कौवा काला क्यों है? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो ही क्यों ? अग्नी की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है, वह नीचे को क्यों नहीं जाती ? इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे, तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम में उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे-घोड़े आकाश में उड़ने लगें, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः नियति ही सब से महान् है। कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी कहते हैं। जो होनहार है, वह होकर रहता है, उसे कोई टाल नहीं सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों वाद अपने-अपने विचारों की खींचातान करते हुए, दूसरे विचारों का खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधारण जनता में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ है। भगवान् महावीर ने विचारों के इस संघर्ष का बड़ी अच्छी तरह समाधान किया है। संसार के सामने उन्होंने वह सत्य प्रकट किया, जो किसी का खण्डन नहीं करता, अपितु सबका समन्वय करके जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

समन्यवाद :

भगवान् महावीर का उपदेश है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं, संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचों के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़कर सबका समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। एकान्त रूप से किसी एक ही पक्ष का आग्रह रखना उचित नहीं है। आग्रह से कदाग्रह और कदाग्रह से विग्रह अन्ततोगत्वा पैदा ही होता है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों, परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला ही स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने-वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा ? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए, आम यों ही जल्दी थोड़े ही तैयार हो जाएँगे ? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही नियति। वह सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? और आम होना होता है, तो होता है, नहीं होना होता है, तो नहीं होता है। हाँ या ना, जो होना है, उसे कोई टाल नहीं सकता।

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम नियति एवं भवितव्यता का भी ध्यान रखा जाए; तभी वह पढ़-लिख कर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जानेवाला यह समन्वय ही वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखला सकता है।

विचारों के भँवर-जाल में आज मनुष्य की बुद्धि फँस रही है। एकान्तवाद का आग्रह रखने के कारण, वह किसी भी समस्या का उचित समाधान नहीं पा रहा है। समस्या का समाधान पाने के लिए उसे जैन-दर्शन के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समन्वयवाद को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह निर्झर, यह सरिता, सागर,
दूर-दूर है, भिन्न-भिन्न है।
किन्तु सभी में मूल तत्त्व तो—
एक रूप में जल अभिन्न है॥

*

महावीर का अनेकान्त है,
भिन्न-भिन्न में है अभिन्नता।
छोड़ कदाग्रह मत-पंथों का,
लखो सत्य की एकरूपता॥

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२

जैन-दर्शन की समन्वय-परम्परा

दर्शन-शास्त्र विश्व की सम्पूर्ण सत्ता के रहस्योद्घाटन की अपनी एक धारणा बनाकर चलता है। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य है, विश्व के स्वरूप को विवेचित करना। इस विश्व में चित् और अचित् सत्ता का स्वरूप क्या है? उक्त सत्ताओं का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है? उक्त प्रश्नों पर अनुसन्धान करना ही दर्शन-शास्त्र का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य है। भारत के समग्र दर्शनों का मुख्य ध्येय बिन्दु है—आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। चेतन और परमचेतन के स्वरूप को जितनी समग्रता के साथ भारतीय-दर्शन ने समझाने का सफल प्रयास किया है, उतना विश्व के अन्य किसी दर्शन ने नहीं। यद्यपि मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि यूनान के दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, तथापि वह उतना स्पष्ट और विशद प्रतिपादन नहीं है, जितना भारतीय-दर्शनों का है। यूनान के दर्शन की प्रतिपादन-शैली सुन्दर होने पर भी उसमें चेतन और परमचेतन के स्वरूप का अनुसन्धान गम्भीर और मौलिक नहीं हो पाया है। यूरोप का दर्शन तो आत्मा का दर्शन न होकर, केवल प्रकृति का दर्शन है। भारतीय-दर्शन में प्रकृति के स्वरूप का प्रतिपादन कम है और आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन अधिक है। जड़ प्रकृति के स्वरूप का प्रतिपादन भी एक प्रकार से चैतन्य-स्वरूप के प्रतिपादन के लिए ही है। भारतीय-दर्शन जड़ और चेतन—दोनों के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और साथ में वह यह भी बतलाने का प्रयत्न करता है कि मानव-जीवन का प्रयोजन और मूल्य क्या है? भारतीय-दर्शन का अधिक झुकाव आत्मा की ओर होने पर भी, वह जीवन-जगत् की उपेक्षा नहीं करता। मेरे विचार में भारतीय-दर्शन जीवन और अनुभव की एक समीक्षा है। दर्शन का आविर्भाव विचार और तर्क के आधार पर होता है। दर्शन तर्क-निष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करता है और फिर वह उसकी यथार्थता पर आस्था रखने के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार भारतीय-दर्शन में तर्क और श्रद्धा का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। पश्चिमी-दर्शन में बौद्धिक और सैद्धान्तिक-दर्शन की ही प्रधानता रहती है। पश्चिमी-दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है। अतः आप्त प्रमाण की वह घोर उपेक्षा करता है। इसके विपरीत भारतीय-दर्शन आध्यात्मिक-चिन्तन से प्रेरणा पाता है। भारतीय-दर्शन एक आध्यात्मिक खोज है। वस्तुतः भारतीय-दर्शन, जो चेतन और परम चेतन के स्वरूप की खोज करता है, उसके पीछे एकमात्र उद्देश्य यही है कि मानव-जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करना। एक बात और है, भारत में दर्शन और धर्म सहचर और सहगामी रहे हैं। धर्म और दर्शन में यहाँ पर न किसी प्रकार का विरोध है और न उन्हें एक-दूसरे से अलग रखने का ही कोई प्रयत्न है। दर्शन चित्-अचित् सत्ता की मीमांसा करता है और उसके स्वरूप को तर्क और श्रद्धा से पकड़ता है, जिससे कि मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि भारतीय-दर्शन एक बौद्धिक विलास नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक खोज है। धर्म क्या है? धर्म अध्यात्म-सत्य को अधिगत करने का एक व्यावहारिक उपाय है। भारत में दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि भारत के प्रत्येक धर्म की शाखा ने अपना एक दार्शनिक आधार तैयार किया है। पाश्चात्य Philosophy शब्द और पूर्वीय दर्शन शब्द की परस्पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में तुलना नहीं की जा सकती। Philosophy शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान का प्रेम, जबकि दर्शन का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार करना। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता का दर्शन है, फिर भले ही वह सत्ता चेतन हो अथवा अचेतन। भारतीय-दर्शन का मूल आधार चिन्तन और अनुभव रहा है। विचार के साथ आचार की भी इसमें महिमा और गरिमा रही है।

क्या भारतीय-दर्शनों में विषमता है?

यहाँ प्रश्न यह होता है कि भारतीय-दर्शनों में विषमता कहाँ है? मुझे तो कहीं, पर भी भारतीय-दर्शनों में विषमता दृष्टिगोचर नहीं होती है। अनेकान्तवाद की दृष्टि से विचार करने पर हमें सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही दृष्टिगोचर होता है, कहीं पर भी विरोध और विषमता नहीं मिलती। भारतीय-दर्शनों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है, उनका वर्गीकरण किसी भी पद्धति से क्यों न किया जाए, किन्तु उनका गम्भीर अध्ययन और चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि एक चार्वाक-दर्शन को छोड़कर, भारत के शेष समस्त दर्शनों का—जिसमें वैदिक-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन की समग्र शाखाओं एवं उपशाखाओं का समावेश हो जाता है, उन सबका मूल ध्येय रहा है, आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन और मोक्ष की प्राप्ति। अतः मैं भारतीय-दर्शन को दो विभागों में विभाजित करता हूँ—भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। एक चार्वाक-दर्शन को छोड़कर भारत के अन्य सभी दर्शन अध्यात्मवादी हैं, क्योंकि वे आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भले ही सब एक मत न हों, किन्तु उसकी सत्ता से किसी को इन्कार नहीं है। क्षणिकवादी बौद्ध-दर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। जैन-दर्शन भी आत्मा को अमर, अजर और एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार करता है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का न कभी जन्म होता है और न कभी उसका मरण ही होता है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं, किन्तु आत्मा को वे कूटस्थ, नित्य और विभु मानते हैं। सांख्य और योग-दर्शन चेतन की सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसे नित्य और विभु मानते हैं, मीमांसा-दर्शन भी आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है। वेदान्त-दर्शन में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन तो अद्वैत की चरम सीमा पर पहुँच गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह समग्र सृष्टि ब्रह्ममय है। कहीं पर भी एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। जैन-दर्शन और अन्य सांख्य आदि भारतीय-दर्शन द्वैतवादी हैं। द्वैतवादी का अर्थ है—जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष तथा जीव और अजीव—दो तत्त्वों को स्वीकार करनेवाला दर्शन। इस प्रकार, एक चार्वाक को छोड़कर भारत के शेष सभी अध्यात्मवादी दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न होते हुए भी, उसकी नित्यता और अमरता पर सभी को आस्था है।

कर्मवादी ही सच्चा आत्मवादी है :

भारतीय-दर्शन के अनुसार यह एक सिद्धान्त है कि जो आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कर्म की सत्ता को भी स्वीकार करे। चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय-दर्शन कर्म और उसके फल को स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह है कि शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। शुभ कर्म से पुण्य और अशुभ कर्म से पाप होता है। जीव जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन अच्छा अथवा बुरा बनता रहता है। कर्म के अनुसार ही हम सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि जो कर्म का कर्ता होता है, वही कर्म-फल का भोक्ता भी होता है। भारत के सभी अध्यात्मवादी-दर्शन कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन ने कर्म के सिद्धान्त की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह अन्य सभी दर्शनों से स्पष्ट और विशद है। आज भी कर्मवाद के सम्बन्ध में जैनों के संख्याबद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अध्यात्मवादी-दर्शन को कर्मवादी होना आवश्यक ही नहीं, परम आवश्यक भी है। प्रश्न यह है कि यह कर्म क्या है, कहाँ से आता है? और, क्यों आता है? तथा कैसे अलग होता है? कर्म एक प्रकार का पुद्गल ही है, यह आत्मा से एक विजातीय तत्त्व है। राग और द्वेष के कारण आत्मा कर्मों से बद्ध हो जाती है। माया, अविद्या और अज्ञान से आत्मा का विजातीय तत्त्व के साथ जो संयोग हो जाता है, यही आत्मा की बद्ध-दशा है। भारतीय दर्शन में विवेक और सम्यक्-ज्ञान को आत्मा से कर्म को दूर करने का उपाय माना है। आत्मा ने यदि कर्म बाँधा है, तो वह उससे विमुक्त भी हो सकती है। इसी आधार पर भारतीय-दर्शनों में कर्म-मल को दूर करने के लिए अध्यात्म-साधना का विधान किया गया है।

पुनर्जन्मवाद :

भारतीय-दर्शन की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है—जन्मान्तरवाद अर्थात् पुनर्जन्म। जन्मान्तरवाद भी चार्वाक-दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों का एक सामान्य सिद्धान्त है। यह कर्म के सिद्धान्त से फलित होता है। कर्म-सिद्धान्त कहता है—शुभ-कर्मों का फल शुभ मिलता है और अशुभ-कर्मों का फल अशुभ। परन्तु, इस जीवन-यात्रा में आबद्ध सभी कर्मों का फल इस जीवन में पूर्ण नहीं हो पाता। इसलिए कर्म-फल को भोगने हेतु अन्य अनेक जीवन की आवश्यकता है। यह संसार जन्म-मरण की अनादि शृंखला है, यही जन्मान्तरवाद है। इसका कारण मिथ्या-ज्ञान और अविद्या है। जब तत्त्व-ज्ञान से, यथार्थ-बोध से, वीतराग-भाव से नये कर्म का आस्रव रुक जाता है, तथा पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा होकर सर्वथा नाश हो जाता है, तब इस संसार का भी अन्त हो जाता है। संसार, बन्ध है, और बंध का नाश ही मोक्ष है। बन्ध का कारण अज्ञान एवं मिथ्या-आचार है और मोक्ष का कारण—तत्त्व-ज्ञान एवं वीतराग-भावरूप आचार है। जब तक आत्मा पूर्वकृत कर्मों को भोग नहीं लेगी, तब तक जन्म-मरण का प्रवाह कभी परिसमाप्त नहीं होगा।

भारतीय-दर्शनों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मोक्ष एवं मुक्ति। भारतीय-दर्शनों का लक्ष्य यह रहा है कि यह मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण के लिए साधक को निरन्तर प्रेरित करते रहें। मोक्ष का सिद्धान्त भारत के सभी अध्यात्मवादी-दर्शनों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण अकेला चार्वाक-दर्शन ही इसको स्वीकार नहीं करता। भौतिक-वादी चार्वाक जब इस शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता, तब उसके विचार में मोक्ष का उपयोग और महत्त्व ही क्या रह जाता है? बौद्ध-दर्शन में आत्मा के मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है—सब दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था। जैन-दर्शन में मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण—तीनों शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। जैन-दर्शन के अनुसार, मोक्ष एवं मुक्ति का अर्थ है—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था। मोक्ष अवस्था में आत्मा सदा-सर्वदा के लिए स्व-स्वरूप में स्थिर रहती है, उसमें किसी भी प्रकार का विजातीय तत्त्व नहीं रहता। सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को संसार कहा गया है और प्रकृति तथा पुरुष के वियोग को मोक्ष कहा गया है। न्याय और वैशेषिक भी यह मानते हैं कि तत्त्व-ज्ञान से ही मोक्ष होता है। वेदान्त-दर्शन तो मुक्ति को स्वीकार करता ही है। उसके अनुसार जीव के बद्ध स्वरूप को समझ लेना ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कर लेना ही मुक्ति है। इस प्रकार भारत के सभी अध्यात्मवादी-दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। हम देखते हैं कि मोक्ष के स्वरूप में और उसके प्रति-पादन की प्रक्रिया में भिन्नता होने पर भी, लक्ष्य सबका एक ही है और वह लक्ष्य है—बद्ध आत्मा को बन्धन से मुक्त करना।

अध्यात्म-साधना :

भारतीय-दर्शन में एक बात और है, जो सभी अध्यात्मवादी दर्शनों को स्वीकृत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह है—आध्यात्मिक-साधना। साधना सबकी भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका उद्देश्य और लक्ष्य प्रायः एक जैसा ही है। अध्यात्मवादी-दर्शन के अनुसार इस साधना को जीवन का आचार-पक्ष कहा जाता है। जब तक विचार को आचार का रूप नहीं दिया जाएगा, तब तक जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक अध्यात्मवादी-दर्शन ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार अपने विचार को आचार का रूप देने का प्रयत्न किया है। भारत में एक भी अध्यात्मवादी-दर्शन ऐसा नहीं है, जिसके नाम पर कोई सम्प्रदाय स्थापित न हुआ हो। यह सम्प्रदाय क्या है? प्रत्येक दर्शन का अपने विचार-पक्ष को आचार में साधित करने के लिए यह एक प्रयोग-भूमि है। सम्प्रदाय उन विचारों की अभिव्यक्ति है, जो उसके द्रष्टाओं ने कभी साक्षात्कार किया था। यही कारण है कि भारतीय-दर्शन में विचार और आचार तथा धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। भारतीय-दर्शनों की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि उनमें धर्म और दर्शन की मूल समस्याओं में कोई भेद नहीं किया गया है। भारत में धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है। वस्तुतः भारत में धर्म और दर्शन दोनों एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। भारत के दर्शनों में धर्म केवल विश्वासमात्र ही नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न अवस्थाओं और जीवन की ऊर्ध्व-यात्रा की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप मौनवी व्यवहार और आचार का एक क्रियात्मक सिद्धान्त है। यहाँ पर दर्शन के सिद्धान्तों का मूल्यांकन जीवन की कसौटी पर किया गया है और धार्मिक सिद्धान्तों को प्रज्ञा की तुला पर तोला गया है। भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन की यह एक ऐसी विशेषता है, जो अतीतकाल के और वर्तमान काल के अन्य किसी देश के दर्शन में प्राप्त नहीं है। धर्म और दर्शन परस्पर सम्बद्ध हैं। उनमें कहीं पर भी विरोध और विषमता दृष्टिगोचर नहीं होती, सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही भारतीय-धर्म और संस्कृति का एकमात्र आधार रहा है।

समन्वय दृष्टि :

समन्वयवाद के आविष्कार करनेवाले श्रमण भगवान् महावीर हैं। भगवान् महावीर के युग में जितने भी उनके समकालीन अन्य दार्शनिक थे, वे सब एकान्तवादी परम्परा की स्थापना कर रहे थे। उस युग का भारतीय-दर्शन दो भागों में विभाजित था—एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी, एकान्त भेदवादी और एकान्त अभेदवादी, एकान्त सद्वादी और एकान्त असद्वादी तथा एकान्त एकत्ववादी और एकान्त अनेकत्ववादी। सब अपने-अपने एकान्तवाद को पकड़ कर अपने पंथ, सम्प्रदाय और परम्परा को स्थापित करने में संलग्न थे। सब सत्य का अनुसंधान कर रहे थे और सब सत्य की खोज कर रहे थे, किन्तु सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने अपने एकांशी सत्य को ही सर्वांशी सत्य मान लिया था। भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर समग्र दर्शनों का विश्लेषण किया और कहा—अपनी-अपनी दृष्टि से सभी दर्शन सत्य हैं, परन्तु सत्य का जो रूप उन्होंने अधिगत किया है वही सब-कुछ नहीं है, उससे भिन्न भी सत्य की सत्ता शेष रह जाती है, जिसका निषेध करने के कारण वे एकान्तवादी बन गए हैं। उन्होंने अपने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा अपने युग के उन समस्त प्रश्नों को सुलझाया, जो आत्मा और परलोक आदि के सम्बन्ध में किए जाते थे। उदाहरण के लिए, आत्मा को ही लीजिए, बौद्ध-दार्शनिक आत्मा को एकान्त क्षणिक एवं अनित्य मान रहे थे। वेदान्त-वादी-दार्शनिक आत्मा को एकान्त नित्य और कूटस्थ ही मान रहे थे। भगवान् महावीर ने उन सबका समन्वय करते हुए कहा—पर्याय-दृष्टि से अनित्यवाद ठीक है और द्रव्य-दृष्टि से नित्यवाद भी ठीक है। आत्मा में परिवर्तन होता है—इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह भी सत्य है कि परिवर्तनों में रह कर भी और परिवर्तित होती हुई भी आत्मा कभी अपने अनादि मूल चित्-स्वरूप से सर्वथा नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार उन्होंने कर्मवाद, परलोकवाद और जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में भी अपने अनेकान्तवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिकोण के आधार पर समन्वय करने का सफल प्रयास किया था। भगवान् महावीर के इस अनेकान्तवाद का प्रभाव अपने समकालीन बौद्ध-दर्शन पर भी पड़ा और अपने युग के उपनिषदों पर भी पड़ा। उत्तरकाल के सभी आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में उनके इस उदार सिद्धान्त को स्वीकार किया ही था। यही कारण है कि भारतीय-दर्शनों में कुछ विचार-भेद और साधन-भेद होते हुए भी, उद्देश्य और लक्ष्य में किसी प्रकार का विलक्षण विरोध नहीं है, उनमें परस्पर विरोध की अपेक्षा समन्वय ही अधिक है।

श्रोता ही नहीं, द्रष्टा :

भारतीय-दर्शन जीवन और जगत् के साक्षात्कार का दर्शन है। भारतीय चिन्तकों ने कहा कि श्रुत और दृष्ट दोनों में से श्रुत की अपेक्षा दृष्ट का ही अधिक महत्त्व है। दर्शन शब्द का मूल अर्थ ही सत्य का दर्शन है, साक्षात्कार है। अतः भारतीय-दर्शन श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा ही अधिक है। उसने जीवन के यथार्थ सत्य को साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया है और तदनुरूप सफलता भी प्राप्त की। भारतीय-दर्शन जितना महत्त्व चिन्तन को देता है, उतना ही अधिक महत्त्व वह अनुभव को भी देता है। भारतीय-दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य जीवन को भौतिक धरातल से ऊपर उठा कर सत्य की उस चरम सीमा तक पहुँचाना है, जिसके आगे अन्य कुछ न प्राप्य है, और न राह है। भारतीय-साधना का लक्ष्य वर्तमान जीवन के बन्धनों से मुक्त होकर इसी दिव्य अक्षर जीवन की ओर अग्रसर होने का है। भारतीय-साधना के मूल में अध्यात्म-भाव है और इसी कारण वह प्रत्येक वस्तु को अध्यात्म की तुला पर तौलता है, और अध्यात्म की कसौटी पर कस कर ही उसे स्वीकार करता है। जीवन में, जो कुछ अनात्मभूत है, उसे वह स्वीकार करना नहीं चाहता, फिर भले ही, वह कितना ही सुन्दर और कितना ही मूल्यवान क्यों न हो? इसी आधार पर भारतीय-दर्शन जीवन और जगत् को अध्यात्म की कसौटी पर कसता है और उसके खरे उतरने पर उसकी अध्यात्म-दृष्टि से व्याख्या करके, वह उसे जन-जीवन के लिए ग्राह्य बना देता है, जिसे पा कर जन-जीवन समृद्ध हो जाता है।

निराशावाद नहीं, आशावाद :

भारतीय-दर्शन का उद्देश्य वर्तमान असन्तुष्ट जीवन के चक्रवात में इधर-उधर भटकते रहना ही नहीं है, बल्कि उसकी वर्तमान व्याकुलता का लक्ष्य है, अनाकुलता पाना। कुछ आलोचक भारतीय-दर्शन पर दुःखवादी और निराशावादी होने का आरोप लगाते हैं। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य-दार्शनिकों में अधिक है और उनका अनुसरण करके कुछ भारतीय विद्वान भी उनके स्वर में अपना स्वर मिला देते हैं। मेरे विचार में भारतीय-दर्शन को निराशावादी और दुःखवादी कहना सत्य से परे है। भारतीय-दर्शन वर्तमान जीवन के दुःख-क्लेशों पर खड़ा होता तो अवश्य है, परन्तु वह उसे अन्तिम सत्य एवं लक्ष्य नहीं मानता है। उसका एकमात्र लक्ष्य, तो इस क्षणभंगुर और निरन्तर परिवर्तनशील तथा प्रतिक्षण मरण के मुख में जाने वाले संसार को शाश्वत अमृतत्व प्रदान करना है। भारतीय-दर्शन की यह विशेषता रही है कि उसने क्षणभंगुरता में अमरता को देखा है। उसने अंधकार में भी प्रकाश की खोज की है और उसने उन्माद में भी संबोधि के उन्मेष को पाने का निरन्तर प्रयास किया है। पुरातन-काल का ऋषि अपनी अन्तर्-वाणी को शब्दों में अभिव्यक्त करता है—**"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।"**

—"प्रभो, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो और मुझे मरण-शीलता से अमरता की ओर ले चलो।"

जैन-दर्शन का सूत्र है—**"सव्व दुक्ख-पहीणमग्गं"**

—साधना, समग्र दुःखों को पूर्णतया क्षीण करने का मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या आप इसे भारत का दुःखवाद एवं निराशावाद कहते हैं? स्पष्ट है, इसे जीवन का पलायनवाद कहने की भूल कोई कैसे कर सकता है? भारत के दर्शन-शास्त्र में यदि कहीं पर दुःख-निराशा आदि के विचार मिलते भी हैं, तो वे विचार इसलिए नहीं कि वह हमारे जीवन का लक्ष्य है, बल्कि वह इसलिए होता है कि हम अपने इस वर्तमान जीवन की दीन-हीन अवस्था को छोड़कर महत्तता, उज्ज्वलता और पवित्रता की ओर अग्रसर हो सकें। मूल में भारतीय-दर्शन निराशावादी नहीं हैं। दुःखवाद को वह वर्तमान जीवन में स्वीकार करके भी अनन्त काल तक दुःखी रहने में विश्वास नहीं करता। वर्तमान जीवन में मृत्यु सत्य है, किन्तु वह कहता है, मृत्यु शाश्वत नहीं है। यदि साधक के हृदय में यह भावना जम जाए कि मैं आज मरणशील अवश्य हूँ, किन्तु सदा मरणशील नहीं रहूँगा, तो इसे आप निराशावाद नहीं कह सकते। यह तो उस निराशावाद को आशावाद में परिणत करने वाला एक अमर संकल्प है। भारतीय-दर्शन प्रारम्भ में भले ही स्थूलदर्शी प्रतीत होता हो, किन्तु अन्त में वह सूक्ष्मदर्शी बन जाता है। स्थूलदर्शी से सूक्ष्मदर्शी बनना और सूक्ष्मदर्शी से सर्वदर्शी बनना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। हमारे दर्शन, हमारे धर्म और हमारी संस्कृति के सम्बन्ध में जो कुछ विदेशी विद्वानों ने कहा है, उसे आँख मूंद कर स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आप अपनी स्वच्छ, तटस्थ बुद्धि की तुला पर तौल कर ही उसे ग्रहण करने का अथवा छोड़ने का प्रयत्न करें, अन्यथा दार्शनिक चर्चा के नाम पर व्यर्थ ही इधर-उधर का बहुत-सा अन्ध-विश्वास आप ग्रहण कर लेंगे।

उदार दृष्टिकोण :

भारतीय-दर्शन का प्राचीन-काल से ही उदार और विशाल दृष्टिकोण रहा है। क्योंकि वह अखण्ड सत्य का अनुसंधान करने हेतु चला है। सत्य-शोधक के लिए आवश्यक है कि वह अपनी दृष्टि को विशाल एवं व्यापक रखे। जहाँ भी सत्य हो, उसे ग्रहण करने की भावना रखे और जो कुछ असत्य है, उसे छोड़ने की तत्परता एवं साहस भी उसमें हो। सत्य के उपासक के लिए, किसी के मत का खण्डन करना आवश्यक नहीं है, एकांगी खण्डन और मण्डन दोनों ही सत्य से दूर रहनेवाले बौद्धिक द्वन्द्व हैं। दूसरे का खण्डन करने के लिए अपने मण्डन की आवश्यकता रहती है और फिर अपने मण्डन के लिए दूसरे का खण्डन आवश्यक हो जाता है। सत्य की उपलब्धि के साथ खण्डन का किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। खण्डन में प्रायः दूसरे के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव रहता है। अतः सत्य को पाने का पथ, खण्डन-मण्डन से अति दूर है। दुर्भाग्य है, मध्य-काल में आकर भारतीय-दर्शनों में खण्डन-मण्डन की उग्र परम्परा चल पड़ी। विवेक-चक्षु को बन्द कर अपना मण्डन और दूसरों का खण्डन करना, यही एकमात्र उनका लक्ष्य बन गया था। प्रारम्भ में प्रतिपाद्य सत्य तार्किक-मीमांसा के हेतु खण्डन कुछ अर्थ भी रखता था, किन्तु आगे चल कर यह खण्डन की परम्परा सर्वग्रासी बन गई और एक ही पंथ और एक ही परम्परा के लोग भी परस्पर एक-दूसरे का ही खण्डन करने लग गए। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया आचार्य मध्व ने और आचार्य मध्व के द्वैतवाद का खण्डन किया आचार्य शंकर के शिष्यों ने। शंकर-मत का रामानुज ने खण्डन किया और रामानुज-मत का शंकर-मत ने खण्डन किया। मीमांसक ने नैयायिक का खण्डन किया और नैयायिक ने मीमांसक का खण्डन किया। इस प्रकार जिस वैदिक-परम्परा ने जैन और बौद्ध के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया था, वे आपस में ही लड़ने लगे। बौद्धों में भी हीनयान और महायान को लेकर एक भयंकर खण्डन-मण्डन शुरू हो गया। महायान ने हीनयान को मिटा देना चाहा, तो हीनयान ने भी महायान को कुचल देने का दृढ़ संकल्प किया। बुद्ध के भक्त वैदिक और जैनों से लड़ते-लड़ते आपस में ही लड़ मरे। इसी प्रकार जिन के उपासक जैन भी, जिनकी साधना का एकमात्र लक्ष्य है, राग और द्वेष से दूर होना, वे भी राग और द्वेष के झंझावात में उलझ गए। श्वेताम्बर और दिगम्बरों के संघर्ष भी कम भयंकर नहीं थे। यह एक बहुत बड़ी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लज्जा की बात थी कि अनेकान्त के माननेवाले परस्पर में ही लड़ पड़े और अपना मण्डन तथा दूसरों का खण्डन करने लगे। याद रखिए, यदि आप दूसरे के घर में आग लगाते हैं, तो वह आग फैलकर आपके घर में भी आ सकती है। यह कभी मत समझिए कि हम दूसरों का खण्डन कर के अपना मण्डन कर सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक पंथ काँच के महल में बैठा हुआ है, इसलिए उसे दूसरे को पत्थर मारकर अपने को सुरक्षित समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। खेद है, भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन अपने अध्यात्मवाद को भूलकर पंथवादी बनकर लड़ने को तैयार हो गया। भारतीय-दर्शन का उज्ज्वल रूप खण्डन एवं मण्डन में नहीं है, वह है उसके समन्वय में और है उसके अनेकान्तवादी दृष्टि-कोण में। समन्वय ही भारतीय-दर्शन का वास्तविक स्वरूप है और यही उसका मूल आधार है। जैन-धर्म की अनेकान्त-दृष्टि इसी समन्वय-परम्परा को पुष्ट करती है। एक तरह से जैन-दर्शन का मूल, यह समन्वय-परम्परा ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति रूप में, पंथ रूप में,
फैली है सब ओर विषमता।
समन्वयी शुभ ज्योति जगाकर,
करो द्वैत की दूर अन्धता।।

*

पुष्प-वाटिका में फूलों के,
भिन्न-भिन्न सब रंग-रूप हैं।
माला में जुड़ते ही सबकी,
अभिनव शोभा एक-रूप है।।

--उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३

विश्वतोमुखी मंगलदीप : अनेकान्त

अनेकान्त क्या है ? वस्तुतः विचारात्मक अहिंसा ही अनेकान्त है । बौद्धिक अहिंसा ही, अनेकान्त है। और, अनेकान्त-दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, वही स्याद्वाद है। अनेकान्त-दृष्टि है, और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त इतना व्यापक है कि विश्व के समग्र दर्शनों का इसमें समावेश हो जाता है। क्योंकि जितने वचन-व्यवहार हैं, उतने ही नय हैं। सम्यक् नयों का समूह ही वस्तुतः अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ यह है कि जिसमें किसी एक अन्त का, धर्म-विशेष का, अर्थात् एक पक्ष विशेष का आग्रह न हो। सामान्य भाषा में विचारों के अनाग्रह को ही वास्तव में अनेकान्त कहा जाता है। धर्म, दर्शन और संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्त सिद्धान्त का साम्राज्य है। जीवन और जगत् के जितने भी व्यवहार हैं, वे सब अनेकान्तमूलक ही हैं। अनेकान्त के बिना जीवन-जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने के लिए अनेकान्त की आवश्यकता है। जैन-धर्म समभाव की साधना का धर्म है। समभाव, समता, समदृष्टि और साम्यभावना—ये सब जैन-धर्म के मूल तत्त्व हैं। श्रम, शम और सम—ये तीन तत्त्व जैन-विचार के मूल आधार हैं। विचार की समता पर जब भार दिया गया, तब उसमें से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ। केवल अपनी दृष्टि को, अपने विचार को ही पूर्ण सत्य मान कर उस पर आग्रह रखना, यह समता के लिए घातक भावना है। साम्य-भावना ही अनेकान्त है। अनेकान्त एक दृष्टि है, एक दृष्टिकोण है, एक भावना है, एक विचार है और है सोचने और समझने की एक निष्पक्ष पद्धति। जब अनेकान्त वाणी का रूप लेता है, भाषा का रूप लेता है, तब वह स्याद्वाद बन जाता है, और जब वह आचार का रूप लेता है, तब वह अहिंसा बन जाता है। अनेकान्त और स्याद्वाद में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अनेकान्त विचार-प्रधान होता है और स्याद्वाद भाषा-प्रधान होता है। अतः दृष्टि जब तक विचार रूप है, तब तक वह अनेकान्त है, दृष्टि जब वाणी का परिधान पहन लेती है, तब वह स्याद्वाद बन जाती है। दृष्टि जब आचार का रूप ले लेती है, तब वह अहिंसा बन जाती है।

जैनाचार्य और अनेकान्त :

इस प्रकार उक्त विश्लेषण पर से यह सिद्ध होता है—अहिंसा और अनेकान्त दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, जो विक्रम की पाँचवीं शती के लगभग भारत के एक महान् दार्शनिक थे। उन्होंने अपने 'सन्मति-तर्क' ग्रन्थ में अनेकान्त को विश्व का गुरु कहा है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का कहना है—"इस अनेकान्त के बिना और तो क्या, लोक-व्यवहार भी चल नहीं सकता। मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ, जो जन-जन के जीवन को आलोकित करनेवाला गुरु है।" अनेकान्त केवल तर्क का सिद्धान्त ही नहीं है, वह एक अनुभव-मूलक सिद्धान्त है। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के सम्बन्ध में कहा है—"कदाग्रही व्यक्ति की, जिस विषय में उसकी अपनी मति होती है, उसी विषय में वह अपनी युक्ति (तर्क) लगाता है। पर, एक निष्पक्ष व्यक्ति की युक्ति सत्याभिमुख ही होती है।" अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों में सिद्धसेन ने अपने 'सन्मति-तर्क'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ में अनेकान्त की प्रौढ़-भाषा में तर्कपुष्ट-पद्धति से व्याख्या की है। आचार्य श्री समन्त-भद्र ने 'आप्त-मीमांसा' ग्रन्थ में अनेकान्त की, जो गंभीर और गहन व्याख्या की है, वह अपने ढंग की एक अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने 'अनेकान्तवाद प्रवेश' और 'अनेकान्त-जय-पताका' जैसे मूर्धन्य ग्रन्थों में अनेकान्त का तर्क-पूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकंलकदेव ने अपने 'सिद्धि विनिश्चय' ग्रन्थ में अनेकान्त का, जो उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में अद्भुत है। उपाध्याय यशोविजयजी ने नव्य-न्याय की शैली में अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद पर अनेक ग्रन्थ लिखकर स्याद्वाद को सदा के लिए अजेय बना दिया है। इस प्रकार हमारे प्राचीन आचार्यों ने जिस अहिंसा और अनेकान्त को पल्लवित और विकसित किया, वह श्रमण भगवान् महावीर की मूल वाणी में, बीज रूप में पहले से ही सुरक्षित था। उक्त आचार्यों की विशेषता यही है कि उन्होंने अपने-अपने युग में अहिंसा और अनेकान्त पर तथा स्याद्वाद और सप्तभंगी पर होनेवाले आक्षेपों और प्रहारों का प्रभावशाली तर्क-संगत उत्तर दिया। यही उनकी अपनी विशेषता है।

अनेकान्त जीवन का सत्य :

आप और हम सब, अहिंसा और अनेकान्त के गीत तो बहुत गाते हैं, किन्तु क्या कभी हमने यह समझने का प्रयत्न किया है—हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अहिंसा कितनी है और अनेकान्त कितना है? कोई भी सिद्धान्त पोथी के पन्नों पर कितना ही अधिक विकसित और पल्लवित क्यों न हो गया हो, किन्तु जब तक जीवन की धरती पर उसका उपयोग नहीं किया जाएगा, तब तक उससे कुछ भी लाभ नहीं। जिस प्रकार अमृत का पान किए बिना केवल अमृत के स्वरूप का प्रतिपादन करने और उसके नाम की माला जपने मात्र से जीवन में संजीवनी-शक्ति का संचार नहीं होता, उसी प्रकार अहिंसा और अनेकान्त का नाम रटने से, उसकी विशद् व्याख्या करने मात्र से जीवन में सत्य की स्फूर्ति और यथार्थ का जागरण नहीं आ सकता। वह तभी आएगा, जबकि अहिंसा और अनेकान्त को जीवन की धरती पर उतार कर, जिन्दगी के हर मोर्चे पर उसका उपयोग और प्रयोग किया जाएगा। खेद की बात है—अनेकान्तवादी कहलानेवाले जैन भी अपने-अपने साम्प्रदायिक एकान्त को पकड़ कर बैठ गए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बरों के संघर्ष, स्थानकवासी और तेरापंथियों के झगड़े—इस तथ्य को ही प्रमाणित करते हैं, कि ये लोग केवल अनेकान्तवाद की कोरी बात भर ही करते हैं, किन्तु इनके जीवन में अनेकान्त है नहीं। सिद्धसेन दिवाकर ने और समन्तभद्र ने अपने-अपने युग में जिस अनेकान्तवाद के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का समन्वय किया था, आश्चर्य है, उसी परम्परा के अनुयायी अपना समाधान नहीं कर सके। इससे अधिक विडम्बना अनेकान्त की और क्या होगी? श्वेताम्बरों का दावा है कि समग्र सत्य हमारे पास है और इसके विपरीत दिगम्बरों का दावा है कि समस्त तथ्य हमारे ही पास है। परन्तु मैं इसे एकान्तवाद कहता हूँ। एकान्तवाद, फिर भले ही वह अपना हो, या पराया हो, वह कभी अनेकान्त नहीं बन सकता। सम्प्रदाय-वाद और पंथवाद का पोषण करनेवाले व्यक्ति जब अनेकान्त की चर्चा करते हैं, तब मुझे बड़ी हँसी आती है। मैं सोचा करता हूँ कि इन लोगों का अनेकान्तवाद केवल पोथी के पन्नों का अनेकान्तवाद है, वह जीवन का जीवन्त अनेकान्त नहीं है। आज हमें उस अहिंसा और उस अनेकान्त की आवश्यकता है, जो हमारे जीवन के कालुष्य और मालिन्य को दूर करके, हमारे जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बना सके, तथा जो हमारे इस वर्तमान जीवन को सरस, सुन्दर और मधुर बना सके एवं समन्वय की भावना हमारे रग-रग में भर सके।

अनेकान्त, जैन-दर्शन का प्राण :

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधारशिला है। जन-तत्त्वज्ञान का महल, इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की आधारशिला पर अवलम्बित है। वास्तव में अनेकान्तवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन का प्राण है। जैन-धर्म में जब भी, जो भी बात कही गई है, वह अनेकान्तवाद की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच-परख करके ही कही गई है। दार्शनिक-साहित्य में जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्तवादी-दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करना, परखना, देखना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन-दर्शन में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है और एक ही वस्तु में विभिन्न धर्मों को विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक माना जाता है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त और स्याद्वाद :

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं, जैसे एक सिक्के के दो बाजू। इसी कारण सर्वसाधारण दोनों वादों को एक ही समझ लेते हैं। परन्तु, ऊपर से एक होते हुए भी दोनों में मूलतः भेद है। अनेकान्तवाद यदि वस्तु-दर्शन की विचार-पद्धति है, तो स्याद्वाद उसकी भाषा-पद्धति। अनेकान्त-दृष्टि को भाषा में उतारना स्याद्वाद है। इसका अर्थ हुआ कि वस्तु-स्वरूप के चिन्तन करने की विशुद्ध और निर्दोष शैली अनेकान्तवाद है, और उस चिन्तन तथा विचार को अर्थात् वस्तुगत अनन्त धर्मों के मूल में स्थित विभिन्न अपेक्षाओं को दूसरों के लिए निरूपण करना, उनका मर्मोद्घाटन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद को 'कथंचित्वाद' भी कहते हैं।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है :

जैन-धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा-सा रजकण हो, चाहे विराट् हिमालय—वह अनन्त धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ—गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति भी है, अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगों को पैदा करने की भी शक्ति है। कहाँ तक गिनाएँ? हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, अतः हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना अनन्त ज्ञान हुए, नहीं जान सकते। परन्तु स्पष्टतः प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो अपने बुद्धि-बल के अनुसार जान ही सकते हैं।

हाँ तो, पदार्थ को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

'भी' और 'ही' :

फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि—फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है आदि, तब तो हम अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जब हम एकान्त आग्रह में आकर यह कहते हैं कि फल में केवल रूप ही है, रस ही है, गंध ही है, स्पर्श ही है, तब हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जबकि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। और रूप ही है, इसका यह अर्थ है कि फल में मात्र रूप ही है, रस आदि कुछ नहीं। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद की भिन्नता को स्पष्ट करता है। 'भी' स्याद्वाद है, तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पिताजी।' दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया। उसने कहा—'पुत्र!' तीसरी ओर से एक सम-वयस्क व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई!' चौथी ओर से एक और लड़का आया। उसने कहा—'मास्टरजी!' इसी प्रकार विभिन्न रूपों में उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कहता है, कोई भानजा भी कहता है। अपने-अपने पक्ष के लिए सब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है, और चाचा, ताऊ, मामा या भानजा ही है। अब बताइए, निर्णय कैसे हो? उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में वह आदमी है क्या? यहाँ पर अनेकान्त मूलक स्याद्वाद को न्यायाधीश बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है—हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे लिए तो पिता है, चूंकि तुम इसके पुत्र हो। और अन्य लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है—हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनिया का पुत्र है? मतलब यह है कि वह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सब है। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता, उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाइ, मास्टर, चाचा, ताऊ, माना, और भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरूद्ध है।

स्याद्वाद को समझने के लिए इन उदाहरणों पर और ध्यान दीजिए—एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता हूँ कि मैं बड़ा है। हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है—'नहीं साहब, पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ।' मैं तो अपने साथ के इन नाटे आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि 'मैं बड़ा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है कि—'मैं छोटा हूँ।' हम पूछते ह—'क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?' वह झट उत्तर देता है—'नहीं, चींटी से तो मैं बहुत बड़ा हूँ।' मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि 'मैं छोटा हूँ।'

इस से अनेकान्त की मूल भावना स्पष्ट हो जाती है कि हर वस्तु बड़ी भी है और छोटी भी है। वह अपने से बड़ी चीज की अपेक्षा से छोटी है, तो छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू होते ह और उन्हें समझने के लिए अपेक्षा-वाद का सिद्धान्त वस्तु के एक केन्द्र में ही निर्णायक होता है। दर्शन की भाषा में इसी बहु आयामी विचार को अनेकान्तवाद कहते हैं और उक्त विचार के प्रतिपादन को स्याद्वाद।

हाथी का अनेकान्तिक-दर्शन :

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के अन्धे छह मित्र रहते थे। संयोग से एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। गाँववालों ने कभी हाथी देखा नहीं था, धूम मच गई। अन्धों ने हाथी का आना सुना, तो वे भी देखने दौड़ पड़े। अन्धे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूंछ पकड़ी, तो किसी ने सूंड़, किसी ने कान पकड़ा, तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा, तो किसी ने पेट। एक-एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है। इसके बाद जब वे अपने स्थान पर आए, तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी।

प्रथम पूंछ पकड़नेवाले ने कहा—"भाई, हाथी तो मैंने देख लिया, बिल्कुल मोटे रस्से-जैसा था।"

सूंड़ पकड़नेवाले दूसरे अन्धे ने कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ! हाथी कहीं रस्से-जैसा होता है। अरे, हाथी तो मूसल जैसा था।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा कान पकड़नेवाला अन्धा बोला—"आँखें काम नहीं देतीं तो क्या हुआ, हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने उसे टटोलकर देखा था, वह ठीक छाज (सूप) जैसा था।"

चौथे दाँत पकड़नेवाले सूरदास बोले—"अरे! तुम सब झूठी गप्पें मारते हो! हाथी तो कुश यानी कुदाल-जैसा था।"

पाँचवें पैर पकड़नेवाले महाशय ने कहा—"अरे! कुछ प्रभु का भी भय रखो। नाहक क्यों झूठ बोलते हो? हाथी तो खम्भे जैसा था। मैंने खूब टटोल-टटोल कर देखा है।"

छठे पेट पकड़नेवाले सूरदास गरज उठे—"अरे! क्यों बकवास करते हो? पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्यों उन पापों की जड़ों में पानी डालते हो? हाथी तो भाई मैं देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की एक बड़ी कोठी-जैसा है।"

अब क्या था, आपस में वाग्युद्ध ठन गया। सब एक-दूसरे की भर्त्सना करने लगे और लगे परस्पर गाली-गलौज करने।

सौभाग्य से इसी बीच वहाँ आँखोंवाला एक सज्जन व्यक्ति आ गया। अन्धों की तू-तू, मैं-मैं सुनकर उसे हँसी आ गई। सज्जन था न, अतः दूसरे ही क्षण उसका मुख-मण्डल गम्भीर हो गया। उसने सोचा—"भूल हो जाना अपराध नहीं है, किन्तु किसी की भूल पर हँसना तो घोर अपराध है।" उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने कहा—"बन्धुओं, क्यों झगड़ते हो? जरा मेरी भी बात सुनो। तुम सब सच्चे भी हो, और झूठे भी। तुम में से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का बखान कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्से-जैसा भी है, पूंछ की दृष्टि से। हाथी मूसल-जैसा भी है, सूंड़ की अपेक्षा से। हाथी छाज-जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल-जैसा भी है, दाँतों के लिहाज से। हाथी खम्भे-जैसा भी है, पैरों की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी-जैसा भी है, पेट की दृष्टि से।" इस प्रकार समझा-बुझाकर उस सज्जन ने एकान्त की आग में अनेकान्त का पानी डाला। अन्धों को अपनी भूल समझ में आई। और, सब शान्त होकर कहने लगे—"हाँ, भाई! तुमने ठीक समझाया। सब अंगों को मिलाने से ही हाथी बनता है, एक-एक अलग-अलग अंग से नहीं!"

वस्तुतः अंधों ने हाथी के एक-एक अंश को देखा और उसी पर हाथी की समग्रता का हठ करने लग गए। आँख वाले सज्जन ने हाथी के विभिन्न अंशों का समन्वय कर, जब उन्हें हाथी के सही रूप को समझाया, तब कहीं उनका विग्रह समाप्त हो पाया।

संसार में जितने भी एकान्तवादी आग्रही सम्प्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् एक-एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु, वास्तव में वह पदार्थ नहीं, पदार्थ का एक अंश-मात्र है। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन है। अतः वह इन एकान्तवादी अन्धे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से सत्य, और दूसरे अंशों को सर्वथा असत्य कहना, बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शनों की भूल बताकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक अपेक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की अद्भुत क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नहीं, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाए, तो क्या परिवार, क्या समाज, और क्या राष्ट्र, सभी में प्रेम एवं सद्भावना के सुखद वातावरण का निर्माण हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। स्याद्वाद दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सहायक होता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गम्भीर है, अतः यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण-पद्धति से काम लेना अधिक अच्छा होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्य और अनित्य :

जैन-धर्म कहता है कि प्रत्यक पदाथ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर घपले में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है ? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? परन्तु जैन-धर्म अनेकान्तवाद के द्वारा सहज ही इस समस्या को सुलझा देता है।

कल्पना कीजिए—एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है, उसी से सिकोरा, सुराही आदि और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। यदि उस घड़े को तोड़ कर हम उसी की मिट्टी से बनाया गया कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलाएँ, तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी घड़े की मिट्टी के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है ? कारण और कुछ नहीं, यही है कि अब उसका आकार घड़े-जैसा नहीं है।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, बल्कि मिट्टी का एक आकार-विशेष है। परन्तु, वह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है, उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित हुई मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होती है, तो इस स्थिति में विभिन्न आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि घड़े का आकार और मिट्टी दोनों ही घड़े के अपने निज स्वरूप हैं।

अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है ? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का वर्तमान में दिखने वाला आकार-स्वरूप विनाशी है। क्योंकि वह बनता और बिगड़ता है। वह पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और, घड़े का जो दूसरा मूल-स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी मिट्टी मौजूद थी, घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है, और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में पुद्गल-स्वरूपेण स्थायी तत्त्व है, उसे कुछ भी बनना-बिगड़ना नहीं है। जैन-दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इस विवेचन से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा-सर्वदा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने आकार की दृष्टि से—विनाशी रूप से अनित्य है। और, अपने मूल मिट्टी की दृष्टि से—अविनाशी रूप से नित्य है।[1] जैन-दर्शन की भाषा में कहें, तो यों कह सकते हैं कि घड़ा अपनी पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे परिलक्षित होने वाले नित्यता और अनित्यता-रूप धर्मों को सिद्ध करनेवाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

त्रिपदी :

जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन-दर्शन में इनके लिए क्रमशः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसे त्रिपदी भी कहा जाता है। आप कहेंगे—एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय कैसे हो सकता है ? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कंगन है। वह उसे तोड़कर, गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कंगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नहीं कह सकते कि हार बिल्कुल ही नया बन गया। क्योंकि कंगन और हार में जो सोने के रूप में पुद्गल

---

१. मिट्टी का उदाहरण मात्र समझने के लिए स्थूल रूप से दिया गया है। वस्तुतः मिट्टी भी नित्य नहीं है। नित्य तो वह पुद्गल परमाणुपुञ्ज है, जिससे मिट्टी का निर्माण हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु-स्वरूप मूलतत्त्व है, वह तो ज्यों का त्यों अपनी उसी स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण के द्वारा सोने में कंगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, और सोने की तदवत्-स्थिति—ये तीनों धर्म भली-भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—ये तीनों गुण स्वभावतया समन्वित रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूलतत्त्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल-रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु, तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तु के साथ मिलकर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है, तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा नाश हो गया है, उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप में क्यों न हो, वह अन्ततः परमाणु-रूप में विद्यमान है। हो सकता है, उसका वह सूक्ष्म रूप दिखाई न दे, पर यह कदापि सम्भव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाए। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर सर्वथा नष्ट ही होती है और न शून्य-रूप अभाव से भावस्वरूप होकर नवीन रूप में सर्वथा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है—"प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव है, स्थिर है, और उससे उत्पन्न होनेवाले अपरापर दृश्यमान पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।"

नित्यानित्यवाद की मूल दृष्टि :

उपर्युक्त उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन तीन गुणों में जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है, उसे जैन-दर्शन द्रव्य कहता है, और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती है, उसे पर्याय कहता है। कंगन से हार बनानेवाले उदाहरण में—सोना द्रव्य है और कंगन तथा हार पर्याय है। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य माना जा सकता है, अपितु नित्यानित्य उभय रूप से ही मानना युक्तियुक्त है और यही अनेकान्तवाद है।

अस्ति-नास्तिवाद :

अनेकान्त सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में भी उभयस्पर्शी दृष्टि रखता है। कितने ही सम्प्रदायों में प्रायः ऐसा कहा जाता है—'वस्तु सर्वथा सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सर्वथा असत् है।' और, इस पर दोनों ओर से संघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही वस्तुतः इस संघर्ष का सही समाधान कर सकता है।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ 'है' भी और 'नहीं' भी। अपने निजस्वरूप से वह है और दूसरे पर-स्वरूप से वह नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह पर-पुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जाएगा, और यह कदापि सम्भव नहीं है।

कल्पना कीजिए—सौ घड़े रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो वे सब घड़े हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु घट से भिन्न जितने भी पट आदि अघट हैं, उनकी दृष्टि से असत् हैं। प्रत्येक घड़ा भी अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है, किन्तु अन्य घड़ों के गुण, धर्म और स्वरूप से सत् नहीं है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है न? एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता है, और फिर पहचानने पर यह कह कर कि यह मेरा नहीं है, वापस रख देता है। इस दशा में घड़े में असत् नहीं, तो और क्या है? 'मेरा नहीं है'—इसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा के आगे जो 'नहीं' शब्द है, वही असत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा में है, सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप अपनी सीमा है, और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर है, अतः पर-सीमा है। यदि विश्व की प्रत्येक वस्तु, अपने से भिन्न हर एक वस्तु के रूप में भी सत् हो जाए, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध, दूध रूप में भी सत् हो, दही के रूप में भी सत् हो, छाछ के रूप में भी सत् हो, पानी के रूप में भी सत् हो, तब तो दूध के बदले में दही, छाछ या पानी हर कोई ले-दे सकता है। किन्तु, याद रखिए—दूध, दूध के रूप में सत् है, दही आदि के रूप में वह सर्वथा असत् है। क्योंकि स्व-स्वरूप सत् है, पर-रूप असत्।

वस्तुतः स्याद्वाद सत्य-ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में जो सब ओर धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रिय आदि वैर-विरोध का बोलबाला है, वह स्याद्वाद के द्वारा दूर हो सकता है। दार्शनिक-क्षेत्र में स्याद्वाद वह सम्राट् है, जिसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि विग्रहात्मक-दोष तत्काल पलायन कर जाते हैं। जब कभी विश्व में शान्ति का सर्वतोभद्र सर्वोदय राज्य स्थापित हो पाएगा, तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही हो पाएगा—यह बात अटल सत्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय खण्ड

धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१

जीवन परिबोध का मार्ग : धर्म

वर्तमान युग में धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के संघर्ष सामने आ रहे हैं। ऐसी बात नहीं है कि अभी वर्तमान में ही ये विवाद और संघर्ष उभर आए हैं। प्राचीन और बहुत प्राचीन काल से ही 'धर्म' एक विवादास्पद प्रश्न रहा है, पूर्व से ही वह संघर्ष का कुरुक्षेत्र बना रहा है।

प्रत्यक्ष की बहुत-सी बातों को लेकर भी जब कभी-कभी विवाद उठ खड़े होते हैं, संघर्ष की बिजलियाँ कौंधने लग जाती हैं, तो जो अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसके लिए विवाद खड़ा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वस्तुतः धर्म एक ऐसी आन्तरिक स्थिति है, जिसकी बाह्य स्थूल दृश्य पदार्थों के समान प्रत्यक्ष अनुभूति साधारण साधक को नहीं हो पाती। वह सिर्फ श्रद्धा और उपदेश के आधार पर ही धर्म के लिए चलता रहता है। यही कारण है कि परस्पर के मतभेदों के कारण धर्म के सागर में विवाद के तूफान मचल उठते हैं, तर्क-वितर्क का भंवर लहरा उठता है।

धर्म क्या है?

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है? अन्तर में जो पवित्र भाव-तरंगें उठती हैं, चेतना की निर्मल धारा बहती है, मानस में शुद्ध संस्कारों का एक प्रवाह उमड़ता है, क्या वही धर्म है? या बाहर में जो हमारा कृतित्व है, क्रियाकांड हैं, रीति-रिवाज हैं, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के तौर-तरीके हैं, वे धर्म हैं? हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या बाह्य व्यक्तित्व?

हमारे व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक आन्तरिक व्यक्तित्व है, जो वास्तव में, हम जैसे अन्दर में होते हैं, उससे निर्मित होता है। दूसरा रूप है—बाह्य व्यक्तित्व। हम जैसा बाहर में करते हैं, उसी के अनुरूप हमारा बाह्य व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि 'होना' या 'करना' इनमें धर्म कौन-सा है? व्यक्तित्व का कौन-सा रूप धर्म है? अन्दर में होना धर्म है, अथवा बाहर में करना धर्म है?

'होने' और 'करने' में बहुत अन्तर है। अन्दर में हम जैसे होते हैं, उसे बहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं। आन्तरिक व्यक्तित्व को पकड़ना उतना ही कठिन है, जितना पारे को अँगुलियों से पकड़ना। बाह्य व्यक्तित्व को पकड़ लेना बहुत सरल है, उतना ही सरल, जितना कि जल की सतह पर तैरती हुई लकड़ी को छू लेना। बाहर में जो आचार-व्यवहार होता है, उसे साधारण बुद्धि वाला भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, और उसे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रतिनिधि रूप मान लेता है। आज बाहरी व्यक्तित्व ही हमारा धर्म बन रहा है।

जितने भी विवाद उठे हैं, संघर्ष उभरे हैं, मत और पंथ का विस्तार हुआ है, वे सब बाहर में धर्म को मान लेने से ही हुए हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जैन-धर्म के दो टुकड़े क्यों हुए? बौद्धों के हीनयान और महायान तथा वैदिकों के शैव और वैष्णव मतों की बात छोड़िए, हम अपने घर की ही चर्चा करें कि आखिर कौन-सा जागीरी, जमींदारी का झगड़ा हुआ कि एक बाप के दो बेटे अलग-अलग खेमों में जा डटे और एक-दूसरे से झगड़ने लगे। श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने एक ही बात कही है कि मन में निष्कामता और निस्पृहता का भाव हो, वीतराग दशा में स्थिरता हो, करुणा और परोपकार की वृत्ति हो, संयम एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचारमय जीवन हो, यही धर्म है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, कोई आनाकानी नहीं है। प्रश्न है, फिर झगड़ा क्या है? किस बात को लेकर द्वन्द्व है, संघर्ष है?

मैं सोचता हूँ, यदि एक-दूसरे को ठीक से अन्दर में समझने का प्रयत्न किया जाता, तो विवाद जैसा कोई प्रसंग ही नहीं था। पर, विवाद हुआ धर्म को बाहर में देखने से। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र रखते हैं, तो क्या यह अधर्म हो गया? इसके लिए तर्क है कि वस्त्र आत्मा से भिन्न बाहर की पौद्गलिक चीज है, अतः वह परिग्रह है, और यदि परिग्रह है, तो फिर साधुता कैसी? परन्तु उधर दिगम्बर मुनि भी तो कुछ वस्तुएँ रखते हैं—मोरपिच्छी, कमण्डल, पुस्तक आदि। इसके लिए कहा जाता है कि इन पर हमारी ममता नहीं है, जीवरक्षा एवं शरीर शुद्धि आदि के लिए ही यह सब है, इसलिए यह अधर्म नहीं है, तो मैं सोचता हूँ यदि यही बात वस्त्र के सम्बन्ध में भी समझ ली जाती, तो क्या हर्ज था? श्वेताम्बर मुनि भी तो यही बात कहते हैं—"वस्त्र पर हमारी ममता नहीं है। यह केवल लोक मर्यादा एवं शीतादि निवारण के लिए है, अनाकुलता केलिए है, और कुछ के लिए नहीं।"

धर्म और उपवास :

भोजन नहीं करने का उद्देश्य क्या है? उपवास आदि क्यों किए जाते हैं? उनका उद्देश्य क्या है? शान्ति और समाधि की प्राप्ति ही न! और, भोजन करने का उद्देश्य भी शान्ति और समाधि को बनाये रखना ही है। तब तो हमारा केन्द्र एक ही हुआ। और इस केन्द्र पर खड़े होकर ही हम सोच रहे हैं कि उपवास आदि तप के समान भोजन भी अनाकुलता का साधन होने से साधना है, धर्म है। जहाँ तक मेरा अध्ययन एवं अनुभव है, यह समग्र भारतीय-दर्शन का मान्य तथ्य है। संत कबीर ने भी कहा है—

"कबिरा छुधा कूकरी, करत भजन में भंग।
या को टुकड़ा डारिके, भजन करो नीशंक॥"

भूख एक कुतिया है, यह शोर करती है, तो शान्ति भंग होती है, ध्यान स्खलित हो जाता है, अतः इसे भोजन का टुकड़ा डाल दो और फिर शान्ति से अपनी साधना करते रहो।

धर्म का बाह्य अतिवाद :

भोजन के सम्बन्ध में जो सर्वसम्मत विचार है, काश! वही विचार यदि वस्त्र के सम्बन्ध में भी किया जाता, तो इस महत्त्वपूर्ण परम्परा के दो टुकड़े नहीं हुए होते। जिन साधक आत्माओं को वस्त्र के अभाव में भी शान्ति रह सकती हो, आकुलता नहीं जगती हो, तो उनके लिए वस्त्र की बाध्यता नहीं है। किन्तु, वस्त्र के अभाव में जिनकी शांति भंग होती हो, उन्हें समभावपूर्वक वस्त्र-धारण करने की अनुमति दी जाए, तो इसमें कौन-सा अधर्म हो जाता है? भगवान् महावीर के समय में सचेलक और अचेलक (सवस्त्र और अवस्त्र) दोनों परम्पराएँ थीं। तब न निर्वस्त्र होने का आग्रह था और न सवस्त्र होने का। न वस्त्र से मुक्ति अटकती थी और न अवस्त्र से। वस्त्र से मुक्ति तब अटकने लगी, जब हमारा धर्म बाहर में अटक गया, अन्दर में झाँकना बन्द कर दिया गया।

वैष्णव परम्परा भी इसी प्रकार जब बाहर में अटकने लगी, तो उसका धर्म भी बाहर में अटक गया और वह एक बुद्धिवादी मनुष्य के लिए निरा उपहास बनकर रह गया। अतीत में तिलक को लेकर वैष्णव और शैव भक्त कितने झगड़ते रहे हैं, परस्पर कितने टकराते रहे हैं? कोई सीधा तिलक लगाता है, तो कोई टेढ़ा, कोई त्रिशूल मार्का, तो कोई यू (U) मार्का और कोई सिर्फ गोल बिन्दु ही। और, तिलक को यहाँ तक तूल दिया गया कि तिलक लगाए बिना मुक्ति नहीं होती। तिलक लगा लिया, तो दुराचारी की आत्मा को भी वैकुण्ठ का रिजर्वेशन मिल गया!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैष्णव परम्परा में एक कथा आती है—एक दुराचारी वन में किसी वृक्ष के नीचे सोया था। वहीं सोये-सोये उसके हाथ-पैर ठंडे पड़ गए और प्राण कूच कर गए। वृक्ष की टहनी पर एक चिड़िया बैठी थी, उसने दुराचारी के मस्तक पर बींट कर दी। इधर दुराचारी की आत्मा को लेने के लिए यम के दूत आये, तो उधर विष्णु के दूत भी आ पहुँचे। यमदूतों ने कहा—यह दुराचारी था, इसलिए इसे नरक में ले जाएँगे। इस पर विष्णु के दूत बोले—चाहे कितना ही दुराचारी रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है, इसलिए यह स्वर्ग का अधिकारी हो गया। दोनों दूतों में इस पर खूब गर्मागर्म बहसें हुई, लड़े-झगड़े, आखिर विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले ही गए। दुराचार-सदाचार कुछ नहीं, केवल तिलक ही सब-कुछ हो गया, वही बाजी मार ले गया। तिलक भी विचारपूर्वक कहाँ लगा? वह तो चिड़िया की बींट थी। कुछ भी हो तिलक तो हो गया?

सोचता हूँ, इन गल्पकथाओं का क्या उद्देश्य है? जीवन-निर्माण की दिशा में इनकी क्या उपयोगिता है? मस्तक पर पड़ी एक चिड़िया की बींट को ही तिलक मान लिया गया, तिलक होने मात्र से ही दुराचारी की आत्मा को स्वर्ग का अधिकार मिल गया! धर्म की तेजस्विता और पवित्रता का इससे बड़ा और क्या उपहास होगा?

इस प्रकार की एक नहीं, सैकड़ों, हजारों अन्ध-मान्यताओं से धार्मिक-मानस ग्रस्त होता रहा है। जहाँ तोते को राम-राम पढ़ाने मात्र से वेश्या को वैकुण्ठ मिल जाता है, सीता को चुराकर राम के हाथ से मारे जाने पर रावण की मुक्ति हो जाती है, वहाँ धर्म के आन्तरिक स्वरूप की क्या परख होगी?

धर्म के ये कुछ रूढ़ रूप हैं, जो बाहर में अटके हुए हैं, और मानव-मन इन्हीं की भूलभुलैय्या में भटक रहा है। हम भी, हमारे पड़ोसी भी, सभी एक ऐसे दल-दल में फँस गए हैं कि धर्म का असली किनारा आँखों से ओझल हो रहा है और जो किनारा दिखाई दे रहा है, वह सिर्फ अन्ध-विश्वास और गलत मान्यताओं की शैवाल से ढ़का हुआ अथाह गर्त है।

बौद्ध परम्परा में भिक्षु को चीवर धारण करने का विधान है। चीवर का मतलब है, जगह-जगह पर सिला हुआ जीर्ण वस्त्र, अर्थात् कन्था! इसका वास्तविक अर्थ तो यह था कि जो फटा-पुराना वस्त्र गृहस्थ के लिए निरुपयोगी हो गया हो, वह वस्त्र भिक्षु धारण करे। पर, आज क्या हो रहा है? आज भिक्षु बिल्कुल नया और सुन्दर वस्त्र लेते हैं, बढ़िया रेशमी! फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करते हैं, और उसे सीते हैं, और इस प्रकार चीवर की पुरानी व्यवस्था को कायम रखने के लिए उसे चीवर मान कर ओढ़ लेते हैं।

धर्म की अन्तर्दृष्टि :

ये सब धर्म को बाहर में देखने वालों की परम्पराएँ हैं। वे बाहरी क्रिया को, रीति-रिवाज, पहनाव और बनाव आदि को ही धर्म समझ बैठे हैं, जबकि ये तो एक सभ्यता और कुलाचार की बातें हैं।

बाहर में कोई नग्न रहता है, या श्वेत वस्त्र धारण करता है, या गेरुआं चीवर पहनता है, तो धर्म को इनसे नहीं तोला जा सकता। वेषभूषा, बाहरी व्यवस्था और बाहरी क्रियाएँ कभी धर्म का पैमाना नहीं हो सकती। इनसे जो धर्म को तोलने का प्रयत्न करते हैं, वे वैसी ही भूल कर रहे हैं, जैसी कि मणिमुक्ता और हीरों का वजन करने के लिए पत्थर और कोयला तोलने के काँटे का इस्तेमाल करने वाला करता है।

धर्म का दर्शन करने की जिन्हें जिज्ञासा है, उन्हें इन बाहरी आवरणों को हटाकर भीतर में झाँकना होगा। क्रिया-काण्डों की बाह्य भूमिका से ऊपर उठ कर जीवन की आन्तरिक भूमिका तक चलना होगा। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सेयंबरो य आसंबरो य,
बुद्धो व अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा,
लहई मोक्खं न संदेहो।।"

कोई श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, जैन हो, या बौद्ध अथवा वैष्णव हो। ये कोई धर्म नहीं हैं, मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। धर्म कोई दस हजार, या दो हजार वर्ष के परम्परागत प्रचार का परिणाम नहीं है, वह तो एक अखंड, शाश्वत और परिष्कृत विचार है और हमारी विशुद्ध आन्तरिक चेतना है। मुक्ति उसे ही मिल सकती है, जिसकी साधना समभाव से परिपूर्ण है, जो दुःख में भी और सुख में भी सम है, निर्द्वन्द्व है, वीतराग है। आप लोग वर्षा के समय बरसाती ओढ़कर निकलते हैं, कितना ही पानी बरसे, वह भीगती नहीं, गीली नहीं होती, पानी बह गया और बरसाती सूखी की सूखी। साधक का मन भी बरसाती के समान हो जाना चाहिए। सुख का पानी गिरे या दुःख का, मन को भींगना नहीं चाहिए। यही द्वन्द्वों से अलिप्त रहने की प्रक्रिया, वीतरागता की साधना है। और, यही वीतरागता, हमारी शुद्ध अन्तश्चेतना धर्म है।

धर्म के रूप :

जैनाचार्यों ने धर्म के सम्बन्ध में बहुत ही गहरा चिंतन किया है। वे मनन-चिन्तन की डुबकियाँ लगाते रहे और साधना के बहुमूल्य चमकते मोती निकालते रहे। उन्होंने धर्म के दो रूप बताए हैं—एक निश्चय धर्म और दूसरा व्यवहार धर्म। किन्तु वस्तुतः धर्म दो नहीं होते, एक ही होता है। किन्तु, धर्म का वातावरण तैयार करनेवाली तथाप्रकार की साधन-सामग्रियों को भी धर्म की परिधि में लेकर, उसके दो रूप बना दिए हैं।

व्यवहार-धर्म का अर्थ है, निश्चय-धर्म तक पहुँचने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला उप-धर्म। साधना की उत्तरोत्तर प्रेरणा जगाने के लिए और उसका अधिकाधिक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेने के लिए व्यवहार-धर्म की आवश्यकता है। यह एक प्रकार का स्कूल है। स्कूल ज्ञान का दावेदार नहीं होता, किन्तु ज्ञान का वातावरण जरूर निर्माण करता है। स्कूल में आने वाले के भीतर प्रतिभा है, तो वह विद्वान् बन सकता है, ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर सकता है। और, यदि निरा बुद्धुराज है, तो वर्षों तक स्कूल की बैंचें तोड़ने के बाद भी वैसा का वैसा ही रहेगा। स्कूल में यह शक्ति नहीं कि किसी को विद्वान् बना ही दे। यही बात व्यवहार-धर्म की है। बाह्य क्रियाकांड किसी का कल्याण करने की गारण्टी नहीं दे सकता। जिस साधक के अन्तर् में, अंशतः ही सही, निश्चय धर्म की जागृति हुई है, उसी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। हाँ, परिस्थितियों के निर्माण में व्यवहार धर्म का सहयोग अवश्य रहता है।

वर्तमान परिस्थितियों में हमारे जीवन में निश्चय-धर्म की साधना जगनी चाहिए। व्यवहार-धर्म के कारण जो विकट विवाद, समस्याएँ और अनेक सरदर्द पैदा करने वाले प्रश्न कौंध रहे हैं, उनका समाधान सिर्फ निश्चय-धर्म की ओर उन्मुख होने से ही हो सकता है।

आज का धार्मिक जीवन उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन समस्याओं से घिरा है, राजनीतिक जीवन तनाव और संघर्ष से अशान्त है। इन सबका समाधान एक ही हो सकता है और वह है निश्चय-धर्म की साधना अर्थात् जीवन में वीतरागता, अनासक्ति!

वीतरागता का दृष्टिकोण व्यापक है। हम अपनी वैयक्तिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के प्रति भी आसक्ति न रखें, आग्रह न करें, यह एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। सत्य के लिए आग्रही होना एक चीज है और मत के लिए आग्रही होना दूसरी चीज। सत्य का आग्रह दूसरे के सत्य को ठुकराता नहीं, अपितु सम्मान करता है। जबकि मत का आग्रह दूसरे के अभिमत सत्य को सत्य होते हुए भी ठुकराता है, उसे लांछित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती, उसके लिए साधना करनी पड़ती है। मन को समता और अनाग्रह से जोड़ना होता है।

सामाजिक सम्बन्धों में वीतरागता का अर्थ होता है—आप अपने सुख के पीछे पागल नहीं रहें, धन और परिवार के व्यामोह में फँसें नहीं। आपका मन उदार हो और सहानुभूति-पूर्ण हो, दूसरे के लिए अपने सुख का त्याग करने को प्रस्तुत हों, तो सामाजिक क्षेत्र में भी निश्चय धर्म की साधना हो सकती है।

राजनैतिक जीवन भी आज आसक्तियों के गन्दे जल में कुलबुला रहा है। विचारों की आसक्ति, पद और प्रतिष्ठा की आसक्ति, कुर्सी की आसक्ति! दल और दल से मिलने वाले फल की आसक्ति! जीवन का हर कोना आसक्तियों से जकड़ा हुआ है—फलतः जीवन संघर्षमय है।

धर्म का वास्तविक रूप यदि जीवन में आ जाए, तो यह सब विवाद सुलझ सकते हैं, सब प्रश्न हल हो सकते हैं और धर्म फिर एक विवादास्पद प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक सुनिश्चित एवं सुनिर्णीत जीवन-दर्शन के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा।

कर्तव्य और धर्म :

धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है, जिसे कर्तव्य-पालन का दृढ़ अभ्यास है। जो व्यक्ति संकट के विकट क्षणों में भी अपने कर्तव्य का परित्याग नहीं करता, उससे बढ़कर इस जगती-तल पर अन्य कौन धर्मशील हो सकता है? कर्तव्य और धर्म में परस्पर जो सम्बन्ध है, वह तर्कातीत है, वहाँ तर्क की भी पहुँच नहीं है। कर्तव्य-कर्मों के दृढ़ अभ्यास से, सतत अनुष्ठान से धार्मिक प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे प्रत्येक कर्तव्य, धर्म में परिणत हो जाता है। कर्तव्य, उस विशेष कर्म की ओर संकेत करता है, जिसे मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। कर्तव्य करने के अभ्यास से, धर्म की विशुद्धि बढ़ती है, अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म और कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे के विघटक नहीं। क्योंकि धर्म का कर्तव्य में प्रकाशन होता है और कर्तव्य में धर्म की अभिव्यक्ति होती है। धर्म क्या है, इस सम्बन्ध में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी आत्म-लक्षी विद्वानों का एक मत है कि धर्म मनुष्य के मन की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियंत्रित करने एवं आत्मा के समग्र शुभ का लाभ प्राप्त करने का एक अभ्यास है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र का कलंक है। कर्तव्य-पालन में धर्म का प्रकाशन होता है, इसके विपरीत पापकर्मों में अधर्म उद्भूत होता है। धर्म आत्मा की एक स्वाभाविक वृत्ति का नाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-धर्म का शोर मचा है,
किन्तु, धर्म का क्या स्वरूप है ?
जीवन का परिशोधन ही तो,
आत्म-धर्म का स्वच्छ रूप है।

*

बाहर में मत हैं, पथ हैं सब,
क्रिया-काण्ड में उलझ रहे हैं।
जीवन के परिशोधक धर्मी,
स्वयं, स्वयं में उतर रहे हैं।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२

आध्यात्मिक त्रिपथगा : भक्ति, कर्म और ज्ञान

मानव जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं :

१. बचपन !

२. जवानी !

३. बुढ़ापा !

मानव का जीवन इन तीन धाराओं से गुजरता है, और प्रत्येक धारा के साथ एक विशेष प्रकार की वृत्ति जन्म लेती है और अवस्था-विशेष के साथ-साथ वह वृत्ति बदलती भी रहती है।

जीवन की प्रथम अवस्था है—बचपन ! शैशव ! बालक की वृत्ति परापेक्षी होती है। वह सहारा खोजता है, प्रारम्भ में चलने के लिए उसे कोई न कोई अँगुली पकड़ने वाला चाहिए। माँ उसे अँगुली पकड़कर चलाती है, अपने हाथ से खिलाती है। वह खुद खा भी नहीं सकता। गन्दा हो जाए, तो खुद साफ भी नहीं हो सकता। कोई सफाई करने वाला, नहलाने वाला चाहिए। अपने हाथ से नहा भी नहीं सकता। खड़ा रहेगा कि कोई नहला दे, देखता रहेगा कि कोई खिला दे। मतलब यह है कि बालक की प्रायः हर प्रवृत्ति, पूर्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा रखती है। माँ हो, या अन्य कोई, जब उसे सहारा मिलेगा, तभी उसकी अपेक्षा पूरी हो सकेगी।

साधना का शैशव : भक्ति-योग :

हमारी साधना भी इसी प्रकार अपने एक शैशव-काल के बीच से गुजरती है, उस अवस्था का नाम है—'भक्ति-योग' !

भक्त अपने आप को एक बालक के रूप में समझता है। वह भगवान् के समक्ष अपने को उनके बालक के रूप में ही प्रस्तुत करता है। भक्त अपने व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं समझता। जीवन में स्वयं के कर्तापन का भाव जागृत ही नहीं होने देता। भगवान् से ही सब-कुछ अपेक्षा रखता है—"प्रभु तू ही तारने वाला है, तू ही मेरा रक्षक है ! जो कुछ है तू ही है। **"त्वमेव माता च पिता त्वमेव"** यह भगवदाश्रित वृत्ति है, जिसे साधना की भाषा में 'भक्ति-योग' कहा जाता है।

'भक्ति-योग' जीवन की प्राथमिक दशा में अपेक्षित रहता है। बालक को जब तक अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता, वह माता की शरण चाहता है। भूख लगी तो माँ के पास दौड़कर जाएगा। प्यास लगी तो माँ को पुकारेगा। कोई भय तथा कष्ट आता है, तो माँ के आंचल में छुप जाता है। भक्त का मन भी जब व्याकुल होता है, तो वह भगवान् को पुकारता है, जब कष्ट आते हैं, तो भगवान् की शरण में जाता है, प्रार्थना करता है।

जब समस्याएँ घेर लेती हैं, तो भगवान् को हाथ जोड़ता है—"प्रभु ! मेरे कष्ट मिटा दो ! मैं तुम्हारा अबोध बालक हूँ।" इस प्रकार की प्रार्थनाएँ भारत के प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। वैदिक-परम्परा में तो इसका जन्म ही हुआ है। मानव मन का सत्य तो यह है कि साधना के प्रत्येक प्रथम काल में प्रत्येक साधक इसी भाव की ओर उन्मुख होता है, बचपन की तरह जीवन की यह सहज वृत्ति इसमें विचारों की अस्फुटता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोलापन और एक सुकुमारता का भाव छिपा है, जो मानव-मन की सहज धारा है। इसलिए चाहे वैदिक परम्परा है, बौद्ध परम्परा है, या जैन परम्परा—सर्वत्र भक्ति-योग का प्रवाह उमड़ा, साधक उसकी धारा में बहे और काफी दूर तक बह गये। स्तोत्र, पाठ और प्रार्थनाएँ रची गईं, विनतियाँ गाई गईं और इसके माध्यम से साधक भगवान् का आंचल पकड़कर चलने का आदी रहा।

जब तक साधक को अपने अस्तित्व का सही बोध प्राप्त नहीं हो जाता, जब तक वह यह नहीं समझ लेता है कि भगवान् का बिम्ब ही भक्त में परिलक्षित हो रहा है। जो उसमें है, वह मुझ में है, यह अनुभूति (जिसे सखाभाव कहते हैं) जब तक जागृत नहीं हो जाती, तब तक उसे भगवान् के सहारे की अपेक्षा रहती है। भक्ति के आलम्बन की आवश्यकता होती है। निराशा और कुण्ठा उसके कोमल मन को दबोच न ले, इसके लिए भगवान् की शरण भी अपेक्षित रहती है। हाँ, यह शरण उसे भय से भागना सिखाती है, मुकाबला करना नहीं, कष्ट से बचना सिखाती है, लड़ने की क्षमता नहीं जगा सकती।

साधना का यौवन : कर्म-योग :

युवा अवस्था जीवन की दूसरी अवस्था है। जब बचपन का भोलापन समझ में बदलने लगता है, सुकुमारता शौर्य में प्रस्फुरित होने लगती है, माँ का आंचल पकड़े रहने की वृत्ति सीना तानकर खड़ा होने में परिवर्तित होने लगती है, तो हम कहते ह—बच्चा जवान हो रहा है। अगर कोई नौजवान होकर भी माँ को पुकारे कि "माँ सहारा दे, मेरी अँगुली पकड़ कर चला, नहीं तो मैं गिर जाऊँगा। कुत्ता आ गया, इसे भगा दे, मक्खियाँ मुंह पर बैठ रही हैं, उड़ा दे। गंदा हो गया हूँ, साफ कर दे, मुंह में ग्रास देकर खिलादे"—तो कोई क्या कहेगा? अरे! यह कैसा जवान है, अभी बचपन की आदतें नहीं बदलीं। और माँ-बाप भी क्या ऐसे युवा पुत्र पर प्रसन्नता और गर्व अनुभव कर सकते हैं? उन्हें चिन्ता होती है, बात क्या है? डाक्टर को दिखाओ! यह अभी तक ऐसा क्यों करता है?

तात्पर्य यह है कि यौवन वह है, जो आत्म-निर्भरता से पूर्ण हो। जवानी दूसरों का मुंह नहीं ताकती। उसमें स्वावलम्बन की वृत्ति उभरती है, अपनी समझ और अपना साहस होता है। वह भय और कष्ट की घड़ी में भागकर माँ के आंचल में नहीं छुपता, बल्कि सीना तानकर मुकाबला करता है। वह दूसरों के सहारे पर भरोसा नहीं करता, अपनी शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह पर विश्वास करके चलता है।

साधना क्षेत्र में जीवन की यह युवा अवस्था 'कर्म-योग' कहलाती है। बचपन जब तक है, तब तक किसी का सहारा ताकना ठीक है, पर जब युवा-रक्त हमारी नसों में दौड़ने लगता है, तब भी यदि हम अपना मुंह साफ करने के लिए किसी और को पुकारें, तो यह बात युवा-रक्त को शोभा नहीं देती।

कर्म-योग हमारी युवाशक्ति है। अपना मुंह अपने हाथ से धोने की बात—कर्म-योग की बात है। कर्म-योग की प्रेरणा है—"तुझे जो कुछ करना है, अपने आप कर! अपने भाग्य का विधाता तू खुद है। जीवन में जो पीड़ाएँ और यातनाएँ तुझे कचोटने आती हैं, वे किसी और की भेजी हुई नहीं हैं। तेरी भूलों ने ही उन्हें निमन्त्रित किया है, अब उनसे भाग मत। उनका स्वागत कर! मुकाबला कर! भूल को अनुकूल बनाना, शूल को फूल बनाना—इसी में तो तेरा चमत्कार है। जीवन की गाड़ी को मोड़ देना, उसके चक्के बदल देना, यह सब तेरे अधिकार में है। तू अपनी गाड़ी का प्रभुसत्ता सम्पन्न मालिक होकर भी साधारण-से क्रीतदास की तरह खड़ा देख रहा है, यह ठीक नहीं।" इस प्रकार कर्म-योग मन में आत्म-निर्भरता का साहस-भाव जगाता है। अपना दायित्व अपने ऊपर लेने की आत्मिक शौर्य-वृत्ति को प्रोत्साहन देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्व भावना : अनाथता नहीं :

जैन-संस्कृति में मन का परिशोधन करने के लिए बारह भावनाएँ बतलाई गई हैं। उनमें एकत्वभावना भी एक है। आप एकत्व का अर्थ करते हैं—"कोई किसी का नहीं है, जीव अकेला आया है, अकेला जाएगा, सब जग स्वार्थी है, माता-पिता, पति-पत्नी सब स्वार्थ के सगे हैं, मतलब के यार हैं। मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है आदि।" मैं नहीं कहता कि सिद्धान्ततः यह कोई गलत बात है, किन्तु इस चिन्तन के पीछे जो दृष्टि छुपी है, उसे हम नहीं पकड़ सके हैं। 'मैं अकेला हूँ' इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम संसार को स्वार्थी और मक्कार कहने लगें। अपने को असहाय और अनाथ समझ कर चलें, जीवन में दीनता के संस्कार भर कर समाज और परिवार के कर्तव्य से विमुख होकर निरीह स्थिति में पड़े रहें। यह तो समाजद्रोही वृत्ति है, इससे अन्तर्मन में दीनता और हीनता आती है। एकत्व का सही अर्थ यह है कि "जीवन के क्षेत्र में मैं अकेला हूँ, मेरा निर्माण मुझे ही करना है, मेरे कल्याण और अकल्याण का उत्तरदायी मैं स्वयं ही हूँ—**"अप्पा कत्ता विकत्ता य"** मेरी आत्मा ही मेरे सुख और दुःख का कर्ता-हर्ता है—दूसरा कोई नहीं।" इस प्रकार का चिन्तन करना ही वस्तुतः एकत्व का अर्थ है। अपना दायित्व अपने ऊपर स्वीकार करके चलना—यह एकत्व भावना है। और, यही वस्तुतः कर्म-योग है। हमारे मन में एकत्व की फलश्रुति—आत्म-सापेक्षता के रूप में जगनी चाहिए, असहायता एवं अनाथता के रूप में नहीं।

युवा-संस्कृति की साधना .

जैन-संस्कृति साधना की युवा संस्कृति है, युवाशक्ति है, कर्मयोग जिसका प्रधान तत्त्व है। कर्म-योग के स्वर ने साधक के सुप्त शौर्य को जगाया है, मूर्छित आत्म-विश्वास को संजीवन दिया है। उसने कहा है—जीवन एक विकास यात्रा है, इस यात्रा में तुम्हें अकेला चलना है, यदि किसी का सहारा और कृपा की आकांक्षा करते रहे, तो तुम एक कदम भी नहीं चल सकोगे। सिद्धि का द्वार तो दूर रहा, साधना का प्रथम चरण भी नहीं रख सकोगे। इसलिए अपनी शक्ति पर विश्वास करके चलो। अपनी सिद्धि के द्वार अपने हाथ से खोलने का प्रयत्न करो! अपने बन्धन, जो तुमने स्वयं अपने ऊपर डाले हैं, उन्हें स्वयं अपने हाथों से खोलो। इसी भावना से प्रेरित साधक का स्वर एक जगह गूंजता है—

"सखे! मेरे बन्धन मत खोल,
स्वयं बँधा हूँ, स्वयं खुलूँगा।
तू न बीच में बोल!
सखे! मेरे बन्धन मत खोल।।"

साधक अपने पड़ौसी मित्र को ही सखा नहीं कहता, बल्कि अपने भगवान् को भी सखा के रूप में देखता है और कहता है—"हे मित्र, मेरे बीच में तुम मत आओ! मैं स्वयं अपने बन्धनों को तोड़ डालूंगा! अपने को बन्धन में डालने वाला जब दूसरा कोई नहीं, मैं ही हूँ, तो फिर बन्धन तोड़ने के समय दूसरों को क्यों पुकारूं? मैं स्वयं ही अपने बन्धन खोलूंगा और अपने निरंजन, निर्विकार, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करूँगा।"

आत्म-सापेक्षता, निरीश्वरवाद नहीं :

अपना दायित्व अपने ऊपर लेकर चलने की प्रेरणा जैन-दर्शन और जैन-संस्कृति की मूल प्रेरणा है। वह ईश्वर के भरोसे अपनी जीवन-नौका को अथाह समुद्र में इसलिए नहीं छोड़ देता—कि "बस, भगवान् मालिक है। वह चाहेगा तो पार लगाएगा, वह चाहेगा तो मँझधार में गर्क कर देगा।" कुछ दार्शनिक इसी कारण जैन-दर्शन को निरीश्वरवादी कहते हैं। मैं कहता हूँ यदि यही निरीश्वरवाद है, तो उस ईश्वरवाद से अच्छा है, जो आदमी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पंगु और परापेक्षी, दीन-हीन बना देता है। जैन-दर्शन मानव को इस मानसिक अक्षमता से मुक्त करके आत्मनिर्भर बनाता है। आत्मबल पर विश्वास करने की प्रेरणा देता है। ऐसे में, जैन-दर्शन निरीश्वरवादी कहाँ है? उसने जितने ईश्वर माने हैं, उतने तो शायद किसी ने नहीं माने। कुछ लोगों ने ईश्वर एक माना है, कुछ ने किसी व्यक्ति-विशेष और शक्ति-विशेष को ईश्वर मान लिया है। कुछ ने ईश्वर को व्यापक मानकर भी सर्वत्र अवतार रूप में उसका अंश माना है, सम्पूर्ण रूप नहीं। किन्तु, जैन-दर्शन की यह विशिष्टता है कि वह प्रत्येक आत्मा में ईश्वर का दर्शन करता है। वह ईश्वर को एक व्यक्ति-विशेष या शक्ति-विशेष नहीं, गुण-विशेष मानता है। वह गुण सत्ता रूप में प्रत्येक आत्मा में है—एक संत की आत्मा में भी है और दुराचारी की आत्मा में भी। एक आत्मा में वे गुण व्यक्त हो गए हैं या हो रहे हैं, एक में अभी सुप्त हैं। रावण में जब राम प्रकट हो जाता है, तो फिर वह रावण नहीं रहता, वह भी राम ही हो जाता है। जैन-दर्शन की अध्यात्म-दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह राम में ही राम को नहीं, अपितु रावण में भी राम को देखती है, और उसे व्यक्त करने की प्रेरणा देती है। यदि रावण में राम को जगाना, राम की सत्ता का विरोध या अस्वीकार माना जाए, तो यह गलत बात होगी।

जैन-दर्शन प्रत्येक आत्मा में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, और उस सत्ता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेरणा देता है। यह प्रेरणा ही सच्चा कर्म-योग है। वह भक्ति-योग से इन्कार नहीं करता, पूजा-पाठ, जप, स्तोत्र आदि के रूप में भक्ति-योग की सभी साधनाएँ वह स्वीकार करके चलता है, किन्तु केवल भक्ति-योग तक ही सीमित रहने की बात वह नहीं कहता। इसके आगे कर्म-योग को स्वीकार करने की बात भी कहता है। वह कहता है—बचपन, बचपन में सुहावना है, जवानी में बचपन की आदतें मत रखो। अब जवान हो, जवानी का रक्त तुम्हारी नसों में दौड़ रहा है, तो फिर दूसरों का सहारा ताकने की बात, भूख लगने पर माँ का आँचल खींचने की आदत और भय सामने आने पर छुप जाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है। रोने से बालक का काम चल सकता है, किन्तु युवक का काम नहीं चलेगा। प्रभु के सामने रोने-धोने से मुक्ति नहीं मिलेगी, केवल प्रार्थनाएँ करने से ये बन्धन नहीं टूटेंगे, प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ भी करना होगा। भक्ति के साथ सत्कर्म भी करना होगा।

कर्म ही देवता है :

भगवान् महावीर की धर्म क्रान्ति की यह एक मुख्य उपलब्धि है कि उन्होंने ईश्वर की जगह कर्म को प्रतिष्ठा दी। भक्ति के स्थान पर सदाचार और सत्कर्म का सूत्र उन्होंने दिया। उन्होंने कहा—

"सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला हवन्ति!"[१]

"अच्छे कर्म अच्छे फल देने वाले होते हैं, बुरे कर्म बुरे फल देने वाले होते हैं।" यदि आप मिश्री खाते हैं, तो भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं कि वह आपका मुँह मीठा करे। और मिर्च खाकर यह प्रार्थना करने की भी जरूरत नहीं—कि प्रभो! मेरा मुँह न जले। मिश्री खाएँगे, तो मुँह मीठा होगा ही, और मिर्च खाएँगे, तो मुँह जलेगा ही। जैसा कर्म होगा, वैसा ही तो फल मिलेगा। भगवान् इसमें क्या करेगा? भगवान् इतना बेकार नहीं है कि वह आपका मुँह मीठा करने के लिए भी आए और आपके मुँह को जलने से बचाने के लिए भी आए। मार्ग में चलते हुए यदि धूप लग रही है और छाया की आवश्यकता है, तो आपको छाया में जाना चाहिए। यदि आप छाया में न जाकर वृक्ष से प्रार्थना करने लगें—"हे तरुराज! हमें छाया दीजिए! तो क्या वह छाया देगा?"

१. औपपातिक सूत्र, ५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया तो तभी मिलेगी, जब आप छाया में जाकर बैठेंगे। जाकर बैठना आवश्यक है, छाया स्वयं मिल जाएगी। छाया का मांगना क्या?

"छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
किं छायया याचितयात्मलाभः?"

यही स्वर भगवान् महावीर की वाणी का है—"यदि अच्छे फल चाहते हो, तो अच्छे कर्म करो, यदि मुक्ति चाहते हो तो संयम, तप, तितिक्षा का आचरण करो! केवल प्रार्थना से मुक्ति नहीं मिलेगी। इस संसार में तुम्हें पड़े-पड़े मुक्त कर देने वाला कोई भगवान् या देवता नहीं है। तुम्हारा सत्कर्म ही तुम्हारा देवता है, वही तुम्हें मुक्ति के द्वार तक ले जाएगा।"

तथागत बुद्ध से जब पूछा गया कि मनुष्य की आत्मा पवित्र कैसे होती है, तो उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर से कहा—

"कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झंति, न गोत्तेन धनेन वा?"[1]

कर्म, विद्या धर्म, शील (सदाचार) एवं उत्तम जीवन—इनसे ही मनुष्य की आत्मा परिशुद्ध होती है, धन या गोत्र से नहीं।

गुरु : एक मार्गदर्शक :

भक्ति-योग में अहंकार को तोड़ने एवं समर्पित होने की भावना का महत्त्व तो है, किंतु जब समर्पण के साथ पराश्रित वृत्ति का संयोग हो जाता है, साधक भगवान् और गुरु को ही सब-कुछ मानकर कर्म-योग से विमुख होने लगता है, तब भक्ति-योग में निष्क्रियता एवं जड़ता आ जाती है। यह जड़ता जीवन के लिए खतरनाक है।

हम एक बार दिल्ली से विहार करके आगरा की ओर आ रहे थे। एक गाँव में किसी महंत के मठ में ठहरे। बड़े प्रेम से उन्होंने स्वागत किया। रात को जब बातचीत चली, तो उनके शिष्य ने कहा—"गुरु! मुझे गुस्सा बहुत आता है, इसको समाप्त कर दो न!"

मैं जब कुछ साधना बताने लगा, तो बोला—"यह साधना-वाधना मुझ से कुछ नहीं होती, मेरे इस विष को तुम चूस लो।"

मैंने कहा—"भाई! मैं तो ऐसा गारुड़ी नहीं हूँ, जो दुनिया के विष को चूसता फिरूँ।"

वह बोला—"गुरु तो गारुड़ी होता है। तुम मेरे गुरु हो, फिर क्यों नहीं चूस लेते?"

मैंने पूछा—"क्या आज तक कोई ऐसा गुरु मिला?"

बोला—"अभी तक तो मिला नहीं।"

मैंने कहा—भले आदमी! अब तक मिला नहीं, तो क्या अब मिल जाएगा? गुरु तो सिर्फ विष को दूर करने का साधन मात्र बताता है, चेलों का विष चूसता नहीं फिरता। मैं रास्ता बता सकता हूँ, चलना चाहो, तो चल सकते हो। हमारा भगवान् और गुरु तो मार्ग दिखाने वाला **'मग्गदयाणं'** है, घसीट कर ले जाने वाला नहीं है। वह तुमको दृष्टि दे सकता, है **'चक्खुदयाणं'** उसका विरुद है, किन्तु यह नहीं कि तुम अन्धों की अँगुली पकड़ कर घुमाता फिरे। आँख की ज्योति खराब हो गई है, तो डाक्टर इतना ही कर सकता है कि दवा दे दे, आपरेशन कर दे, आँख ठीक हो जाए। यह नहीं कि वह आपकी लकुटिया पकड़ कर घिसटता रहे। मैंने कहा—"भाई, हम तो दृष्टि देने वाले हैं, आँख की दवा देने वाले हैं। आँख ठीक हो जाए, तो फिर चलना या न चलना, यह काम तुम्हारा है।"

१. मज्झिमनिकाय, ३।४३।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालक ज्यों-ज्यों युवक एवं योग्य होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपना दायित्व अपने ऊपर लेता जाता है। दायित्व को गेंद की तरह दूसरों की ओर नहीं उछालता बल्कि अपने ही परिधान की तरह अपने ऊपर ओढ़ता है। "मैं क्या करूँ? मैं क्या कर सकता हूँ?" यह युवक की भाषा नहीं है। दायित्व को स्वीकार करने वाले का उत्तर यह नहीं हो सकता। वह हर समस्या को सुलझाने की क्षमता रखता है उसकी भुजाओं में गहरी पकड़ की वज्र-शक्ति होती है, बुद्धि में प्रखरता होती है। पिता भी युवक पुत्र को जिम्मेदारी सौंप देता है। उसे स्वयं निर्णय करने का अधिकार दे देता है। यदि कोई पिता योग्य पुत्र को भी दायित्व सौंपने से कतराता है, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं देता है, तो वह पुत्र के साथ न्याय नहीं करता। उसकी क्षमताओं को विकसित होने का अवसर नहीं देता। ऐसी स्थिति में यदि पुत्र विद्रोही बनता है, अथवा अयोग्य रहता है, तो इसका दायित्व पिता पर ही आता है। नीति-शास्त्र ने इसीलिए यह सूत्र कहा है—

"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।"

पुत्र जब सोलह वर्ष पार कर जाता है, योग्य हो जाता है, तो उसके साथ मित्र की तरह व्यवहार करना चाहिए।

आप जानते हैं, अच्छा मास्टर या गुरु कैसे परखा जाता है। अच्छा मास्टर बच्चों को पाठ पढ़ाते समय आखिर तक खुद ही नहीं बोलता जाता, बल्कि बीच-बीच में उनसे पूछता है, उन्हीं के मुँह से सुनता है—ताकि पता चले, बच्चे कितना ग्रहण कर रहे हैं, उनकी बौद्धिक क्षमता कितनी है? ऐसा करनेसे बच्चों को सोचने का अवसर मिलता है, क्षमता को विकसित होने का मार्ग मिलता है। जो अध्यापक स्वयं ही सब-कुछ लिखा-पढ़ा देता है, उसके छात्र बौद्धिक विकास में दुर्बल रह जाते हैं।

इसी प्रकार भगवान् या गुरु साधक को मार्ग दिखाता है, दृष्टि देता है, किन्तु अपने आश्रित एवं अधीन नहीं करता, उसमें आत्मनिर्भर होने का भाव जगाता है। अपना दायित्व अपने कन्धों पर उठाकर चलने का साहस स्फूर्त करता है, बस यही हमारा कर्मयोग है। भक्ति-योग में जो भगवान् रक्षक के रूप में खड़ा था, कर्मयोग में वह एक मार्गदर्शक भर रहता है।

ज्ञानयोग का प्रतीक : वृद्धत्व :

जीवन की तीसरी अवस्था बुढ़ापा है। बुढ़ापे में शरीर बल क्षीण हो जाता है। कहा जाता है, बालक का बल माता है, युवक का बल उसकी भुजाएँ हैं और वृद्ध का बल उसका अनुभव है। बुढ़ापे में जब शरीर जराजीर्ण हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब वह न भक्ति कर सकता है और न कर्म ही। उसके पास तब केवल अनुभव अर्थात् ज्ञान ही सहारा होता है, यही उसका बल है। ज्ञानयोग की अवस्था इसीलिए साधना की तीसरी अवस्था मानी गई है।

भारतीय संस्कृति में वृद्ध को ज्ञान का प्रतीक माना गया है। जीवन भर के अध्ययन एवं अनुभव का नवनीत वृद्ध से प्राप्त हो सकता है। इसलिए महाभारत में 'वृद्ध' को धर्मसभा का प्राण बताते हुए कहा गया है—**"न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः"**।[1] जिस धर्म सभा में वृद्ध उपस्थित न हो, वह सभा ही नहीं है। बुद्ध ने भी इसीलिए कहा कि—"जो वृद्धों का अभिवादन-विनय करता है, उसके आयु, यश, सुख एवं बल की वृद्धि होती है।"[2]

तात्पर्य यह है कि वृद्ध अवस्था परिपक्व अवस्था है, जिसमें अध्ययन अनुभव का रस पाकर मधुर बन जाता है। उसकी कर्मेन्द्रियाँ भले ही क्षीण हो जाएँ, किन्तु ज्ञानशक्ति

---

१. महाभारत, ३५,५८

२. धम्मपद, ८,१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी सूक्ष्म और प्रबल रहती है। इसीलिए वृद्ध अवस्था को ज्ञान-योग की अवस्था के रूप में माना गया है।

ज्ञान-योगी : जीवन-मुक्त सिद्ध :

जैन-धर्म की साधना-पद्धति का जिन्हें परिचय है, वे जानते हैं कि साधक कैवल्य-दशा को प्राप्त करने के साथ ही 'ज्ञान-योग' की परिपूर्ण अवस्था में पहुँच जाता है। साधना-काल 'कर्म-योग' है और सिद्ध-अवस्था 'ज्ञान-योग' है। यह स्मरण में रखना चाहिए कि साधना-काल में ज्ञान तो होता है, होना ही चाहिए, किन्तु केवलज्ञान नहीं होता। जब ज्ञान-पूर्वक साधना अपनी अन्तिम परिणति में पहुँच जाती है अर्थात् साधना-काल समाप्त हो जाता है, तभी केवलज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए पूर्णज्ञान केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद आत्मा सिद्ध कहलाती है। यह आप जानते ही हैं कि देह-मुक्त सिद्ध और सदेह-सिद्ध के जो भेद हैं, वे इसी दृष्टि से हैं। केवलज्ञानी अर्हन्त, जो सशरीरि होते हैं, सदेह-सिद्ध कहलाते हैं। उन्हीं की अपेक्षा से आगमों में एक स्थान पर यह प्रयोग आया है—**"सिद्धा एवं भासन्ति"** सिद्ध ऐसा कहते हैं, अर्थात केवलज्ञानी अर्हन्त ऐसा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है—सिद्ध-अवस्था ज्ञान-योग की अवस्था है, जहाँ कर्तव्य एवं कर्म की सम्पूर्ण सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं, साधना के रूप में विधि-निषेध के बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा केवल अपने स्वभाव में, ज्ञान-योग में ही विचरण करती है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है और उठता भी है—जब केवल-दशा में कुछ भी कर्तव्य अवशेष नहीं रहता, साधना-काल समाप्त हो जाता है, तो फिर केवलज्ञानी उपवास आदि किसलिए करते हैं? क्योंकि उनके सामने न इच्छाओं को तोड़ने का प्रश्न है और न कुछ अन्य विशिष्टता पाने का?

बात ठीक है। इच्छाएँ जब तक रहती हैं, तब तक कैवल्य प्राप्त हो नहीं पाता, अतः इच्छा-निरोध का तो प्रश्न नहीं हो सकता। क्योंकि आत्म-स्वरूप के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय रूप चार घाति-कर्मों को क्षय करने हेतु साधना होती है। घाति-कर्म वहाँ समाप्त हो चुके हैं, अवशिष्ट वेदनीय, आयुष्, नाम और गोत्र रूप चार अघाति-कर्म रहे हैं और अघाति-कर्म को क्षय करने हेतु बाहर में किसी भी तप आदि साधना की अपेक्षा नहीं रहती। अतः उपवास आदि तप अघाति-कर्म को क्षय करने हेतु कभी नहीं होते। अघाति-कर्म काल-परिपाक से स्वतः ही क्षीण हो जाते हैं। विचार कीजिए, यदि कोई आयु-कर्म को क्षीण करने हेतु उपवास आदि करता है, तो यह स्पष्ट ही गलत है।

वीतराग केवलज्ञानी सदेह-सिद्ध अर्हन्तों के उपवास आदि चर्चा के सम्बन्ध में जैन-दर्शन में कहा गया है—"यह एक काल-स्पर्शना है, पुद्गल स्पर्शना है। कैवल्य-अवस्था निश्चय दृष्टि की अवस्था होती है, केवलज्ञानी जब जैसी स्थिति एवं स्पर्शना का होना देखते हैं, तब वे वैसा ही करते हैं, करते क्या हैं, सहज ही वैसी परिणति में हो जाते हैं। उनके लिए उदय मुख्य है—**"विचरे उदय प्रयोग।"** जब आहार की पुद्गल-स्पर्शना नहीं होती, तो सहज उपवास हो जाता है। और, जब आहार की पुद्गल-स्पर्शना होती है, तब आहार हो जाता है। न उपवास का कोई विकल्प है और न आहार का। सर्व-विकल्पातीत-दशा, जिसे हम कल्पातीत अवस्था कहते हैं, उस अवस्था में विधि-निषेध अर्थात् विहित-अविहित जैसी कोई मर्यादा नहीं रहती। इसी को वैदिक-संस्कृति में विधि-निषेध से परे की त्रि-गुणातीत अवस्था कहा है—**"नैस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?"** यह ज्ञान-योग की चरम अवस्था है, जहाँ न भक्ति की जरूरत है, न कर्म की! आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञान रूप में स्वतः ही परिणमन करती रहती है। जैन-परिभाषा में यह आत्मा की स्वरूप अवस्था सदेह-सिद्ध अवस्था है। उक्त जीवन-मुक्त सदेह-सिद्ध अवस्था से ही अन्त में देह-मुक्त सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। और, इस प्रकार ज्ञान-योग पूर्णता की अपनी अन्तिम परिणति में पहुँच जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीनों का समन्वय :

बचपन से यौवन और यौवन से वार्द्धक्य, जिस प्रकार जीवन का आरोहण क्रम है, उसी प्रकार साधना का भी, भक्तियोग से कर्मयोग और कर्मयोग से ज्ञानयोग के रूप में ऊर्ध्वमुखी आरोहण-क्रम है। एक दृष्टि से भक्तियोग में साधना की कोई विशिष्टता नहीं रहती, और अन्तिम ज्ञानयोग में भी उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए कर्मयोग ही साधना का मुख्य केन्द्र रहता है। किन्तु एक बात भूल नहीं जानी है कि हमें कर्मयोग में भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का उचित आश्रय लेना पड़ता है, इसलिए साधनास्वरूप कर्मयोग के केन्द्र पर स्थित होकर हमें भक्ति एवं ज्ञान का सहारा लेकर चलना होता है। रूपक की भाषा में भक्ति हमारा हृदय है, ज्ञान हमारा मस्तिष्क है और शरीर, हाथ, पैर कर्म हैं। तीनों का सुन्दर समन्वय ही स्वस्थ जीवन का आधार है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३

वीतरागता का पाथेय : धर्म

आज हर गली, हर बाजार और हर द्वार पर धर्म की चर्चाएँ हो रही हैं, धर्म का शोर मचाया जा रहा है, धर्म की दुहाई दी जा रही है, और धर्म के नाम पर लड़ाई भी लड़ी जा रही है। किन्तु, पता नहीं, वे इस प्रश्न पर भी कभी सोचते हैं या नहीं कि यह धर्म है क्या चीज ? उसका क्या लक्षण है ? क्या स्वरूप है उसका और उसका अर्थ क्या है ? जो हमेशा धर्म की बातें करते हैं, क्या उन्होंने कभी इस प्रश्न पर भी विचार किया है ?

धर्म की गहराई :

सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले इस प्रश्न पर चिन्तन चला है, इस गुत्थी को सुलझाने के लिए चिन्तन की गहराइयों में पैठने का प्रयत्न भी किया गया है और धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के निर्णय एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। यह निश्चय है कि सागर के ऊपर तैरने से कभी मणि-मुक्ता नहीं मिलते। मोतियों और रत्नों के लिए, तो उसकी गहराइयों में डुबकियाँ लगानी पड़ती है। तो फिर, ज्ञान और सच्चाई को पाने के लिए क्यों न हम उसकी गहराई में उतरने का प्रयत्न करें ? चिन्तन-मनन ऊपर-ऊपर तैरते रहने की वस्तु नहीं है, वह तो गहराई में और बहुत गहराई में पैठने से ही फलित होता है। जो जितना गहरा गोता लगाएगा, वह उतने ही मूल्यवान मणि-मुक्ता प्राप्त कर सकेगा। तभी तो हमारे यहाँ कहा जाता है—**"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।"**

अतः सत्य के दर्शन के लिए आत्म-सागर की अतल गहराइयों को नापना होगा, जिससे चिन्तन-मनन के महार्घ मोती पा सकेंगे। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है, समुद्र के किनारे-किनारे घूमने वाले उसके लुभावने सौंदर्य का दर्शन कर सकते हैं और शीतल-मंद समीर का आनन्द लूट सकते हैं, किन्तु सागर के तट पर घूमने वाला व्यक्ति कभी भी उसकी अतल गहराई और उसके गर्भ में छिपे मोतियों के बारे में कुछ नहीं जान सकता। वैदिक सम्प्रदाय के एक आचार्य मुरारि ने कहा है कि—भारत के तट से लंका के तट तक पहुँचने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सेना के बहादुर बानरों ने अपनी लम्बी उड़ानों से लंका तक के सागर को लाँघा तो जरूर, पर उन्हें समुद्र की गहराई का क्या पता कि वह कितनी है ? सागर की सही गहराई को तो वह मंथाचल पर्वत ही बता सकता है, जिसका मूल पाताल में बहुत गहरा है।

यह सही है कि सागर की गहराई और विस्तार साधारण बुद्धि के लिए सीमांकन से परे है, किन्तु जीवन की, सत्य की गहराई उससे भी कहीं अनंत गुनी है। यदि महावीर के शब्दों में कहा जाए, तो वह महासमुद्रों से भी अधिक गम्भीर है।[1]

अनन्त काल से यह अबोध जीव—यात्री जीवन के लहराते समुद्र को पार करत आ रहा है। अनन्त काल बीत गया, किन्तु अभी तक वह यह नहीं जान पाया कि यह जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? क्यों भटक रहा हूँ ? मेरा तट और धर्म क्या है ? यात्री के सामने इन सारे प्रश्नों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है ? इनकी गहराई में जाना, उसके लिए अनिवार्य है।

---

१. "गंभीरतरं-महासमुद्दाओ।"—प्रश्नव्याकरण २।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस धरती पर जो भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने इस सत्य के सागर की गहराइयों का थाह पाया है, उन्होंने अवश्य इस पर विचार किया है। सत्य के इस मर्म को उभाड़ा है, जीवन की गहराई की परत उठाकर उसका वास्तविक दर्शन कराने का प्रयास किया है। धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—**'वत्थुसहावो धम्मो।'**

वस्तु (द्रव्य, पदार्थ) का जो मूल रूप है, अपना भाव है, वही तो वस्तु का धर्म है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित रूप होता है, और वही उसका धर्म होता है। इस दृष्टि से धर्म का अर्थ हुआ—वस्तु का अपना स्वभाव। आत्मा भी एक वस्तु है और संसार के समस्त पदार्थों में एक विशिष्ट शक्ति-संपन्न, चेतनापुंज है। तो फिर दूसरों से पूछने की अपेक्षा, अपने से ही पूछें कि मेरा धर्म क्या है? इस संसार के चौराहे पर तेरे घूमने का क्या उद्देश्य है? क्या तू आकाश, जल, अग्नि, मिट्टी और वायु—इन पंचभूतों का सम्मिश्रण मात्र है? अथवा अन्य कुछ है? आत्मा को पहचानने वालों ने इस सम्बन्ध में अपना उत्तर दिया है कि—इन पंचभूतों के अस्थिपंजर, हाड़-माँस, रक्त और मज्जा से निर्मित शरीर से परे तू एक और सत्ता है, तू महान् है, विराट् है, संसार के समस्त पदार्थों में तेरा सर्वोपरि स्थान है।

आश्चर्य तो यह है कि अन्य जड़ वस्तुओं की भाँति यह आत्मा भी स्वयं अपना मूल्य नहीं समझ पा रहा है। मूल्य की दृष्टि से संसार में हीरे का मूल्य बहुत आँका जाता है। कोहेनूर हीरे के बारे में कहा जाता है—वह महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर के पास था। तब से संसार के सम्राटों के पास घूम रहा है। उसका एक विशिष्ट मूल्य है। किन्तु, लाखों कोहेनूर हीरों का ढेर लगा कर उनसे पूछा जाए कि तुम्हारा क्या मूल्य है? तो क्या वे बता सकेंगे? उन्हें स्वयं अपना कुछ पता नहीं है, क्योंकि वे जड़ हैं। यही दशा एक मिट्टी के ढेले की है। दोनों ही जड़ हैं। इस अर्थ में दोनों ही समान हैं। किन्तु, फिर कोहेनूर का मूल्य आया कहाँ से? उसका मूल्यांकन करने वाला कौन है? कहना होगा—उसको परखने की शक्ति इन्सान की आँखों में है। मान लीजिए, यदि कोहेनूर रास्ते में पड़ा हो और एक अन्धे के पैर में चुभे, तो क्या उसे ज्ञान हो सकेगा कि यह कोहेनूर है? उसकी दृष्टि में तो वह कोई कंकर है, पत्थर का टुकड़ा मात्र है।

अन्तर् का शास्ता :

ऊपर की चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोहेनूर का मूल्य-निर्धारण स्वयं उसमें नहीं है, बल्कि इन्सान की आँख में है। एक प्रश्न फिर उठ सकता है, तो जब मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड आँख ही हुई और आँख जब स्वयं ही सीमाबद्ध है, तथा जो अपने आपको ही नहीं देख सकती, वह दूसरे का मूल्यांकन कैसे करेगी? कोहेनूर भी मौजूद है, आँख भी मौजूद है, किन्तु आँख की खिड़की से झाँकने वाला चैतन्य यदि नहीं है, तो उसका क्या मूल्य? आँख, कान आदि शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का, ज्ञात-अज्ञात प्रत्येक चेष्टा का, जो संचालक है, शास्ता है, यदि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो न आँख का मूल्य है और न कोहेनूर का ही। हमारी आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रिय-शक्तियाँ तो उसी महाशास्ता से शासित हैं। यदि वह शास्ता नहीं रहता है, तो फिर सबका मूल्य शून्य हो जाता है। इसलिए आँख के प्रकाश से जो देखने वाला तत्त्व है, वही अन्दर का शास्ता है, सभी शक्तियों का अधिष्ठाता है। इसी पवित्र सत्ता, दिव्य शक्ति, एवं चेतना-पुंज का जो साक्षात्कार है, वीतराग भाव की अनुभूति है, वही धर्म है। उसकी जो व्याख्या करे, वही शास्त्र है। हमारी साधना उसी अनन्त चैतन्य प्रकाश को खोजने की है, पाने की है। जो साधना ऐसा नहीं करती है, वह साधना कदापि नहीं है।

यहाँ पर एक प्रश्न और खड़ा हो जाता है कि जो स्वयं प्रकाश का स्रोत है, उसकी खोज हम क्यों करें? कैसे करें? प्रश्न ठीक है, किन्तु यह भी तो आप न भूलें कि दिया-सलाई में अग्नि तत्त्व के बीज विद्यमान होते हुए भी प्रकाश के लिए उसे रगड़ना नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है क्या ? ठीक उसी प्रकार, अन्तर में जो यह महाप्रकाश का पुंज है, वह आवरणों से ढँका हुआ है, अन्तर् का वह शास्ता अपने आपको भुला बैठा है, अतः उसे सिर्फ अपने निज स्वरूप का, अपनेपन का भान हो सके, ऐसी एक उदात्त प्रेरणा की आवश्यकता है। आप जानते हैं, सामायिक, संवर, व्रत, प्रत्याख्यान आदि का क्या अर्थ है ? क्या इनसे किसी नवीन आत्म-शक्ति के प्रादुर्भाव की आकांक्षा है ? ये सब तो केवल उस शक्ति को जागृत करने के साधन मात्र हैं, प्रेरणा की एक चिनगारी मात्र हैं, जिनके माध्यम से आत्मा निज स्वरूप का यथार्थ बोध कर सके।

प्रेरणा की चिनगारी :

भारत के प्राचीन इतिहास में वर्णन आता है कि जब कोई बहुत बड़ा सहस्र-योधी क्षत्रिय वीर मैदान में लड़ता-लड़ता शिथिल होने लगता था, अपना-आपा भूल जाता था, तो पीछे से एक बुलन्द आवाज आती थी—लड़ो, लड़ो। यह आवाज सुनकर वह पुनः चैतन्य हो उठता था और तब पुनः उसके हाथों में तलवार चमक उठती थी। प्राचीन समय के युद्धक्षेत्रों में जो चारणों की व्यवस्था रहती थी, उसके पीछे यह भावना निहित थी। वे समय-समय पर वीरों के ठंडे पड़ते खून में उफान ला देते थे। सोते हुए पुरुषार्थ को जगा कर मैदान में रणचण्डी के समक्ष ढकेल देते थे। महाभारत में अर्जुन को श्रीकृष्ण से निरंतर प्रेरणा मिलती रही कि यह जीवन तेरे कर्तव्योचित युद्ध के लिए है, इससे मुँह मोड़कर अपनी क्लीवता प्रकट मत कर। इसी प्रकार इस जीवन-संग्राम में प्रत्येक साधक अर्जुन है, और प्रत्येक गुरु श्रीकृष्ण ! गुरु साधक को विकारों से लड़ने के लिए निरंतर प्रेरित करते हैं—जब-जब काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रमाद, मोह का आवरण आत्मा पर पड़ता है, तब-तब गुरु उसे सावधान करते रहते हैं। चेतना की उस दिव्य दीप्त चिनगारी पर जब-जब विकारों की राख जमने लगती है, तो व्रत, उपवास, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा उसे हटाने का प्रयत्न होता है। ये सब विकारों के लोह-आवरणों को तोड़कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराने के लिए ही साधना के क्रम हैं।

आत्म-दर्शन :

आत्म-स्वरूप का सम्यक्-ज्ञान होने के बाद विभाव के बंधन टूटने में कोई समय नहीं लगता। जिस प्रकार काली घटाओं से आच्छादित अमावस की कालरात्रि का सघन अंधकार दीपक के जलते ही दूर भाग जाता है। पर्वतों की कन्दराओं में हजारों वर्षों से रहने वाले उस गहन अंधकार को प्रकाश की एक किरण एक क्षण में ही समाप्त कर डालती है, और उसी क्षण सब ओर आलोक की पुनीत रश्मियाँ जगमगा उठती हैं। जैन-दर्शन के अनुसार, उत्पत्ति और व्यय का क्षण बिल्कुल संयुक्त रहता है। सृष्टि और संहार का काल एक ही होता है। यह नहीं होता कि प्रकाश पहले हो, तदनन्तर कुछ समय के बाद अन्धकार नष्ट हो या अन्धकार पहले नष्ट हो, तदनन्तर प्रकाश जगमगाए। प्रकाश का प्रादुर्भाव और अन्धकार का नाश एक क्षण में ही दोनों होते हैं। ठीक वैसे ही आत्मा पर चिपके हुए बाह्य आवरणों के टूटने का और आत्म-स्वभाव के प्रकट होने का कोई अलग-अलग समय नहीं है। आत्म-स्वभाव के जागते ही विभाव समाप्त हो जाता है। घर में प्रकाश फैलते ही तत्काल अंधकार दूर हो जाता है, समस्त वस्तुएँ अपने आप प्रतिभासित हो जाती हैं।

सवाल यह है कि हमने धर्म को जानने का एक अभिनय मात्र ही किया है या वास्तव में जाना भी है ? जिस व्यक्ति ने अपने को पहचान लिया, उसने निज-स्वरूप धर्म को भी पहचान लिया। वह भटकता नहीं। जिसे आत्मा की अनन्तानन्त शक्तियों का पता नहीं, वह वासनाओं और विकारों के द्वार पर ही भटकता रहता है। यदि आप एक चक्रवर्ती के पुत्र को गली-कूचे में भीख माँगते देखेंगे, तो सम्भव है, पहले क्षण आप अपनी आँखों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भरोसा न करें, किन्तु सही तथ्य के अवगत होने पर तो अवश्य ही सोचेंगे कि इसमें कहीं कोई गड़बड़ है क्या ? दाल में काला है क्या ? या तो यह चक्रवर्ती का पुत्र नहीं है, या अपनी स्थिति को भूल कर पागल एवं विक्षिप्त हो गया है ! इसी प्रकार राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों की संतान तथा महान् आत्माओं के उत्तराधिकारी हम यदि वासनाओं, इच्छाओं और कामनाओं के द्वार पर भीख माँगते फिरते हैं, विषयों के गुलाम हुए बैठे हैं, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कहीं हम उन महापुरुषों के नकली उत्तराधिकारी तो नहीं हैं ? आज हमें भान नहीं रहा है कि हम कौन हैं ? और, हमारी मर्यादाएँ क्या है ? यदि हम सच्चे अर्थ में उन महान् आत्माओं के उत्तराधिकारी हैं, तो हममें करुणा क्यों नहीं जगती है ? सत्य का प्रकाश क्यों नहीं होता है ? विकारों को ध्वस्त करने के लिए वीरत्व क्यों नहीं उछालें मारता है ? आत्म-स्वरूप को भुलाकर हम दीन-हीन बने हुए क्यों दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं ? हमारे उत्तराधिकार के दावे पर वास्तव में यह एक प्रश्न-चिन्ह है ?

आत्म-शक्ति की बात पर हमें यह भी नहीं भूलना है कि सिर्फ पाँच-छह फुट के शरीर की शक्ति ही आत्म-शक्ति नहीं हैं। उसकी छोटी-सी परिधि ही आत्मा की परिधि नहीं है। शरीर, इन्द्रिय और मन की शक्ति या चेतना तो मात्र औपचारिक है, वास्तविक शक्ति का स्रोत तो हमारी आत्मा ही है। कुछ लोग अवधिज्ञान के विषय में पूछते रहते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए बहुत लालायित रहते हैं, किन्तु मैं पूछता हूँ कि अवधिज्ञान प्राप्त करने से क्या होगा ? अवधिज्ञान के द्वारा यदि स्वर्ग, नरक आदि का ज्ञान हो गया, मेरु पर्वत की स्थिति का पता चल गया, संसार की हरकतों और हलचलों का लेखा-जोखा करने की भी यदि शक्ति मिल गई, तो क्या हुआ ? आत्म-दर्शन के बिना उस अवधिज्ञान का क्या महत्त्व है ? इसी प्रकार मनःपर्यव ज्ञान की प्राप्ति से यदि अपने एवं जगत् के अन्य प्राणियों के मन की उछल-कूद का ज्ञान हो गया, भूत-भविष्य की जानकारी हो गई, मन-रूपी बंदर के खेल देखने और जानने की शक्ति मिल गई, तो इससे लाभ क्या हुआ ? यही कारण है कि केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए और उसकी भूमिका में आने के लिए बीच में अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त करने की कोई शर्त नहीं रखी गई है। महत्त्व तो श्रुतज्ञान का है कि जिसके सहारे आत्मा के वास्तविक स्वरूप की झाँकी मिले, भले ही वह परोक्ष रूप में हो, किन्तु उसी के सहारे विकास-पथ पर अग्रसर होती हुई आत्मा एक दिन केवलज्ञान के द्वारा अमूर्त अनन्त आत्म-तत्त्व का साक्षात् बोध कर सकती है।

मुक्ति का मर्म :

आप लोग जानते हैं कि हम जो इतने क्रियाकांड करते हैं, उपवास, संवर, सामायिक आदि करते हैं, खाने-पीने, भोग-विलास आदि इन्द्रियजन्य सुख की वस्तुओं का त्याग करते हैं, वह सब किसके लिए है ? शरीर के साथ हमारी कोई लड़ाई नहीं है कि हम उसे बेदर्दी के साथ सुखा डालें, उसको यों ही सड़ने-गलने दें। जैन-दर्शन की विशिष्टता यही तो है कि उसकी लड़ाई न तो संसार के पदार्थों के साथ है, और न शरीर के साथ। उसकी लड़ाई तो है—आसक्तियों के साथ, राग-द्वेष के साथ। व्रत-उपवास आदि साधन इसीलिए तो हैं कि उनके द्वारा राग-द्वेष को कम किया जाए, आसक्ति को मिटाया जाए। यदि त्याग करने पर भी आसक्ति नहीं हटी, तो वह एक प्रकार का मायाचार होगा। गीता के शब्दों में 'मिथ्याचार' होगा। जिस चोर को निकालने के लिए हमने लड़ाई की, यदि वह घर के भीतर और गहरा जा छुपा, तो यह और भी भयंकर स्थिति होगी। इसीलिए जैन-दर्शन वस्तुओं से हटने का उतना उपदेश नहीं करता, जितना कि आसक्ति से दूर हटने का उपदेश करता है। राग-द्वेष, मोह और आसक्ति के बंधन जितने परिमाण में टूटते हैं, उतने ही परिमाण में हम आत्मा के निकट आते हैं और मुक्ति के निकट आते हैं। लोग कहते हैं, भगवान् महावीर की मुक्ति दिवाली के दिन हुई। जैन-दर्शन की दृष्टि में यह कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णतः सही नहीं है। उनकी मुक्ति तो उसके बहुत पहले वैशाख शुक्ला दशमी को ही हो चुकी थी। अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार सिद्ध का एक अर्थ केवलज्ञानी भी है। भगवान् महावीर सिद्ध थे, जीवन-मुक्त थे, शरीर में रह कर भी शरीर के घेरे से परे थे, इसीलिए वे इन्द्रियों के रहते हुए भी तो इन्द्रियों से परे थे। चूंकि वे मनो जन्य राग-द्वेष से मुक्त थे। एक आचार्य ने कहा है—**'कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव'**

कषाय से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। इसी दृष्टि से अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है—सिद्ध भगवान् ने ऐसा कहा है। देह से मुक्त होने पर ही यदि सिद्ध होता है, पहले नहीं, तो प्रश्न है—वे कहते कैसे हैं? कहना तो शरीरधारी का ही होता है। अतः स्पष्ट है कि मोह और क्षोभ से रहित वीतराग आत्मा शरीर के रहते हुए भी सिद्ध हो जाती है। मुख्य प्रश्न देहत्याग का नहीं, कषायत्याग का है। वास्तविक मुक्ति भी देहमुक्ति नहीं है, कषायमुक्ति है। जो आत्मा कषाय से मुक्त है, राग-द्वेष से रहित है, वही सच्चे अर्थ में मुक्त है।

इसलिए जब हम मुक्ति की खोज में निकलते हैं, तो हमें अपनी खोज करनी पड़ती है। मुक्ति कहीं बाहर नहीं है, अपने में ही है। और, उस अपनी खोज का, अर्थात् आत्मा की खोज का जो मार्ग है, वही धर्म है। हमें उसी धर्म की आराधना करनी है, साधना करनी है, जो आत्मा का ज्ञान कराए, स्वरूप की उपलब्धि कराए।

स्पष्ट है कि धर्म का तत्त्व आत्मानुसंधान है, आत्मावलोकन है। आत्मावलोकन अर्थात् जिसने अपने अन्तर् का अवलोकन कर लिया, अपने अन्तर्देव का दर्शन कर लिया, जिसने अपनी आत्मा की आवाज—सच्ची, विश्व कल्याणी आवाज का श्रवण कर लिया, उसने धर्म का सार पा लिया। आत्मस्वरूप को समझ लेने पर व्यक्ति के अन्दर विश्व-भाव की उदात्त भावना जागृत हो जाती है, उसकी आवाज विश्वजनीन आवाज होती है। उसका चिन्तन विश्वार्थ चिन्तन होता है। उसका कार्य-विश्वहितंकर कार्य होता है। अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि धर्म का वास्तविक रूप अपने-आप को पहचानना है, अपने अन्तर् का सम्यक्-अवलोकन करना है, जिसके अन्दर प्रेम, मैत्री, करुणा एवं दया का अक्षय निर्झर झरा करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग-द्वेष के कण्टक वन को,
शुद्ध बोध से पूर्ण जलाए।
कभी नहीं मुरझाने वाला,
मुक्ति-भाव का पुष्प खिलाए।।

*

विषम-भाव की आग लगी है,
कैसे यह बुझ पाएगी?
वीतरागता की परिणति ही,
समताऽमृत बरसायेगी।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४

धर्म का अन्तर्हृदय

मानव जीवन एक ऐसा जीवन है, जिसका कोई भौतिक मूल्य नहीं आँका जा सकता। बाहर में उसका जो एक रूप दिखाई देता है, उसके अनुसार वह हड्डी, माँस और मज्जा आदि का एक ढाँचा है, गोरी या काली चमड़ी से ढँका हुआ है, कुछ विशिष्ट प्रकार का रंग-रूप है, आकार-प्रकार है। किन्तु यही सब मनुष्य नहीं है। आँखों से जो दिखाई दे रहा है, वह तो केवल मिट्टी का एक खिलौना है, एक ढाँचा है, आखिर कोई न कोई रूप तो इस भौतिक शरीर का होता ही। भौतिक तत्त्व मिलकर मनुष्य के रूप में दृश्य हो गए। आँखें क्या देखती हैं? वे मानव के शरीर से सम्बन्धित भौतिक रूप को ही देख पाती हैं। अन्तर् की गहराई में अदृश्य को देखने की क्षमता आँखों में नहीं है। ये चर्म-चक्षु मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और परिचय नहीं करा सकतीं।

शास्त्र में ज्ञान दो प्रकार के बताए गए हैं, एक ऐन्द्रिय और दूसरा अतीन्द्रिय। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है। जो भौतिक है, उसे भौतिक इन्द्रियाँ देख सकती हैं। पर, इस भौतिक देह के भीतर, जो चैतन्य का विराट् रूप छिपा है, जो एक अखण्ड लौ जल रही है, जो परम देवता कण-कण में समाया हुआ है, उस अतीन्द्रिय को देखने की शक्ति आँखों में कहाँ है? मनुष्य का जो सही रूप है, वह इतना ही नहीं है कि वह शरीर से सुन्दर है और सुगठित है! एक आकृति है, जो सजी-सँवरी है। यदि यही कुछ मनुष्य होता, तो रावण, दुर्योधन और जरासंध भी मनुष्य थे। उनका शरीर भी बड़ा बलिष्ठ था, सुन्दर था। पर, संसार ने उन्हें बड़े लोगों में गिनकर भी सत्पुरुष नहीं माना, श्रेष्ठ मनुष्य नहीं कहा। पुराणों में रावण को राक्षस बताया गया है। दुर्योधन और जरासंध को भी उन्होंने मानव के रूप में नहीं गिना। ऐसा क्यों? इसका कारण है, उनमें आत्मिक सौन्दर्य का अभाव! देह कितनी ही सुन्दर हो, पर, जब तक उसके अन्दर सोयी हुई आत्मा नहीं जागती है, आत्मा का दिव्य रूप नहीं चमकता है, तब तक वह देह सिर्फ मिट्टी का घरौंदा भर है, वह सूना मन्दिर मात्र है, जिसमें अब तक देवता की योग्य प्रतिष्ठा नहीं हुई है।

इस देह के भीतर आत्मा अँगड़ाई भर रही है या नहीं? जागृति की लहर उठ रही है या नहीं? यही हमारी इन्सानियत का पैमाना है। हमारे दर्शन की भाषा में देवता वे ही नहीं हैं, जो स्वर्ग में रहते हैं, बल्कि इस धरती पर भी देवता विचरण किया करते हैं, मनुष्य के रूप में भी देव हमारे सामने घूमते रहते हैं। राक्षस और दैत्य वे ही नहीं हैं, जो जंगलों, पहाड़ों में रहते हैं और रात्रि के गहन अन्धकार में इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं, बल्कि मनुष्य की सुन्दर देह में भी बहुत से राक्षस और पिशाच छुपे बैठे हैं। नगरों और शहरों की सभ्यता एवं चकाचौंध में रहने वाला ही इन्सान नहीं है, हमारी इन्सानियत की परिभाषा कुछ और है। तत्त्व की भाषा में, इन्सान वह है, जो अन्दर की आत्मा को देखता है और उसकी पूजा करता है, उसकी आवाज सुनता है और उसकी बताई राह पर चलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जन' और 'जिन' :

जिस हृदय में करुणा है, प्रेम है, परमार्थ के संकल्प हैं और परोपकार की भावनाएँ हैं, वही इन्सान का हृदय है। आप अपने स्वार्थों की सड़क पर सरपट दौड़े चले जा रहे हैं, पर चलते-चलते कहीं परमार्थ का चौराहा आ जाए, तो वहाँ रुक सकते हैं या नहीं ? अपने भोग-विलास की काली घटाओं में घिरे बैठे हैं, पर क्या कभी इन काले बादलों के बीच परोपकार और त्याग की बिजली भी चमक पाती है या नहीं ? यदि आपकी इन्सानियत मरी नहीं है, तो वह ज्योति अवश्य ही जलती होगी !

आपको मालूम है कि हमारा ईश्वर कहाँ रहता है ? वह कहीं आकाश के किसी वैकुण्ठ में नहीं बैठा है, बल्कि वह आपके मन के सिंहासन पर बैठा है, हृदय मन्दिर में विराजमान है वह। जब बाहर की आँख मूंदकर अन्तर् में देखेंगे, तो उसकी ज्योति जग-मगाती हुई पाएँगे, ईश्वर को विराजमान हुआ देखेंगे।

ईश्वर और मनुष्य अलग-अलग नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा सर्वथा भिन्न दो तत्त्व नहीं हैं। नर और नारायण दो भिन्न शक्तियाँ नहीं हैं। जन और जिन में कोई अन्तर नहीं है, कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। आध्यात्मिक दर्शन की भाषा में कहा जाए, तो सोया हुआ ईश्वर जीव है, संसारी प्राणी है, और जागृत जीव ईश्वर है, परमात्मा है। मोह-माया की निद्रा में मनुष्य जब तक अन्धा हो रहा है, वह जन है, और जब जन की अनादि काल से समागत मोह-तन्द्रा टूट गई, जन प्रबुद्ध हो उठा, तो वही जिन बन गया। जीव और जिन में, और क्या अन्तर है ? जो कर्म-लिप्त दशा में अशुद्ध जीव है, कर्म-मुक्त दशा में वही शुद्ध जीव जिन है।

"कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्तस्तथा जिनः"

बाहर में बिन्दु की सीमाएँ हैं, एक छोटा-सा दायरा है। पर, अन्तर् में वही विराट् सिन्धु है, उसमें अनन्त सागर हिलोरें मार रहा है, उसकी कोई सीमा नहीं, कोई किनारा नहीं। एक आचार्य ने कहा है—

"विक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्त-चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय, नमः शान्ताय तेजसे !"

जब तक हमारी दृष्टि देश-काल की क्षुद्र सीमाओं में बँधी हुई है, तब तक वह अनन्त सत्य के दर्शन नहीं कर पाती और जब वह देश-काल की सीमाओं को तोड़ देती है, तो उसे अन्दर में अनन्त, अखण्ड, देशातीत एवं कालातीत चैतन्य ज्योति के दर्शन होते हैं। एक दिव्य, शान्त, तेज का विराट् पुंज परिलक्षित हो जाता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रकाशमान हो जाती हैं। हर साधक उसी शान्त तैजस रूप को देखना चाहता है, प्रकट करना चाहता है। साधक के लिए वही नमस्करणीय उपास्य है।

चैतन्य कैसे जगे ?

हमें इस बात पर भी विचार करना है कि जिस विराट् चेतना को हम जगाने की बात कहते हैं, उस जागरण की प्रक्रिया क्या है ? उस साधना का विशुद्ध मार्ग क्या है ? हमारे जो ये क्रियाकाण्ड चल रहे हैं, बाह्य तपस्याएँ चल रही हैं, क्या उससे ही वह अन्तर् का चैतन्य जाग उठेगा ? केवल बाह्य साधना को पकड़ कर चलने से तो सिर्फ बाहर और बाहर ही घूमते रहना होता है, अन्दर में पहुँचने का मार्ग एक दूसरा है और उसे अवश्य टटोलना चाहिए। आन्तरिक साधना के मार्ग से ही अन्तर् के चैतन्य को जगाया जा सकता है। उसके लिए आन्तरिक तप और साधना की जरूरत है। हृदय में कभी राग की मोहक लहरें उठती हैं, तो कभी द्वेष की ज्वाला दहक उठती है। वासना और विकार के आँधी-तूफान भी आते हैं। इन सब द्वन्द्वों को शान्त करना ही अन्तर् की साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आँधी और तूफान से अन्तर् का महासागर क्षुब्ध न हो, समभाव की जो लौ जल रही है, वह बुझने नहीं पाए, बस यही चैतन्य देव को जगाने की साधना है। यही हमारा समत्व योग है। समता आत्मा की मूल स्थिति है, वास्तविक रूप है। जब यह वास्तविक रूप जग जाता है, तो जन में जिनत्व प्रकट हो जाता है। नर से नारायण बनते फिर क्या देर लगती है? इसलिए अन्तर् की साधना का मतलब हुआ समता की साधना। राग-द्वेष की विजय का अभियान!

क्या कर्म ने बाँध रखा है?

साधकों के मुंह से बहुधा एक बात सुनने में आती है कि हम क्या करें? कर्मों ने इतना जकड़ रखा है कि उनसे छुटकारा नहीं हो पा रहा है! इसका अर्थ है कि कर्मों ने बेचारे साधक को बाँध रखा है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कर्म कोई रस्सी है, साँकल है, जिसने आपको बाँध लिया है? यह प्रश्न गहराई से विचार करने का है कि कर्मों ने आपको बाँध रखा है या आपने कर्मों को बाँध रखा है? यदि कर्मों ने आपको बाँध रखा है, तो फिर आपकी दासता का निर्णय कर्मों के हाथ में होगा और तब मुक्ति की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए। ऐसी स्थिति में जप, तप और आत्मशुद्धि की अन्य क्रियाएँ सब निरर्थक हैं। जब सत्ता कर्मों के हाथ में सौंप दी है, तो उनके ही भरोसे रहना चाहिए। कोई प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? वे जब तक चाहेंगे, आपको बाँधे रखेंगे और जब मुक्त करना चाहेंगे, आपको मुक्त कर देंगे। आप उनके गुलाम हैं। आप का स्वतन्त्र कर्तृत्व कुछ अर्थ नहीं रखता। किन्तु, जब यह माना जाता है कि आपने कर्मों को बाँध रखा है, तो बात कुछ और तरह से विचारने की हो जाती है। इस से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कर्म की ताकत से आपकी ताकत ज्यादा है। बँधने वाला गुलाम होता है, बाँधने वाला मालिक। गुलाम से मालिक बड़ा होता है। तो, जब हमने कर्म को बाँधा है, तो फिर उन्हें छोड़ने की शक्ति किसके पास है? जिसने बाँधा है, उसी के पास ही है न? स्पष्ट है, कर्मों को छोड़ने की शक्ति आत्मा के पास ही है, चैतन्य के पास ही है, मतलब यह कि आपके अपने हाथ में ही है। हमारा अज्ञान इस शक्ति को समझने नहीं देता है, अपने आपको पहचानने ही नहीं देता है, यही तो हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है।

अध्यात्म-दर्शन ने हमें स्पष्ट बतला दिया है कि जो भी कर्म हैं, वे सब तुमने बाँधे है, फलतः तुम्हीं उन्हें छोड़ भी सकते हो—**'बंधपमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव'**—बधन और मुक्ति हर व्यक्ति के अपने अन्तर् में ही है।

बन्धन-क्या है?

कर्म के प्रसंग में हमें एक बात और विचार लेनी चाहिए कि कर्म क्या है और जो बन्धन होता है, वह क्यों होता है?

अन्य पुद्गलों की तरह कर्म भी अचेतन जड़-पुद्गल है, परमाणुपिण्ड हैं। कुछ पुद्गल अष्टस्पर्शी होते हैं, कुछ चतुःस्पर्शी। कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। आत्मा के साथ चिपकने या बँधने की स्वतन्त्र शक्ति उनमें नहीं है, न वे किसी दूसरे को बाँध सकते हैं और न स्वयं ही किसी के साथ बँध सकते हैं।

हमारी मन, वचन आदि की क्रियाएँ प्रतिक्षण चलती रहती हैं। खाना-पीना, हिलना-डोलना, बोलना आदि कुछ क्रियाएँ तो महापुरुषों के जीवन में भी चलती रही हैं। जीवन में क्रियाएँ कभी बन्द नहीं होतीं। यदि हर क्रिया के साथ कर्म बन्ध होता हो, तब तो मानव की मुक्ति का कभी प्रश्न ही नहीं उठेगा। चूंकि जब तक जीवन है, संसार है, तब तक क्रिया बन्द नहीं होती, पूर्ण अक्रियदशा (अकर्म स्थिति) आती नहीं। और जब तक क्रिया बन्द नहीं होती, तब तक कर्म बँधते रहेंगे, तब तो फिर यह कर्म एक ऐसा सरोवर हुआ, जिसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पानी कभी सूख ही नहीं सकता, कभी निकाला ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में मोक्ष क्या होगा? और कैसे होगा?

सिद्धान्त यह है कि क्रिया करते हुए कर्मबंध होता भी है, और नहीं भी। जब क्रिया के साथ राग-द्वेष का सम्मिश्रण होता है, प्रवृत्ति में आसक्ति की चिकनाई होती है, तब जो पुद्गल आत्मा के ऊपर चिपकते हैं, वे कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस-जिस शुभ या अशुभ विचार और अध्यवसाय के साथ वे कर्म-ग्रहण होते हैं, उसी रूप में वे परिणत होते चले जाते हैं। विचारों के अनुसार उनकी अलग-अलग रूप में परिणति होती है। कोई ज्ञानावरण रूप में, तो कोई दर्शनावरण आदि के रूप में। किन्तु जब आत्मा में राग-द्वेष की भावना नहीं होती, प्रवृत्ति होती है, पर, आसक्ति नहीं होती, तब कर्म-क्रिया करते हुए भी कर्म-बँध नहीं होता।

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि इस जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाएँ कि कर्म करते हुए, खाते-पीते, सोते-बैठते हुए भी कर्म बन्ध न हो, तो उन्होंने कहा—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ।"

—दववैकालिक, ४, ८.

तुम सावधानी से चलो, खड़े रहो तब भी सावधान रहो, सोते-बैठते भी प्रमाद न करो। भोजन करते और बोलते हुए भी उपयोग रखो कि कहीं मन में राग और आक्रोश की लहर न उठ जाए। यदि जीवन में इतनी जागृति है, सावधानी है, अनासक्ति है, तो फिर कहीं भी विचरण करो, कोई भी क्रिया करते रहो, पापकर्म का बँध नहीं होगा।

इसका मतलब यह हुआ कि कर्म-बंध का मूल कारण प्रवृत्ति नहीं, बल्कि राग-द्वेष की वृत्ति है। राग-द्वेष का गीलापन जब विचारों में होता है, तब कर्म की मिट्टी का गोला आत्मा की दीवार पर चिपक जाता है। यदि विचारों में सूखापन है, निस्पृह और अनासक्त भाव है, तो सूखे गोले की तरह कर्म की मिट्टी आत्मा पर चिपकेगी ही नहीं।

वीतरागता ही जिनत्व है :

एक बार हम विहार काल में एक आश्रम में ठहरे हुए थे। एक गृहस्थ आया और गीता पढ़ने लगा। आश्रम तो था ही। इतने में एक संन्यासी आया, और बोला—"पढ़ी गीता, तो घर काहे को कीता?"

मैंने पूछा—"गीता और घर में परस्पर कुछ वैर है क्या? यदि वास्तव में वैर है, तब तो गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण का भी घर से वैर होना चाहिए और तब तो गृहस्थ को तो छोड़िए, आप साधुओं को भी गीता के उपदेश से मुक्ति नहीं होगी।"

साधु बोला—हमने तो घर छोड़ दिया है।

मैंने कहा—घर क्या छोड़ा है, एक साधारण घोंसला छोड़ा, तो दूसरे कई अच्छे विशाल घोंसले बसा लिए हैं। कहीं मन्दिर, कहीं मठ और कहीं आश्रम खड़े हो गए। फिर घर कहाँ छूटा है?

सन्यासी ने कहा—हमने इन सब का मोह छोड़ रखा है।

मैंने कहा—हाँ, यह बात कहिए। असली बात मोह छोड़ने की है। घर में रहकर भी यदि कोई मोह छोड़ सकता है, तो बेड़ा पार है। घर बन्धन नहीं है, घर का मोह बन्धन है। कभी-कभी घर छोड़ने पर भी घर का मोह नहीं छूटता है और कभी घर नहीं छोड़ने पर भी, घर में रहते हुए भी, घर का मोह छूट जाता है।

बात यह है कि जब मोह और आसक्ति छूट जाती है, तो फिर कर्म में ममत्व नहीं रहता। अहंकार नहीं रहता। उसके प्रतिफल की वासना नहीं रहती। जो भी कर्म, कर्तव्य करना है, वह सिर्फ निष्काम और निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। उसमें त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और समर्पण का उच्च आदर्श रहना चाहिए। सच्चा निर्मल, निष्काम कर्मयोगी जल में कमल की तरह संसार से निर्लिप्त रहता है। वह अपने मुक्त जीवन का सुख और आनन्द स्वयं भी उठाता है और संसार को भी बाँटता जाता है। मनुष्यता का यह जो दिव्य रूप है, वही वास्तव में नर से नारायण का रूप है। इसी भूमिका पर जन में जिनत्व का दिव्य भाव प्रकट होता है। इन्सान के सच्चे रूप का दर्शन इसी भूमिका पर होता है। इस माँस-पिण्ड के भीतर जो सुप्त ईश्वर और परमात्म तत्त्व है, वह यहीं आकर जागृत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्-हृदय धर्म का क्या है ?
वह है विश्वात्मा होना।
तेरे-मेरे के द्वन्द्वों का,
अन्तर् से अपगत होना।।

*

जहाँ राग है, जहाँ द्वेष है,
वहाँ धर्म कैसे होगा ?
अंधकार की अमा निशा में
भास्कर रवि कैसे होगा।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५

साधना के दो आदर्श

भारतीय दर्शन-शास्त्र में एक बहुत ही उलझा हुआ प्रश्न है कि आत्म-साधना के लिए कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है—साधु जीवन या गृहस्थ जीवन ? अनेक ऋषियों, मनीषियों एवं विचारकों ने अपना-अपना चिंतन इस विषय पर दिया है। जिस मार्ग से जिन्होंने साधना की, अपने स्वरूप का बोध प्राप्त किया, उन्होंने उसी मार्ग को श्रेष्ठ बतला दिया। किसी ने मुनि जीवन को श्रेष्ठ बतलाया, तो किसी ने गृहस्थ जीवन को। वैष्णव सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य ने गृहस्थ जीवन की प्रशंसा में मुक्त-कण्ठ से कहा है—

"गृहस्थाश्रम समो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।"

इस विचार को बहुत से व्यक्तियों ने माना भी है, और इस पर चले भी हैं। आज गृहस्थ जीवन की साधना का बड़े घटाटोप से मण्डन किया जाता है।

दूसरी ओर, भारतीय चिंतन की एक प्रमुख धारा है कि—गृहस्थ जीवन का प्राणी बहुत पामर प्राणी है। वह रात-दिन वासनाओं की गन्दगी में पड़ा रहता है, संघर्षों और स्वार्थों के अँधेरे में इधर-उधर भटकता रहता है। पत्नी और बच्चों की उलझन में ही जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण गँवाता रहता है। सन्त कबीर ने इसी सन्दर्भ में कहा है—

"यह संसार काँटों की झाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।"

यह गृहस्थ जीवन केवल काँटों से भरा हुआ ही नहीं है, अपितु काँटों की एक सघन झाड़ी ही है, जिसमें एक बार कोई प्राणी उलझ गया, तो बस फिर त्राण नहीं है। बलगम (खँखार) में फँसी मक्खी की तरह तड़प-तड़प कर ही प्राण गवाँ बैठता है। इसके दूसरे पार्श्व पर साधु जीवन का भी बड़ा ही रंगीन चित्र उपस्थित है—

"मन लागो मेरो यार फकीरी में,
जो सुख पायो राम भजन में,
सो सुख नहीं अमीरी में।"

इस वर्ग के विचारकों ने साधु-जीवन को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। कुछ विचारकों ने तो इसे जीते-जी मृत्यु तक की संज्ञा दे दी है। हाँ, वास्तव में जीते-जी मरना भी एक बहुत बड़ी कला है, वह तो जीवन-मुक्ति की कला है। वहाँ त्याग, वैराग्य की भट्टी में निरंतर जलते रहना पड़ता है।

मध्य-मार्ग :

भगवान् महावीर के सामने भी यह प्रश्न उठा था। संसार के हर महापुरुष के समक्ष यह प्रश्न आया है। हर साधारण व्यक्ति के समक्ष भी यह प्रश्न आता है। चूंकि संसार का हर प्राणी राहगिर है, पथिक है, अतः उसके समक्ष पहला प्रश्न राह का आता है। वह कौन-सी राह पर चले, जिससे जीवन में आनन्द का, उल्लास का वातावरण मिले। भगवान् महावीर ने इसका बहुत ही सुन्दर समाधान दिया है। उन्होंने दोनों 'अति' से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बचकर बीच का मार्ग दिखाया है। जीवन के दोनों किनारों से बचकर उनकी विचार-गंगा जीवन के बीचों-बीच प्रवाहित हुई है। समन्वयवाद या अनेकान्तवाद की सुन्दर नौका जब चिन्तन के सागर में बहने को हो, तब डूबने का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। उनकी अनेकान्त-प्रधान वाणी से सत्य की उपलब्धि होती है। भगवान् की उसी वाणी को गणधरों ने इस रूप में प्रकट किया है—

"सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥"—उत्तरा, ५, २०.

कुछ साधु और भिक्षु ऐसे हैं कि साधना के मार्ग पर लड़खड़ाते चल रहे हैं, उन्हें दृष्टि नहीं मिली, किन्तु फिर भी चले जा रहे हैं। जीवन के अन्तर्-लक्ष्यों को नहीं पाकर ओघ-संज्ञा से ही चले जा रहे हैं—एक के पीछे एक! दृष्टि तो किसी एक को मिली, जिसे मार्ग का ज्ञान प्राप्त हुआ। वह चला उस मार्ग पर। बाकी साधक तो उस महान् साधक के पीछे चलते रहे, केवल उसकी वाणी के सहारे। और, कालान्तर में आगे आने वाले, उसकी वाणी को भी भूलते चले गए। उनकी दशा गाँव के उस कुत्ते के समान है कि—गाँव में चोर आया। जिस घर पर वह गया, उस घर का कुत्ता चोर को देखते ही भौंकने लग गया। अब क्या था, आसपास में दूसरे घरों के कुत्ते भी उस घर के कुत्ते की भौंकने की आवाज सुनकर भौंकने लग गए। इन भौंकनेवाले कुत्तों में से चोर को तो देखा उस पहले कुत्ते ने, परन्तु भौंकना अन्य सारे कुत्तों ने शुरू कर दिया। इस प्रकार चोर को देखने-वाला द्रष्टा कुत्ता तो एक ही है, अन्य सब भौंकना सुनकर केवल भौंकनेवाले हैं, द्रष्टा नहीं हैं। यदि दूसरे कुत्तों से भौंकने का कारण पूछा जाए तो यही कहेंगे कि मालूम नहीं, क्या बात है? उधर से भौंकने की आवाज आई, इसलिए हम भौंक रहे हैं। परन्तु, उनसे पूछा जाए कि क्या तुमने चोर को देखा है, वह चोर कैसा है, तो वे क्या बता सकेंगे? चूंकि वे तो सिर्फ उस द्रष्टा कुत्ते की आवाज पर ही भौंके जा रहे हैं। बात यह जरूर कड़वी है, जो संभवतः कुछ साथियों के मन को चोट कर सकती है, किन्तु सत्य यही है कि हजारों साधकों के झुंड में कोई एक ही ऐसा गुरु था, जो द्रष्टा था और जिसे आत्मा-परमात्मा के उस दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार हुआ था। सत्य की भूमिका को छूनेवाला वह एक ही था, और वह भी संसार का एक ही जीव था, किन्तु प्रबुद्ध जागृत जीव था। संसार के बाकी गुरु-चेले तो बस देखा-देखी भौंकनेवाले हैं। सत्य का साक्षात्कार और चीज है, और सत्य के साक्षात्कार का दंभ और चीज। देखा-देखी का योग, योग नहीं, रोग है। और वह रोग साधक को गला देता है। कहा भी है—

'देखादेखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग।'

साधना का मानदण्ड :

संसार में एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर आए। उन्होंने देखा कि चारों ओर ये भौंकनेवाले ही शोर मचा रहे हैं—कुछ गृहस्थ के वेष में, तो कुछ साधु के वेष में। उन्होंने पूछा—"क्यों भाई, तुम किसलिए भौंक रहे हो? क्या तुम्हें कुछ दिखाई पड़ा? वासना, लोभ, क्रोध, राग-द्वेष का चोर तुमने कहीं देखा है?" तो वे सब चुप हो गये। जो अपनी आँख बन्द कर सिर्फ एक-दूसरे के अनुकरण पर चल रहे थे, उन्हें टोका—"ऐ भौंकनेवालो! पहले देखो कि तुम किसके लिए भौंक रहे हो। उस चोर की सत्ता कहाँ है? किस रूप में है वह?"

बात यह है कि जो साधना के मार्ग पर दौड़ते तो जा रहे हैं, किन्तु जिन्हें अपनी मंजिल के बारे में कोई ज्ञान नहीं है, उन्हीं साधुओं के लिए भगवान् महावीर के दर्शन में कहा गया है कि वे जन्म-जन्मान्तर में साधु का बाना कितनी ही बार ले चुके हैं। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन सब बातों को एकत्र किया जाए, तो मेरु पर्वत के समान एक गगनचुम्बी ऊँचा ढेर हो सकता है, परन्तु आत्मा के अन्तरतम में एक इंच भी परिवर्तन नहीं आया। इस प्रकार के अंध साधु जीवन से तो गृहस्थ ही अच्छा है, जो सेवा, अहिंसा और करुणा के मार्ग पर चल रहा है। गृहस्थ जीवन में अनेक संघर्ष आते हैं। उस पर परिवार, समाज आदि के रूप में विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वों का बोझ रहता है। परन्तु, यदि उसमें भी ईमानदारी है, सेवा है, त्याग है और दृष्टि में निर्लिप्तता है, तो वह वेषधारी साधु से अच्छा है, बहुत अच्छा है। भगवान् महावीर ने साधना का मानदण्ड वेष को कभी नहीं माना है, भावना को माना है। अगर मानव सच्चे अर्थ में साधु बना, सही दृष्टि मिली, जीवन में त्याग और वैराग्य उतरा, लक्ष्य की झाँकी मिली, तो उन गृहस्थों से वह बहुत ऊँचा है, बहुत महान् है, जो कि काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के सघन अंधकार में जीवन गुजार रहे हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि चाहे साधु हो या गृहस्थ, यदि प्रामाणिकता और ईमानदारी से अपने लक्ष्य की ओर चल रहा है, तो ठीक है, अन्यथा दोनों की ही स्थिति कोई महत्त्व की नहीं है। हम कह चुके हैं कि साधना का मूल्यांकन साधु या गृहस्थ के नाम से नहीं होता, वेष से नहीं होता, आत्मा से होता है। चाहे छोटा हो या बड़ा, जिसमें ईमानदारी है, प्रामाणिकता है, वही श्रेष्ठ है, वही ऊँचा है।

दो समानान्तर रेखाएँ :

साधु और गृहस्थ को भगवान् के पुत्र के रूप में मान कर उन्हें परस्पर बड़ा और छोटा भाई बताया है। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बड़ा भाई बनना अच्छा होता है या छोटा भाई? दोनों में कौन बड़ा है, कौन छोटा? कौन अच्छा है, कौन बुरा? महाभारत में पाण्डवों का उदाहरण है—युधिष्ठिर बड़े थे और दुर्योधन छोटा। एक ओर बलदेव बड़े थे और दूसरी ओर श्रीकृष्ण छोटे। यदि बड़ा बनना हो तो युधिष्ठिर का आदर्श अपनाओ और यदि छोटा बनना हो तो श्रीकृष्ण का। कृष्ण ने छोटे होकर भी जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, वे उन्हें महान् बना देते हैं। बड़ा भाई बनना चाहें, तो राम का उदाहरण भी सम्मुख है। बड़ा बनने के साथ उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा हो जाता है। छोटे भाई के रूप में लक्ष्मण और भरत का चरित्र भी बहुत अनुकरणीय है। इन उज्ज्वल आदर्श परम्पराओं के विपरीत एक दूसरा मलिन पक्ष भी हमारे समक्ष आता है। मुगल इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं—जहाँ छोटे भाई ने बड़े भाई को और बड़े भाई ने छोटे भाई को खून से नहलाया है। राजा श्रेणिक का भी उदाहरण सामने आता है कि जहाँ पुत्र ने पिता को कारागृह में बन्द कर दिया। इधर राम का भी आदर्श है कि जिसने सिर्फ पिता के आदेश का पालन करने के लिए ही चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। पिता-पुत्र के आदर्श, भाई-भाई के आदर्श और पति-पत्नी के आदर्श की सार्थकता इसी में है कि उन्हें जीवन में प्रामाणिकता के साथ उतारा जाए। आदर्श की श्रेष्ठता देश और काल से, जाति और वंश परम्परा से, बड़े-छोटे से नहीं नापी जाती, बल्कि वह नापी जाती है अन्दर की, सच्चाई से, अन्दर की प्रामाणिकता से।

इन आदर्शों का पालन तभी हो सकता है, जब जीवन में भय और प्रलोभनों पर विजय पाने की शक्ति हो। प्राणी मात्र इन्हीं दो पाटों के बीच पिसता आ रहा है। जितने विग्रह हुए हैं, लड़ाइयाँ हुई हैं, उन सबके मूल में ये ही दो कारण रहे हैं। जिस साधक ने इन पर विजय प्राप्त करली, वह निश्चय ही अपनी साधना के लक्ष्य को सफल कर चुका है। संसार के बड़े-बड़े सम्राट् उसके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं। यह त्यागियों का शासन अजेय शासन है। वह कभी समाप्त नहीं हो सकता। वहाँ छोटे-बड़े की प्रतिष्ठा नहीं, त्याग की प्रतिष्ठा होती है। जिसका त्याग अधिक तेजस्वी होता है, वही महान् होता है। यदि साधना का वह तेज गृहस्थ जीवन में प्रदीप्त हो सकता है, तो वह जीवन भी महान् हो सकता है। यदि साधु-जीवन में प्रकाशमान होता है, तो वह भी महान् है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु का वेष पहन कर भी यदि साधुता का स्पर्श नहीं हुआ, तो उस वेष से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। बाहर का महत्त्व नहीं, अन्दर का महत्त्व है।

दो आदर्श :

वाराणसी में संत कबीर साधना में लगे थे। वह बाहर में वस्त्रों का ताना-बाना बुन रहे थे। किन्तु, अन्दर में साधना का ताना-बाना बुनने में संलग्न थे। एक ब्राह्मण का पुत्र अनेक विद्याओं का अध्ययन करके पच्चीस वर्ष की अवस्था में जब जीवन के नये मोड़ पर आया, तो उसने विचार किया कि वह कौन-से जीवन में प्रवेश करे, साधु बने या गृहस्थाश्रम में जाए? अपनी इस उलझन को उसने कबीर के समक्ष रखा। कबीर उस समय ताना पूर रहे थे। प्रश्न सुनकर भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। युवक ने कुछ देर तक चुप रहकर प्रतीक्षा की, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। उसने फिर अपना प्रश्न दुहराया, लेकिन कबीर ने फिर भी जवाब नहीं दिया। तभी कबीर ने पत्नी को पुकारा—"जरा देखो तो ताना साफ करने का झब्बा कहाँ है?" इतना कहना था कि कबीर की पत्नी उसे खोजने लगी। दिन के सफेद उजाले में भी कबीर ने बिगड़ते हुए कहा—"देखती नहीं हो, कितना अंधकार है? चिराग लाकर देखो, पत्नी दौड़ती हुई चिराग लेकर आई, और लगी खोजने। झब्बा तो कबीर के कन्धे पर रखा था। किन्तु, फिर भी कबीर की पत्नी पति की इतनी आज्ञाकारिणी थी कि जैसा उसने कहा वैसा ही करने लग गई। युवक को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोच ही रहा था कि आखिर यह क्या माजरा है? इतने में कबीर ने अपने लड़के और लड़की को आवाज दी। जब वे आए, तो उन्हें भी वही झब्बा खोजने का आदेश दिया। और, वे भी चुपचाप खोजने लग गए। कुछ देर तक खोजने के बाद कबीर ने कहा—"अरे! यह तो मेरे कंधे पर रहा। अच्छा जाओ, अपना-अपना काम करो।" सभी लौट गए। युवक बड़ा परेशान था कि "यह कैसा मूर्ख है? कैसी विचित्र बातें करता है? मेरे प्रश्न का क्या खाक उत्तर देगा?" तभी कबीर ने उसकी ओर देखा, युवक ने फिर अपना प्रश्न दुहराया। कबीर ने कहा, मैं तो उत्तर दे चुका हूँ, तुम अभी समझे नहीं। अभी जो दृश्य तुमने देखा था, उससे सबक लेना चाहिए। यदि गृहस्थ बनना चाहते हो तो, ऐसे बनो कि तुम्हारे प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित घर वाले दिन को रात और रात को दिन मानने को भी तैयार हो जाएँ। तुम्हारे विवेक-पूर्ण कोमल व्यवहार में इतना आकर्षण हो कि परिवार का प्रत्येक सदस्य तुम्हारे प्रति अपने आप खिंचा रहे, तब तो गृहस्थ जीवन ठीक है। अन्यथा यदि घर कुरुक्षेत्र का मैदान बना रहे, आये दिन टकराहट होती रहे, तो इस गृहस्थ जीवन से कोई लाभ नहीं। और, यदि साधु बनना हो, तो चलो एक साधु के पास, तुम्हारा मार्ग-दर्शन करा दूं।

कबीर युवक को लेकर एक साधु के पास पहुँचे, जो गंगा तट पर एक बहुत ऊँचे टीले पर रहता था। कबीर ने उन्हें पुकारा तो वह वृद्ध साधु लड़खड़ाता हुआ धीरे-धीरे नीचे उतरा। कबीर ने कहा—"बस, आपके दर्शनों के लिए आया था, दर्शन हो गए।" साधु फिर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा, तो कबीर ने फिर पुकारा और साधु फिर नीचे आया और पूछा—"क्या कहना है?" कबीर ने कहा—"अभी समय नहीं है, फिर कभी आऊँगा, तब कहूँगा।" साधु फिर टीले पर चढ़ गया। कबीर ने तीसरी बार फिर पुकारा और साधु फिर नीचे आया। कबीर ने कहा—"ऐसे ही पुकार लिया, कोई खास बात नहीं है।" साधु उसी भाव से, उसी प्रसन्न मुद्रा से फिर वापिस लौट गया। उसके चेहरे पर कोई शिकन तक न आई।

कबीर ने युवक की ओर प्रश्न भरी दृष्टि डाली और बोले—"कुछ देखा? साधु बनना हो, तो ऐसा बनो। इतना अशक्त वृद्ध शरीर, आँखों की रोशनी कमजोर, ठीक तरह चला भी नहीं जाता। इतना सब कुछ होने पर भी, तुमने देखा, मैंने तीन बार पुकारा और तीनों बार उसी शान्त मुद्रा से नीचे आए और वैसे ही लौट गए। मुझ पर जरा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध की झलक नहीं, घृणा नहीं, द्वेष नहीं। साधु बनना चाहते हो, तो ऐसे बनो कि तुममें इतनी सहिष्णुता रहे, इतनी क्षमा रहे। जीवन में प्रसन्नता के साथ कष्टों का सामना करने की क्षमता हो, तो साधु की ऊँची भूमिका पर जा सकते हो।"

इसी घटना के प्रकाश में हम भगवान् महावीर की वाणी का रहस्य समझ सकते हैं कि साधु जीवन हो या गृहस्थ जीवन, जब तक जीवन में आन्तरिक तेज नहीं जग पाए, प्रामाणिकता और सच्ची निष्ठा का भाव न हो, तो दोनों ही जीवन बदतर हैं। और, यदि इन सद्गुणों का समावेश जीवन में हो गया है, तो दोनों ही जीवन अच्छे हैं, श्रेष्ठ हैं, और उनसे आत्म-कल्याण का मार्ग सुगमता से प्रशस्त हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय में तो एक मार्ग है,
वह है आध्यात्मिक समता।
श्रावक और साधु दो पथ तो,
अपनी-अपनी है क्षमता।।

*

बालक हो या युवा, वृद्ध सब,
एक मार्ग पर चलते हैं।
निज-निज शक्ति अनुरूप, किंतु वे—
आगे-पीछे रहते हैं।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

राग का ऊर्ध्वीकरण

आध्यात्मिक-साधना के सम्बन्ध में, धर्म के विधि-निषेध एवं मर्यादा के सम्बन्ध में सोचते हुए हमने कुछ भूलें की हैं। अनेक प्रकार की भ्रांतियों से हमारा चिंतन दिग्मूढ़-सा हो गया है, ऐसा मुझे कभी-कभी लगता है। साधना का प्रवाह उस झरने की भांति अपने मूल उद्गम पर बहुत ही निर्मल और स्वच्छ था, किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, उसमें भ्रांतियों का कूड़ा-कचरा मिलता गया और प्रवाह में एक प्रकार की मलिनता आती गई। आज उसका गँदला पानी देख कर कभी-कभी मन चौंक उठता है और सोचने को विवश हो जाता है कि क्या यह कूड़ा-कचरा निकाला नहीं जा सकता? इस प्रवाह की पवित्रता और निर्मलता को कचरा कब तक ढँके रखेगा?

इस सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत कुछ कहता रहा हूँ। इसके लिए पास-पड़ोस की दूसरी परम्पराओं और चिंतन-शैलियों की टीका-टिप्पणी भी मैं करता रहा हूँ, उनकी मलिनता पर चोट करने से भी मैं नहीं हिचकता। परन्तु, इसकी पृष्ठभूमि में मेरी कोई सांप्रदायिक आग्रह या दुराग्रह की मनोवृत्ति नहीं है। यही कारण है कि भूलों एवं भ्रान्तियों के लिए अपनी साम्प्रदायिक-परम्परा और विचार-धारा पर भी मैंने काफी कठोर प्रहार किए हैं। विचार-प्रवाह में जहाँ मलिनता हो, उसे छिपाया नहीं जाए, फिर वह चाहे अपने घर में हो या दूसरे घर में। मैं इस विषय में बहुत ही तटस्थता से सोचता हूँ और मलिनता के प्रक्षालन में सदा उन्मुक्त भाव से अपना योग देता रहा हूँ।

साधना में द्वैध क्यों?

हमें सोचना है कि जिसे हम साधना कहते हैं, वह क्या है? जिसे हम धर्म समझते हैं, वह क्या है? वह कहाँ है? किस रूप में चल रहा है और उसे किस रूप में चलना चाहिए?

एक सबसे विकट बात तो यह है कि हमने साधना को अलग-अलग कठघरों में खड़ा कर दिया है। उसके व्यक्तित्व को, उसकी आत्मा को विभक्त कर दिया है। उसको समग्रता के रूप में हमने नहीं देखा। टुकड़ों में देखने की आदत बन गई है। लोग घर में कुछ अलग तरह की जिन्दगी जीते हैं, परिवार में कुछ अलग तरह की। घर के जीवन का रूप कुछ और है और मंदिर, उपाश्रय, धर्म-स्थानक के जीवन का रूप कुछ और ही है। वे अकेले में किसी और ढंग से जीते हैं और परिवार एवं समाज के बीच किसी दूसरे ढंग से। मैंने देखा है, समाज के बीच बैठकर जो व्यक्ति फूल की तरह मुस्कराते हैं, फव्वारे की तरह प्रेम की फुहारें बरसाते हैं, वे ही घर में आकर रावण की तरह रौद्र बन जाते हैं। क्रोध की आग उगलने लगते हैं। धर्म स्थानक में या मंदिर में जिन्हें देखने से लगता है कि ये बड़े त्यागी-वैरागी हैं, भक्त हैं, संसार से इन्हें कुछ लेना-देना नहीं, निस्पृहता इतनी है कि जैसे अभी मुक्ति हो जाएगी, वे ही व्यक्ति जब वहाँ से बाहर निकलते हैं, तो उनका रूप बिल्कुल ही बदल जाता है, धर्म की छाया तक उनके जीवन पर दिखाई नहीं देती।

मैं सोचता हूँ, यह क्या बात है? जीवन पर इतना द्वैध क्यों आ गया? साधना में यह बहुरूपियापन क्यों चल पड़ा? लगता है, इस सम्बन्ध में सोचने-समझने की कुछ भूलें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई हैं, वे भूलें शायद आपने उतनी नहीं की होंगी, जितनी कि गुरुपद से हमने की होंगी। और, वे नयी भी नहीं, बहुत पुरानी हैं। वे काफी पहले से चली आ रही हैं।

धर्म : केवल परलोक के लिए ?

मैं जब इन बँधी-बँधाई मान्यताओं और चली आ रही परम्पराओं की ओर देखकर पूछता हूँ—"धर्म किसलिए है ?" तो एक टकसाली उत्तर मिलता है—"धर्म परलोक सुधारने के लिए है।" "यह सेवाभक्ति, दान-पुण्य किसलिए ? परलोक के लिए।" हम बराबर कहते आये हैं—"परलोक के लिए कुछ जप-तप कर लो, आगामी जीवन के लिए कुछ गठरी बाँध लो।" मंदिर के घंटे-घड़ियाल—केवल परलोक-सुधार का उद्घोष करते हैं, हमारे ओघे-मुखपत्ती जैसे परलोक-सुधार की नामपट्टियाँ बन गए हैं। जिधर देखो, जिधर सुनो, परलोक की आवाज इतनी तेज हो गई है कि कुछ और सुनाई ही नहीं देता। एक अजीब कोलाहल, एक अजीब भ्रांति के बीच हम जीवन जी रहे हैं, केवल परलोक के लिए !

हम आस्तिक हैं, पुनर्जन्म और परलोक के अस्तित्व में हमारा विश्वास है, किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं कि उस परलोक की बात को इतने जोर से कहें कि इस लोक की बात कोई सुन ही नहीं सके। परलोक की आस्था में इस लोक के लिए आस्थाहीन होकर जीना, कैसी आस्तिकता है ?

मेरा विचार है, यदि परलोक को देखने-समझने की ही आपकी दृष्टि बन गई है, तो इस जीवन को भी परलोक क्यों नहीं समझ लिया जाए ? लोक-परलोक सापेक्ष शब्द हैं। पुनर्जन्म में यदि आपका विश्वास है, तो पिछले जन्म को भी आप अवश्य मानते हैं ? अतः अतीत के पिछले जीवन की दृष्टि से क्या यह जीवन परलोक नहीं है ? पिछले जीवन में आपने जो कुछ साधना-आराधना की होगी, उस जीवन का परलोक यही तो वर्तमान है। फिर आप इस जीवन को भूल क्यों जाते हैं ? परलोक के नाम पर इस जीवन की उपेक्षा, अवगणना क्यों कर रहे हैं ?

लोकातीत साधना :

भगवान् महावीर ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा था—**'आराहए लोगमिणं तहा परं'**—साधको ! तुम इस लोक की भी आराधना-साधना करो, परलोक की भी। लोक और परलोक में आत्मा की कोई दो भिन्न सत्ता नहीं है, जो आत्मा इस लोक में है, वही परलोक में भी जाती है, जो पूर्व जन्म में थी, वही इस जन्म में आई है। इसका मतलब है—पीछे भी तुम थे, यहाँ भी तुम हो और आगे भी तुम रहोगे। तुम्हारी सत्ता अखण्ड और अनन्त है। तुम्हारा वर्तमान इहलोक है, तुम्हारा भविष्य परलोक है। जिन्दगी जो नदी के एक प्रवाह की भाँति क्षण-क्षण में आगे बहती जा रही है, वह लोक-परलोक के दो तटों को अपनी करवटों में समेटे हुए है। जरा सूक्ष्मदृष्टि एवं तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाए, तो जीने-मरने पर ही लोक-परलोक की व्यवस्था नहीं है। वर्तमान जीवन में ही लोक-परलोक की धारा बह रही है। जीवन का हर पहला क्षण लोक है, और हर दूसरा क्षण परलोक। लोक-परलोक इस जिन्दगी में क्षण-क्षण में आ रहे हैं, जा रहे हैं। हमने लोक-परलोक को बाजारू शब्द बना दिए और यों ही गोटी की तरह फेंक दिया है खेलने के लिए। यदि इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझा जाए, लोक-परलोक की सीमाओं का सही रूप समझा जाए, तो जो भ्रांतियाँ आज हमारी बुद्धि को गुमराह कर रही हैं, वे नहीं कर पाएँगी।

हम जो लोक-परलोक को सुधारने की बात कहते हैं, उसका अर्थ है, वर्तमान और भविष्य—दोनों ही सुधरने चाहिएँ। यदि वर्तमान ही नहीं सुधरा, तो भविष्य कैसे सुधरेगा ?

"लोक नहीं सुधरा है यदि तो,
कैसे सुधरेगा परलोक ?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने: **'आराहए लोकमिणं तहा परं'** की जो घोषणा की, वह न परलोक-वादियों को चुनौती थी और न लोकवादियों को ही चुनौती थी, बल्कि एक स्पष्ट, अभ्रांत दृष्टि थी, जो दोनों तटों को एक साथ स्पर्श कर रही थी।

अनेक बार हमारे सामने वीतरागता का प्रश्न आता है, उसकी पर्याप्त चर्चाएँ होती हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यह वीतरागता क्या है? यह लोक है, या परलोक है? इसका सम्बन्ध किससे है? किसी से भी तो नहीं है। वीतरागता लोक-परलोक से परे है, वह लोकातीत है। भगवान् महावीर का इस संदर्भ में स्पष्ट उद्बोधन है—"तुम लोक-परलोक की दृष्टि से ऊपर उठ कर 'लोकातीत' दृष्टि से क्यों नहीं सोचते? काल प्रवाह में अपनी अखण्ड सत्ता की अनुस्यूति को क्यों नहीं अनुभव करते? वर्तमान और भविष्य में तुम्हारी सत्ता विभक्त नहीं है, वह एक है, अखण्ड है, अविच्छिन्न है। फिर अपने को टुकड़ों में क्यों देखते हो?"

जैन-दर्शन एक ओर लोक-परलोक की आराधना की बात कहता है, दूसरी ओर लोक-परलोक के लिए साधना करने का निषेध भी कर रहा है। वह कहता है—**"नो इह लोगट्ठयाए, नो परलोगट्ठयाए..."** न इस लोक के लिए साधना करो, न परलोक के लिए ही। लोक-परलोक—यह रागद्वेष की भाषा है, आसक्ति का रूप है, संसार है। सुख-दुःख का बंधन है। हमें लोक-परलोक से ऊपर उठकर 'लोकातीत' दृष्टि से सोचना है। और, वह लोकातीत दृष्टि ही वीतराग-दृष्टि है।

वीतराग का जब निर्वाण होता है, तो हम क्या कहते हैं? परलोकवासी हो गए...? नहीं, परलोक का अर्थ है, पुनर्जन्म। और, पुनर्जन्म तभी होगा, जब आत्मा में राग-द्वेष के संस्कार जगे होंगे। राग-द्वेष के संस्कार वीतराग में हैं नहीं। वीतराग की मृत्यु का अर्थ है—लोकातीत दशा को प्राप्त होना। यदि हम लोक-परलोक के दृष्टिमोह से मुक्त हो जाते हैं, तो इस लोक में भी लोकातीत दशा की अनुभूति कर सकते हैं। देह में भी विदेह स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। श्रीमद् रायचन्द्र के शब्दों में—

"देहछतां जेहनी दशा वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानी ना चरणमां वन्दन हो अगणीत।।"

राग का प्रत्यावर्तन :

लोक-परलोक के सम्बन्ध में जैसी कुछ भ्रान्त धारणाएँ हैं, वैसी ही वीतरागता के सम्बन्ध में भी हैं। वीतरागता एक बहुत ऊँची भूमिका है। उसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ जगाने की आवश्यकता है। परन्तु हम देखते हैं, नीचे की भूमिकाओं में क्षुद्रमन के व्यक्ति उसका प्रदर्शन करते हैं और कर्तव्य से च्युत होते हैं। अतः आज के सामान्य साधक के समक्ष प्रश्न यह है कि जब तक यह लोकातीत स्थिति प्राप्त न हो जाए, तबतक इस लोक में कैसे जिएँ? जब तक देहातीत दशा न आए, तब तक देह को किस रूप में सँभालें? जब तक वीतराग दृष्टि नहीं जगती है, तब तक राग को किस रूप में प्रत्यावर्तित करें कि वह कोई बन्धन नहीं बने। यदि बन्धन भी बने, तो कम से कम लोहे की बेड़ी तो न बने! जब तक आत्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का दर्शन न हो, तब तक इतना तो करें कि कम-से-कम अन्धकार में भटक कर ठोकरें तो न खाएँ!

साधक के सामने यह एक उलझा हुआ प्रश्न खड़ा है। वह समाधान चाहता है और यह समाधान खोजना ही होगा। आचार्यों ने इसका उत्तर दिया है—जब तक वीतरागता नहीं आए, तब तक राग को शुभ बनाते रहो। राग अशुभ भी होता है, शुभ भी। अशुभ-राग मलिन है, शुभ-राग कुछ निर्मल है। बन्धन दोनों हैं। पर, दोनों में अन्तर है। एक कांटे की चोट है, तो एक फूल की चोट है।

भगवान् महावीर ने लोक-परलोक की आराधना करने का जो उद्घोष दिया है, वह राग को शुभ एवं निर्मल बनाने की एक प्रक्रिया है। जैसा मैंने आपसे कहा—वीतराग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशा तो लोकातीत दशा है। वहां लोक-परलोक को सुधारने की बात ही कहाँ है? जो शुद्ध दशा है, वहाँ फिर सुधार की क्या बात? अशुद्ध को ही सुधारा जाता है, इसलिए सामान्य साधक के लिए शुद्ध से पहले शुभ की भूमिका रखी गई है, वीतरागता से पूर्व शुभराग का मार्ग बताया गया है।

साधु का जो विधि-निषेधात्मक क्रियारूप आचार-धर्म है, वह क्या है? दान, दया, सेवा, उपासना और भक्ति-पूजा के विधि-विधान क्या हैं? क्या यह वीतराग-धर्म है? नहीं, वीतरागता में तो सहज दशा होती है, वहाँ विधि-निषेधों के विकल्पों की कोई गुंजाइश नहीं। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में विचरण करती है। वहाँ इन्द्रियनिग्रह किया नहीं जाता, स्वतः हो जाता है। इसलिए वह इन्द्रियातीत दशा है। फिर इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, देव, गुरु, धर्म की भक्ति, पूजा-प्रार्थना आदि के विकल्प वीतराग दशा में कैसे हो सकते हैं? आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आध्यात्मवादी चिंतकों ने तो इन सब क्रियाओं को शुभराग माना है। इसका अर्थ यह है कि यह सब राग का ऊर्ध्वीकरण है, राग की शुभदशा है। अहिंसा पर किसी को तभी स्थिर किया जा सकेगा, जब उसके मन में स्नेह एवं करुणा की धारा बहती होगी। सत्य और अचौर्य की प्रेरणा तभी काम कर सकेगी, जब अनीति से परे नैतिक-निष्ठा जागृत होगी। मानव-जाति का आज जो विकास हुआ है, उसके चिंतन में जो उदात्तता आई है, वह निश्चित ही उसके स्नेह, करुणा और शुभराग की परिणतियाँ हैं। यदि मनुष्य के हृदय में शुभराग की वृत्ति नहीं होती, तो शायद मनुष्य, मनुष्य भी नहीं रह पाता। फिर आप कहाँ होते? हम कहाँ होते? कौन किसके लिए होता?

एक बार मैंने देखा—एक चिड़िया घोंसले में बैठी अपने बच्चों की चोंच में दाना दे-देकर उन्हें खिला रही थी। इधर-उधर से बड़ी मेहनत करके वह दाना लाती और बच्चों के मुंह में बड़े प्यार से डालती? मेरे पास ही खड़े एक मुनिजी ने पूछा—यह ऐसा क्यों करती है? क्या मतलब है इसका?

मैंने हँसकर कहा—मतलब चिड़िया से मत पूछो, इन्सान से पूछो। मतलब की भाषा उसी के पास है, वहाँ तो एक प्राकृतिक स्नेह-राग है, जो प्रत्येक जीवधारी को एक-दूसरे के लिए उपकृत करता है। यह स्नेह ही प्राणी को एक-दूसरे के निकट लाता है, एक से अनेक बनाता है, परिवार और समाज के रूप में उसे एक रचनात्मक व्यवस्था से बाँधता है। यह स्नेह भले ही मोह का रूप है, पर मोह से हम कहाँ मुक्त हुए हैं? जहाँ पारिवारिक जीवन है, एक-दूसरे के साथ रागात्मक सम्बन्ध है, वहाँ मोह तो है ही। परिवार, समाज, यहाँ तक कि धर्म-संघ और सम्प्रदाय सभी इस मोह से बँधे हैं। हाँ, जहाँ यह मोह उदात्त बन जाता है, स्नेह व्यापक बन जाता है, वहाँ उसकी अपवित्रता कम हो जाती है, वह मोह, वह राग, शुभ के रूप में बदल जाता है। अर्हद्-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, गुरु-भक्ति आदि के रूप भी इसी उदात्त शुभ राग की कोटि में आते हैं।

वीतरागता का नाटक :

वीतरागता हमारा मुख्य धर्म है, महान् ध्येय है। किन्तु जब तक वह वीतरागता नहीं आती है, तब तक हमें राग को अधिकाधिक पवित्र एवं उदात्त बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने निज के दैहिक स्वार्थ और मोह से ऊपर उठकर उसको मानव-चेतना और समग्र जीव-चेतना तक व्यापक बनाना चाहिए। अन्यथा साधक की यह महान् भूल होगी कि वह एक ओर वीतरागता का नाटक खेलता रहे, पर दूसरी ओर न तो वह उसे प्राप्त कर सके और न इधर राग को पवित्र बनाकर दूसरों की सेवा-सहयोग ही करने का प्रयत्न करे। यह स्थिति बड़ी दुविधापूर्ण होगी।

एक बार सुदूर प्रान्त के कुछ साधु लुधियाना (पंजाब) में पधारे। एक मुनिजी ने, जो बात-बात में अपने को बहुत बड़े वैरागी और अध्यात्मवादी प्रदर्शित करते रहते थे, एक दिन व्याख्यान में आत्मा और पुद्गल की बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें कहीं। और,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े जोश में ललकार कर कहा—"पुद्गल पर-भाव है, आत्मा का शत्रु है। इसे लात मारो, तभी मुक्ति होगी।"

व्याख्यान दे कर उठे, गोचरी का समय हुआ, तो पात्र संभाले और पहले विराजित एक स्थानीय बुजुर्ग सन्त से बोले—"तपसीजी! कुछ ऐसे घरों में ले चलो, जहाँ पुद्गलों की साता हो।" साधु-जनों की सांकेतिक-भाषा में पुद्गलों से उनका मतलब था, कि आहार-पानी अच्छा और साताकारी तर-माल मिले।

तपसीजी मुस्करा कर बोले—"भाई! अभी ही कुछ देर पहले तो आप पुद्गल को लात मार रहे थे, अब पुद्गल की साता की बात करने लगे, यह क्या तमाशा है?"

कुछ उत्तर न था, वैराग्य का नाटक खेलने वाले मुनिजी के पास।

यही तो वीतरागता का नाटक है। जब हम जीवन में अपने लिए वीतरागी नहीं बन सकते, अपने शरीर की साता और मोह को नहीं छोड़ सकते, तो फिर केवल दूसरों के प्रति उदासीन और निस्पृह होने की बात कहने से क्या लाभ है? जीवन-व्यवहार में सरलता आनी चाहिए, सचाई को स्वीकार करने का साहस होना चाहिए। और, यह मानना चाहिए कि जिन आदर्शों तक पहुँचने में हमें अभी तक कठिनाई अनुभव होती है, तो दूसरों को भी अवश्य ही होती होगी। फिर उस कठिनाई के बीच का मार्ग क्यों नहीं अपनाया जाए?

धर्म का मुख्य रूप वीतरागता है, वह लक्ष्य में रहना चाहिए। उस ओर यात्रा चालू रखनी चाहिए। परन्तु, जब तक वह सहज भाव से जीवन में न उतरे, तब तक धर्म का गौण रूप शुभभाव भी यथाप्रसंग होता रहना चाहिए। निर्विकल्पता न आए, तो शुभ विकल्प का ही आश्रय लेना चाहिए, अशुभ विकल्प से बचना चाहिए।

गणधर गौतम की बात अभी हमारे सामने है। इतना बड़ा साधक, तपस्वी जिसके लिए भगवती सूत्र में कहा है—**'उग्गतवे घोरतवे दित्ततवे'**—तपस्वियों में भी जो उत्कृष्ट थे और ज्ञानियों में भी! उन्होंने जब अपने ही शिष्यों को केवली होते देखा, तो वे मन में क्षोभ और निराशा से क्लांत हो गए और सोचने लगे कि—"यह क्या? मुझे अभी भी केवलज्ञान नहीं हो रहा है और मेरे शिष्य केवली हो रहे हैं, मुक्त हो रहे हैं?"

भगवान् महावीर ने गौतम के क्षोभ को शान्त करते हुए कहा—"गौतम! तुम्हारे मन में अभी तक मोह और स्नेह का बंधन है।"

गौतम ने पूछा—"किसके साथ?"

भगवान् ने कहा—"मेरे प्रति! मेरे व्यक्तित्व के प्रति तुम्हारे मन में एक सूक्ष्म अनुराग, जो जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है, वह राग-स्नेह ही तुम्हारी मुक्ति में बाधक बन रहा है।"

गौतम यह सब-कुछ जानकर भी भगवान् के प्रति अपना प्रेमराग छोड़ नहीं पाए। और, आप देखते हैं कि गौतम का वह अनुराग भगवान् के निर्वाण के समय इतना प्रबल हो जाता है कि आँसुओं के रूप में बाहर बह आता है। इसे हमारे कुछ साथी मोह बताकर एकान्त अशुभ एवं दूषित कह सकते हैं, परन्तु मैं तो इसे मोह मान कर भी एकान्त अशुभ नहीं मान सकता। यह भक्ति-विभोर भक्त-हृदय की अमुक अंश में शुभ परिणति है। यह मानव हृदय की एक स्नेहात्मक स्थिति है, गुणानुराग की वृत्ति है। आँसू केवल शोक के ही आँसू नहीं होते, भक्ति और प्रेम के भी आँसू होते हैं, करुणा के भी आँसू होते हैं।

मनुष्य समाज में अकेला नहीं जीता, उसके साथ परिवार होता है, समाज होता है, संघ होता है। वह सूखे वृक्ष की भाँति निरपेक्ष तथा निश्चेष्ट रह कर यों ही शून्य में कैसे जी सकता है? उसके मन में पास-पड़ोस की घटनाओं की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। यदि आपकी चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास हो रहा है, तो आप किसी को प्रगतिपथ पर बढ़ते देखकर, किसी के व्यक्तित्व को विकसित होते देखकर मुस्करा उठेंगे, दूसरों की प्रसन्नता से प्रसन्न हो जाएँगे, दूसरों के गुणों पर कमल-पुष्प की भाँति प्रफुल्ल हो जाएँगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इसके विपरीत यदि आपकी चेतना कुण्ठाग्रस्त है, उसका प्रवाह अधोमुखी है, तो आप ईर्ष्या और डाह से जल उठेंगे। किसी के गुणों की प्रशंसा सुनकर मन ही मन तिलमिला उठेंगे, जैसे सौ-सौ बिच्छुओं के एक साथ डंक लग गये हों! किसी को बढ़ते देखकर उस पर व्यंग्य करेंगे, उसे गिराने की चेष्टा करेंगे।

अब आप सोचिए, इन दोनों स्थितियों में कौन-सी स्थिति श्रेष्ठ है? प्रमोद से जीना, दूसरों के गुणों और विशेषताओं पर प्रसन्नतापूर्वक जीना—यह ठीक है, या रात दिन ईर्ष्या-डाह से तिलमिलाते रहना? जब तक वीतराग-दशा नहीं आती है, तब तक इन दोनों में से एक मार्ग चुनना होगा। पहला मार्ग है, शुभ राग का और दूसरा मार्ग है, अशुभ राग का, द्वेष का। राग जब अधोमुखी होता है, तो अन्ततः वह द्वेष का रूप ले लेता है, इसलिए अशुभ राग या द्वेष में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता।

गुणों का आदर : प्रमोद भावना :

जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में चार भावनाएँ आती हैं, उन चार भावनाओं में दूसरी भावना है—"**गुणिषु प्रमोदं**" गुणी के प्रति प्रमोद—प्रसन्नता की भावना! जैन-दर्शन की तो यह उच्चतम जीवन-दृष्टि है। हम अपने में, अपने परिपार्श्व में कहीं भी, किसी चेतना को विकसित होते देखकर, कहीं भी ज्योति को चमकते देखकर, उसके प्रति प्रसन्नता अनुभव करें, प्रमोद से पुलक उठें—यह जीवन में सबसे बड़ा आनन्द का मार्ग है। गुणों का स्वागत करना, उनके विकास को प्रोत्साहित करना, हमारी आध्यात्मिक चेतना की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति है। भगवान् महावीर ने इस वृत्ति को राग तो कहा है, पर शुभ राग कहा है और इसे प्रोत्साहित किया है। आगमों में जहाँ महावीर ने श्रावकों का वर्णन किया है, वहाँ पर एक विशेषण आता है, "अट्ठिमिज्ज पेमाणुराग रत्ते"—वे अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रेमानुराग से रंजित थे! यह निश्चित है कि यह 'प्रेमानुराग' वीतराग धर्म तो नहीं है, फिर भी धार्मिक की उल्लेखनीय विशेषता है। अतः इसका अर्थ है—अनुराग, गुणानुराग, धर्मानुराग। और, यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वीत-रागता के नाम पर यदि हम किसी उभरते हुए व्यक्तित्व को देखकर भी मौन रहते हैं, किसी सद्गुणों के कल्पवृक्ष को लहलहाते देख कर भी उदासीन बने रहते हैं, तो मैं मानता हूँ, हमारी चेतना अभी कुण्ठित है, उसका प्रवाह अधोमुखी है और यह वृत्ति जीवन एवं जगत् के लिए घातक है।

मैं आपसे स्पष्ट कह दूं कि—जब भी किसी होनहार व्यक्तित्व में विकास की अनेक संभावनाओं पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमें सर्जना की अनेक मौलिक कल्पनाएँ छिपी मिलती हैं। इनमें बौद्धिक विलक्षणता, तटस्थ चिंतन तथा सत्यानुलक्षी स्पष्टवादिता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ निहित पाता हूँ, जो मेरे मन को प्रमुदित कर देती हैं। मानव की यही महान् निष्ठा है, शुभ वृत्ति है कि वह कहीं किसी श्रेष्ठता को, अच्छाई को अंकुरित होते देखे, तो सहज सद्भाव से उसके प्रति आकृष्ट हो; उसको विकसित होते देखे, तो सहज प्रसन्नता से झूम उठे।

कभी-कभी सोचता हूँ, हमारे श्रमण-श्रमणी वर्ग में भी यदि गुणानुराग के रूप में व्यवहार की सरलता और पवित्रता बनी रहे, तो हम अपने पवित्र आदर्शों को जन-जीवन में बहुत-कुछ उजागर कर सकते हैं। बिना किसी जाति, पन्थ या देश-भेद के गुणीजनों के श्रेष्ठ जीवन के प्रति अनुराग होना, एक उदात्त भाव है। मैं तो कहूँगा कि यदि किसी में गुणानुराग दृष्टि है, तो वह अवश्य ही एक पवित्र अनुराग की भावना से आप्लावित मानव ही नहीं, महामानव है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा—धर्म और अध्यात्म की भूमिका पर खड़े होकर हमने कुछ बहुत ऊँची बातें सोची हैं। जीवन में निरपेक्षता और वीतरागता के उत्तरोत्तर अनेक आदर्श भी खड़े किए हैं, किन्तु वह भूमिका इतनी ऊँची है कि हम यों ही छलाँग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाकर वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। इस स्थिति में, जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाते हैं, राग को अशुभ में से शुभ में परिणत करना चाहिए। खेद है, इस तथ्य को सोचने-समझने की भूल हमने की है। हम अपने देह, परिवार और सम्प्रदाय के निम्न अनुरागों में तो फँस गए हैं, किन्तु राग के जो ऊर्ध्वमुखी आदर्श रूप हैं—गुणानुराग, देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सेवा, मैत्री, करुणा और सहयोग आदि—उन्हें भूल गए हैं, उन वृत्तियों को राग की कोटि में मानकर उनसे निरपेक्ष रहने की बात कहने लग गए हैं। चिन्तन की यह एक बहुत बड़ी भूल है, इस भूल को समझना है, सुधारना है—तभी हम जैन-धर्म के पवित्र आदर्शों को जीवन में साकार बना सकेंगे। और, राग के ऊर्ध्वीकरण एवं पवित्रीकरण की प्रक्रिया सीख सकेंगे। प्रवृत्तियों और कषायों से मुक्त होने का सही मार्ग यही है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध—इस सोपानबद्ध प्रयाण से सिद्धि का द्वार आसानी से मिल सकता है। हनुमान-कूद तो हमें कभी-कभी निम्नतम दशा में ही बुरी तरह से पटक दे सकती है। राग का ऊर्ध्वीकरण-सोपानबद्ध प्रयाण ही इसके लिए उचित मार्ग है।

वीतरागता का भी यह एकान्त अर्थ नहीं है कि वह जन-कल्याण से पराङ्मुख हो कर यों ही निष्क्रिय दशा में जीवन के शेष वर्ष गुजारता रहे। वीतराग को भी जन-कल्याण के कार्य करने हैं। रागमुक्त होकर भी यह उदात्त कर्म किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में भगवान् महावीर को ही लीजिए। केवलज्ञान प्राप्त कर पूर्ण वीतराग अर्हन्त होने पर भी वे जीवन के शेष तीस वर्ष तक दूर-दूर के प्रदेशों में, बीच की गंगा, गंडकी आदि नदियों को नौकाओं से पार कर, हजारों साधु-साध्वियों के साथ, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम भ्रमण कर जन-जन को कल्याण का उपदेश देते रहे, उन्हें अशुभ से शुभ में परिवर्तित करते रहे, दुर्व्यसनों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त कर उनके अन्तर में दया, करुणा, मैत्री एवं पारस्परिक सद्भावना का अमृत निर्झर बहाते रहे।

जन-कल्याण जीवन का आदर्श है। जब तक राग है, उसे शुभ में परिणत कर के जन-कल्याण करें। और, जब पूर्ण वीतराग अर्हन्त हो जाएँ, तब भी निष्काम भाव से जन-जीवन का हित एवं निःश्रेयस साधते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक विषयों का रागी,
क्षण-क्षण अधोगमन करता।
शुद्ध देव, गुरु, धर्म, भक्ति का,
रागी ऊर्ध्व गमन करता।।

राग, राग में अति अन्तर है,
विष में अमृत में जितना।
एक अशुभ है, शुभ है दूजा,
मर्म न यह ओझल करना।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७

जीवन में 'स्व' का विकास

मनुष्य के मन में राग और द्वेष की दो ऐसी वृत्तियाँ हैं, जो उसके सम्पूर्ण जीवन पर कुहरे की तरह छाई हुई हैं। इनका मूल बहुत गहरा है, साधारण साधक इसका समुच्छेदन नहीं कर सकता। शास्त्र में इनको 'आन्तरिक दोष' (अज्झत्थ दोसा) कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इनकी जड़ें हमारे मन की बहुत गहराई में रहती हैं, वातावरण का रस पाकर विषबेल की तरह बढ़ती हुई ये व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तक को आवृत कर लेती हैं।

बीज रूप में ये वृत्तियाँ हर सामान्य आत्मा में रहती हैं, किन्तु जब कभी ये प्रबल हो जाती हैं, अपनी उग्रतम स्थिति में आ जाती हैं, तो व्यक्ति को विक्षिप्त बना देती हैं, और व्यक्ति अपने कर्तव्य, मर्यादा एवं आदर्श को भूल बैठता है, एक प्रकार से अन्धा हो जाता है।

स्व-केन्द्रित राग :

राग वृत्ति इतनी गहरी और सूक्ष्म वृत्ति है कि उसके प्रवाह को समझ पाना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। मनुष्य का यह सूक्ष्मराग कभी-कभी अपने धन से, शरीर से, भोग-विलास से, प्रतिष्ठा और सत्ता से चिपट जाता है, तो वह मनुष्य को रीछ की तरह अपने पंजे में जकड़ लेता है। इसलिए राग को निगड़ बन्धन कहा गया है।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ, राग और द्वेष एक प्रकार का वेग है, नशा है। जब यह नशा मन-मस्तिष्क पर छा जाता है, तो फिर मनुष्य पागल हो जाता है। वह कुछ सोच नहीं सकता, विचार नहीं सकता। बस, वह नशे की मादक धारा में बहता जाता है, प्रवाह में मुर्दे की तरह। यह प्रवाह अधोमुखी होता है, मनुष्य को नीचे से नीचे की ओर धकेलता ले जाता है, और यह अंत में किस अंधगर्त में ले जा कर पटकेगा, इसकी कोई कल्पना भी नहीं हो सकती।

जब मैं युद्धों के भीषण वर्णनों से भरे विश्व के इतिहास को देखता हूँ, राष्ट्र और समाज के उत्पीड़ित अतीत और वर्तमान जीवन को देखता हूँ, धर्म और सम्प्रदायों के द्वन्द्व और संघर्ष को देखता हूँ, पारिवारिक कलह और व्यक्तिगत मनोव्यथाओं के मूल को खोजता हूँ, तो बस राग और द्वेष की उथल-पुथल के सिवा और कोई तीसरा कारण नहीं मिलता। कहीं राग की प्रबल वृत्तियाँ प्रताड़ित कर रही हैं, तो कहीं द्वेष की उग्र ज्वालाएँ धधक रही हैं। किसी में देह का राग प्रबल होता है, तो किसी में धन का, किसी में सत्ता का, तो किसी में प्रतिष्ठा का। राग के साथ द्वेष तो सहजात बन्धु की तरह लगा ही रहता है।

मैं देखता हूँ, जिस संस्कृति में पिता को परमेश्वर, माता को भगवती और पत्नी को लक्ष्मी के रूप में पूजा गया है, उसी संस्कृति में पिता को कैदखाने में डाला गया, मूक पशु की तरह पिंजड़े में बन्द किया गया, माता को ठोकरें मारी गई, पत्नी को जुए के दाव पर लगाया गया। आखिर यह सब किसलिए? पिता की हत्या हुई, भाइयों का कत्ल हुआ, बन्धु और राष्ट्र के साथ विश्वासघात तथा द्रोह हुआ—यह सब क्यों हुआ? आप में यदि सामाजिक और राजनीतिक प्रतिभा है, तो आप इनके राजनीतिक कारण बता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं, किन्तु मनुष्य के मन का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाला मनोविश्लेषक और अध्यात्म की गुत्थियाँ सुलझाने वाला संत, उसे मनुष्य के मन की ग्रन्थियाँ एवं राग-द्वेष की सूक्ष्म वृत्तियाँ ही बतलाएगा। वस्तुतः वही इसका एकमात्र मूल है।

जिन्हें आप धर्मपुत्र कहते हैं, नीति और धर्म का प्रहरी समझते हैं, वे युधिष्ठिर अपनी धर्म-पत्नी द्रौपदी को, जो पवित्र तेजस्वी नारी है, उसे दाव पर लगाते हुए सकुचाए तक नहीं। संस्कृति की यह कितनी बड़ी विडम्बना है! इसका मूल कारण वही है—द्यूत का अनुराग! और, उसके पीछे खड़ा है सत्ता और विजय का व्यामोह!

मध्यकाल के भारतीय इतिहास के विक्रमादित्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, जिस शौर्य-शाली वाकाटक वंश की परम सुन्दरी कन्या ध्रुवदेवी के साथ पुनर्विवाह किया, वह कौन थी? चन्द्र के बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी! जब रामगुप्त शकों द्वारा बन्दी बना लिया गया, तो शकराज ने प्राणदण्ड से बचने का एक मार्ग बताया कि तुम अपनी पत्नी को हमारे चरणों में सौंप दो, उसके अद्वितीय सौंदर्य का उपभोग करने दो। इस पर रामगुप्त ध्रुवदेवी को पत्र लिखता है, कि "मैं शकराज द्वारा बंदी बना लिया गया हूँ, मेरे लिए जीवन रखने का एक ही मार्ग है कि तुम शकराज की सेवा में तन-मन से समर्पित हो जाओ!"

यह घटना क्या बताती है? एक सम्राट्, मगध और अवन्तिका के विशाल साम्राज्य का होनहार स्वामी, जिसका कर्तव्य था अपने धर्म की रक्षा करना, प्रजा के तन-धन और जीवन की रक्षा करना, पर वह अपनी पत्नी की भी रक्षा नहीं कर पा रहा है! अपने जीते जी, अपने हाथों से अपनी पत्नी को, शत्रु के चरणों में समर्पित करना चाहता है। यह बात दूसरी है, चन्द्रगुप्त के पराक्रम और सूझ-बूझ से यह दुर्घटना होते-होते बच गई! किन्तु मैं देखता हूँ, एक क्षत्रिय राजकुमार! सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र! इतने नीचे स्तर पर क्यों आ गया? अपने प्राणों के तुच्छ मोह और राग में अन्धा होकर ही तो।

मगध का प्रतापी सम्राट् अजातशत्रु कुणिक अपने पिता महाराज श्रेणिक को बन्दी बनाकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। जैन आगम बताते हैं कि कुणिक के जन्म लेते ही उसकी माता महारानी चेलना भावी अनिष्ट की किसी आशंका से उसे बाहर घूरे पर फिकवा देती है, किन्तु महाराज श्रेणिक पुत्रमोह के कारण उसे उठा लेते हैं, पक्षी के द्वारा काटी गई पुत्र की उंगली का मवाद—पश अपने मुंह से चूसकर ठीक करते हैं और अपने हाथों से उसकी सेवा-परिचर्या करते हैं। पिता के वृद्ध होने पर वही पुत्र शासन सत्ता के व्यामोह में फँस जाता है, और अपने भाइयों व मंत्रीगण को गाँठकर सम्राट् को पिंजड़े में ठूंस देता है। सत्ता का राग मनुष्य को कितना अंधा, पागल और क्रूर बना देता है—यह इस घटना से स्पष्ट हो जाता है।

आगरा का यह विश्वविश्रुत ताजमहल, जिस मुगल सम्राट् का प्रणय-स्वप्न है, उस शाहजहाँ को जिन्दगी के अन्तिम दिन जेल में बिताने पड़े थे। वह अपने ही पुत्र औरंगजेब द्वारा बन्दी बनाया गया। ऐसा क्यों? इस्लाम के इस कट्टर अनुयायी शासक ने अपने यशस्वी और कलाप्रेमी पिता को कारागृह की चारदिवारी के अन्दर क्यों ठूंस दिया, और क्यों अपने सगे भाइयों को कत्ल करके खुश हुआ? मैं समझता हूँ, इन प्रश्नों का उत्तर वही एक है। सत्ता, धन और प्रतिष्ठा का उग्र राग! जिस प्रकार द्वेष की वृत्तियाँ मनुष्य को पिशाच और राक्षस बना देती हैं—वैसे ही राग की निम्न एवं क्षुद्र वृत्तियाँ भी मनुष्य को क्रूर और मूढ़ बनाने वाली हैं। राग वृत्ति का यह अधोमुखी प्रवाह है, जिसे हम स्व-केन्द्रित राग, मोह, व्यामोह और विमूढ़ता कहते हैं।

मैं समझता हूँ, द्वेष की अपेक्षा राग की विमूढ़ित परिणतियों ने मनुष्य जाति का अधिक संहार एवं विनाश किया है। वैसे प्रत्येक पक्ष में राग के साथ द्वेष का पहलू जुड़ा ही रहता है। रामायण और महाभारत के युद्ध क्या हैं? एक मनुष्य के काम-राग की उदग्र फलश्रुति है, तो दूसरी मनुष्य के राज्यलोभ की रोमांचक कहानी है। वैसे राम-रावण के युद्ध में भी मनुष्य के अहंकार और द्वेष के प्रबल रूप मिलते हैं, किन्तु महाभारत के युद्ध का मुख्य स्रोत तो दुर्योधन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के क्षुद्र अहंकार और क्रोध का एक दुष्परिपाक ही प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जाति के युद्ध, संघर्ष और विनाश के इतिहास का मूल उत्स ये ही वृत्तियाँ हैं।

राग की वृत्तियाँ : भीतरी आवरण :

राग की वृत्तियाँ कभी-कभी उदात्त रूप में भी व्यक्त होती हैं, वह मनुष्य को धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए बलिदान होने को भी प्रेरित करती हैं और मनुष्य अपना प्राण हथेली में ले कर मौत से पिल पड़ता है। राग के इस ऊर्ध्वमुखी प्रवाह के उदाहरण भी इतिहास के पृष्ठों पर चमक रहे हैं और उनसे एक आदर्श प्रेरणा प्रस्फुरित हो रही है। राग का यह ऊर्ध्वीकरण मनुष्य के राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है, यह मानते हुए भी मैं आपसे उस भूमिका से ऊपर की एक बात और कह देना चाहता हूँ, वह है अध्यात्म की बात।

अध्यात्म के चिंतनशील आचार्यों ने द्वेष को जिस प्रकार एक बंधन तथा आवरण माना है, उसी प्रकार राग को भी। उनकी दृष्टि में ये दोनों आवरण हैं, और चेतना के आवरण हैं, भीतर के आवरण हैं।

अध्यात्म की यह अद्‌भुत विशेषता है कि उसने कभी भी बाहरी आवरण की चिंता नहीं की। शरीर, इन्द्रियाँ, धन, परिवार ये सब केवल बाहरी आवरण हैं। अपने आप में ये न बुरे हैं, न भले। ये अकेले में कोई दुष्परिणाम पैदा नहीं करते, विनाश और संहार नहीं करते और न कल्याण ही कर सकते हैं। जैन-दर्शन ने इसीलिए इन आवरणों को 'अघातिया' कर्म कहा है।

अघाती कर्म :

घाती-अघाती कर्म की व्याख्या समझ लेने पर भगवान् महावीर की जीवन-दृष्टि आपके समक्ष स्पष्ट हो जाएगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

अघाती का मतलब है, आत्मस्वरूप को किसी भी प्रकार की घात नहीं पहुँचानेवाला कर्म। आप जीवित हैं, आयुष्य का भोग कर रहे हैं, तो इससे यह मतलब नहीं कि आपकी आत्मज्योति मलिन हो रही है। आप कोई पाप, अनर्थ या बुराई कर रहे हैं। आप यदि शताधिक वर्ष भी जीवित रहते हैं, तो भी इससे कोई आत्मस्वरूप में बाधा पहुँचने जैसी बात नहीं है। नाम कर्म के उदय से सुन्दर एवं दृढ़ शरीर मिला है, इंद्रियों की संपूर्ण सुन्दर रचना हुई है, तो इससे भी आत्मा पतित नहीं हो जाती है। वेदनीय कर्म से सुख-दुःख की उपलब्धि होती है, किन्तु न सुख आत्मज्योति को मलिन करता है और न दुःख ही। ऊँच-नीच गोत्र मिलने से भी आत्मा कोई ऊँची-नीची नहीं हो जाती। इस प्रकार आप देखेंगे कि जैन-दर्शन का संघर्ष बाह्य में नहीं है। बाह्य से कभी वह न डरता है और न लड़ता है। उसका संघर्ष तो मात्र भीतर से है।

बाहर में धन है, तो उससे क्या? धन स्वयं में न कोई बुराई है, न भलाई। बुराई भलाई, हानि-लाभ तो उसके उपयोग में है। उपयोग का यह तत्त्व भावना में रहता है। यदि आप उसका सदुपयोग करते हैं, तो उस धन से पुण्य भी कर सकते हैं, सेवा भी कर सकते हैं। घर में बच्चा भूखा है, आप दूध पी रहे हैं, और उसे दूध नहीं मिला है। आप सोचते हैं कि मैं आज नहीं पीऊँगा, दूध बच्चे को दे देना चाहिए। घर या पड़ोस में कोई अस्वस्थ है, उसे आवश्यकता है, अब आप अपनी वस्तु को उसे समर्पित कर देते हैं, यह वस्तु का सदुपयोग है। यदि आप वस्तु का गलत नियोजन करते हैं, धन से शराब और वेश्या-गमन आदि की वृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं, तो वही वस्तु बुरी भी बन जाती है।

धर्म : एक शाश्वत दर्शन :

कहने का अभिप्राय यह है कि धन से बुराई का जन्म नहीं होता, बल्कि मन से होता है। मन मैला है, घूरा है, तो वहाँ कुछ भी डाल दो, कीड़े ही पैदा होंगे। मन अगर स्वच्छ है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उर्वर खेत है, तो वहाँ गन्दी से गन्दी चीज भी उर्वरक बन जाएगी, फसल खड़ी कर देगी। इसलिए धर्म कहता है—सबसे पहले मन को तैयार करो। मन को शिक्षण दो, ताकि वह समय पर सही निर्णय करने में समर्थ हो सके, गलत काम से बच सके। धर्म का दर्शन और चिन्तन मन को तैयार करने का उपक्रम है।

सैद्धान्तिक चर्चाएँ, अथवा समस्त दार्शनिक विचारणाएँ वर्तमान में भले ही विशेष उपयोगी प्रतीत न हों, पर मन की भूमिका तैयार करने में इनका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए हमारा धर्म केवल धर्म ही नहीं, दर्शन भी है। धर्म जीवन व्यवहार का विधायक है, तो दर्शन उसका मार्गद्रष्टा है। साधारण लोगों के जीवन में धर्म केवल धर्म रूप ही रहता है, वह सिर्फ वर्तमान का एक सत्कर्म मात्र रहता है, किन्तु विवेकशील व्यक्ति के जीवन में धर्म दर्शन के रूप में प्रवेश करता है। वह सिर्फ कर्म ही नहीं, बल्कि चिंतन भी बन जाता है, जीवन का मार्गद्रष्टा बन जाता है। मन को सही निर्णय करने की ट्रेनिंग देता है। किसी भी समय में, कैसी भी परिस्थिति में, यदि मन भटकता है, तो दर्शन उसको सही मार्ग पर ले आता है। इस तरह धर्म वर्तमान जीवन को व्यवस्थित करता है, तो दर्शन भविष्य के लिए मन की भूमिका तैयार करता है। मन को किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए निपुण एवं दक्ष बनाता है।

धर्म के पहलवान !

हम एक बार एक गाँव में गए। वहाँ बहुत बड़े दंगल की तैयारी हो रही थी। उस गाँव में एक पहलवान था, बड़ा दबदबा था उसका। गाँव वालों को भी उस पर बड़ा नाज था। उसके लिए गाँव वालों ने अलग से एक भैंस ले रखी थी। उस भैंस का मक्खन व दूध उसे रोज चटाया जाता, उसकी हर आवश्यकता की पूर्ति के लिए गाँव वाले दिल खोल कर खर्च करते और वह जब गलियों से निकलता, तो बड़ा लम्बा-चौड़ा होकर निकलता ! एक बार उस पहलवान को किसी बाहर के पहलवान ने चुनौती दी, और उसी के गाँव में दंगल होना भी तय हुआ ! समय पर सब लोग मैदान में उसका इंतजार कर रहे थे, पर वह घर से निकला तक नहीं। कहीं जाकर दुबक गया। गाँव वालों ने उसकी बड़ी थू-थू की और कहा, गाँव की नाक कटा दी, इज्जत मिट्टी में मिला दी।

धर्म के क्षेत्र में भी ऐसे पहलवानों की कमी नहीं है। वे धर्म क्रिया की भैंस का दूध-मक्खन चाटते रहते हैं, मंदिर व धर्मस्थान में पहलवानी करते रहते हैं, तो लोगों को लगता है, पहलवान बड़ा तगड़ा है, जीवन-संघर्ष में निश्चित ही विजयी होगा। किन्तु, जब मान-अपमान एवं हानि-लाभ के द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं, धर्म की परीक्षा का समय आता है, निर्णायक घड़ी आती है, तो वे पहलवान फिसड्डी बन जाते हैं, उनका मन निस्तेज और निष्प्राण हो जाता है। वे कर्तव्य-अकर्तव्य का उचित निर्णय नहीं कर सकते, धर्म-अधर्म का फैसला नहीं कर सकते, उनका मन पीछे की खिड़की से भागने का प्रयत्न करने लगता है।

अतः यह स्पष्ट है, समय पर न्यायोचित कर्तव्य के लिए तैयार रहना, यह मन की ट्रेनिंग है, इसके लिए केवल धर्मक्रिया की भैंस का दूध पीते रहना ही काफी नहीं है, सिद्धान्त और दर्शन की जिन्दादिली भी आवश्यक है। यह जिन्दादिली ही मन की तैयारी है, जो समय पर सही निर्णय देने में समर्थ होती है।

अंतरंग असंगता :

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मन की भूमिका ऐसी होनी चाहिए कि वह शरीर, इन्द्रिय, धन आदि को सत्कर्म में नियोजित कर सके। वृत्तियों को उदात्त रूप दे सके ! शरीर, इन्द्रिय आदि तो प्रारब्ध के भोग हैं, रथ के घोड़े हैं, इन्हें जहाँ भी जोड़ा जाए, वहीं जुड़ जाएँगे और जिधर भी मोड़ा जाए, उधर ही मुड़ जाएँगे। किधर मोड़ना है, यह निर्णय मन को करना होगा। यदि राग-द्वेष की ओर इनकी गति होगी, तो वे बन्ध के कारण होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि असंगवृत्ति और आत्माभिमुखता की ओर गति होगी, तो वे ही मुक्ति का कारण बन जाएँगे।

"बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्
—मैत्रायणी आरण्यक, ६, ३४, ११.

भारतीय चिंतन कहता है कि एक चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रही हो सकता है, एक गली का भिखारी भी, जिसके पास भीख माँगने के लिए फूटा ठीकरा भी नहीं है, उतना ही परिग्रही हो सकता है। बाहर में दोनों के परिग्रह की कोई तुलना नहीं है, आकाश-पाताल का अन्तर है, किन्तु भीतर में उस भिखारी की आसक्ति, मोह-मुग्धता उस सम्राट् से कम नहीं है, बल्कि कुछ ज्यादा ही हो सकती है।

भरत चक्रवर्ती, जिसके लिए कहा गया है कि उनका जीवन जल में कमल की भाँति था, चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठ कर भी उनका मन ऋषि का था, सच्चे साधक का मन था। अतः वह शीशमहल में प्रविष्ट होते हैं एक चक्रवर्ती के रूप में, और निकलते है 'अर्हन्त' केवली के रूप में। कितना विलक्षण जीवन है! यह स्थिति जीवन के अंतरंग चित्र को स्पष्ट करती है, मन की असंगता का महत्त्व दर्शाती है। मन को राग-द्वेष से मुक्त करने के लिए आन्तरिक असंगता का ही महत्त्व है।

स्वार्थ : 'ही' या 'भी' :

शरीर और इन्द्रिय, जाति और गोत्र, धन और प्रतिष्ठा—ये सब अघाति हैं, आत्मस्वरूप की घात इनसे नहीं होती, साधना में किसी प्रकार की बाधा इनसे नहीं आती। जो बाधक तत्त्व है, वह मोह है, मन की रागात्मक वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का यदि आप उदात्तीकरण कर देते हैं, इनके प्रवाह को ऊर्ध्वमुखी बना देते हैं, तो ये आपके अनुकूल हो जाती हैं, आपकी साधना में तेजस्विता ला सकती हैं। आप अपनी स्थिति में आ जाते हैं। आत्मा का जो जोतिर्मय स्वरूप है, उस स्थिति के निकट पहुँच जाते हैं। और, यदि इनके प्रवाह को नहीं रोक पाते हैं, तो पतन और बंधन निश्चित है।

आप लोग 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु स्वार्थ का अर्थ क्या है? स्वार्थ की परिभाषा है 'स्व' का अर्थ! 'स्व का मतलब आत्मा है, आत्मा का जो लाभ एवं हित है, वह है स्वार्थ!' स्वार्थ की यह कितनी उदात्त परिभाषा है! जिन प्रवृत्तियों से आत्मगुणों का अभ्युदय होता है, वह प्रवृत्ति कभी भी बुरी नहीं होती, हेय नहीं होती। किन्तु 'स्वार्थ' का जब आप निम्नगामी अर्थ कर लेते हैं, अपने शरीर और अपने व्यक्तिगत भोग तक ही उसका अर्थ लेते हैं, तब वह कलुषित अर्थ में प्रयुक्त हो जाता है। उसमें भी एक दृष्टि है—यदि आप स्वार्थ के दोनों अर्थ समझते हैं और अनेकांत दृष्टि के साथ इनका प्रयोग करते हैं, तो कोई बात नहीं। 'स्वार्थ' अर्थात् आत्मा के हित में भी, 'स्वार्थ' अर्थात् इन्द्रिय व शरीर के हित में भी। इस प्रकार आप 'भी' का प्रयोग करिए। शरीर व इन्द्रियों के भोग को पूरा करना 'ही' यदि लक्ष्य है, तो वह बिल्कुल गलत है, किन्तु यदि इसमें 'भी' लग जाती है, तो कोई आपत्ति नहीं। शरीर के भोगों को 'भी' यथोचित पूरा करना, इसके साथ धर्म का अवरोध नहीं है, किन्तु इसमें 'ही' के लगते ही धर्म का केन्द्र टूट जाता है, वह एकांतवादी दृष्टिकोण हो जाता है। जैन-दर्शन के बहश्रुत आचार्य भद्रबाहु ने बतलाया है कि धर्म, अर्थ और काम में परस्पर शत्रुता नहीं है, विरोध नहीं है। धर्मानुकूल अर्थ, काम का जिन-धर्म में कतई विरोध नहीं है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि साधक शरीर आदि से निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता, किन्तु एकान्त सापेक्ष भी नहीं हो सकता। उसे आत्मा के केन्द्र पर 'भी'

१. धम्मो अत्थो कामो, भिन्नेते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिण्णा, असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवै०, नि० २६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना है, और शरीर के केन्द्र पर 'भी'। व्यक्तिगत भोग व अपेक्षा की भी पूर्ति करनी है, और अनासक्त धर्म की साधना भी! 'भी' का अर्थ है सन्तुलन! दोनों केन्द्रों का, दोनों पक्षों का संतुलन किए बिना जीवन चल नहीं सकता।[1]

दो घोड़ों की सवारी :

एक युवक मेरे पास आया। वह कुछ खिन्न व चिंतित-सा था। बात चली, तो उसने पूछा—मैं क्या करूँ, कुछ रास्ता ही नहीं सूझ रहा है? मैंने कहा—क्या बात है? बोला—माँ और पत्नी में बात-बात पर तकरार होती है, लड़ाई होती है, आप बतलाइए मैं किसका पक्ष लूँ?

मैंने हँसकर कहा—"यह बात तुम मुझसे पूछते हो...? खैर, यदि पक्ष लेना है, तो दोनों का लो, दो पक्षों का संतुलन रख कर ही ठीक निर्णय किया जा सकता है। पक्षी भी आकाश में उड़ता है, तो दोनों पंख बराबर रखकर ही उड़ सकता है, एक पंख से गति नहीं होती। यदि तुम पत्नी का पक्ष लेते हो, तो माँ के गौरव पर चोट आती है, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ता है, और माँ का पक्ष लेते हो, तो पत्नी पर अन्याय होता है, उसका स्वाभिमान तिलमिला उठता है। इसलिए दोनों का सन्तुलन बनाए बिना गति नहीं है। दोनों को समाधान तभी मिलेगा, जब तुम दोनों के पक्ष पर सही विचार करोगे और यथोचित सन्तुलन बनाओगे।"

आप दुकान पर जाते हैं, और घर पर भी आते हैं, यदि दुकान पर ही बैठे रहे, तो घर कौन संभालेगा, और घर पर ही बैठे रहे, तो दुकान पर धन्धा कौन करेगा? न घर पर 'ही' रहना है, न दुकान पर 'ही'। बल्कि, घर पर 'भी' रहना है और दुकान पर 'भी'। दोनों का सन्तुलन बराबर रखना है। शायद आप कहेंगे—यह तो दो घोड़ों की सवारी है, बड़ी कठिन बात है। मैं कहता हूँ—यही तो घुड़सवारी की कला है। एक घोड़े पर तो हर कोई चढ़ कर यात्रा कर सकता है। उसमें विशेषता क्या है? दो घोड़ों पर चढ़कर जो गिरे नहीं, बराबर चलता रहे, सन्तुलन बनाए रखे, यही तो चमत्कार है।

मनुष्य को जीवन में दो क्या, हजारों घोड़ों पर चढ़कर चलना होता है। घर में माता-पिता होते हैं, उनका सम्मान रखना पड़ता है, पत्नी होती है, उसकी समस्या भी पूरी करनी पड़ती है, छोटे भाई, बहन और बच्चे होते हैं, तो उनको भी ठीक रखना होता है, समाज के मुखिया, नेता और धर्मगुरुओं का भी आदर करना होता है—सर्वत्र संतुलन बनाकर चलना पड़ता है। यदि कहीं थोड़े से भी घबड़ा गए, सन्तुलन बिगड़ गया, तो कितनी परेशानी होती है, मुझसे कहीं ज्यादा आप इस बात का अनुभव करते होंगे। यह संतुलन तभी रह सकता है जब आप 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करेंगे। जैनधर्म, जो मनुष्य के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करता है, जीवन से इन्कार नहीं, इकरार सिखाता है, वह जीवन को सुखी, कर्तव्य-निष्ठ और शांतिमय बनाने के लिए इसी 'भी' की पद्धति पर बल देता है, वह जीवन में सर्वत्र संतुलन बनाए रखने का मार्ग दिखाता है।

'स्व' का संतुलन :

मैं प्रारम्भ में आपको कुछ राजाओं की बात सुना चुका हूँ, उनके जीवन में वे विकथाएँ, और दुर्घटनाएँ क्यों पैदा हुईं? आप सोचेंगे और पता लगाएँगे तो उनमें 'स्व' का असंतुलन ही मुख्य कारण मिलेगा। मैंने आप से बताया कि 'स्व' का अर्थ आत्मा भी होता है और

---

१. (क) भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति
—आप स्तम्ब० २।८।२०।२२-२३

(ख) धर्माविरुद्धः कामोस्मि। —गीता

(ग) धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। —कौटिल्य अर्थ० १।७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर भी। मनुष्य का आभ्यंतर व्यक्तित्व भी 'स्व' है और बाह्य व्यक्तित्व भी! 'स्व' का भीतरी केन्द्र आत्मा है, आत्मा के गुण एवं स्वरूप का विकास करना, उसकी गुप्त शक्तियों का उद्घाटन करना, यह 'स्व' का भीतरी विकास है। 'स्व' का दूसरा अर्थ स्वयं, शरीर आदि है। 'स्वयं' का, अर्थात् परिवार, समाज तथा राष्ट्र का पोषण, संरक्षण एवं संवर्धन करना। यही 'स्व' का बाह्य-आभ्यंतर संतुलन है। मनुष्य के इस बाह्य-आभ्यंतर 'स्व' का संतुलन जब बिगड़ जाता है, तब राष्ट्रों में ही क्या, हर परिवार व घर में रावण और दुर्योधन पैदा होते हैं। कंस व कुणिक-से पुत्र जन्म लेते हैं। रामगुप्त और औरंगजेब का उद्भव होता है। और, तब व्यक्ति और समाज, धर्म और राष्ट्र रसातल की ओर जाते हैं।

जैन-दर्शन ने मनुष्य के 'स्व' को, स्वार्थ को बहुत विराट् रूप में देखा है और उसके व्यापक विकास की भूमिका प्रस्तुत की है। उसके समक्ष बाह्य और आभ्यंतर—दोनों प्रकार से, स्वार्थ की पूर्ति का संकल्प रखा है, किन्तु दोनों के संतुलन के साथ। 'भी' के साथ, न कि 'ही' के साथ। आध्यात्मिक विकास की ओर भी उन्मुख होना है, जीवन में वैराग्य, निस्पृहता और आत्मलीनता का विकास भी करना है और परिवार व समाज के उत्तरदायित्वों को भी निभाना है। जीवन में दरिद्र और भिखारी रह कर धर्म-साधना का उपदेश जैन-दर्शन नहीं करता। वह तो आपका आभ्यन्तर जीवन भी सुखी व संपन्न देखना चाहता है और बाह्य जीवन भी। इन दोनों का सन्तुलन बनाकर चलना—यही वृत्तियों का उदात्तीकरण है, जीवन का ऊर्ध्वमुखी स्रोत है। और, यह वह उत्स है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर जाने वाली धाराएँ साथ-साथ बहती हैं।[1] बस, यही तो धर्म का मर्म है।

●

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।—वैशेषिक दर्शन, १-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन निज में स्वयं विकस्वर,
होता सद्गुण के बल से।
बाह्य-भाव तो साधन भर है,
सत्य-स्रोत अन्तस् स्थल से।।

फूल स्वयं अन्दर से खिलता,
चहुं दिशि महक फैल जाती।
गुंजन करती द्रुत भ्रमरों की,
टोली खुद ही आ जाती।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८

आत्म-बोध : सुख का राज-मार्ग

यह विशाल संसार दो तत्त्वों से निर्मित है। सृष्टि का यह विशाल रथ उन्हीं दो चक्कों पर चल रहा है। एक तत्त्व है, चेतन अर्थात् जीव ! और दूसरा तत्त्व है, जड़ अर्थात् अजीव। चेतन तत्त्व अनन्त काल से अपना खेल खेलता चला आ रहा है और जड़ तत्त्व उसका साथी है, जो अनन्त-अनन्त काल से इस खेल में चेतन का साथ देता आया है। इस संसार-नाटक के ये दो ही सूत्रधार हैं। वास्तव में इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया और अच्छी-बुरी हलचल का ही नाम संसार है। जिस दिन ये दोनों साथी अलग-अलग बिछुड़ जाएँगे, एक-दूसरे का साथ छोड़ देंगे, उस दिन संसार नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। किन्तु, आज तक कभी ऐसा हुआ नहीं, संभवतः होगा भी नहीं। किसी एक जीव की दृष्टि से भले ही परस्पर सम्बन्ध विच्छेद हुआ है, परन्तु समग्र जीवों की दृष्टि से कभी ऐसा नहीं हुआ और न होगा।

चेतन का बोध :

सामान्य मनुष्य इन दोनों साथियों को अलग-अलग छाँट नहीं सकता। यद्यपि इनके स्वभाव में एकदम विपरीतता है, फिर भी इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि उनका भेद जानना बड़ा ही कठिन होता है। प्रायः हर व्यक्ति के हर मानस में यह प्रश्न उठा करता है कि—शरीर, इन्द्रिय और मन के पुद्गल पिण्डों में, जो स्वयं भी अनन्तानन्त परमाणु रूप पुद्गल पिण्डों से निर्मित है, उसमें आत्म-तत्त्व का निवास कहाँ है? वह अन्दर-ही-अन्दर क्या करता रहता है? आत्मतत्त्व को समझने के लिए इस प्रश्न का उत्तर जरूरी है। शब्दशास्त्र के माध्यम से इतना पता तो है कि वह आत्मा है। किन्तु मात्र इतने जवाब से तो जिज्ञासा शांत नहीं होती। यह तो मिथ्यात्वी भी जानता है कि शरीर के भीतर एक आत्मा है। कोई उसे रूह, सोल या पुरुष नाम से सम्बोधित करके बतला देते हैं, तो कोई आत्मा कहकर उसका परिचय देते हैं।

जैन शास्त्रों की गहराई में जाने से मालूम होगा कि "मैं" शरीर नहीं, शरीर से भिन्न आत्मा हूँ। किन्तु इतना-सा ज्ञान तो अभव्य को भी रहता है। इस जानकारी के आधार पर तो कोई आत्मज्ञानी नहीं बन सकता। जब इसके आगे की श्रेणी पर चढ़ेंगे, आत्मा और शरीर की भिन्नता का प्रत्यक्ष अवबोध करने की ओर अग्रसर होंगे, तब कहीं कुछ मार्ग मिलेगा।

प्रत्यक्ष और परोक्ष :

प्रारम्भिक साधक को आत्मा और शरीर की भिन्नता की प्रतीति से आत्म-ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि परोक्षरूप में होता है। इसमें आत्म-ज्ञान की एक अस्पष्ट और धुँधली-सी झाँकी मिलती है और पता चलता है कि अन्तर् में जैसे शरीर से भिन्न कुछ है, किन्तु परोक्ष-बोध स्पष्ट परिबोध नहीं है, अतः आत्म-बोध का पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है, और परोक्ष अस्पष्ट। इस सम्बन्ध में प्राचीन दर्शन सूत्र हैं—

"स्पष्टम् प्रत्यक्षम्, अस्पष्टम् परोक्षम्।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा बिना किसी अन्य के माध्यम से सीधा ही जो ज्ञेय का परिज्ञान करती है, वह स्पष्ट है, अतः प्रत्यक्ष है। और, जिस ज्ञान के होने में आत्मा और ज्ञेय वस्तु के बीच में सीधा सम्बन्ध न होकर, कोई माध्यम हो, जिसके सहारे ज्ञान प्राप्त किया जा सके, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। किसी दृश्य और घटना का अपनी आँखों से साक्षात्कार किया, यह भी एक बोध है, और किसी ने अन्य व्यक्ति से सुनकर या समाचार-पत्रों में पढ़कर उसी दृश्य और घटना की जानकारी प्राप्त की, यह एक अन्य ही बोध है। इस प्रकार ज्ञान तो दोनों ही प्रकार से प्राप्त हुआ है, किन्तु जो साक्षात् बोध अपनी आँखों से देखकर हुआ है, वह कुछ और है, और किसी से सुनकर या पढ़कर जो बोध प्राप्त हुआ है, वह कुछ और है। यदि हमारी आँखों के सामने अग्नि जल रही है, उसमें ज्वालाएँ धधक रही हैं, चिनगारियाँ निकल रही हैं, उसका तेज चमक रहा है, तो यह एक प्रकार से अग्नि का वह ज्ञान हुआ, जिसे हम प्रत्यक्ष या स्पष्ट ज्ञान कहते है। और, कहीं जंगल में से गुजर रहे हों और दूर क्षितिज पर धुआँ उठता हुआ दिखाई देता हो, तो उसे देखकर कह देते हैं कि वहाँ अग्नि जल रही है, यह अग्नि का परोक्ष ज्ञान या अस्पष्ट ज्ञान हुआ। पहले उदाहरण में अग्नि का ज्ञान अपनी आँखों से स्पष्ट और प्रत्यक्ष सामने देखकर हुआ, और दूसरे उदाहरण में धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान के द्वारा हुआ। ज्ञान दोनों ही सच्चे हैं। इनमें किसी को भी असत्य करार नहीं दे सकते, किन्तु ज्ञान के जो ये दो प्रकार हैं, उनके स्वरूप-बोध में स्पष्ट अन्तर है, क्योंकि उनकी प्रतीति एवं पद्धति भिन्न-भिन्न है। दोनों के दो रूप हैं। स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में दृश्य का कुछ और ही रूप दिखाई पड़ता है, जबकि परोक्ष ज्ञान में अर्थात् अनुमान से कुछ दूसरा ही अनुभूति में आता है। पहले ज्ञान में अग्नि और आँख का सीधा सम्बन्ध होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में आँख का सम्बन्ध धूम से होता है और पश्चात् धूम से अविनाभावी अग्नि का अनुमान बाँधा जाता है।

ऊपर का विवेचन लौकिक प्रत्यक्ष को लक्ष्य में रखकर किया गया है। सर्वसाधारण जनता में यही प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्वरूप है। परन्तु दर्शनशास्त्र की गहराई में जाते हैं, तो यह इन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्ष भी वास्तव में परोक्ष ही है। क्योंकि दर्शन में स्पष्टता और अस्पष्टता की परिभाषा लोक प्रचलित नहीं है। दर्शन में तो जो निमित्त-सापेक्ष है, वह अस्पष्ट है और जो निमित्त-निरपेक्ष है, वह स्पष्ट है। अतःमति और श्रुत ज्ञान को शास्त्रकारों ने परोक्ष ज्ञान माना है।

मति और श्रुत :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। क्योंकि इनसे वस्तु का निमित्त-निरपेक्ष साक्षात् बोध नहीं होता है। मति और श्रुत में आत्मा किसी भी ज्ञेय वस्तु को जानने के लिए इन्द्रिय और मन के निमित्त की सहायता लेती है, आत्मा से ज्ञेय का निमित्त-निरपेक्ष सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। रूप का ज्ञान आँखों के सहारे से होता है। आत्मा को रूप का ज्ञान तो जरूर हो जाता है, परन्तु उक्त रूप ज्ञान का वह साक्षात् ज्ञाता न होकर आँखों के माध्यम से ज्ञाता होती है। अतः यह रूप का साक्षात्कार प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, क्योंकि रूप और आत्मा के बीच में आँखों का माध्यम रहता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान के लिए शब्द और आत्मा के बीच भी सीधा सम्बन्ध न होकर, कान के माध्यम से सम्बन्ध होता है। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। रस का ज्ञान जिह्वा के निमित्त अर्थात् माध्यम से होता है, गन्ध का ज्ञान घ्राण से और शीतादि स्पर्श का ज्ञान स्पर्शन-इन्द्रिय से होता है। और जो मनन, चिंतन तथा शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान होता है, उसमें विशिष्ट रूप से मन निमित्त होता है। यदि आँख और कान आदि इन्द्रियाँ ठीक है और स्वस्थ हैं, तो उन इन्द्रियों के माध्यम से रूप आदि का बोध अनुभूति में आता है, अन्यथा नहीं। यदि इन्द्रियों के माध्यम में कोई विकार या दोष आ जाता है, तो वह रूप आदि का बोध भी अवरुद्ध हो जाता है, एक प्रकार से ज्ञान के द्वार पर ताला लग जाता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरेन्द्रिय आदि जीवों में जिन-जिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की हीनता होती है, उन्हें उनके माध्यम से होनेवाला ज्ञान भी अनुभूत नहीं हो पाता। इस प्रकार आत्मा स्वयं ज्ञाता होकर भी मन तथा इन्द्रियों के आश्रित रहती है। इसी कारण से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है।

आत्म-बोध : ज्ञान की सही दिशा :

आत्मा का ज्ञान, जो प्रायः सभी साधकों को हो रहा है, वह कौन-सा ज्ञान है? उसके माध्यम में न आँख है, न कान है, न नाक है, न जिह्वा है और न त्वचा है, इस ज्ञान का माध्यम है—मन! आत्मा के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो वर्णन आया है, उसे हम पढ़ते हैं, फिर चिन्तन-मनन करते हैं, और तब मन के चिंतन द्वारा आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है। यह आत्मा का बोध परोक्ष बोध है, क्योंकि इसमें मन निमित्त है। आत्मा का प्रत्यक्ष बोध तो एकमात्र केवलज्ञान से ही होता है। परन्तु, यह परोक्ष बोध भी कुछ कम महत्त्व का नहीं है। वास्तव में आत्मा का सम्यक्-बोध होना ही, ज्ञान की सही दिशा है, इसी का नाम 'सम्यक्त्व' है। इसे हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता। यह ज्ञान उसी को होता है, जिसकी मन की चिन्तन क्रिया स्वच्छ, निर्मल एवं विशिष्ट प्रकार की होती है। स्वच्छ निर्मल मनवाला व्यक्ति ही आत्मा के मंदिर में प्रवेश कर सकता है और उसकी झाँकी देख सकता है। हर किसी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं कि वह यों ही राह चलता आत्ममंदिर में प्रवेश कर ले और आत्म-देवता की झाँकी देख ले। इसके लिए विशिष्ट साधना एवं निर्मलता की अपेक्षा रहती है। आत्मा का यह बोध मन के माध्यम से होता है, अतः इसको परोक्ष ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान कहते हैं। परन्तु, यह परोक्ष बोध आत्मा के प्रत्यक्ष बोध की ओर ले जाता है, आज परोक्ष है, तो वह कभी-न-कभी प्रत्यक्ष भी अवश्य हो जाएगा।

अवधि और मनःपर्याय :

एक प्रश्न है कि गणधर गौतम स्वामी आदि को जो आत्मा का ज्ञान था, वह किस प्रकार का ज्ञान था? क्या उन्हें अवधि और मनःपर्याय ज्ञान से आत्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ था? क्या अवधि और मनःपर्याय ज्ञान से आत्मा का बोध हो सकता है?

उत्तर स्पष्ट है कि अवधिज्ञान की पहुँच आत्मा तक नहीं है। उसके निमित्त से तो बाहर के रूपी जड़ पदार्थों का अर्थात् पुद्गलों का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस अर्थ में तो अवधिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान ही श्रेष्ठ है, ताकि उसके सहारे कम से कम हमें आत्मा का ज्ञान तो प्राप्त होता है। भले ही यह परोक्ष बोध हो, परन्तु आत्मबोध तो होता है। अवधिज्ञान से तो जड़ पुद्गल से भिन्न आत्मा का परोक्ष बोध भी नहीं होता। अवधिज्ञान से संसार भर के जड़ पुद्गल पदार्थों का ज्ञान तो हो जाएगा, किन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान से उत्पन्न आत्मबोध के अभाव में वह ज्ञान राग-द्वेष का ही कारण बनेगा। तब राग-द्वेष के विकल्पों के प्रवाह में आत्मा को संभाल कर रोकनेवाला कोई नहीं रहेगा। अवधिज्ञान कोई बुरा नहीं है, किन्तु उस ज्ञान को सही दिशा देने वाला सम्यक्-तत्त्व श्रुतज्ञान ही है। यदि वह नहीं है, तो अवधिज्ञान बुरे रास्ते पर जा सकता है। अवधिज्ञान तो अभंग या विभंग रूप में नारक तथा देवताओं में भी होता है, परन्तु आत्मबोध के अभाव में उनकी भी स्थिति कोई अच्छी नहीं है। जिसे हम स्वर्ग कहते हैं और सुख की कल्पना का एक बहुत बड़ा आधार बनाते हैं, उस स्वर्ग में भी आत्मबोध-शून्य मिथ्यादृष्टि देवताओं में परस्पर विग्रह-चोरी आदि के दुष्कर्म होते रहते हैं। सम्यक्-श्रुत के अभाव में, यह अवधिज्ञान भी अज्ञान ही माना गया है। इससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता।

मनःपर्यव ज्ञान सम्यक्त्व और साधुत्व के आधार के बिना होता ही नहीं, अतः यह श्रेष्ठ ज्ञान है। परन्तु यह भी आत्मबोध नहीं कर सकता है। इस ज्ञान से अन्य प्राणी के मानसिक विकल्पों का ज्ञान हो जाता है, परन्तु इससे भी क्या लाभ? अपने मन के विकल्पों का जाल ही बहुत विकट है। मन की गति बड़ी विचित्र है। यह इतना शैतान है कि आसानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अधिकार में नहीं आ पाता। और, जब उसके ही विकल्प परेशान कर रहे हैं, वही निर्मल नहीं हुआ है, समभाव उसे नहीं छू सका है, तो फिर संसार भर के मन के विकल्पों को जानने का ठेका हम अपने सिर क्यों लें! सम्यक्-बोध के अभाव में उस भार से आत्मा को शान्ति नहीं, अशान्ति ही मिलेगी।

अपना स्वरूप :

मन के ज्ञान की उपलब्धि के पूर्व संसार के राग-द्वेष के विष से मुक्त रहने के लिए वीतराग भाव की आवश्यकता है। यदि वीतराग भाव है, तो मन का ज्ञान भी ठीक है और दूसरे ज्ञान भी ठीक हैं, यदि वह नहीं है, तो कोई भी ज्ञान होगा, वह परेशानी का ही कारण बनेगा। इसीलिए मनःपर्याय ज्ञान और अवधिज्ञान से पहले आत्मबोध कराने वाले सम्यक्-श्रुतज्ञान का नाम आता है।

सम्यक्-श्रुतज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी होती है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? और, मेरी जीवन-यात्रा की मंजिल क्या है? शास्त्रों के अध्ययन एवं श्रवण के द्वारा ही साधक को पता लगता है कि शरीर और आत्मा एक नहीं हैं। अतः मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ। आत्मा ही नहीं, शुद्ध आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। मैं अजर-अमर निर्विकार शुद्ध चैतन्य हूँ। साधारणतया आत्मा का बोध अभव्य एवं मिथ्यादृष्टि को भी हो जाता है। किन्तु वह आत्मा के परमात्मभाव का बोध नहीं कर सकता, शुद्ध-स्वरूप का सच्चा श्रद्धान नहीं कर सकता। उसकी धर्म क्रियाओं के पीछे भी सिर्फ भौतिक अभिलाषाएँ, स्वर्ग की प्राप्ति, यश और कीर्ति आदि की आकांक्षाएँ ही अधिक रहती हैं। उसके ज्ञान के पीछे अपने शुद्ध स्वरूप का भान नहीं रहता कि मैं निर्मल निर्विकार ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ। काम, क्रोध, लोभ आदि मेरे स्वभाव नहीं, बल्कि विभाव हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान स्वरूप है, शान्ति और सुख का स्वरूप है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके भी कुछ लोग यह सोचने लग जाते हैं कि "मैं तो पापी हूँ, क्षुद्र हूँ, मेरा कल्याण नहीं हो सकता।" यह अपने शुद्ध मूल स्वरूप की विस्मृति है। वास्तव में स्वर्ण पर चाहे कितनी ही गंदगी डाल दी जाए, मिट्टी की कितनी ही तह पर तह जमा कर दी जाएँ, किन्तु स्वर्ण का मूल स्वरूप कभी भी गंदा नहीं हो सकता। गंदी जगह पर पड़े रहने से जिस प्रकार स्वर्ण पर ऊपर से गंदगी आ जाती है, उसी प्रकार वासना, मोह आदि गंदी विचारधाराओं में गोता लगाने से आत्मा पर भी गंदगी की परतें चढ़ जाती हैं, जिसे देखकर हम सोचने लग जाते हैं, हम तो पापी हैं, अशुद्ध स्वरूप हैं। वास्तव में आज के धार्मिक इन्हीं दुर्बल भावनाओं के शिकार हो रहे हैं, और इसी कारण उनका आत्मबोध का तेज धुँधला पड़ रहा है, उनकी आत्मा की शक्ति क्षीण पड़ रही है। अतः उन्हें साधना का रसास्वाद ठीक तरह नहीं मिल रहा है। एकबार आत्मा की मलिनता का बोध प्राप्त कर लो और फिर बस अब उस मलिनता को दूर करने में जुट जाओ। हर क्षण मलिनता का रोना रोने से क्या लाभ है? मलिनता रोने के लिए नहीं, समझ पूर्वक दृढ़ता से दूर करने के लिए है।

जैसा चाहो, वैसा बनो :

जैन-दर्शन इस बात पर विश्वास करता है कि आत्मा जैसा चिंतन-मनन करेगी, जिन लेश्या और योगों में वर्तन करेगी, वैसी ही बन जाएगी। यदि आप के मनोयोग शुद्ध और पवित्र रहते हैं, आपकी भाव-धाराएँ—लेश्याएँ प्रशस्त रहती हैं, तो कोई कारण नहीं कि आप गंदे और निकृष्ट बनें। संस्कृत में एक सूक्ति है—**"यद् ध्यायति, तद् भवती"** प्राणी जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है। जो प्राणी रातदिन पाप ही पाप के विचारों में पड़ा रहेगा, वह पापी बन जाएगा और जो अपने शुद्ध और निर्मल स्वरूप का चिंतन करेगा, वह उस ओर प्रगति करता जाएगा। आत्मा का जो मूल स्वरूप है, उसमें तो कभी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता, उसके भीतर में तो कभी अपवित्रता का कोई दाग नहीं बैठ सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो अपवित्रता है, जो गंदगी है, वह सिर्फ ऊपर की है। अनन्तानन्त-काल बीत गया, किन्तु अब तक उसी गन्दगी में पड़ी आत्मा अपना स्वरूप भूलती रही है, और संसार का चक्कर काटती रही है। अब अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करके, उसे प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। देह, इन्द्रिय, मन तथा काम-क्रोध आदि विकारों की तह के नीचे छिपे उस आत्म रूपी स्वर्ण को अलग निखारना चाहिए। यही सम्यक्त्व है, यही परम-ज्ञान है और यही उस अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का राज-मार्ग है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है—"सुख आत्मा की निर्वेद-निःस्पृह अवस्था है। सुख, शरीर को कभी भी प्राप्त नहीं होता, बल्कि आत्मा में अनुभूत होता है।" अतः यथार्थ आत्म-सुख एवं शाश्वत आत्मानन्द का वास्तविक परिज्ञान करने के लिए, उसका प्रशस्त-पथ, उसका राज-मार्ग है—आत्मा को क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों के मल से दूर कर, नव विकसित सौरभमय पुष्प-पंखुड़ी की तरह खिला पाना है, अन्य कुछ नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख का राजमार्ग है केवल,
आत्म-बोध, निजपन का ज्ञान।
अतः और कुछ नहीं चाहिए,
एक चाहिए अपना भान।।

और न कोई दुःख मूल है,
दुःख मूल है निज अज्ञान।
दुःख मुक्त हो सुख पाना, तो—
निज स्वरूप पर रखिए ध्यान।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

कल्याण का ज्योतिर्मय पथ

अनादिकाल से मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहा है कि कल्याण का मार्ग क्या है? कैसा है? इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। भारतीय-दर्शन-साहित्य में इसके उत्तर एवं समाधान भरे पड़े हैं। अनेक चिन्तकों ने, विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसका जो समाधान करने का प्रयत्न किया, उससे हजारों शास्त्रों का निर्माण हो गया। मानव मन के इस विकट प्रश्न पर आज भी विचार उठ रहे हैं, शंकाएँ और तर्कणाएँ खड़ी हो रही हैं कि आखिर कल्याण के लिए वह किस मार्ग का अवलम्बन ले।

जहाँ प्रश्न है, समाधान भी वहीं है :

मुख्य बात यह है कि समाधान वहीं खोजना चाहिए, जहाँ समस्या खड़ी हुई हो। जहाँ पर समस्या का जन्म हुआ है, वहीं पर समाधान का भी प्रस्फुटन होगा। जहाँ से विकल्प उठकर मन को अशान्त कर रहे हैं, उद्वेलित कर रहे हैं, वहीं पर उनका निराकरण करनेवाली शक्ति का भी उद्भव होगा। यदि प्रश्न अन्दर का है और उत्तर बाहर खोजें तो, आज क्या, अनन्त-अनन्त काल तक भी समाधान नहीं मिल पाएगा! शरीर में एक जगह दर्द पैदा हो गया, वैद्यराज को दिखाया, तो उन्होंने बता दिया कि वायु का दर्द है, सर्दी का दर्द है, या अन्य किसी कारण से हुआ है। अमुक तेल की मालिश करो, आराम हो जाएगा। तेल भी बड़ा कीमती है, आप ले भी आए और मालिश भी करने बैठे। किन्तु दर्द पीठ में है, आपने सोचा पीठ पर हाथ नहीं पहुँच रहा है, चलो पेट पर ही मालिश करलो, आखिर शरीर तो एक ही है न! तो शुरू कर दी आपने मालिश! दो-चार मिनट भी हुए नहीं कि पीठ में तो दर्द छूटा नहीं, पेट में और उठना शुरू हो गया। आप घबरा गए—अरे! यह क्या? कैसा बेवकूफ वैद्य है? कैसी दवा बताई उसने? उलटा दर्द और पैदा कर दिया इसने! तो सोचिए, यह मूर्खता वैद्य की है या आपकी? वैद्य ने तो निदान ठीक ही किया था, किन्तु आपने उसका प्रयोग गलत कर लिया, पीठ के दर्द के लिए पीठ में ही तो मालिश करनी पड़ेगी न! यह तो नहीं होता कि दर्द कहीं, और दवा कहीं। रोग कहीं, और उपचार कहीं। गलती कहीं और उसका अनुसन्धान कहीं और हो।

मैंने एक कहानी भी इस तरह की पढ़ी थी। एक बुढ़िया थी—होगी सत्तर-पचहत्तर वर्ष की, किन्तु फिर भी निठल्ली नहीं बैठी रहती थी वह! यह नहीं कि बुढ़ापा आ गया, अब तो जाने के दिन हैं, अब क्या काम करें? वास्तव में जब आदमी निकम्मा रहता है, तो उसको बुढ़ापा और बीमारी सभी काटने दौड़ते हैं। यदि मन किसी प्रिय विषय में या काम में जुड़ा रहता है, तो उसे यह अनुभव करने का अवसर ही नहीं आने पाता कि मैं बूढ़ा हूँ, क्या करूँ? हाँ, तो बुढ़िया काम कर रही थी सिलाई का। कुछ सी रही थी, कि सूई हाथ से गिर गई। अब वह मिल नहीं रही थी, सन्ध्या का समय था, ज्यादा प्रकाश भी नहीं था, सोचा बाहर सड़क पर नगर महापालिका की बत्ती जल रही है, प्रकाश काफी है, चलो वहीं खोज ली जाए! बाहर सड़क पर आई और इधर-उधर ढूंढने लगी वह! सूई नन्हीं छोटी-सी थी, तो क्या? कितने काम की चीज थी वह। दो टुकड़ों को जोड़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली थी न ! आखिर भेद को मिटा कर अभेद करानेवाली होती है न सूई ! कोई परिचित सज्जन उधर से निकला, बुढ़िया को सड़क पर कुछ खोजते हुए देखा, तो पूछा—'दादी ! क्या खोज रही हैं ?' 'बेटा सूई गिर गई है, उसे खोज रही हूँ।' —बुढ़िया ने अपनी समस्या बताई। आगन्तुक ने सोचा, बेचारी बुढ़िया परेशान है। मैं ही क्यों न खोज दूं। उसने इधर-उधर बहुत खोजा, पर सूई न मिली। आखिर पूछा—'दादी ! कहाँ खोई थी सूई ? किधर गिरी थी ?'

बुढ़िया ने कहा—"बेटा ! गिरी तो अन्दर थी, लेकिन अन्दर प्रकाश नहीं था, इसलिए सोचा, चलो प्रकाश में खोज लूं, प्रकाश में कोई भी चीज दिखाई पड़ जाती है।" आगन्तुक ने यह सुना, तो बड़े जोर से हँस पड़ा, कहा—"दादी ! सूई घर में खोई है, तो सड़क पर ढूंढने से क्या फायदा ? जहाँ खोई है, वहीं तो मिलेगी न !"

इस उदाहरण से भी यही ज्ञात होता है कि जहाँ हम भूल कर रहे हैं, वहीं पर समाधान भी ढूंढ़ना चाहिए। यह नहीं कि भूल कहीं, खोज कहीं ! कहीं हम भी बुढ़िया की तरह मूर्ख तो नहीं बन रहे हैं ?

मनुष्य अन्दर से अशान्त है, व्याकुलता अनुभव कर रहा है, अपने को खोया-खोया-सा अनुभव कर रहा है। अब यदि वह अशान्ति का समाधान शान्ति के द्वारा करना चाहता है, अपना जो 'निज' है, उसे पाना चाहता है, तो उसे अपने अन्तर्मन में ही खोजना चाहिए, या बाहर में ? घर में यदि अन्धेरा है, तो वहाँ दीपक जलाकर प्रकाश करना चाहिए। दूसरी जगह भटकने से तो वह भटकता ही रह जाएगा ! तो हमारे इस प्रश्न का, जो कि हमने प्रारम्भ में ही उठाया है—कि कल्याण और उन्नति का मार्ग क्या है ? उसका समाधान भी अपने अन्तर् में ही ढूंढना चाहिए ! थोड़ी-सी गहराई में उतर कर यदि हम देखेंगे, तो इसका उत्तर आसानी से मिल जाएगा। तुम्हारे कल्याण का मार्ग तुम्हारे अन्तर् में ही है। तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारी उन्नति हो सकती है। गीता के शब्दों में—**'उद्धरेदात्मनात्मानं'** अर्थात् अपने से अपना उत्थान करो। और भगवान् महावीर की वाणी में भी—**'अप्पाणमेवमप्पाणं'**—आत्मा से आत्मा का कल्याण करना चाहिए—यही सूत्र ध्वनित होता है। तात्पर्य यह है कि कल्याण और उन्नति के लिए हमारी अन्तरंग साधना, सत्य, शील एवं सदाचार ही कारण बन सकते हैं। जब यह साधना का मार्ग और उसका मर्म, हम समझ लेंगे, तो फिर हमें बाहर भटकना नहीं पड़ेगा। असत्य का समाधान सत्य के द्वारा मिलता है। जैसा कि बुद्ध ने कहा है—**'सच्चेणालीकवादिनं'**—सत्य से असत्य को पराजित करो। हिंसा और वैर का प्रवाह हमारे मन में उमड़ रहा हो, तो उसे रोकने के लिए अहिंसा और निर्वैर (क्षमा) की चट्टानें खड़ी करनी पड़ेंगी। लोभ और वासनाओं का दावानल यदि भड़क रहा है, तो उसकी शान्ति के लिए सन्तोष रूपी जलवृष्टि की जरूरत है। यदि आपके अन्तर् में अभिमान जग रहा है, तो विनय धारण कीजिए, और यदि हीनता जन्म ले रही है, तो 'आत्म गौरव' का भाव भरिए। कषायों की जो अग्नि है, वह अकषाय के जल के बिना बुझेगी कैसे ? आगम में कहा है—

"कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं"

श्री केशीकुमार श्रमण, गौतम स्वामी से पूछ रहे हैं कि—"एक भयंकर अग्नि संसार में धधक रही है, उसकी प्रचण्ड ज्वालाओं से संसार दग्ध हो रहा है, उस अग्नि को आप कैसे बुझाते हैं ? उसे बुझाने का उपाय क्या है ?" गौतम उत्तर में कहते हैं, "मैं उस अग्नि को जल से बुझाता हूँ।" केशीकुमार फिर पूछते हैं—"वह कौन-सा जल है ?" तो गौतम कहते हैं, "कषाय भयंकर अग्नि है, यह मनुष्य के अन्तर् में प्रज्वलित हो रही है, उसको शान्त करने के लिए सम्यक्-श्रुत, शील और तप-संयम का जल अपेक्षित है।" हाँ, उस जल का निर्झर् भी हमारे अन्तर् में ही बह रहा है, उसे कहीं बाहर खोजने की जरूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। स्पष्ट है कि साधना का जो भी मार्ग है, वह हमारे अन्दर से ही जागृत होगा। उस पर किसी जाति, रंग या सम्प्रदाय की कोई मोहर नहीं लगी है। किसी मत और किसी पन्थ का सिक्का उस पर नहीं है।

साधना का आधार : आत्मा

साधना आत्मा की वस्तु है, आत्मा को स्पर्श करके ही वह चलती है। वह एक मछली की तरह है, जो हमेशा आत्मा के सरोवर में तैरती रहती है। उसे यदि वहाँ से हटाकर भौतिक जगत् में रखने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह छटपटा कर खत्म हो जाती है। बाह्य सतह पर वह जीवित नहीं रह सकती।

आप जानते हैं, जैन-धर्म का क्या अर्थ है? जैन-धर्म का अर्थ है—जिन का धर्म! जिन कौन है? क्या 'जिन' नाम का कोई खास महापुरुष, राजा, चक्रवर्ती या देव हुआ है? नहीं! 'जिन' किसी व्यक्ति का नाम नहीं, वह तो आत्मा की एक निर्विकार शुद्ध स्थिति है। अतः जिन एक नहीं, असंख्य नहीं, अनन्त हो गए हैं। जिस आत्मा की साधना अपने लक्ष्य पर पहुँची, वीतराग भाव का पूर्ण विकास हुआ कि वह जिन हो गया। जिनत्व का कहीं बाहर से आयात नहीं करना पड़ता है, वह तो आत्मा में ही छिपा रहता है। जैसे ही कषाय, मोह, मात्सर्य का पर्दा हटा कि जिनत्व जागृत हो जाता है।

जैन साहित्य में एक कहानी आती है—एक राजा था, कला का बड़ा रसिक था वह। उसके राज्य में कलाकारों का बहुत सम्मान था। नई-नई चित्र-शैलियाँ उसके समय में विकास पा रही थीं। राजा का विचार हुआ कि एक 'चित्रशाला' बनवाई जाए, पर वह ऐसी अद्‌भुत हो कि संसार भर में उसके जोड़ की कोई दूसरी चित्रशाला न मिले। उसमें कल्पना का कमनीय कौशल हो, रंगों का सतरंगी जादू हो। बस, कला की उत्कृष्टतम कृति हो वह चित्रशाला। राजा ने दो सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों को बुलाया और अपनी इच्छा प्रकट की। साथ में एक शर्त भी जोड़ दी कि दोनों के चित्र सर्वोत्कृष्ट होने चाहिए, किन्तु चित्र और शैली दोनों की एक समान हो। रंगों का मिश्रण भी एक समान हो और एक-दूसरे के चित्र कोई देखने न पाए! आप कहेंगे, बिल्कुल असम्भव! लेकिन, असम्भव को संभव बनाने वाला ही तो सच्चा कलाकार होता है। चित्रकारों को छह महीने का समय दिया गया, और दोनों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। बुद्धि, हृदय और शक्ति का सामञ्जस्य करके जुट गए दोनों। कला में प्राण तभी आ पाता है, जब उसमें बुद्धि के नए-नए उन्मेष खुले हों, भावनाओं का स्पंदन हो और हाथ में कौशल एवं सफाई का निखार हो। कला में जब तक बुद्धि एवं हृदय का संतुलन नहीं होता, तब तक वह कला नहीं, सिर्फ कर्म होता है, उसका कर्ता कलाकार नहीं, कर्मकार कहलाता है। जब उसमें बुद्धि का योग होता है, तो वह कर्म शिल्प कहलाता है और वह व्यक्ति शिल्पकार होता है। जब कर्म में हृदय भी जुड़ जाता है, तब वह कर्म कला बन जाता है, और उस व्यक्ति को 'कलाकार' कहा जाता है। तो बात यह हुई कि उन कलाकारों ने अपना हृदय भी उस कला में उँड़ेल दिया, बुद्धि का तेज भी उसमें भर दिया, तूलिका का चमत्कार तो था ही!

छह महीने तक दोनों अपने-अपने ढंग से, बिना एक-दूसरे से मिले, बीच में पर्दा डाले, ठीक आमने-सामने की दीवारों पर अपने कार्य में जुटे रहे। समय पूर्ण हुआ, तो दोनों ने ही राजा से चित्रशाला में पधार कर कला का निरीक्षण करने की प्रार्थना की। राजा अपने महामात्य एवं अधिकारियों के साथ चित्रशाला में गया। पहले चित्रकार की कला देखी, तो राजा का हृदय बाग-बाग हो गया। राजा ने चित्रकार की बहुत प्रशंसा की। नयी शैली में, नये रंगों में, भावों की ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति, राजा ने पहले कभी नहीं देखी थी। अब दूसरे कलाकार ने निवेदन किया—"महाराज! जरा इधर भी कृपा-दृष्टि की जाए।"

राजा जब उसके कक्ष में पहुँचा, तो दंग रह गया। पूछा—"चित्रकार! यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या ? एक भी चित्र नहीं, भित्ति पर रंग की कहीं एक भी तो रेखा नहीं ? कहाँ हैं, तुम्हारे चित्र ? छह महीने तक क्या किया तुमने ? खाट तोड़ी या डंड पेले ?"

चित्रकार ने निवेदन किया—"महाराज ! इसी में हैं मेरे सारे चित्र, यहीं पर अंकित हैं महाराज !"

राजा ने कहा—"क्या मजाक है ? यहाँ तो सिर्फ दीवार है, साफ, चिकनी चमकती हुई ! उस पर रंग का एक बिन्दु भी तो नहीं ! बताओ, कहाँ हैं, तुम्हारे चित्र ?"

चित्रकार ने बीच का पर्दा उठा दिया। पर्दा उठाते ही उधर के सब चित्र इधर प्रतिबिम्बित हो उठे। राजा और मन्त्री लोग बड़े आश्चर्य से देखते रह गए। यह कैसा चमत्कार है ? सभी को बड़ा विस्मय हुआ। चित्रकार ने समस्या को सुलझाया—आपका आदेश था कि दोनों के चित्र, शैली और रंग एक समान ही होने चाहिए, और एक-दूसरे का चित्र कोई देखे भी नहीं, तो इसीलिए उसने चित्र बनाए और मैंने उन्हें यहाँ ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित करने के लिए अपनी दीवार को तैयार किया। छह महीने तक अथक परिश्रम करके इसे साफ किया, रगड़ा, चमकाया और बिल्कुल शीशे की तरह उज्ज्वल और चमकदार बना दिया। इसमें वह शक्ति पैदा कर दी कि किसी भी वस्तु को यह अपने में प्रतिबिम्बित कर सकती है। परन्तु जबतक पर्दा बीच में था, तबतक तो कुछ भी नहीं मालूम होता था। पर्दा हट गया, तो सब-कुछ इसमें झलक उठा, वे ही सब चित्र इसमें प्रतिबिम्बित हो गए।

राजमार्ग :

कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा पर मोह एवं कषाय का एक सघन पर्दा पड़ा हुआ है, जब तक वह पर्दा नहीं हटता, 'जिनत्व' जागृत नहीं होता, चेतना में त्रैकालिक सत्य झलक नहीं सकता। दीवार की सफाई और चमकाने की तरह आत्मा की सफाई भी जरूरी है। जब तक दीवार साफ नहीं, तब तक चित्र कैसे प्रतिबिम्बित हो सकेंगे। वह स्वच्छ दीवार तैयार करना—साधना के द्वारा आत्मा की सफाई, स्वच्छता एवं निर्मलता पैदा करना है। साधना के द्वारा यदि आत्मा स्वच्छ एवं निर्मल हो गई, तो वहाँ जिनत्व का शुद्ध स्थिति में अनन्त सत्य के प्रतिबिम्बित होने में कोई भी शंका नहीं है। आत्मा की विकासभूमि तैयार करने के लिए साधना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि साधना का मार्ग राजमार्ग है। राजमार्ग पर ब्राह्मण को भी चलने का अधिकार है, हरिजन एवं चमार को भी। वहाँ स्त्री भी चल सकती है और पुरुष भी। गोरा आदमी भी चल सकता है और काला भी। किसी के लिए वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं, कोई रुकावट नहीं। इस मार्ग पर चलने वाले से किसी को यह पूछने का अधिकार नहीं कि तुम्हारी जाति क्या है ? तुम्हारा देश क्या है ? पंथ क्या है ? तुम्हारी परम्परा क्या है ? तुम धनी हो या निर्धन ? काले हो या गोरे ? हिन्दू हो या मुसलमान ?

एक प्राचीन जैन मनीषी ने कहा है—

"अन्नोन्नदेसजाया, अन्नोन्नाहारबड्ढिय-सरीरा।
जे जिणधम्मपवन्ना, सव्वे ते बंधवा भणिया।।"

अलग-अलग देशों में, अलग-अलग प्रदेशों और अलग-अलग कुलों-जातियों में जन्म लेने वाले, खान, पान और रहन-सहन आदि के विभिन्न प्रकारों में पलने वाले भी यदि 'जिन-धर्म' अर्थात् वीतराग-भाव को स्वीकार करते हैं, तो वे परस्पर भाई-भाई हैं। उनकी साधना की भूमिका में कोई विभेद-रेखा नहीं खींची जा सकती ! धर्म-साधना के क्षेत्र में उनके भ्रातृत्व का, समत्व का दर्जा खण्डित नहीं हो सकता।

यह एक दृष्टिकोण है, जो साधना के क्षेत्र में चलने वालों के लिए अखण्ड प्रेम, स्नेह और सद्भाव का संदेश देता है। धर्म कोई जाति नहीं है, वंश-परम्परा नहीं है। शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रक्त सम्बन्ध से चली आने वाली कोई नस्ल नहीं है। वह तो एक आध्यात्मिक नस्ल है, जिसके आधार पर धर्म का सम्बन्ध चलता है, साधना की परम्परा चलती है।

साधना : एक पावन तीर्थ :

भारत के संतों की स्पष्ट घोषणा है कि धर्म के द्वार पर आपकी जाति, आपका रंग-रूप नहीं पूछा जाता, वहाँ आत्म-बोध पूछा जाता है, आध्यात्मिक साधना की तैयारी कितनी है, वह देखी जाती है। संत कबीर ने ठीक ही कहा है—

"जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।"

साधक की जाति और वेश मत पूछो। पूछना है तो यह पूछो कि उसमें ज्ञान का प्रकाश कितना है? उसकी साधना में तेज कितना है? तलवार का अपना मूल्य है। यदि वह सोने की म्यान में है, तब भी उसका वही मूल्य है और लोहे या लकड़ी की म्यान में है, तब भी वही बात है। वीर के हाथ में जब तलवार आती है, तो वह उसकी म्यान नहीं देखता, उसकी धार देखता है। मेरे सामने एक पुस्तक आई, उसकी ऊपरी साज-सज्जा बड़ी चित्ताकर्षक थी। छपाई-सफाई भी सुन्दर थी। किन्तु, जब पन्ने पलट कर पढ़ा तो चिन्तन-सामग्री कुछ भी नहीं मिली। नहीं से मतलब यह कि उसकी रचनाओं में कोई प्रतिभा या चमत्कार और मौलिकता नाम की कोई चीज न थी! अब यदि उसकी साज-सज्जा पर हम मुग्ध हो जाएँ, तो फिर विवेक की कसौटी क्या रही? जो विद्वान् है, वह उसका मूल्यांकन छपाई-सफाई से नहीं, अपितु विचार-सामग्री से करता है। तो बात यह है कि साधक का मूल्यांकन भी उसके कुल या शरीर से नहीं होता, बल्कि शील और सदाचार से होता है, साधना की तेजस्विता से होता है।

जैन-साहित्य में एक 'तीर्थ' शब्द आता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन्हें चतुर्विध तीर्थ माना गया है। मैं पूछता हूँ कि यह तीर्थ है क्या? क्या साधु या साध्वी का शरीर तीर्थ है? श्रावक-श्राविका तीर्थ का क्या अर्थ हुआ? उनका धन, घर या शरीर? यह भी कोई तीर्थ है? यह तो तीर्थ नहीं, बल्कि तीर्थ तो है उनकी आध्यात्मिक साधना! जिससे कि संसार रूपी सागर को पार किया जा सकता है। वह साधना, जो व्यक्ति के अन्तर् में उत्पन्न होती है, जीवन में विकसित होती है और मोक्ष के रूप में पर्यवसित होती है—तीर्थ उसे ही कहा जा सकता है। साधु की साधना भी तीर्थ है, साध्वी की साधना भी तीर्थ है, और श्रावक-श्राविका की साधना भी तीर्थ है! यह साधना जिस किसी व्यक्ति के हृदय में हिलोरें ले रही है, वही तीर्थ है। शास्त्रों में भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्तों को भी तीर्थ कहा गया है। और आगे यह भी कहा गया है कि वह शाश्वत तीर्थ है, अनादि, अनन्त है। इसका तात्पर्य भी आपको समझ लेना चाहिए कि जो भगवान् की वाणी है, वह तो शब्दरूप है, जो लिखित आगम है, वह अक्षर रूप है। तो क्या यह शब्द और अक्षर रूप वाणी ही तीर्थ है? यह तो शाश्वत है नहीं! जब भी कोई तीर्थंकर होते हैं, अहिंसा आदि सिद्धान्त की भावार्थ के रूप में प्ररूपणा करते हैं, और गणधर उसे शब्द-बद्ध करते हैं, सूत्र रूप में गूंथते हैं, तो फिर यह शाश्वत कैसे? फिर भगवान् का सिद्धान्त रूप तीर्थ क्या वस्तु है? सिद्धान्त रूप तीर्थ का अभिप्राय तो यह है कि जो अनादि-अनन्त शाश्वत सत्य का ज्ञान है, इस संसार रूपी सागर को पार करने का मार्ग जिस अमर-ज्ञान की ज्योति से दिखाई देता है, वह ज्ञान तीर्थ है। काम, क्रोध आदि कषाय की विजय का जो साधना-मार्ग है, वह तीर्थ है। और, वह मार्ग शाश्वत है, अनादि अनन्त है। जितने भी तीर्थंकर, महापुरुष संसार में आज तक हो चुके हैं, अभी जो हैं और भविष्य में जो भी होंगे—वे सब यही मार्ग बताएँगे! काम, क्रोध को नाश करने का ही उपदेश वे करेंगे, मोह और माया पर विजय पाने का ही मार्ग वे बताएँगे। यह त्रिकाल सत्य है, शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि हमारी जो साधना है, हमारा जो ज्ञान है, वही तीर्थ है। और, वह तीर्थ कोई व्यक्ति नहीं होता, बल्कि आत्मा का निर्मल चैतन्य होता है। किसी भी प्रकार की भेद की कल्पना को उसमें प्रश्रय नहीं दिया जाता। जाति, सम्प्रदाय, लिंग और रंग आदि की भाषा, धर्म की भाषा नहीं हो सकती। न वह साधना की भाषा हो सकती है, और न साधक की ही भाषा हो सकती है।

साधक : एक अपराजेय योद्धा :

साधना का क्षेत्र सबके लिए खुला है, यह बात जितनी सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि वह सिर्फ वीर के लिए है। साधना का मार्ग कंटकाकीर्ण और विकट मार्ग है। आचारांग सूत्र में उसे महावीथि-महापथ कहा है—**"पणया वीरा महावीहिं"**। उस पथ पर वही चल सकता है, जिसके अन्तस्तल में अपार धैर्य उमड़ता हो, साहस और सहिष्णुता का ज्वार उठ रहा हो! जो विषयों और आकांक्षाओं से लड़कर विजय प्राप्त कर सकता हो, वही वीर योद्धा इस क्षेत्र का अधिकारी हो सकता है। यह नहीं कि वेष ले लिया, आराम से मांगकर खा लिया, निश्चित होकर सो गए और सुख-चैन से जिन्दगी गुजार दी! जब तक कष्ट नहीं आए, जीवन में तूफान नहीं आए, संघर्षों के भूचाल नहीं उठे, तब तक जमे रहे और जब तूफानों का सामना करना पड़ा, तो बस भाग खड़े हुए। पाँव उखड़ गए! वह वीर नहीं, जो तलवारों की चमक देखकर पसीना-पसीना हो जाए! भालों और बाणों की बौछार देखकर कलेजा धक्-धक् कर उठे। बल्कि वीर वही है, जो प्राणों पर खेले, वीरता से जीए और मरे भी तो वीरता से मरे!

मुझे काश्मीर के राजा ललितादित्य की एक बात याद आ रही है। जब देश पर आक्रमण हुआ, तो वे बहुत कम उम्र के बालक थे। पिता का देहान्त हो जाने से पड़ौसी शत्रु राजा ने अनुकूल अवसर देखा और चढ़ाई कर दी। इधर प्रधान मन्त्री ने भी युद्ध की तैयारियाँ शुरू कर दीं। राजकुमार युद्ध में जाने को तैयार हुआ, तो प्रधान मन्त्री ने उसे समझाया—"आप तो यहीं पर रहिए, अभी छोटे हैं! हम लोग युद्ध में जा रहे हैं।" सेनापति ने भी यही कहा। राजमाता और अन्य हितैषियों ने भी राजकुमार को यही समझाया कि "तुम अभी बालक हो, अतः राजमहल में ही रहो! हम सब तुम्हारे ही तो हैं!" ललितादित्य ने कहा—"आप सब मेरे हैं, तो मैं भी तो आपका ही हूँ। प्रजा जब राजा की है, तो राजा भी प्रजा का है। प्रजा किस आधार पर है? उसका जनक कौन है? राजा ही न! और राजा किस पर टिका है? राजा को जन्म कौन देता है? प्रजा! अतः प्रजा रणक्षेत्र में जूझती रहे और राजा राजमहल में एक चूहे की तरह छिपा-दुबका बैठा रहे, यह कौन-से क्षात्रधर्म की बात है? यह क्षात्रधर्म पर कलंक नहीं, तो और क्या है! मैं युद्धक्षेत्र में जाऊँगा। अवश्य जाऊँगा!"

राजमाता ने उसकी पीठ थपथपाई। कहा—"बेटा अपने पिता के गौरव को उज्ज्वल करना, और अपने देश की यश-पताका को ऊँची करना!" इस पर ललितादित्य ने जो उत्तर दिया, वह एक महान् वीर का उत्तर था। उसने कहा—"मेरे सामने तो सिर्फ एक बात है और वह मैं कर सकता हूँ, चाहे मैं जिन्दा रहूँ या रणक्षेत्र में खेत जाऊँ, मुझे इसकी परवाह नहीं! जय और पराजय पर भी मेरा कोई अधिकार नहीं। मेरे वश की जो बात है, वह यह है कि शत्रु के शस्त्रों के घाव मेरी पीठ पर नहीं लगेंगे। मेरी मृत्यु और जीवन से भी बढ़कर जो बात है, वह यही है कि शत्रु के शस्त्रों के वार मेरी छाती पर ही पड़ेंगे बस! पीठ पर कदापि नहीं पड़ सकते!" मतलब यह हुआ कि—जीना और मरना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण जो है, वह है—वीरतापूर्वक जीना और वीरता-पूर्वक मरना।

साधक के लिए भी यही बात है। वह जीवन में साधना के जिस महापथ पर चलता है, वह पथ बड़ा विकट है। विकारों के तूफान उस पथ में आएँगे, तो उसे हिमालय की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह अचल-अकम्प बनकर सहना होगा—"**मेरुव्व वाएण अकंपमाणो।**" प्रलय काल के थपेड़ों में भी मेरु की तरह अकम्प, अडोल, अविचल रहना होगा! और, जब कषायों का दावानल उठेगा, साधक को उसे वैराग्य का पर्जन्य बनकर शान्त करना होगा! कष्टों, अपमानों का हलाहल भी उसके सामने आएगा और तब महादेव बन कर उसे पीना होगा। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने एक जगह कहा है—

"मनुज दुग्ध से, दनुज रक्त से, देव सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का, शिवशंकर ही पीते हैं॥"

तो, इस भवसागर का हलाहल पान करके ही उसे मृत्युञ्जय बनना होगा। तभी वह अपने कल्याण मार्ग की अन्तिम मंजिल को पा सकेगा, जहाँ पहुँचने के बाद आत्मा अमर शान्ति, सत्-चित्-आनन्द और अनन्त ज्योतिरूप बन जाती है।

कल्याण का मार्ग, इस प्रकार जीवन और जगत् के आघातों के विष का शान्त-भाव से पान करके, उनको समभाव से आत्मसात् करके ही साधना को प्रशस्त किया जा सकता है। गंगा, धरती के गंदे नालों को अपने रूप में आत्मसात् करके जितनी समतल भूमि पर यशस्वी हो सकी है, उतनी गंगोत्तरी—उद्गम-स्थल में नहीं। दुर्भावों का, विकारों का अन्त करके ही विश्व का कल्याण संभव है। आत्मा को शुभ से शुद्ध की ओर ले जाना, इसी का पर्याय-विशेष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिर्मय पथ है, मंगल का,
सबके मंगल में मंगल।
वैयक्तिक स्वार्थी मंगल तो,
मंगल क्या है, है दंगल।।

सागर सदा गरजता रहता,
क्षुद्र तलैया मिट जाती।
क्षुद्र भावना सर्वनाश की,
हेतु सुनिश्चित बन जाती।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०

जीवन पथ पर कांटें किसने बोए ?

संसार में जितने भी प्राणी हैं, जितनी भी आत्माएँ हैं, सब के भीतर जो ध्वनि उठ रही है, कल्पना उभर रही है, और भावना तरंगित हो रही है, उनमें से एक है—सुख प्राप्त करने की अभिलाषा। परिस्थितिवश जीवन में जो भी दुःख आ रहे हैं, विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें मन से कोई नहीं चाहता, सब कोई उस दुःख से छुटकारा पाना चाहते हैं।

संसार के समस्त प्राणियों की एक ही आकांक्षा है कि दुःख से छुटकारा हो, सुख प्राप्त हो।

दूसरी बात जो प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है, वह यह है कि प्रत्येक प्राणी शुद्ध और पवित्र रहना चाहता है। कोई भी प्राणी अपने आप को अशुद्ध या मलिन नहीं रखना चाहता, गन्दा नहीं रहना चाहता। भौतिक-चीजों में भी वह गन्दगी पसन्द नहीं करता, मकान भी साफ रखना चाहता है, कपड़े भी साफ-सुथरे पसन्द करता है और शरीर को भी स्वच्छ-साफ रखता है। मतलब यह है कि अशुद्धि के साथ भी उसका संघर्ष चलता रहता है।

तीसरी बात यह है कि कोई भी प्राणी मृत्यु नहीं चाहता। मृत्यु के बाद फिर जन्म लेना होता है और जन्म के बाद फिर मृत्यु ! इसका अर्थ यह हुआ कि जो मृत्यु नहीं चाहता, वह जन्म ग्रहण करना भी नहीं चाहता। हर प्राणी अजर-अमर रहना चाहता है। यह बात दूसरी है कि कुछ विकट स्थितियों में मनुष्य अपने मन का धैर्य खो बैठता है और आत्म-हत्या कर लेता है, किन्तु वह आत्म-हत्या भी दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही करता है। उसे आगे सुख मिले या नहीं, यह बात दूसरी है।

कल्पना एक : स्वरूप एक :

इस प्रकार विश्व की प्रत्येक आत्मा में ये तीन भावनाएँ उभरती हुई प्रतीत होती हैं। विश्व के समस्त प्राणियों का चिन्तन एक ही धारा में बह रहा है, एक प्रकार से ही सभी सोच रहे हैं, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है कि सब आत्माएँ समान हैं। शास्त्र में कहा गया है, 'एगे आया'। स्वरूप की दृष्टि से सबकी आत्मा एक समान हैं। सब की मूल स्थिति एक ही जैसी है। जब स्वरूप की दृष्टि से आत्मा-आत्मा में कोई अन्तर नहीं, तो चिन्तन की दृष्टि से भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिए ! अग्नि की ज्योति जहाँ भी जलेगी, वहाँ उष्णता प्रकट करेगी, चाहे वह दिल्ली में जले, या मास्को में जले। उसकी ज्योति और उष्णता में कहीं भी कोई अन्तर नहीं आता कि दिल्ली में वह गर्म हो और मास्को में ठण्डी हो। दिल्ली में प्रकाश करती हो और मास्को में अँधेरा करती हो। ऐसा नहीं होता, चूंकि उसका स्वरूप सर्वत्र एक समान है। जब स्वरूप समान है, तो उसकी सब धाराएँ भी एक समान ही रहेंगी। प्रत्येक आत्मा जब मूल स्वरूप से एक समान है, तो उसकी चिन्तनधारा, कल्पना भी समान होगी। इसलिए ये तीनों भावनाएँ प्रत्येक आत्मा में समान रूप से पाई जाती हैं। हमारी प्रवृत्तियों का लक्ष्य एक ही रहता है कि दुःख से मुक्ति मिले, अशुद्धि से शुद्धि की ओर चलें, मृत्यु से अमरता की ओर बढ़ें।

प्रश्न यह है, कि दुःख से छुटकारा क्या कोई देवता दिला सकता है ? क्या कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् हमें अशुद्धि एवं मृत्यु से बचा सकता है ? यदि ऐसी कोई शक्ति संसार में मिले, जो हमें सुखी, शुद्ध और अमर बना सके, तो हम उसकी खुशामद, भक्ति या प्रार्थना करें !

भारतीय-दर्शन, जो वास्तव में ही एक अध्यात्म-चेतना का दर्शन है, वह कहता है कि संसार की कोई अन्य शक्ति तुम्हें दुःख से बचा नहीं सकती। मृत्यु के मुँह से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकती। तुम्हारी अपवित्रता को धोकर पवित्र नहीं बना सकती। यह कार्य तुम स्वयं ही कर सकते हो, तुम स्वयं ही अपने जीवन के निर्माता हो, तुम्हीं अपने भाग्य के नियामक हो।

दुःख किसने दिया ?

प्रश्न यह है कि दुःख से छुटकारा तो चाहते हो, पर वह दुःख खड़ा किसने किया ? भगवान् महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले यही प्रश्न संसार से पूछा था कि तुम दुःख-दुःख तो चिल्ला रहे हो, दुःख से मुक्ति के लिए नाना उपाय तो कर रहे हो, पर यह तो बतलाओ कि यह दुःख पैदा किसने किया—

"दुक्खे केण कडे ?"

इस गम्भीर प्रश्न पर जब सब कोई चुपचाप भगवान् की ओर देखने लग गए और कहने लगे कि—प्रभु ! आप ही बतलाइए, तो भगवान् महावीर ने इसका दार्शनिक समाधान देते हुए कहा—**'जीवेण कडे !'** दुःख आत्मा ने स्वयं किये हैं। प्रश्न होता है कि आत्मा ने अपने लिए दुःख पैदा क्यों किया ? तो उसका उत्तर भी साथ ही दे दिया कि **"पमाएण"** प्रमादवश उसने दुःख पैदा किया। वह किसी दूसरे के द्वारा नहीं थोपा गया है, किन्तु अपने ही प्रमाद के कारण वह दुःख अर्जित हुआ है। यह अशुद्धि भी किसी दूसरे ने नहीं लादी है, बल्कि अपनी ही भूल के कारण आत्मा अशुद्ध और मलिन होती चली गई है। जो काम अपने प्रमाद और भूल से हो गया है, उसे स्वयं ही सुधारना पड़ेगा। कोई दूसरा तो आ नहीं सकता। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते।।"

—यह आत्मा स्वयं कर्म करती है और स्वयं ही उसका फल भोगती है। स्वयं संसार में परिभ्रमण करती है और स्वयं ही संसार से मुक्त भी होती है।

ईश्वर असत्कर्म क्यों करवाता है ?

हमारे कुछ बन्धु इस विचार को लिए चल रहे हैं कि ईश्वर ही मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देता है। वह चाहे तो किसी से सत्कर्म करवा लेता है और चाहे तो असत्कर्म ! उसकी इच्छा के बिना विश्व-सृष्टि का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कर्म करवाने का अधिकार ईश्वर के हाथ में है, तो फिर वह किसी से असत्कर्म क्यों करवाता है ? सब को सत्कर्म की ही प्रेरणा क्यों नहीं देता ? कोई भी पिता अपने पुत्र को बुराई करने की शिक्षा नहीं देता, उसे बुराई की ओर प्रेरित नहीं करता। फिर यदि ईश्वर संसार का परम पिता होकर भी ऐसा करता है, तो यह बहुत बड़ा घोटाला है। फिर तो जैसे यहाँ की राज्य सरकारों में गड़बड़-घोटाला चल रहा है, वैसा ही ईश्वर की सरकार में भी चल रहा है। जो पहले बुराई करने की बुद्धि देता है और फिर बाद में उसके लिए दण्ड दे, यह तो कोई न्याय नहीं ! जैसा कि लोग कहते हैं—

"जा को प्रभु दारुण दुःख देही
ताकी मति पहले हर लेही।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी समझ में यह बात आज तक नहीं आई कि ऐसी ईश्वर-भक्ति से हमें क्या प्रयोजन है? "भगवान् जिसको दुःख देना चाहता है, उसकी बुद्धि पहले नष्ट कर देता है।" मैं पूछता हूँ, बुद्धि नष्ट क्यों करता है? उसे सद्बुद्धि क्यों नहीं दे देता, ताकि वह बुरे कार्य में फँसे ही नहीं और न फिर दुःख ही पाए। न रहेगा बाँस, न बजेगी बांसुरी! ईश्वर किसलिए हमें असत्कर्म की प्रेरणा देता है, यह पहेली, मैं समझता हूँ, आज तक कोई सुलझा नहीं सका।

दूसरी बात यह है कि कुछ विचारक कर्म का कर्तृत्व तो आत्मा की स्वतन्त्र शक्ति मानते हैं, किन्तु फल भोगने के बीच में ईश्वर को ले आते हैं। वे कहते हैं कि प्राणी अपनी इच्छा से सत्कर्म-असत्कर्म करता है, किन्तु ईश्वर एक न्यायाधीश की तरह कर्म-फल को भुगताता है। जैसा जिसका कर्म होता है, उसे वैसा ही फल दिया जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि एक पिता पुत्र को बुराई करते समय तो नहीं रोके, किन्तु जब वह बुराई कर डाले, तब उस पर डण्डे बरसाए। तो इससे क्या वह योग्य पिता हो सकता है? उस पिता को आप क्या धन्यवाद देंगे, जो पहले लड़कों को खुला छोड़ देता है कि हाँ, जो जी में आए सो करो, और बाद में स्वयं ही उन्हें पुलिस के हवाले कर देता है। क्या यह व्यवहार किसी न्याय की परिभाषा में आ सकता है? हमारे यहाँ तो यहाँ तक कहा जाता है कि—

"जो तू देखे अन्ध के, आगे है इक कूप।
तो तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥"

अंधे को यदि आप देख रहे हैं कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है, उस मार्ग पर आगे बड़ा गड्ढा है, खाई है या कुआँ है, और यदि वह चलता रहा, तो उसमें गिर पड़ेगा, ऐसी स्थिति में यदि आप चुपचाप बैठे मजा देखते रहते हैं, अन्धे को बचाने की कोशिश नहीं करते हैं, तो आप उसे गिराने का महापाप कर रहे हैं। यह नहीं होना चाहिए, कोई संकट में फंस रहा है, और आप चुपचाप उसे देखते रह जाएँ! और, फँसने के बाद ऊपर से गालियाँ भी दें कि गधा है, बेवकूफ है! और, फिर डंडे भी बरसाएँ।

बात यह है कि ईश्वर जब सर्वशक्तिमान है, वह प्राणियों को शुभ-अशुभ कर्म का फल भुगताता है, तो उसे पहले प्राणियों को असत्कर्म से हटने की प्रेरणा भी देनी चाहिए और सत्कर्म में प्रवृत्त करना चाहिए। पर, यह ठीक नहीं कि उसे असत्कर्म से निवृत्त तो नहीं करे, उलटे दण्ड और देता रहे।

आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है :

ईश्वर के सम्बन्ध में ये जो गुत्थियाँ उलझी हुई हैं, उन्हें सुलझाने के लिए हमें भारतीय दर्शन के आत्म-दर्शन को समझना पड़ेगा। आत्मा स्वयं अपनी प्रेरणा से कार्य करती है और स्वयं ही उस कर्म के अनुसार उसका फल भोगती रहती है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में बार-बार दुहराया है।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

आत्मा का अपने से ही कल्याण किया जा सकता है और अपने से ही अपना पतन होता है। इसलिए अपने द्वारा अपना अभ्युत्थान करो, उद्धार करो! पतन मत होने दो। यह आत्मा की स्वतन्त्रता की आवाज है, अखण्ड चेतना का प्रतीक है। कर्म कर्तृत्व, और कर्मफल-भोग दोनों आत्मा के अधीन हैं। अतः आत्मस्वरूप की पहचान कर, अपनी पथ-दिशा तय करना, शुद्धता को प्राप्त करना ही, दुःख-मुक्ति एवं अमरता का एकमात्र मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कैसी बकवास, दुख में,
यह दोषी है, वह दोषी है।
देख स्वयं में, निज दुखों में,
एक मात्र तू ही दोषी है।।

पतन और उत्थान उभय का,
उत्तरदायी खुद मानव है।
खुद ही बनता श्रेष्ठ देवता,
खुद ही बन जाता दानव है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११

विविध आयामों में : स्वरूप-दर्शन

चैतन्य का महासागर हमारे अन्तर् में अनन्त-अनन्त काल से हिलोरें मारता चला आ रहा है। चेतना के इस विराट् सागर को छोटे से पिण्ड में समाया हुआ देखकर, एक ओर आश्चर्य भी होता है, तो दूसरी ओर उसकी अनन्त शक्ति पर प्रसन्नता भी। चेतना का जो विराट् स्वरूप हमारे भीतर प्रकाशमान है, वही स्वरूप एक चींटी और चींटी से भी असंख्य गुणे छोटे प्राणी के अन्तर् में प्रकाशित हो रहा है। वहाँ भी चैतन्य का वही रूप छिपा हुआ है। महासागर के तट पर जिधर भी नजर उठाकर देखो, उधर ही लहरें मचलती हुई दीखेंगी। यही बात जीवन के महासागर के किनारे खड़े होकर देखने से लगेगी कि चैतन्य के महासागर में चारों ओर से असंख्य-असंख्य लहरें उछल रही हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है, चैतन्य के अनन्त भाव इस महासागर में तरंगित हो रहे हैं।

यह बात नहीं है कि सिर्फ देवता और चक्रवर्ती के जीवन में या मानव के जीवन में ही चेतना की अनन्त धाराएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं, बल्कि चींटी और मच्छर जैसे क्षुद्र जीवों में भी वही धारा अपने अनन्त-अनन्त रूपों में बहती रहती है, भले ही उनकी अव्यक्त चेतना के कारण हमारी समझ में उनका सही रूप आए या नहीं! किन्तु जीवन के अव्यक्त या कम विकसित होने के कारण चेतना की धाराएँ लुप्त नहीं हो सकतीं। किसी के जीवन में वे धाराएँ गलत रूप से बह रही होती हैं, तो किसी के जीवन में सही रूप में। देखना यह है कि वे धाराएँ, वे लहरें, जीवन के निर्माण में हाथ बँटा रही हैं, उसे अभ्युत्थान की ओर ले जा रही हैं या विनाश तथा पतन की ओर! विनाश, पतन और विध्वंस की ओर जो धाराएँ बह रही हैं, उनके वेग को, उनकी दिशा को मोड़ देना, निर्माण की ओर लगाना, यह हमारी व्यक्त चेतना का काम है।

चेतन की मूल भावना :

दर्शनशास्त्र ने जो चिन्तन, मनन और अनुभव किया है, सत्य का जो साक्षात्कार किया है, उसका निचोड़ यही है कि अन्तर् में सबका मूल चेतन समान है, उसमें कोई भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देता है, वह बाहर के रूपों में है, बाहरी धाराओं में है। बाहर में जो गलत धाराएँ, लहरें उछल रही हैं, उन्हें चाहे भावनाएँ कह दीजिए, वृत्तियाँ या आदत कह लीजिए, और भी हजार नाम हो सकते हैं, उनका जो प्रवाह असत् की ओर है, असत् रूप में जो वे बह रही हैं, उनका प्रवाह मोड़ देना है और मूल अन्तर् की जो पवित्र शुद्ध धारा है, उसी के प्रवाह में उन्हें भी बदल देना है।

प्राणी में मूलतः पाँच वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो उसके भीतर निरन्तर जागृत रहती हैं, हलचल मचाती रहती हैं। चैतन्य जो है, वह एक अन्तर्-तत्त्व है। वह न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी जवान होता है, न कभी बूढ़ा। जब बूढ़ा नहीं होता, पुराना नहीं होता, तो फिर बचपन और नयापन का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्यु उसी की होती है, जो जन्म लेता है। और, जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है। इस चेतन ने कभी जन्म धारण नहीं किया, यह सदा जीवित रहता है, इसीलिए इसका नाम जीव है। जीव क्या है? जो सदा जीवित रहे, जीने की भावना में रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिजीविषा---जीने की इच्छा प्राणिमात्र का स्वभाव है। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि---

"अमेध्य-मध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
सदृशी जीवने वाञ्छा तुल्यं मृत्युभयं द्वयोः ।।"

देवेन्द्र जिसके कि एक संकेत पर हजारों हजार देवता हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, अपार सुख और वैभव जिसके चरणों में लोटता है, उसमें जो जीने की लालसा है, वही लालसा एक गन्दी मोरी के कीड़े में भी है। जो कीड़ा गन्दगी में कुलबुला रहा है, उसे यदि छू दिया जाए, छेड़ दिया जाए, तो वह भी बचने के लिए अपने शरीर को संकुचित करने की चेष्टा करता है, हलचल मचाता है और इधर-उधर अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न करता है। उसमें भी जीने की उतनी ही तीव्र लालसा है, जितनी कि देवराज इन्द्र में है। यों समझ लीजिए कि जीवन जितना देवेन्द्र को प्रिय है, उतना ही उस कीड़े को भी प्रिय है।

जीना स्वभाव है :

जीना जीव का स्वभाव है। आप और हम जीना चाहते हैं, संसार का सबसे छोटे से छोटे-प्राणी---कीड़े-मकोड़े तक जीना चाहते हैं। कोई पूछे कि क्यों जीना चाहते हैं? तो उत्तर यही है कि उनका स्वभाव है। कोई मरता क्यों है? यह एक प्रश्न हो सकता है, बीमारी से मरता है, अपघात से मरता है, एक्सीडेंट से मरता है, इसके हजारों उत्तर हो सकते हैं, हजारों कारण हो सकते हैं। पर, जीता क्यों है, इसका एक ही कारण है कि जीना उसका स्वभाव है, जीवन चाहना प्राणी का लक्षण है। लक्षण कभी बदलता नहीं। संसार के समस्त प्रयत्न किसलिए चल रहे हैं? मजदूर कड़ी चिलचिलाती धूप में कठोर परिश्रम कर रहा है, उससे पूछो तो कहेगा, पेट के लिए? और पेट किसलिए भरना चाहता है? इसे खाली रहने दिया जाए, तो क्या होगा? जीवन का क्या होगा? यह होगा कि दो-चार-दस दिन भूखे रहें, पेट में अन्न-जल नहीं गया, तो दुनिया 'राम नाम सत्' कहकर पहुँचा देगी उस घाट पर, जहाँ सबकी राख हो जाती है। मतलब यह है कि प्रत्येक प्रयत्न का मूल कारण यही जीने की भावना है---जिजीविषा है। जीने के लिए संघर्ष करने होते हैं, कष्ट और द्वन्द्व झेलने होते हैं, पीड़ा और यातनाएँ सहकर भी कोई मरना नहीं चाहता। इधर-उधर की कुछ समस्याओं से घबड़ाकर आदमी कहता है कि मर जाएँ तो अच्छा है, पर, जब उन समस्याओं का समाधान हो जाता है, तो फिर कोई नहीं कहता कि मर जाएँ तो ठीक है। कहावत है "मौत मौत पुकारने वाली बुढ़िया को जब मौत आती है, तो पड़ोसी का घर बताती है।"

संसार का यह अजर-अमर सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह कष्ट में जीता हो, पीड़ाओं में से गुजर रहा हो, या सुख और आनन्द में जीवन बिता रहा हो, दोनों के जीवन की इच्छा समान है---**"सदृशी जीवने वाञ्छा।"**

जिजीविषा जीव का स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभाव की साधना कर रहा है। हमारी साधना इसी दृष्टिकोण से पल्लवित हुई है। साधना स्वरूप की होती है, स्वभाव की होती है। अग्नि की साधना उष्ण रहने की साधना है, उसे शीतल रखने की यदि कोई साधना करे, तो वह बेवकूफी होगी। हवा की साधना अनवरत चलते रहना है, उसे यदि स्थिर रखने की साधना कोई करे, तो वह उसके स्वरूप की विपरीत साधना होगी। हमारे जीवन की साधना अमरता की साधना है, कभी नहीं मरने की साधना है, और हमारा साध्य भी अमरता है। मरने की साधना कोई नहीं करता, चूंकि वह स्वरूप नहीं है, हम स्वरूप के उपासक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरता की उपासना :

भारतीय दर्शन की अन्तिम परिणति यही है कि तुम अपने स्वरूप को समझ लो, बस यही तुम्हारी साधना है। स्वरूप को जब पहचान लिया कि अमर रहना, यह हमारा—चैतन्य का स्वरूप है, तो अमरता की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अमर रहने के लिए ही हमारी साधना चलती है, इससे आगे कहूँ तो यह कह सकता हूँ कि जीने के लिए ही हमारी साधना चल रही है। आप कहेंगे कि "क्या इतने छिछले स्तर पर हमारी साधना है? सिर्फ जीने के लिए?" मैं पूछूँ—"यदि जीने के लिए नहीं है, तो क्या मरने के लिए है?" जीना और मरना दो ही तो दृष्टियाँ हैं। मरना गलत दृष्टि है, जीना सही दृष्टि है। मरण नहीं, बल्कि अनन्त जीवन को केन्द्र मानकर ही साधना-क्षेत्र की समस्त साधनाएँ चलती हैं।

मैं अपने आपको क्यों नहीं मारता? इसीलिए कि आत्म-हत्या करना पाप है। पाप क्यों है? पाप यों है, कि वह स्वभाव के विरुद्ध है। अपने को मारना पाप है, तो मतलब यह हुआ कि मृत्यु ही पाप है।

कोई अपने आपको 'शूट' कर ले, तो उसने किसी दूसरे की जान तो नहीं लूटी? फिर आप गुरु से पूछें, तो वे कहेंगे—यदि दूसरे को मारना पाप है, तो अपने को मारना महापाप है। आत्म-हत्या करने वाला नरक में जाता है। कानून से पूछो, तो वह कहेगा, यह अपराध है। आत्म-हत्या का प्रयत्न करते हुए कोई पकड़ा गया, तो वह अपराधी है, उसे दण्ड मिलता है।

कोई जी रहा है, और वह पूछे कि क्या यह जीना भी पाप है? तो क्या कोई कहेगा कि हाँ, जीना पाप है? जीना भी पाप है, मरना भी पाप है, तो फिर संसार में धर्म क्या रह गया? धर्म कहता है कि—न तू मर! न किसी को मार! बस यही धर्म है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा का उद्गम भी इसी जिजीविषा के अन्दर से बताया है। दशवैकालिक में कहा है—

> "सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥" ६, ११.

संसार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, जीने की कामना, इच्छा प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है, मरना कोई नहीं चाहता, इसीलिए किसी का वध करना, मारना, पाप है। मतलब यह है कि 'जीना' यह स्वरूप है और स्वरूप धर्म है। आप देखेंगे कि अहिंसा का स्वर किस भावना से फूटा है? जीवित रहने की भावना से ही न! हम प्रत्येक प्राणी के प्रति सहृदय रहते हैं। सहृदय की साधना आखिर क्यों है? सभी प्राणी एक-दूसरे के प्रति सहृदय रहें। परस्पर सहृदयता, प्रेम, करुणा, सहयोग—ये सब हमारी जीवित रहने की भावना के ही विकसित रूप हैं। उसी महावृक्ष की ये अनेक शाखाएँ हैं।

सुख की भावना :

दूसरी भावना—सुख की भावना है। हम इस विश्वमंडल की अनन्त-अनन्त परिक्रमा कर चुके हैं और कर रहे हैं, लेकिन किसलिए? सुख के लिए ही तो! सुख की भावना और कामना से प्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील रहता है। निष्कर्ष यह है कि सुख आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप की माँग, खोज आत्मा करती है। भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वह आनन्दमय है। इसके आगे बढ़े तो कह दिया कि वह सच्चिदानन्द रूप है। सद्, चिद् और आनन्द, यह एक सर्वोच्च शिखर की बात है। उच्चतम आनन्द की भावना इसके साथ जुड़ी है। इससे यह तो हमने समझ ही लिया कि भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है, सुखमय है। जो उसका स्वरूप है, वही हमारा स्वरूप है। स्वरूप, उसका और हमारा भिन्न नहीं है। जो भगवान् का स्वरूप है, वह प्रत्येक प्राणी का स्वरूप है। तभी हम कहते हैं कि प्रत्येक घट में भगवान् का वास है। जब तक उस आनन्द की उपलब्धि नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है, तब तक प्राणी उसे पाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। यह बात दूसरी है कि जो सुख नहीं है, उसे भी हमने अज्ञानवश सुख की कल्पना से जोड़ लिया है। धन-परिवार और भोग का सुख, अज्ञान की कल्पना के साथ जुड़ा है। पर, यह अज्ञान भी तो हमारा ही है। ज्ञान ही तो विपरीत एवं विकृत होने पर अज्ञान होता है। और जो अज्ञान को समझता है कि यह 'अज्ञान है' वही ज्ञानी होता है। आप अँधेरे में चल रहे हैं, कोई ठूँठ खड़ा दिखाई दिया। आपने भ्रान्त कल्पना की, शायद कोई आदमी है, पर जब प्रकाश की कोई किरण चमकी और आपने देखा कि यह आदमी नहीं, ठूँठ है, तो यह पहले का अज्ञान दूर हो कर ज्ञान हो गया। अपना अज्ञान वही समझ सकता है, जो चिन्तक है। अज्ञान क्या है—विपरीत ज्ञान, या भ्रम! ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है। वह अज्ञान तो जड़ के पास है, जिसे कभी भी ज्ञान नहीं हो पाता। चेतन के स्वभाव में यह अज्ञान रह नहीं सकता। भले ही ज्ञान की गति विपरीत चल रही हो, परन्तु वह समय पर ठीक हो सकती है। किसी के पास बहुत-सा धन है, तो वह धनी है, फिर उस धन का गलत उपयोग करता है, तो यह बात दूसरी है, किन्तु समय पर ठीक उपयोग भी कर सकता है।

मैं कह रहा था कि अज्ञानवश जिसे सुख समझ लिया है और उसके पीछे दौड़ लगा रहे हैं, वह भी हमारी तीव्र सुखेच्छा का व्यक्त रूप है। इसीलिए एक दिन भगवान् महावीर ने कहा था—

'सव्वे पाणा सुहसाया, दुह पडिकूला।' —आचारांग, १, २, ३.

भूमंडल के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, सुख उन्हें प्रिय है, सुख की साधना कर रहे हैं, दुःख से कतराते हैं। सुख का यह स्वर कहाँ से आया? सुख की कामना क्यों जगी हमारे अन्दर? इसीलिए न कि सुख हमारा स्वरूप है? स्वयं सुखी रहना, यही हमारी साधना है। आपको कोई सुखी देख कर यह पूछे कि आप सुखी क्यों हैं? तो क्या उत्तर होगा आपका? शायद आपका टेम्प्रेचर चढ़ जाए और आप डाँटते हुए कह उठें कि तुम्हें इसकी क्या पड़ी कि हम सुखी क्यों हैं? प्रसन्न क्यों हैं? सुखी नहीं, तो क्या दुःखी रहें? मुहर्रमी सूरत बनाए बैठे रहें? संसार में मुँह लटकाए घूमते रहें? यह जीवन सुख के लिए है, सुखी और प्रसन्न रहने के लिए है। हँसने और हँसाने के लिए है, रोने-चीखने के लिए नहीं।

साधना में दुःखानुभूति क्यों?

कभी-कभी हमारे साधक कहते हैं कि सुखी रहने की बात कुछ समझ में नहीं आती। मैं पूछता हूँ कि इसमें क्या आपत्ति है? तो कहते हैं—"साधना करते-करते तो दुःख का अनुभव होता है, कष्ट और पीड़ाएँ होती हैं।" मैं कहता हूँ, यदि साधना करते हुए दुःख की अनुभूति जगती है, मन खिन्न होता है, तो वह साधना कैसी? ऐसी दुःखमयी साधना से तो साधना न करना ही अच्छा है। साधना का तो अर्थ है—उपासना! किन्तु उपासना किसकी? अपने स्वरूप की ही न! लेकिन स्वरूप क्या है? आनन्दमय। मतलब यह हुआ कि सुख की साधना करते समय दुःख का अनुभव होता है, यह तो गलत बात है। अमृत पीते हुए जहर-सी कड़वी घूँट लगती है, तो या तो अमृत नहीं है, या फिर पीना नहीं आया है। साधना में तो आनन्द और सुख की रसधारा बहनी चाहिए। जिस साधना के उत्स से सुख का स्रोत न फूटे, वह साधना ही क्या? वह तो परवशता की साधना है, जिसमें क्लेश और पीड़ा के काँटे चुभते रहते हैं। वह स्वतंत्र साधना कदापि नहीं है। जिस साधना में दुःख की, उद्विग्नता की, खिन्नता की अनुभूति होती है, उससे कर्मों की निर्जरा क्या होगी, नए कर्मों का बंध ही होगा? जहाँ मन में दुःख है, वहाँ परवशता है, जहाँ परवशता है, वहाँ बन्धन है। अतः वह साधना तो उलटे कर्मबन्ध का कारण ही बन गई। अतः मैंने कहा कि ऐसी साधना से, तो साधना नहीं करना अच्छा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर का दुःखी और कष्टमय होना एक अलग बात है और मन का दुःखी होना अलग बात। साधना शरीर की नहीं, चैतन्य की होती है।

अभिप्राय यह है कि यदि शरीर को कष्ट होता हो, तो भले ही हो, वह जड़ है, किन्तु चैतन्य को कष्ट नहीं होना चाहिए। आत्मा की प्रसन्नता बनी रहनी चाहिए। मैं तो कभी-कभी कहता हूँ कि यदि तपस्या करने से आत्मा की प्रसन्नता और मन की स्वस्थता बनी रहती है, तब तो ठीक है, और यदि आत्मा कष्ट पाती है, मन को क्लेश होता है, खिन्नता बढ़ती है, तो वह तपस्या कोई कल्याण करने वाली नहीं है, सिर्फ देह-दंड है, अज्ञान तप है। आचार्यों ने ठीक ही कहा है--

"सो नाम अणसण तवो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेई।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति॥"

संयम की साधना इसलिए की जाती है कि उससे आत्मा में प्रसन्नता जगती है। भावनाएँ शुद्ध, पवित्र एवं शान्त रहती हैं। यदि संयम पालते हुए भावना अशान्त हो, हृदय क्षुब्ध हो, मन विषय-भोग के लिए तड़पता हो, तो वह साधना, एक धोखा भर है। धोखा अपनी आत्मा के साथ भी और संसार के साथ भी, जो तुम्हें सच्चा साधक समझ रहा है।

भगवान् ने बतलाया है कि जिस साधक का मन साधना के रस में रम गया है, उसे साधना में आनन्द आता है। शरीर के कष्टों से उसकी आत्मा कभी विचलित नहीं होती। यदि कभी मन चंचल हो भी गया, तो शीघ्र ही उसे पुनः शान्त और समाधिस्थ कर लेता है।

हमारे कुछ साधक यह भी कहते हैं कि साधना में पहले दुःख होता है और बाद में सुख! किन्तु यह तो बाजारू भाषा है। यह निरी सौदेबाजी की बात है कि कुछ दुःख सहो तो फिर सुख मिले। जिस साधना के आदि में ही दुःख है, कष्ट है, उसके मध्य में और अन्त में सुख कहाँ से जन्म लेगा? यह साधना की सही व्याख्या नहीं। साधना तो वह है, जिसके आदि में भी सुख और प्रसन्नता स्वागत के लिए खड़ी रहे, आनन्द की लहरें उछलती मिलें, और मध्य में भी सुख तथा अन्त में भी सुख। वास्तव में साधक के सामने दैहिक कष्ट, कष्ट नहीं होते, उन्हें मिटाने के लिए उसकी साधना भी नहीं होती। साधना होती है, आत्मा की आध्यात्मिक प्रसन्नता और सहज आनन्द के लिए।

एक बार की बात है। वनवास के समय युधिष्ठिर ध्यान-मग्न बैठे थे। ध्यान से उठे तो द्रौपदी ने कहा--"धर्मराज! आप भगवान् का इतना भजन करते हैं, इतनी देर ध्यान में बैठे रहते हैं, फिर उनसे कहते क्यों नहीं कि वे इन कष्टों को दूर कर दें। कितने वर्ष से वन-वन भटक रहे हैं, कहीं कठोर नुकीले पत्थरों पर रात गुजरती है, तो कहीं कंकरों में, धूल में। कभी प्यास के मारे गला सूख जाता है, तो कभी भूख से पेट में बल पड़ने लगते हैं। भगवान् से कहते क्यों नहीं कि इन संकटों का वे अन्त कर डालें।"

धर्मराज ने कहा--"पांचाली! मैं भगवान् का भजन इसलिए नहीं करता कि वह हमारे कष्टों में हाथ बटाएँ। यह तो सौदेबाजी हुई। मैं तो सिर्फ आनन्द के लिए भजन करता हूँ। उसके चिन्तन से ही मेरे मन को प्रसन्नता मिलती है। जो आनन्द मुझे चाहिए, वह तो बिना माँगे ही मिल जाता है। अतः इसके अतिरिक्त और कुछ माँगने के लिए मैं भजन नहीं करता।"

साधना का यह उच्च आदर्श है कि वह जिस स्वरूप की साधना करता है, वह स्वरूप आनन्दमय है, उससे जीवन में सहज सुख का अमृत-निर्झर फूट पड़ता है, चारों ओर प्रसन्नता छा जाती है। सुख की इस साधना से अहिंसा का यह स्वर दृढ़ होता है, कि तुम स्वयं भी सुखी रहो और दूसरों को भी सुखी रहने दो। इतना ही नहीं, अपनी शक्ति और साधनों से दूसरों को भी सुखी बनाओ। स्व और पर के सुख की साधना ही अपने आनन्द-स्वरूप की सच्ची आराधना है।

जो स्वयं ही मुहर्रमी सूरत बनाए रहता है, वह दूसरों को क्या खुश रखेगा? स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के जीवन को ही जो भार के रूप में ढो रहा है, वह संसार को जीने का क्या सम्बल देगा ? इसीलिए साधना अन्तर्मुखी होनी चाहिए। स्वयं जीएँ, और दूसरों को जीने दें, स्वयं खुश रहें और दूसरों को खुश रहने दें। किसी की खुशी और प्रसन्नता को लूटने की कोशिश न करें।

स्वतन्त्रता की भावना :

आत्मा की तीसरी भावना, स्वतन्त्रता की भावना है। यह बात तो हम युग-युग से सुनते आए हैं कि कोई भी आत्मा बन्धन नहीं चाहती। विश्व में बन्धन और मुक्ति की लड़ाई सिर्फ साधना के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि जीवन के हर एक क्षेत्र में चल रही है। कोई भी व्यक्ति गुलाम रहना नहीं चाहता। हर कोई स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है। एक देश, दूसरे देश की गुलामी और अधिकार में नहीं रहना चाहता। एक जाति, दूसरी जाति के दबाव में रहना पसन्द नहीं करती।

आजादी और गुलामी के साथ यह भी बात समझ लेना आवश्यक है कि हमारी भावनाएँ अर्थात् मनुष्य की भावनाएँ गुलामी और मुहब्बत के दायरे में, बिलकुल अलग-अलग हैं। जबतक पुत्र के दिल में पिता के प्रति प्रेम और भक्ति है, जबतक भाई का भाई के प्रति प्रेम है, तबतक वह उसकी सेवा और मिन्नतें करने को तैयार रहता है। कभी उसके मन में इस तरह की कल्पना नहीं उठती कि मैं किसी की गुलामी कर रहा हूँ। किन्तु जब प्रेम का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह एक बात भी उसकी नहीं मानना चाहता। हर बात को वह गुलामी की दृष्टि से देखने लग जाता है। पति-पत्नी में जब तक प्रेम है, दोनों एक-दूसरे की हजार-हजार सेवाएँ करने को तैयार रहते हैं, पर पत्नी के मन में भी जब यह आ गया कि पति मुझे गुलाम समझता है, अपनी दासी समझता है, तो वह भी अकड़ जाती है। उसके लिए अपना बलिदान नहीं कर सकती। गुलामी की अनुभूति के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और स्वतन्त्रता को कोई भी प्राणी किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहता।

हमारे यहाँ मानव सभ्यता के आदियुग का प्रसंग आता है। भरत और बाहुबली सगे भाई थे, बड़ा प्रेम था दोनों में। बाहुबली हर क्षण भरत की सेवा में रहते थे, उनका सम्मान करते थे और उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते थे। पर, जब भरत चक्रवर्ती बनते हैं और बाहुबली को कहलाते हैं कि आओ, हमारी सेवा करो, वफादारी की शपथ लो ! तो बाहुबली कहते हैं, मेरा तो भाई के साथ प्रेम का सम्बन्ध चला ही आया है, भाई की सेवा में सदा ही तत्पर रहा हूँ, किन्तु अब यह नयी बात क्या आ गई ? भाई के नाते मैं हजार सेवा कर सकता हूँ उनकी ! हाथ जोड़े उनकी सेवा में दिनरात खड़ा रह सकता हूँ, पर यदि वह गुलाम-सेवक के नाते मुझे बुलाना चाहते हैं, तो, भाई तो क्या, मैं अपने बाप की भी सेवा करना स्वीकार नहीं करूंगा। बस, युद्ध शुरू हो गया और जो कुछ हुआ, वह आपको मालूम ही है। उसने अपनी स्वतन्त्रता नहीं त्यागी। अन्त में विजय प्राप्त करके भी जब देखा कि वास्तव में भरत को चक्रवर्ती होना है, तो जीते हुए साम्राज्य को भी लात मारकर चल पड़े, स्वतन्त्रचेता मुनि हो गए।

स्वतन्त्रता : आत्मा का स्वभाव है :

अभिप्राय यह है कि हर आत्मा में स्वतन्त्र रहने की वृत्ति बड़ी प्रबल है। प्रेम के वश वह किसी का सेवक हो सकता है, पर गुलाम बन कर किसी के बन्धन में नहीं रहना चाहता। क्यों नहीं रहना चाहता ? इसका भी यही एक उत्तर है कि स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है, स्वरूप है और उसका अधिकार है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह नारा भारतीय संस्कृति का नारा है, धर्म और संस्कृति का स्वर है।

एक जड़ पदार्थ को आप किसी डिबिया में बन्द करके रख दीजिए, वह हजार वर्ष तक भी बन्द रहेगा, तो भी कोई हलचल नहीं मचाएगा, आजादी के लिए संघर्ष नहीं करेगा, किन्तु यदि किसी क्षुद्रकाय चूहे को भी पिंजड़े में डाल दिया जाए, तो वह भी छूटने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छटपटाने लग जाता है। दो क्षण में ही वह उछल/कूद मचाने लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र रहना आत्मा का, चेतन का स्वभाव है। स्वभाव से विपरीत वह कभी नहीं जा सकती।

हम साधना के द्वारा मुक्ति की बात क्यों करते हैं? मोक्ष की अपेक्षा बाहर में स्वर्ग की मोहकता अधिक है, भोगविलास है, वहाँ ऐश्वर्य का भण्डार है। फिर भी स्वर्ग के लिए नहीं, किन्तु मुक्ति के लिए ही हम साधना क्यों करते हैं? मोक्ष में तो अप्सराएँ भी नहीं हैं, नृत्य-गायन भी नहीं है? बात यह है कि यह भौतिक सुख भी आत्मा का बन्धन ही है। देह भी बन्धन है, काम, क्रोध, ममता आदि भी बन्धन हैं, विकार और वासना भी बन्धन है और आत्मा इन सब बन्धनों से मुक्त होना चाहती है? भौतिक प्रलोभनों और लालसाओं के बीच हमारी आजादी दब गई है। सुख-सुविधाओं से जीवन पंगु हो गया है, इन सबसे मुक्त होना ही हमारी आजादी की लड़ाई का ध्येय है। इसीलिए हमारी साधना मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है। मुक्ति हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। वहाँ किसी का किसी तरह का बन्धन नहीं, किसी की गुलामी नहीं।

आचार्य जिनदास ने कहा है—**'न अन्नो आणायव्वो'** तू दूसरों पर अनुशासन मत कर। आदेश मत चला। अपना काम स्वयं कर। जैसा तुझे दूसरों का आदेश और शासन अप्रिय लगता है, वैसे ही दूसरों को भी तेरा शासन अप्रिय लगता है। कोई किसी के हुकुम में, गुलामी में रहना पसन्द नहीं करता।

कुछ लोग अमीरी के मधुर-स्वप्नों में रहते हैं। पानी पिलाने के लिए नौकर, खाना खिलाने के लिए भी नौकर, कपड़े पहनाने के लिए भी नौकर, मैंने यहाँ तक देखा है कि यदि जूते पहनने हैं, तब भी नौकर के बिना नहीं पहने जाते। यह इज्जत है या गुलामी? यदि यह इज्जत है भी तो किस काम की है यह इज्जत, जहाँ मनुष्य दूसरों के अधीन होकर रहता है। आज का मानव स्वतन्त्रता की बात करता है, पर वह दिन प्रतिदिन यंत्रों का गुलाम होता जा रहा है। यंत्रों के बिना उसका जीवन पंगु हो गया है। विज्ञान का विकास अवश्य हुआ है, जीवन के लिए उसका उपयोग भी है, पर जीवन को एकदम उसके अधीन तो नहीं कर देना चाहिए? इधर हम स्वतन्त्रता की बात करते हैं और उधर पराश्रित होते चले जा रहे हैं! अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं के मामले में भी देश आज परमुखापेक्षी हो रहा है। आज हमारा राष्ट्रिय चिन्तन इन सब परवशताओं को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील है। क्योंकि उसे स्वतन्त्र रहना है, किसी का गुलाम नहीं रहना है, राजनीतिक आजादी, सामाजिक आजादी और आर्थिक आजादी तथा इन सबके ऊपर अंत में आध्यात्मिक आजादी—हमारे महान् आदर्श हैं। हमें इसी ओर बढ़ना है, अपने स्वतन्त्रता रूप निज स्वरूप की ओर जाना है।

जिज्ञासा : चेतन का धर्म :

चौथी वृत्ति है—जिज्ञासा की। ज्ञान पाने की इच्छा ही जिज्ञासा है, सुख और स्वतन्त्रता की भावना की तरह यह भी नैसर्गिक भावना है। चैतन्य का लक्षण ही ज्ञान है। **'जीवो उवओग-लक्खणो'** भगवान् महावीर की वाणी है कि जीव का स्वरूप ज्ञानमय है। इसके दो कदम और आगे बढ़कर, यहाँ तक कह दिया गया है कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है, जो आत्मा है, वही ज्ञाता है—**'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।'** वैदिक परम्परा में भी यही स्वर मुखरित हुआ—**'प्रज्ञानं ब्रह्म।'** मतलब यह कि ज्ञान आत्मा से कोई अलग वस्तु नहीं है, "जो चेतन है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही चेतन है।"

छोटे-छोटे बच्चे जब कोई चीज देखते हैं, पूछते रहते हैं कि—यह क्या है? वह क्या है? हर बात पर उनके प्रश्नों की झड़ी लगी रहती है। आप भले उत्तर देते-देते तंग आ जाएँ, पर वह पूछता-पूछता नहीं थकता, कभी नहीं थकता! वह सृष्टि का समस्त ज्ञान अपने अन्दर में भर लेना चाहता है, सब-कुछ जान लेना चाहता है। वह ऐसा क्यों करता है? जानने की इतनी उत्कण्ठा उसमें क्यों जग पड़ी है? इसका मूल कारण यही है कि जानना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका स्वभाव है। जिज्ञासा प्राणिमात्र का धर्म है। भूख लगना जैसे शरीर का स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान की भूख जगना, आत्मा का स्वभाव है।

किसी भी अनजानी नई चीज को देख-सुनकर हमारे मस्तिष्क में सहज ही 'क्या ? क्यों ? किसलिए ?' के प्रश्न खड़े हो जाते हैं। हम उस नई वस्तु को, अनजानी चीज को जानना चाहते हैं। जब तक जान नहीं लेते, मन को शान्ति नहीं हो पाती, समाधान नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है कि जब तक जिज्ञासा जीवित है, तब तक ही हमारा जीवन है। जब अन्न से अरुचि हुई, भूख समाप्त हुई, तो समझ लीजिए अब टिकट बुक हो गया है, अगली यात्रा शुरू होने को है। ज्यों ही नित्य नये-नये प्रश्नों को जानने की वृत्ति समाप्त होती है, त्यों ही ज्ञान का दरवाजा बन्द हो जाता है, जीवन की प्रगति और उन्नति रुक जाती है, आत्मा अज्ञान-तमस् में ठोकरें खाने लग जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। जानने की यह वृत्ति बच्चे में भी रहती है, युवक में भी जगती है और बूढ़ों में भी होती है। हर एक हृदय में यह वृत्ति जगती रहती है। वह जो देखता है, सुनता है उसका विश्लेषण करना चाहता है। उसका ओर-छोर जानना चाहता है, बिना जाने उसकी तृप्ति नहीं होती।

जिज्ञासा : ज्ञान का भंडार :

आगम में हम पढ़ते हैं कि गणधर गौतम ने अमुक वस्तु देखी, अमुक बात सुनी, तो मन में संशय पैदा हुआ, कुतूहल पैदा हुआ—**'जाय संसए, जाय कोउहले।'** और संशय का समाधान करने तुरन्त भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच जाते हैं और पहुँचते ही प्रश्न कर देते हैं कि—**"कहमेयं भन्ते !'**—"भगवन् ! यह बात कैसे है ? इसमें सत्य क्या है ?" गौतम गणधर के प्रश्नों का विशाल क्रम ही जैन साहित्य और दर्शन के विकास की सुदीर्घ परम्परा है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ, 'महान् आगम वाङ्मय में से यदि गौतम के प्रश्नोत्तर एवं संवाद निकाल दिए जाएँ, तो फिर आगम साहित्य में विशेष कुछ रह नहीं जाएगा।' योरोप के अँग्रेजी साहित्य में जो स्थान शेक्सपियर आदि के साहित्य का है, संस्कृत-साहित्य में जो स्थान कालिदास आदि के साहित्य का है, जैतागमों में इन सबसे कहीं बढ़ कर स्थान गौतम के दार्शनिक एवं धार्मिक परिसंवादों का है। गौतम के प्रश्न और संवाद जैन आगमों की आत्मा है। प्रश्न हैं इस साहित्य को प्रेरणा का स्रोत क्या है ? कहाँ से उठती है इसके निर्माण की तरंग ? गौतम की जिज्ञासा से, संशय से। जो संशय ज्ञानाभिमुख होता है, वह बुरा नहीं होता। पूर्व और पश्चिम के अनेक दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति और विकास संशय से ही मानते हैं। क्या ? कैसे ? किसलिए ? यह दर्शन के विकास के मूल सूत्र हैं। यही सूत्र विज्ञान के भी जनक हैं। भारतीय विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया **'नहि संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'** संशय किए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन ही नहीं कर सकता। पुराने आचार्य ग्रन्थों का निर्माण करते समय सबसे प्रथम उसकी पृष्ठभूमि, जिज्ञासा पर खड़ी करते हैं—**'अथातो धर्म-जिज्ञासा'**—अब धर्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा प्रारम्भ की जाती है। इस प्रकार दर्शन और धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ है जिज्ञासा से। सिर्फ साहित्य के विकास की ही बात मैं नहीं करता, मानवजाति का विकास भी जिज्ञासा के आधार पर ही हुआ है। जिज्ञासा ने ही मूर्ख को विद्वान् बनाया है, अज्ञानी को ज्ञान दिया है। हर एक आत्मा में जिज्ञासा पैदा होती है, वह उसका समाधान चाहती है और विकास करती जाती है। बात यह है कि सुख की इच्छा और स्वतन्त्रता की भावना की तरह, जिज्ञासा भी, आत्मा की सहज भावना है, स्वभाव है, उससे किसी को रोका नहीं जा सकता। रोकना गलत है। जिज्ञासा और उसके समाधान की परंपरा निरन्तर प्रवहमान रहनी चाहिए।

प्रत्येक प्राणी ईश्वर है :

पाँचवी भावना—प्रभुता की है। प्रत्येक प्राणी चाहता है कि संसार में वह स्वामी बनकर रहे, ईश्वर बनकर रहे। चूँकि आत्मा को जब परमात्मा माना गया है, ईश्वर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप माना गया है, तो इसका मतलब यही हुआ कि वह अपने ईश्वरत्व को विकसित करना चाहता है। ईश्वर का अर्थ ही है स्वामी, समर्थ और प्रभु! इसलिए प्रभुता चाहना, कोई गलत बात नहीं है, यह तो आत्मा का स्वभाव है।

घर में एक बच्चा है, आजादी से रहता है, राजा बनकर रहता है, वह भी जब देखता है कि घर में उसका अपमान किया जा रहा है, उसकी बात सुनी नहीं जाती है, तो वह तिल-मिला उठता है, उसका 'मूड' बिगड़ जाता है। बहू भी घर में जब आती है और देखती है कि इस घर में उसे सम्मान नहीं मिल रहा है, सास, ससुर आदि उसे दासी की तरह समझ रहे हैं, तो विशाल ऐश्वर्य होते हुए भी वह घर उसके लिए 'नरक' के समान बन जाता है। वह यही कहेगी "धन को क्या चाटूं? जहाँ सम्मान नहीं, वहाँ जीना कैसा? सुख कैसा?"

सहस्र-धारा-साधना :

साधना की पवित्र स्रोतस्विनी सहस्रधारा के रूप में बहती रही है। जीवन को यदि हम एक खेत के रूप में देखें, तो उसमें हजारों-हजार क्यारियाँ हैं, हजारों-हजार नालियाँ हैं, हजारों-हजार पेड़-पौधे हैं, उन्हें सरसब्ज रखने के लिए साधना की हजारों-हजार धाराएँ बहती रहनी चाहिएँ, उनके शीतल मधुर जल का स्पर्श जीवन के खेत में सतत होता रहना चाहिए।

जिस प्रकार खेती में कभी एक ही चीज नहीं बोई जाती, सैकड़ों-हजारों प्रकार के बीज बोए जाते हैं, सर्वांग खेती की जाती है, उसी प्रकार जीवन की साधना कभी एकांगी नहीं होती, वह सर्वांगीण होती है।

हमारी आत्मा का स्वरूप अनन्त गुणात्मक है। आचार्य माघनन्दी ने इस सम्बन्ध में कहा है—**"अनन्तगुणस्वरूपोऽहम्"**—यह आत्मा अनन्त गुणों का अक्षय कोष है।

यह बात कहने पर भी जब दार्शनिक आचार्य को लगा कि अभी बात पूरी कर नहीं सका हूँ, आत्मस्वरूप का परिचय पूर्णरूपेण नहीं दे सका हूँ, तो उन्होंने उपर्युक्त सूत्र को परि-वर्धन के साथ पुनः दुहराया—

"अनन्तानन्तगुणस्वरूपोऽहम्"

—अनन्त ही नहीं, अनन्त-अनन्त गुणों का समवाय है, यह आत्मा। अनन्त को अनन्त से गुणन करने पर अनन्तानन्त होता है।

जीवन की सर्वांग सुन्दरता :

अनन्त को अनन्त बार दुहराने का समय न आपके पास है और न मेरे पास। इस जीवन में क्या, अनन्त जन्मों तक प्रयत्न करने पर भी हम उसके अनन्त स्वरूप को दुहरा नहीं सकते।

तथापि यह अभीष्ट है कि जीवन जो अनन्तानन्त गुणों का समवाय है, अनेक रूपों में उसकी सर्वांग सुन्दरता प्रस्फुटित होनी चाहिए, उसके विभिन्न अंगों का विकास होना चाहिए। अगर जीवन का विकास एकांगी रहा, जीवन में किसी एक ही गुण का विकास कर लिया और अन्य गुणों की उपेक्षा कर दी गई, तो वह विकास, वस्तुतः विकास नहीं होगा, उससे तो जीवन बेडोल एवं अनगढ़ हो जाएगा।

कल्पना कीजिए, कोई ऐसा व्यक्ति आपके सामने आए, जिसकी आँखें बहुत सुन्दर हैं, तेजस्वी हैं, पर नाक बड़ी बेडोल है, तो क्या वह आँख की सुन्दरता आपके मन को अच्छी लगेगी? किसी आदमी के हाथ सुन्दर हैं, किन्तु पैर बेडोल ह, किसी का मुख सुन्दर है, किन्तु हाथ-पैर कुरूप और बेडौल हैं, तो इस प्रकार की सुन्दरता, कोई सुन्दरता नहीं होती। सुन्दरता वही मन को भाती है, आँखों को सुहाती है, जो सर्वांग सुन्दर होती है। जब समस्त अवयवों का, अंगोपांगों का उचित रूप से निर्माण और विकास होता है, तभी वह सुन्दरता सुन्दरता कहलाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार तन की सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार जीवन की भी सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित है। जीवन का रूप भी सर्वांग सुन्दर होना चाहिए। वह जीवन ही क्या, जिसका एक कोण सुन्दर हो और अन्य हजारों-लाखों कोण असुन्दर तथा अभद्र हों।

एक मनुष्य है, सेवा बहुत करता है, रात-दिन सेवा में जुटा रहता है, सेवा के पीछे खाना-पीना सब कुछ भुला देता है, पर जब बोलता है, तो कड़वा जहर! सुननेवालों के कलेजे जल जाते हैं। विचार कीजिए, वह सेवा किस काम की हुई?

कुछ लोग वाणी से बोलते हैं, तो ऐसा लगता है कि दूध में चीनी घोल रहे हैं, बहुत मीठे, शीतल, शिष्ट और सुन्दर। किन्तु, हृदय में देखो तो, सर्वनाश की कैंची चल रही होती है, बर्बाद कर देने की आरा मशीन चल रही होती है। किसी भोले-भाले गरीब का मिनटों में ही सब-कुछ साफ कर डालते हैं। तो, भला यह मीठी वाणी भी किस काम की?

बात यह है कि कर्म के साथ मन भी सुन्दर होना चाहिए, वाणी भी सुन्दर होनी चाहिए। मन, वाणी और कर्म का सम्यक् सन्तुलन होना चाहिए, तभी उनमें सर्वांगीणता आएगी और वे सुन्दर लगेंगे। तीनों का समन्वय ही जीवन की सुन्दरता है और तीनों का वैषम्य जीवन की कुरूपता है।

नम्रता और सरलता :

एक सज्जन हैं, बड़े ही विनम्र! कभी गर्म नहीं होते, ऊँचे नहीं बोलते। लाख कड़वी बात कह लीजिए, हंसते ही चले जाएँगे, पर हंसते-हंसते आखिरी दाव ऐसा लगाएँगे कि सामने वाला चारों खाने चित्त! बड़ी कुटिलता, धूर्तता भरी रहती है उनके मन में। नम्रता, कुटिलता छिपाने का एक कवच मात्र है, धोखे की टट्टी है! उस नम्र व्यक्ति को आप क्या कहेंगे—चीता है, धूर्त है! चूंकि आप जानते हैं—

"नमन नमन में फर्क है, सब सरिखा मत जान।
दगाबाज दूना नमें, चीता, चोर, कमान॥"

केवल झुक जाना कोई नम्रता नहीं है। शिकार को देख कर चीता भी झुकता है, मालिक को जगा देखकर चोर भी झुक-झुक कर छूछूंदर की तरह किनारे-किनारे निकल जाता है और कमान (धनुष) भी तीर फेंकने से पहले इतना झुकता है कि दुहरा हो जाता है। पर क्या वह नम्रता है, वह कोई सद्गुण है? 'जी नहीं!' मुझसे पहले ही आप निर्णय दे रहे हैं कि 'नहीं', क्योंकि वह एकांगी विनम्रता है, उसके साथ मन की सरलता नहीं है, हृदय की पवित्रता नहीं है। एकांगी विशेषता, सद्गुण नहीं हो सकती, सर्वांग वैशिष्ट्य ही सद्गुण का रूप ले पाता है।

एक बूंद : एक प्रवाह :

आप कहेंगे कि जीवन में समग्रता आनी चाहिए, यह बात तो ठीक है, पर एक साथ ही यह समग्रता, संपूर्णता कैसे आ सकती है? समग्र गुणों को एक साथ कैसे अपना सकते हैं?

मैं मानता हूँ, यह एक समस्या है, काफी बड़ी समस्या है। यदि गंगा के समूचे प्रवाह को एक ही चुल्लू में भरना चाहें, तो नहीं भर सकते, सुमेरु को एक ही हाथ से उठाकर तोलना चाहें, तो यह असम्भव है। एक ही छलांग में यदि समुद्र को लाँघने का प्रयत्न करते हैं, तो यह एक बुद्धिभ्रम ही कहा जाएगा। पर बात यह है कि एकांश ग्रहण के साथ हमारी बुद्धि उस एक अंश में ही केन्द्रित नहीं होनी चाहिए, सर्वांश ग्रहण का उदात्त ध्येय हमारे सामने रहना चाहिए। हमें बूँद में ही बंद नहीं हो जाना है, सुमेरु की तलहटी के एक पत्थर पर ही समाधिस्थ नहीं हो जाना है। हाथ में चाहे एक बूँद है पर हमारी दृष्टि गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह पर है, पैरों के नीचे सिर्फ एक फुट भूमि है, किन्तु हमारी कल्पना सुमेरु की चोटी को छू रही है, तो मैं मानता हूँ कि यह एकांश ग्रहण, सर्वांश ग्रहण की ही एक प्रक्रिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जीवन की, धर्म की एवं सत्य की सर्वांगता को स्पर्श करने का व्यापक एवं सम्यक् दृष्टिकोण हमारे पास होना चाहिए। कोई भी एक गुण हो, उसके सम्यक्-विकास में आप चाहे जितने गुणों का रूप निखार सकते हैं। हर गुण अनन्त स्वरूप है। अतः आप एक गुण के सहारे अनेक गुणों को धीरे-धीरे जीवन में अभिव्यक्त कर सकते हैं। सरल-भाव की नम्रता एक दिव्य गुण है।

अहिंसा : नम्रता का एक रूप :

अहिंसा भी नम्रता का ही एक रूप है। मन की कोमलता हृदय की पवित्रता, वाणी की मधुरता, ये सब नम्रता के ही स्वरूप है! मन की पवित्रता के बिना नम्रता अधूरी है, वाणी की मधुरता के बिना नम्रता लंगड़ी है। यदि मन में कोमलता और सरलता नहीं है, तो दिखाऊ नम्रता राक्षसी का-सा बेडौल रूप है। अतः ये सब गुण मिलकर ही तो अहिंसा का पावन रूप लेते है। कोमलता और मधुरता के बिना अहिंसा का अस्तित्व ही क्या? सृष्टि के समस्त चैतन्य के साथ जब तक आत्मानुभूति नहीं जगती, तब तक अहिंसा के विकास का अवसर ही कहाँ है? वैयक्तिक चेतना जब समष्टिगत चेतना के साथ एकाकार होती है, तो मानव मन स्नेह, सरलता एवं कोमलता से सराबोर हो जाता है, और यही तो अहिंसा का समग्ररूप है, सर्वांगीण विकास है।

व्यक्ति जब अपने से ऊपर उठकर समष्टि के साथ ऐक्यानुभूति करने लगता है—'आयतुले पयासु'— अर्थात् सबको आत्म-तुल्य समझने का सूत्र जब जीवन में साकार होने लगता है, तब अहिंसा अपने समग्र रूपों के साथ विकास पाती है।

अहिंसा के सम्बन्ध में यह एक बड़ी भ्रान्ति है कि वह साधु-संतों के जीवन का आदर्श होती है, गृहस्थ जीवन में उसका विकास नहीं हो सकता! किंतु मेरा विचार है कि अहिंसा के विकास और प्रयोग की संभावना जितनी गृहस्थ-जीवन में, पारिवारिक-जीवन में है, उतनी अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

पारिवारिक भूमिका पर कोई भाई-बहन है, कोई पिता-पुत्र है, कोई माँ-बेटी है, कोई सास-बहू है, कोई पति-पत्नी है। इन सारे सम्बन्धों की भाषा पारिवारिक एवं सामाजिक भाषा है। कहा जा सकता है कि इस भाषा में राग है, मोह है, अतः इसमें बंधन भी है। परन्तु मेरी दृष्टि कुछ और है। राग भाषा में नहीं, भावना में होता है, बंधन दृष्टि में होता है। यदि इन्हीं शब्दों के साथ हमारी चेतना का विराट् स्वरूप जुड़ा हुआ हो, हमारी समष्टिगत चेतना का स्पंदन इनमें हो, तो ये ही उदात्त प्रेम, और वात्सल्य के परिचायक हो सकते हैं। इन्हीं शब्दों के नाद में कर्तव्य की उदात्त पुकार और प्रेरणा सुनी जा सकती है। नंदी सूत्र में जहाँ तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, वहाँ भाव विभोर शब्दों में कहा गया है—'**जयइ जगपियामहो भयवं**''—जगत् के पितामह भगवान् की जय हो। भगवान् को जगत का पितामह अर्थात् दादा कहा है। इस शब्द के साथ वात्सल्य की कितनी उज्ज्वल धारा है। शिष्य के लिए 'वत्स' (पुत्र) शब्द का प्रयोग आगमों में अनेक स्थान पर होता रहा है, क्या इस शब्द में कहीं राग की गन्ध है? नहीं, इन शब्दों के साथ पारिवारिक-चेतना का उदात्तीकरण हुआ है, पारिवारिक-भाव विराट् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य जाति की विरासत :

मैं मानता हूँ, मनुष्य जाति भाग्यशाली है, जिसमें पारिवारिक चेतना का विकास है। अन्य कौन-सी जाति एवं योनि है, जहाँ पारिवारिक भाव है? एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने का संकल्प है? नरक में असंख्य-असंख्य नारक भरे पड़े हैं। एक पीड़ा से रोता है, तो दूसरा दूर खड़ा देख रहा होता है। कोई किसी को सांत्वना देने वाला नहीं, कोई किसी के आँसू पोंछने वाला नहीं। एक प्रकार की आपाधापी, लूट-खसोट, यही तो नरक की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी है। जिस जीवन में इस प्रकार की आपाधापी होती है, उसे हम यहाँ धरती पर भी तो नरक ही कहते हैं। जहाँ किसी के दुःख-सुख से किसी को कोई लगाव नहीं, वहाँ पारिवारिक भाव का कुछ भी स्पन्दन सम्भव है? पशु-पक्षियों की जाति में तो परिवार की कोई कल्पना ही नहीं, थोड़ा-बहुत है तो कुछ काल तक का मातृत्व भाव जरूर मिल जाता है, पर उसमें भी उदात्त चेतना की स्फुरणा और विकास नहीं है। देव योनी को हम सुख-भोग की योनि मानते हैं, वहाँ भी कहाँ है पारिवारिकता? वहाँ पितृत्व एवं मातृत्व तो कुछ है ही नहीं, पति-पत्नी जरूर होते हैं, पत्नी के लिए संघर्ष भी होते हैं, परन्तु पति-पत्नी का दाम्पत्य-भाव के रूप में, जो उदार भाव है, कर्तव्य और उत्तरदायित्व का, जो उच्चतम आदर्श है, वह तो नहीं है देव योनि में? शारिरिक बुभुक्षा और मोह की एक तड़प के सिवा और है क्या देवताओं में? अन्य की देवियों को चुराना, उपभोग करना और फिर योंही कहीं छोड़ देना। कुछ देव तो इसी मनो रोग के शिकार हैं। इसलिए मैं मनुष्य-जाति को ही एक श्रेष्ठ और भाग्यशाली जाति मानता हूँ, जिसमें विराट् पारिवारिक-चेतना का विकास हुआ है, स्नेह एवं सद्भाव के अमृत-स्रोत बहे हैं, उदात्त-सात्विक संबंधों के सुदृढ़ आधार बने हैं, तथा समर्पण का पवित्र संकल्प जगा है।

पारिवारिक भावना का विकास :

भगवान् ऋषभदेव को हम वर्तमान चालू मानव-सभ्यता के युग का आदि-पुरुष मानते हैं। किसलिए? इसीलिए कि उन्होंने व्यष्टि केन्द्रित मानव-जाति को समष्टिगत चेतना से पूर्ण किया, मनुष्य को परिवार-केन्द्रित रहना सिखाया, उसे सामाजिक कर्तव्य एवं दायित्व का बोध दिया।

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व के युग में व्यक्ति तो थे, किन्तु परिवार नहीं था। यदि दो प्राणियों के सहवास को और उनसे उत्पन्न युगल संतान को ही परिवार कहना चाहें, तो भले कहें, पर निश्चय ही उसमें पारिवारिकता नहीं थी। परिवार का भाव नहीं था। वे युगल पति-पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि नर-नारी के रूप में ही एक-दूसरे के निकट आते थे। शारीरिक वासना के सिवा उनमें और कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं था। वे सुख-दुःख के साथी नहीं थे, पारस्परिक उत्तरदायित्व की भावना उनमें नहीं थी। उनमें चेतना का ऊर्ध्वीकरण नहीं हुआ था। वह चेतना बिखरी हुई, टूटी हुई थी और थी अपने आप में सिमटी हुई। भगवान् ऋषभदेव ने ही उस व्यक्ति केन्द्रित चेतना को समष्टि के केन्द्र की ओर मोड़ा, कर्तव्य और उत्तरदायित्व का संकल्प जगाया, एक-दूसरे की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का स्पर्श उन्हें करवाया। कहना चाहिए, निरपेक्ष मानस को संवेदनशील बनाया, व्यक्तिगत हृदय को सामाजिकता के सूत्र में जोड़ा। इसलिए जैन संस्कृति उन्हें—"प्रजापतिः" कह कर पुकारती है, प्रथम राष्ट्र निर्माता और धर्म का आदि कर्ता कहकर उनका अभिनन्दन करती है।

भगवान् ऋषभदेव ने जिस पारिवारिक चेतना का विकास किया था, वह एक तरह अहिंसा और मैत्री का ही विकास था। यह मैं मानता हूँ कि पारिवारिक चेतना में राग और मोह की वृत्ति जग जाती है, हमारा स्नेह और प्रेम वैयक्तिक आधार पर खड़ा हो जाता है, किन्तु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि उसके तल में तो अहिंसा की सूक्ष्म भावना कहीं-न-कहीं अवश्य मिलेगी, करुणा और मैत्री की कोई-न-कोई क्षीण धारा बहती हुई अवश्य लक्ष्य में आएगी।

पलायनवादी मनोवृत्ति :

पारिवारिक चेतना में मुझे अहिंसा और करुणा की झलक दिखाई देती है, समर्पण और सेवा का आदर्श निखरता हुआ लगता है। प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था में चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के ऋण की चर्चा मिलती है।[1] कहा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य पैदा होते ही ये चारों तरह के ऋण अपने साथ लेकर आता है। देव ऋण—(देवताओं का ऋण) ऋषि ऋण (ऋषियों का ऋण) पितृ ऋण (पूर्वजों का ऋण) और मनुष्य ऋण (परिवार, समाज व राष्ट्र के मनुष्यों का ऋण)।

ऋण का अर्थ यही है कि मनुष्य जन्म लेते ही सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्य व उत्तरदायित्व के साथ बँध जाता है। मनुष्य ऋण का स्पष्ट मतलब यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति एक स्वाभाविक सहकार व दायित्व होता है, एक कर्तव्य की जिम्मेदारी होती है, जिससे वह कभी भी किसी भी स्थिति में भाग नहीं सकता। यदि उस ऋण को बिना चुकाए भागता है, तो वह सामाजिक अपराध है, एक नैतिक चोरी है। इस विचार की प्रतिध्वनि जैन आचार्य उमास्वाति के शब्दों में भी गूँज रही है—**"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** प्रत्येक प्राणी एक दूसरे-प्राणी से उपकृत होता है, उसका आधार व आश्रय प्राप्त करता है। यह प्राकृतिक नियम है। जब हम किसी का उपकार लेते हैं, तो उसे चुकाने की भी जिम्मेदारी हमारे ऊपर आती है। यह आदान-प्रतिदान की सहज वृत्ति ही मनुष्य की पारिवारिकता एवं सामाजिकता का मूल केन्द्र है। उसके समस्त कर्तव्यों, तथा धर्माचरणों का आधार है। यदि कोई इस पारिवारिक एवं सामाजिक भावना को, एकान्त मोह तथा राग की दुर्गन्ध बताकर, उससे दूर भागने की बात कहता है, तो मैं उसे पलायनवादी मनोवृत्ति कहूँगा। यह सिर्फ उथला हुआ एकांगी चिंतन है। वह विकास प्राप्त मानव-जाति को पुनः अतीत के गुहामानव की ओर खींचने का एक दुष्प्रयत्न मात्र है। यदि पारिवारिक राग और मोह से भागना ही उचित होता, तो भगवान् ऋषभदेव स्वयं पहल करके पारिवारिक व्यवस्था की नींव क्यों डालते? यद्यपि विवाह को आज तक किसी ने अध्यात्म-साधना का रूप नहीं दिया, किन्तु धर्म-साधना का एक सहायक कारण अवश्य माना है। गृहस्थाश्रम को साधु-जीवन का आधार क्यों बताया है? इसलिए कि उसमें मनुष्य की सामाजिक चेतना सहस्ररूप होकर विकसित होती है। मनुष्य ने केवल वासना पूर्ति के लिए ही विवाह नहीं किया। वह तो आपकी चालू भाषा के अनुसार कहीं भी 'प्रासुक रूप' में कर सकता था, किन्तु इस वृत्ति को भगवान् ने असामाजिक बताया, महा पाप का रूप दिया, और पती-पत्नी सम्बन्ध को एक उदात्त नैतिक आदर्श के रूप में माना।

इस सम्बन्ध में एक बात और बता दूँ कि जैन-आचार-दर्शन ने पर-स्त्री के प्रति राग को अपवित्र एवं अनुचित राग माना है, जबकि स्व-स्त्री के राग को उचित, जीवन-सहायक राग के रूप में लिया है। यह बात इसलिए महत्त्व की है, चूँकि जैन-दर्शन को लोगों ने एकान्त रुढ़ वैरागियों का दर्शन समझ लिया है। कुछ लोग इसे भगोड़ों का दर्शन कहते हैं, जिसका मतलब है कि घर-बार-परिवार छोड़कर जंगल में भाग जाओ।। यह एक भ्रान्ति है, महज गलत समझ है। जैन-दर्शन, जिसका प्राण अहिंसा है, मनुष्य को सामाजिक, पारिवारिक और राष्ट्रिय आदर्श की बात सिखाता है, करुणा, सेवा, समर्पण का संदेश देता है। नैतिक जिम्मेदारी और कर्तव्य को निभाने की बात कहता है। मैंने प्रारम्भ में ही आपको बताया कि प्रत्येक विचार के हजारों-हजार पहलू हैं, अनन्त रूप हैं। जब तक उसके सर्वांग चिंतन का द्वार नहीं खुलेगा, उसके सम्पूर्ण रूप को समझने की दृष्टि नहीं जगेगी, तब तक हम हजारों-हजार बार जैन-कुल में जन्म लेकर भी जैनत्व का मूल स्पर्श नहीं कर पाएँगे।

---

१. कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थों में तीन ऋण प्रसिद्ध हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण। किन्तु प्रारम्भ में चार ऋण माने जाते थे जैसा उल्लेख प्राप्त है—

ऋणं ह वै जायते योऽस्ति।

स जायमानो एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः—शतपथ ब्राह्मण, १, ७, २, १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार भावनाएँ :

जैन धर्म में चार भावनाओं की विशेष चर्चा आती है। आचार्य उमास्वाति ने, जिन्होंने जैन-दर्शन को सर्वप्रथम सूत्र रूप में प्रस्तुत किया, चार भावनाओं को व्यवस्थित रूप में गूँथा है। बीज रूप में आगमों में वे भावनाए यत्र-तत्र अंकुरित हुई थी, किन्तु उमास्वाति ने उन्हें एक धागे में पिरोकर सर्वप्रथम पुष्पहार का सुन्दर रूप दिया। आचार्य अमितगति ने उन्हीं को अभ्यर्थना के एक श्लोक में इस प्रकार ग्रथित किया है—

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव॥"

मैं समझता हूँ, सम्पूर्ण जैन-साहित्य में से यदि यह एक श्लोक ही आखिर तक हमारे पास बचा रहे, तो सब कुछ बचा रहेगा।

सत्वेषु मैत्रीम्—यह एक ऐसा आदर्श है, जिसका स्वर वेद, उपनिषद्, आगम और पिटक—सर्वत्र गूँज रहा है। मैत्री-भावना मन की वृत्तियों का बहुत ही उदात्त रूप है, प्रत्येक प्राणी के साथ मित्रता की कल्पना ही नहीं, अपितु उसकी सच्ची अनुभूति करना, उसके प्रति एकात्मभाव तथा तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना, वास्तव में चैतन्य की एक विराट् अनुभूति है। मेरा तो विश्वास है कि यदि मैत्री-भावना का पूर्ण विकास मानव में हो सके, तो फिर यह विश्व ही उसके लिए स्वर्ग का नन्दन कानन बन जाए। जिस प्रकार मित्र के घर में हम और हमारे घर में मित्र निर्भय, और निःसंकोच भाव से सहज स्नेह और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व को भी हम परस्पर मित्र के घर के रूप में देखें। कहीं भय, संकोच एवं आतंक की लहर नहीं हो। कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह! व्यक्ति-व्यक्ति में मैत्री हो, परिवार-परिवार में मैत्री हो, समाज-समाज तथा राष्ट्र-राष्ट्र में मैत्री हो, तो फिर आज की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब निर्मूल हो सकती हैं। मार-काट, धोखा-धड़ी और लूट-खसोट से लेकर परमाणु-शस्त्रों तक की विभीषिका इसी एक भावना से समाप्त हो सकती है।

गुणिषु प्रमोदम्—दूसरी भावना का स्वरूप है गुणीजनों के प्रति प्रमोद! किसी की अच्छी बात देखकर, उसकी विशेषता और गुण देखकर कभी-कभी हमारे मन में एक अज्ञात ललक, हर्षानुभूति होती है, हृदय में आनन्द की एक लहर-सी उठती है, बस यह आनन्द एवं हर्ष की लहर ही प्रमोद-भावना है। किन्तु इस प्रकार की अनुभूति के अवसर जीवन में बहुत ही कम आते हैं—ऐसा मुझे लगता है।

मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह दूसरों की बुराई में बहुत रस लेता है। ईर्ष्या और डाह का पुतला होता है। दूसरे किसी का उत्कर्ष देखता है, तो जल उठता है। पड़ौसी को सुखी देखता है, तो स्वयं बेचैन हो जाता है। अपने से बढ़कर किसी ने कुछ सत्कर्म कर दिखाया, तो बस उसे व्यंग, ताना आदि के चुटीले शब्दों से बींध डालने की कोशिश करते हैं। जीवन की यह बड़ी विषम स्थिति है। मनुष्य का मन, जब देखो तब ईर्ष्या, डाह, प्रतिस्पर्धा में जलता रहता है। ऐसी स्थिति में गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, तो कैसे हो?

ईर्ष्या की आग कभी-कभी इतनी विकराल हो जाती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्र के उत्कर्ष को भी फूटी आँखों नहीं देख सकता। एक ऐसे पिता को मैंने देखा है, जो अपने पुत्र की उन्नति से जला-भुना रहता था। पुत्र बड़ा प्रतिभाशाली और तेज था, पिता के सब व्यापार को संभाल ही नहीं रहा था, बल्कि उसको काफी बढ़ा भी रहा था। मिलनसार इतना कि जो भी लोग आते, सब उसे ही पूछते। सेठजी बैठे होते, तब भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूछते—वह कहाँ है? बस सेठ जल उठता—"जो भी आते हैं, पूछते हैं.....वह कहाँ है। कल का जन्मा छोकरा, आज बन गया सेठ। मुझे कोई पूछता ही नहीं। सेठ तो मैं हूँ, उसका बाप हूँ।"

मैं समझता हूँ, यह पीड़ा, यह मनोव्यथा एक पिता की ही नहीं, आज अनेक पिता और पुत्रों की यही व्यथा है, भाई-भाई की भी यही पीड़ा है। इसी पीड़ा से पति-पत्नी भी कसकते रहते हैं और अड़ोसी-पड़ोसी भी इसी दर्द के मरीज होते हैं। ईर्ष्या और जलन आज राष्ट्रिय बीमारी ही क्या, अन्तर्-राष्ट्रिय बीमारी बन गई है। और इसीलिए कोई सुखी एवं शांत नहीं है।

इस बीमारी के उपचार का यही एक मार्ग है कि हम प्रमोद भावना का अभ्यास करें। जहाँ कहीं भी गुण है, विशेषता है, उसे साफ चश्मे से देखें। व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्र का चश्मा उतार कर उसे केवल गुण-दृष्टि से देखें, उसका सही मूल्यांकन करें और गुण का आदर करें! यह निश्चित समझिए कि आप यदि स्वयं आदर-सम्मान पाना चाहते हैं, तो दूसरों को भी आदर और सम्मान दीजिए। अपने गुणों की प्रशंसा चाहते हैं, तो औरों के गुणों की भी प्रशंसा कीजिए!

मैत्री एवं प्रमोद भावना का विकास, मन में प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनंद का संचार करता है।

क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्—तीसरी भावना करुणा है। करुणा मन की कोमल वृत्ति है, दुःखी और पीड़ित प्राणी के प्रति सहज अनुकम्पा, मानवीय संवेदना जग उठती है और हम उसके प्रति सहानुभूति का हाथ बढ़ाते हैं। करुणा मनुष्य की सामाजिकता का मूल आधार है। अहिंसा, सेवा, सहयोग, विनम्रता आदि हजारों रूप इसके हो सकते हैं और उन सबका विकास करना ही जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना है।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ—माध्यस्थ-भावना मन की एक तटस्थ स्थिति है। जीवन, जीवन है। जीवन में कोई किसी का विरोध भी कर सकता है, कोई किसी के प्रतिकूल भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में क्षुब्ध न होना माध्यस्थ-भावना है। इसी प्रकार असफलता की स्थिति में मनुष्य का उत्साह निराशा में न बदले, मन उत्पीड़ित न हो और मोह-क्षोभ के विकल्पों से मन परास्त न हो, यह भी माध्यस्थ-भावना का सुफल है।

जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए उसका सर्वांगीण विकास करना आवश्यक है। जीवन में समस्त सद्गुणों का उद्भव और पल्लवन किए बिना मानवता के मधुरतम फल नहीं प्राप्त हो सकते। किसी भी एक सद्गुण को लेकर और उसके जितने भी स्रोत हैं, जितने भी अंग हैं, उन सबका विकास करके ही उसमें पूर्णता और समग्रता का निखार आ सकता है।

जैन-दर्शन ही क्या, समस्त भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है—एक में अनेक और अनेक में एक। किसी भी एक गुण को लेकर उसके अनन्त गुणों का विकास किया जा सकता है। उदाहरण मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किया है कि अहिंसा का एक गुण ही जीवन के समग्र गुणों का मूल बन सकता है। विनम्रता, मधुरता, कोमलता, मैत्री एवं प्रमोद भावना, करुणा और माध्यस्थवृत्ति ये सब भी अहिंसा के ही अंग हैं। अहिंसा का संपूर्ण विकास तभी हो पाएगा, जब जीवन में उक्त सद्वृत्तियों का सम्यक् विकास होगा। तभी हमारी साधना, जो सहस्रधारा के रूप में बहती रही है, समग्र साधना बन सकती है और जीवन तथा जगत् के समस्त परिपार्श्वों को परिप्लावित कर सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब जीवों की एक भावना,
सबको सुख-कल्याण चाहिए।
कोई भी हो, कभी किसी को,
दुःख, कष्ट, पीड़ा न चाहिए।।

अजर-अमर तू नित्यरूप है,
फिर मरने से क्या डरता है।
महाकाल के चक्रवात में,
तू क्या मरता, तन मरता है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२

योग और क्षेम

एक बार किसी चरवाहे को जंगल में घूमते समय एक चमकदार रत्न मिला। चरवाहा बड़ा खुश हुआ। उसने रत्न को चमकदार पत्थर समझा और उससे खेलने लगा। उछालते-लपकते, ऐसा हुआ कि वह रत्न हाथ से छूटकर पास के अन्धकूप में जा गिरा।

यह एक रूपक है। इसके द्वारा भारतीय संस्कृति का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय स्पष्ट होता है। इस रूपक पर यदि योग और क्षेम की दृष्टि से विचार करें, तो जान पाएँगे कि रत्न का मिलना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग था। लेकिन उस योग के साथ क्षेम नहीं रहा, फलतः रत्न को गवाँ कर चरवाहा पहले की तरह खाली हाथ ही रह गया।

सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि योग और क्षेम का क्या अर्थ है, उसका क्या भाव है? संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय में इन शब्दों की बहुत चर्चा हुई है। उपनिषद्, गीता, जैनशास्त्र तथा बौद्धपिटक आदि प्राचीन साहित्य में स्थान-स्थान पर 'योग-क्षेम' शब्द आया है। उस युग के ये जाने-माने शब्द थे। बीच की शताब्दियों में जब सांस्कृतिक धारा का प्रवाह मन्द पड़ा, तो इन शब्दों का स्पर्श जनता की आत्मा को उतना नहीं हो सका, जितना कि प्राचीन युगों में था। अतः सम्भव है कि बहुत से सज्जन इन शब्दों की मूल भावना तक नहीं पहुँच पाए हों, इसलिए इन दोनों शब्दों का विस्तार पूर्वक चिन्तन अपेक्षित है।

योग का अर्थ :

योग शब्द के पीछे अनेक विचार-परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं। योग का एक अर्थ—**'योग-श्चित्तवृत्तिनिरोधः'** भी है। आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा चित्त के विकल्पों का निरोध करना योग है। यह अर्थ योग-साधना में काफी प्रसिद्ध है। किन्तु, इसका एक दूसरा सर्व ग्राह्य अर्थ है—**'अप्राप्तस्य प्राप्तियोगः।'**

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम है योग, जिसे कि हम संयोग भी कहते हैं। जिसे पाने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए हों, अनेक आकांक्षाएँ मन में उभरी हों, उस वस्तु का मिल जाना योग है। अथवा कभी आकस्मिक रूप से बिना प्रयत्न के अनचाहे ही किसी चीज का मिल जाना भी योग है। यह योग प्रायः हर प्राणी को मिलता है। जो जीव जहाँ पर है, उसी गति-स्थिति के अनुसार, उसे अनुकूल या प्रतिकूल योग-संयोग मिलते रहते हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में खाली संयोग का इतना महत्त्व नहीं है, जितना कि सुयोग का है। कथा के चरवाहे को हमेशा ही कंकर-पत्थर का संयोग मिलता था, किन्तु बहुमूल्य हीरे का सुयोग तो जीवन में एक बार ही मिला! कुछ व्यक्ति जो संयोग को ही महत्त्व देते हैं, उसे ही सब-कुछ मान बैठते हैं, जीवन में कोई ख्याति या धन कमाने का कोई चान्स—संयोग मिल गया, तो बस उसे ही जीवन का श्रेष्ठतम सुयोग मान लेते हैं। साधारण मनुष्य की दृष्टि बाह्य वस्तुओं पर ही अधिक घूमती है, अतः बाह्य रूप को ही वह अधिक महत्त्व देता है। और तो क्या, तीर्थंकरों के वर्णन में भी स्वर्ण सिंहासन, रत्न-मणिजटित छत्र और चामर आदि की चकाचौंध वाली बाह्य विभूतियों को ही प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है। संसार के सभी मानदण्डों का आधार आज बाह्य वस्तु, बाह्य शक्ति ही बन रही है। परन्तु, यह योग सुयोग कहाँ है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुयोग, तो वह होता है, जो जीवन-निर्माण की आधारशिला बनता है। हम उसी सुयोग की चर्चा करेंगे।

इस प्रकार, किसी अप्राप्त श्रेष्ठ-अच्छी वस्तु का प्राप्तिरूप योग महत्त्व-पूर्ण है, किन्तु यदि योग के साथ क्षेम नहीं हुआ, तो कोरे योग से क्या लाभ? योग की महत्ता क्षेम की महत्ता पर आधारित है।

क्षेम का अर्थ :

क्षेम का अर्थ है—'**प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः**।' प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना, उसका यथोचित उपयोग करना, क्षेम है। योग के साथ क्षेम उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कि जन्म के बाद बच्चे का पालन-पोषण। संयोग से सुयोग श्रेष्ठ है, किन्तु सुयोग से भी बड़ा है—क्षेम, अर्थात् उचित संरक्षण, उचित उपयोग। धन कामना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु उसकी रक्षा करना, उसका सदुपयोग करना बहुत ही कठिन कार्य है। इसीलिए वह अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। चरवाहे को रत्न का योग या सुयोग तो मिला, किन्तु वह उसका क्षेम नहीं कर सका। और, इसका यह परिणाम हुआ कि वह दरिद्र-का-दरिद्र ही रहा।

आपको मनुष्य जीवन का योग तो मिल गया। यह ऐसी दुर्लभ वस्तु मिली, जिसका सभी ने एक स्वर से महत्त्व स्वीकार किया है। देवता भी जिसकी इच्छा करते हैं, वह वस्तु आपको मिली। भगवान् महावीर ने तो इसको बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द से सम्बोधित किया है। उनके चरणों में राजा या रंक जब भी कोई व्यक्ति उपस्थित हुआ, तो उन्होंने उसे 'देवानुप्रिय' जैसे श्रेष्ठ सम्बोधन से पुकारा। देवानुप्रिय का अर्थ है—यह मानव जीवन देवताओं को भी प्यारा है। ऐसे देव दुर्लभ जीवन का योग मिलने पर भी यदि उसका क्षेम—सदुपयोग नहीं किया जा सका, तो क्या लाभ हुआ? मनुष्य की महत्ता सिर्फ मनुष्य जन्म प्राप्त होने से ही नहीं होती; उसकी महत्ता है इसके उपयोग पर। जो प्राप्त मानव जीवन का जितना अधिक सदुपयोग करता है, उसका जीवन उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। वैसे मानव-जीवन तो अनेक बार पहले भी मिल चुका है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं किया गया। चरवाहे की तरह, बस उसे खेल की ही वस्तु समझ बैठे और आखिर खेल-खेल में ही उसे गवाँ भी दिया। इसलिए योग से क्षेम महान् है। सुयोग से उपयोग प्रधान है।

भारत की वैष्णव-परम्परा के सन्त अपने भक्त से कहता है कि तू भगवान् से धन की कामना मत कर, यहाँ तक कि अपनी आयु की कामना भी मत कर, एकमात्र जीवन के सदुपयोग की कामना कर। और जैन शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि जीवन की कामना भी नहीं करनी चाहिए—"**जीवियं नाभिकंखेज्जा**।" खाली जीवन के लिए जीवन का क्या चाहना? यह जीवन तो, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों को भी प्राप्त है।

जीवन केवल जीने के लिए ही नहीं है, जीवन सदुपयोग के लिए है, अतः जीवन के सदुपयोग की कामना करो। इस प्राप्त शरीर से तुम संसार का कितना भला कर सकते हो, यह देखो! भारतवर्ष के आचार्यों का दर्शन बताता है कि तुम कभी अपने सुख की माँग मत करो, धन-वैभव की याचना मत करो, किन्तु विश्व की भलाई की कामना अवश्य करो। यदि संयोग से धन प्राप्त हो जाता है, तो उसके सदुपयोग की बुद्धि आए, यही कामना करो।

संस्कृत-साहित्य में भगवान् से प्रार्थना के रूप में भक्त के द्वारा कही गई एक पुरानी सूक्ति है—

"**नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।**
कामये दुःख तप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"

भक्त कहता है—हे प्रभो! न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग और न अमरत्व ही चाहिए। किन्तु दुःखी प्राणियों की पीड़ा मिटा सकूँ; ऐसी शक्ति चाहिए। एक ओर आप पेट भर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खाने के बाद भी आधी जूठन छोड़ कर उठते हैं, और दूसरी ओर एक इन्सान जूठी पत्तलें चाट कर भी पेट नहीं भर पाता है—यह विषमता जब तक मिट नहीं जाती, तब तक योग और क्षेम की साधना कहाँ हो सकती है ? भूखा आदमी हर कोई पाप कर सकता है, पंचतंत्रकार ने कहा है—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?"

भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं कर सकता है ? भूखा आदमी विद्रोही होता है। अपने विद्रोह की ज्वाला में वह समाज को जलाकर भस्म कर डालना चाहता है। अतः जिनके पास धन है, रोटी है, वे अपने योग का सही उपयोग करना सीखें, योग से क्षेम की ओर बढ़ने की चेष्टा करें।

मान लीजिए, किसी के पास लाख रुपये हैं और वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करता है, अपनी वासना और अहंकार की आग में उसको झोंक देता है। इस प्रकार धन तो खर्च होगा, उसका उपयोग भी होगा, लेकिन वह उपयोग सदुपयोग नहीं है। उक्त स्थिति में बाह्य दृष्टि से धन के प्रति लोभ की कुछ मंदता तो जरूर हुई, किन्तु उसी के साथ-साथ अहंकार एवं दुर्वासनाओं ने उसे आक्रांत भी कर दिया है। यह तो वैसी ही बात हुई कि घर से बिल्ली को तो निकाला, परन्तु ऊँट घुस आया। इसके विपरीत लोभ-कषाय की मंदता से जो उदारता आई, उसके फलस्वरूप किसी असहाय की सहायता करने की स्वस्थ भावना जगे, तो वह श्रेष्ठ है। साथ ही जिस पीड़ित व्यक्ति को धन दिया जाता है, उसकी आत्मा को भी शान्ति मिलती है। उसके मन में जो विद्रोह की भावना सुलग रही है, दुर्विकल्पों का जो दावानल जल रहा है, उसका भी शमन होता है। हर हालत में भूख का समाधान आवश्यक है।

एक सन्त से किसी ने पूछा कि आप भोजन क्यों करते हैं ? क्या आप भी भूख के दास हैं ? उत्तर में गुरु ने कहा—भूख कुतिया है, जब वह लगती है, तो भूकना शुरू कर देती है, परिणामस्वरूप इधर-उधर के अनेक दुर्विकल्प जमा हो जाते हैं और भजन-ध्यान आदि में बाधा आने लगती है। इसीलिए उसके आगे रोटी के कुछ टुकड़े डाल देने चाहिएँ, ताकि भजन-स्वाध्याय में कोई विघ्न उपस्थित न हो। भूख का शमन करना साधना-पथ के यात्री सन्त-जनों के लिए भी आवश्यक हो जाता है।

धन की तीन अवस्थाएँ :

हाँ, तो दुर्विकल्पों की सृष्टि भूख से होती है। जो दाता अपने धन से दूसरों की क्षुधा-तृप्ति करता है, वह अपनी लोभ-कषाय की मन्दता के साथ दूसरों की आत्मा को भी शान्ति पहुँचाता है। जो धन अपने और दूसरों के सदुपयोग में नहीं आता, उसका उपयोग फिर तीसरी स्थिति में होता है। धन की तीन गतियाँ मानी गई हैं—

"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति, न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।"

पहली गति है दान। जिसके पास जो है, वह समय पर उसका दान करे, जन-कल्याण में लगाएँ। यह आदर्श है। दूसरी गति है—भोग ! जिसके पास धन है वह स्वयं नीतिपूर्वक उसका उपभोग करके आनन्द उठाए। किन्तु जिसके पास ये दोनों ही नहीं हैं, न तो अपने धन का दान करता है, और न ही उपभोग। उसके लिए फिर तीसरा मार्ग खुला है—विनाश का। जो अपने श्रम और अर्थ का दीन-दुःखी की सेवा के लिए प्रयोग नहीं करके संसार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुराई में ही उपयोग करते हैं, उस धन और श्रम से उनको कोई लाभ नहीं होता, अपितु अकल्याण ही होता है, हानि ही होती है। एक सुभाषितकार कवि ने कहा है—

"विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीड़नाय।
खलस्य साधोविपरीतमेतद,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।"

विद्या अज्ञान के अन्धकार को ध्वस्त करने के लिए है, ज्ञान के प्रकाश के लिए है। उस विद्या का उपयोग यदि पन्थों और मजहबों की लड़ाई में किया जाए, तो उस विद्या से जीवन पवित्र नहीं होता, बल्कि और अधिक कलुषित बन जाता है।

अजमेर सम्मेलन के अवसर पर एक परम्परा के किसी वृद्ध मुनि से किसी दूसरी परम्परा के मुनि ने सिद्धान्त कौमुदी के मंगल श्लोक का अर्थ पूछा। वृद्ध मुनि को उस श्लोक का अर्थ कुछ विस्मृत हो गया था। इस पर वह मुनि लोगों में इस बात के प्रचार पर उतारू हो गया कि—ये कैसे पण्डित हैं! एक श्लोक का अर्थ पूछा, वह भी नहीं बता सके? दूसरी बार जब किसी विषय पर तत्त्व-चर्चा चल रही थी, तो मैंने उन्हें जरा गहराई में धकेल दिया। प्रतिप्रश्न पूछा तो डगमगा उठे। आखिर उन्होंने स्वीकार किया कि मुझे स्मरण नहीं है। परन्तु अपनी इस विस्मृति का उन्होंने कहीं भी कोई जिक्र नहीं किया। विद्या के दंभ में आकर व्यक्ति दूसरों की गलती पर तो उनका मजाक उड़ाता है, किन्तु अपनी गलती की कभी कहीं चर्चा नहीं करता।

इसी प्रकार धन और शक्ति का उपयोग भी है। तुम्हारे पास धन है, तो इसका यह मतलब नहीं कि उससे दूसरों के लिए आफत खड़ी करो या दुर्व्यसनों में ही नष्ट कर डालो। धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य सेवा, परोपकार एवं दान के लिए होता है, न कि अहंकार के लिए। तुम्हारे पास यदि शक्ति है, तो किसी गिरते हुए को बचाओ, न कि उसको एक धक्का लगा कर और जोर से गिराने की चेष्टा करो।

शक्ति और विवेक :

यह मान्यता सही नहीं है कि जो शक्ति मिली है, उसका कुछ-न-कुछ उपयोग होना चाहिए, चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो, यह गलत धारणा है। उपयोग के साथ विवेक का होना आवश्यक है। शक्ति तो दुर्योधन और दुःशासन में भी थी, कंस और रावण में भी थी, किन्तु उनकी शक्ति से विश्व को हानि ही पहुँची है। इसीलिए उनकी शक्ति आसुरी शक्ति कहलाई।

एक सेठ ने चन्दन की लकड़ियाँ खरीद कर अपने गोदाम भर रखे थे। सोचा था—चन्दन के भाव तेज होने पर इससे काफी बड़ा मुनाफा कमाऊँगा। इसी बीच सेठ किसी कार्यवश कहीं बाहर चला गया। पीछे वर्षा आने से घर में ईंधन की कमी हुई, तो सेठानी ने इधर उधर तलाश किया। गोदाम को जब खोला, तो सेठानी लकड़ियों का ढ़ेर देखकर बड़ी खुश हुई। सोचा, वास्तव में सेठ बड़ा ही बुद्धिमान है, जो समय पर काम आने के लिए घर में हर वस्तु का पहले से ही संग्रह कर रखते हैं। सेठानी ने धीरे-धीरे चन्दन की सब लकड़ियाँ जला डालीं। पीछे से जब सेठ आया, तो एकदिन मन में विचार किया कि चन्दन का भाव बहुत तेज हो गया है। अतः अब बेचने से बहुत अच्छा लाभ मिल जाएगा। खुशी-खुशी उसने जब गोदाम खोला, तो एकदम सन्न रह गया कि यह क्या? यहाँ तो सब चौपट हो गया! उसने सेठानी से पूछा—"चन्दन कहाँ गया?"

सेठानी ने बताया—"चन्दन-वन्दन तो मैं जानती नहीं। हाँ! लकड़ियाँ थीं, सो मैंने जलाने के काम में ले लीं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ ने गरज कर कहा—"अरे, वह तो चन्दन था। तूने गजब कर दिया। तुझे कब अक्ल आएगी?"

सेठानी ने तुनक कर कहा—"मुझे क्या पता, कैसी लकड़ी हैं? लकड़ी थीं, जलाने के काम में ले लीं। जरूरत पड़ी तो क्या करे कोई? मैंने तो उनसे रोटी ही पकाई है। कोई बुरा काम तो किया नहीं।"

सेठानी को बेचारा सेठ क्या समझाए कि जिन लकड़ियों से हजारों-लाखों रुपए कमाए जा सकते थे और जो औषधि के रूप में हजारों-लाखों लोगों को लाभ पहुँचा सकती थीं, उन्हें यों ही जलाकर राख कर डालना, क्या कोई समझदारी है?

यही स्थिति हमारे तन, धन और यौवन की है। जिस तन से संसार के सर्वश्रेष्ठ पद 'मुक्ति' की प्राप्ति हो सकती है, जिस जीवन से जगत् का मंगल-कल्याण हो सकता है, उस तन को, उस जीवन को कीडों-मकोड़ों की तरह गँवा देना, कौड़ी के मूल्य पर बर्बाद कर देना, क्या उस सेठानी की तरह ही बेवकूफी नहीं है?

इसलिए हमें जो कुछ प्राप्त हुआ है उस पर व्यर्थ ही इतराना नहीं चाहिए, बल्कि उसके सदुपयोग पर भी चिन्तन करना चाहिए। जब तक इन दोनों का सामंजस्य नहीं होगा, योग और क्षेम का समवतरण जीवन में नहीं होगा, तब तक मानव का कल्याण नहीं हो सकता। इस धरा पर जिन्हें मानव जीवन का योग मिला है, उन्हें अपने इस जीवन में क्षेम का भी ध्यान रखना चाहिए, जिससे उनका और विश्व का कल्याण हो सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग भव्य है, सुखद महत्त है,
किन्तु, योग से क्षेम महत्ततर।
अतः व्यर्थ ही नहीं गंवाएँ,
चिन्तामणी-सा नर भव पाकर।।

० ० ०

अमृत-जल से गन्दी-नाली,
धोने में है क्या मतीमतता।
चन्दन तरु के बना कोयले,
विक्रय कर कैसी धनवतता।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३

धर्म का उद्देश्य क्या है ?

एक बहुत ही पेचीदा और बहुत ही उलझा हुआ प्रश्न है कि जीवन और धर्म एक-दूसरे से पृथक् हैं या दोनों का केन्द्र एक ही है ? यह प्रश्न आज का नहीं, अनादि-काल का है। साधना के क्षेत्र में बढ़ने वाले हर गुरु और हर शिष्य के सामने यह प्रश्न आया है। इस प्रश्न ने अनेक चिन्तकों के मस्तिष्कों को झकझोरा है कि जीवन और धर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

जिस प्रकार यह प्रश्न अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी प्रकार इसका उत्तर भी अनादिकाल से दिया जाता रहा है। हर गुरु, हर आचार्य और हर तीर्थंकर के सामने यह समस्या आई है कि जीवन और धर्म का क्या सम्बन्ध है ? और, सभी ने अपनी ओर से इसका समुचित समाधान दिया है। उन्होंने बतलाया है कि जहाँ द्रव्य है, वहीं उसका स्वभाव भी है, जहाँ अग्नि है, वहीं उसका गुण—उष्णता भी है। जीवन चैतन्य स्वरूप है, धर्म उसका स्वभाव है, तो फिर दोनों को पृथक्-पृथक् किस प्रकार किया जा सकता है ? जहाँ साधक है, जहाँ साधक की निर्मल चेतना की ज्योति जगमगाती है, वहीं धर्म का प्रकाश भी जगमगाता रहता है। इस प्रकार जीवन और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

धर्म खिलौना नहीं है :

जब-जब धर्म का स्वरूप बदला है, उसे किसी विशेष प्रकार की वेषभूषा, क्रियाकाण्ड और परंपराओं से बाँधकर अलग रूप देने का प्रयास किया गया है, तब-तब उसे एक अमुक सीमित काल की चीज करार देकर पुकारने का प्रयत्न भी हुआ है। कुछ समय से धर्म को एक ऐसा रूप दिया गया कि वह जीवन से अलग पड़ने लगा। स्थिति यहाँ तक बन गई कि जिस प्रकार छोटा बच्चा किसी खिलौने से घड़ी-दो घड़ी खेलता रहता है, और फिर उस खिलौने को पटक देता है, खिलौना टूटफूट जाता है और वह चल देता है। उसी प्रकार आज लोगों की, धर्म के सम्बन्ध में भी यही मनोवृत्ति बन रही है। वे धर्म की अमुक प्रकार की क्रियाओं को—सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, पूजापाठ आदि को घड़ी-दो घड़ी के लिए अपनाते हैं, कुछ थके-से और कुछ अलसाये-से क्रियाकाण्ड के रूप में धर्म के खिलौने से खेल लेते हैं और फिर इस कदर लापरवाही से पटक कर चल देते हैं कि धर्म से कोई वास्ता नहीं रखते। उन्हें फिर धर्म की कोई खबर नहीं रहती। इस प्रकार धर्म को दो-चार घड़ी की चीज मान लेने पर वह जीवन से भिन्न ही क्षेत्र की वस्तु बन गया। दैनिक जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं रहा और वह धर्म टुकड़ों में विभक्त हो गया। साधना की धारा, जो सतत अखण्ड प्रवाहित होनी चाहिए थी, वह अमुक देश, काल और परम्पराओं से बँधकर अवरुद्ध एवं क्षीण हो गई। जो धर्म जीवन का स्वामी था, वह अबोध मानव के हाथ का खिलौना मात्र बन कर रह गया, घड़ी-दो घड़ी के मनोरंजन की वस्तु बन गया। इस प्रकार धर्म की खण्डित-धारा जीवन में रस और आनन्द की लहर कैसे पैदा कर सकती है।

धर्म की फलश्रुति :

कुछ लोगों ने धर्म को इस जीवन की ही वस्तु समझा। उन्होंने ऐश्वर्य, भोग और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिक आनन्द को ही धर्म के रूप में देखा। सुखवादी दृष्टिकोण को लेकर वे जीवन के क्षेत्र में उतरे और इस लोक की भौतिक सिद्धियों के क्षुद्र घेरे के भीतर ही भीतर घूमते रहे। धर्म की अनन्त सत्ता को उन्होंने क्षुद्र शरीर से बाँध लिया और उसी एकांगी धर्म की चर्या में वे आये दिन परस्पर लड़ने-झगड़ने भी लगे। इस प्रकार धर्म का वास्तविक अन्तरंग रूप उनकी दृष्टि से ओझल होता गया और एक दिन शरीर से साँस की झंकार के समाप्त होते ही समाप्त हो गया।

कुछ लोग धर्म का सम्बन्ध परलोक से जोड़ते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि धर्म का प्रतिफल इस जीवन में नहीं, परलोक में है। यहाँ पर यदि तपस्या करोगे, तो आगे स्वर्ग मिलेगा, यहाँ पर दान करोगे तो आगे धन की प्राप्ति होगी। यहाँ पर हम जो भी कुछ धर्माचरण कर रहे हैं, उन सबका फल मरने के बाद परलोक में मिलेगा। यानि दाम पहले दें और माल बाद में। इस प्रकार क्षमा, दया, अहिंसा, त्याग, सेवा, परोपकार आदि समग्र साधना का फल वर्तमान जीवन में न मानकर मृत्यु के बाद मान लिया गया।

वास्तव में सच्चाई यह है कि धर्म का संस्कार जागृत होते ही उसका प्रतिबिम्ब जीवन में झलकना चाहिए। यदि धर्माचरण की फलश्रुति एकान्त परलोक पर छोड़ दी जाती है, तो धर्म की तेजस्विता ही समाप्त हो जाती है। धर्म का दीपक आज यहाँ जलाएँ और उसका प्रकाश परलोक में प्राप्त हो, यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार तो कार्य और कारण का सिद्धान्त ही गलत हो जाएगा। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण तो आज हो और उसका कार्य हजारों वर्ष बाद में सम्पन्न हो। इस विषय में भारतीय दर्शनों का एक ही मत है कि कार्य कारण से अलग नहीं रह सकता। कारण वही है, जिसके साथ ही साथ कार्य की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाए। दीपक अब जले और उसका प्रकाश घण्टे-दो घण्टे के बाद हो, ऐसा नहीं होता। जीवन में भाव और अभाव एक ही साथ होते हैं। इधर दीपक जला, उधर तत्काल अन्धकार मिट गया, प्रकाश हो गया। प्रकाश के प्रादुर्भाव का क्षण और अन्धकार के नाश का क्षण अलग-अलग नहीं होता, चूँकि दोनों एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। जीवन में जैसे ही सत्य, अहिंसा और सदाचार का प्रादुर्भाव होता है, असत्य, हिंसा और दुराचार का विनाश भी उसी क्षण हो जाता है। अशुद्धि के मिटते ही शुद्धि की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, भारतीय आध्यात्मिक दर्शन उधार-धर्म को नहीं मानता। वह नगद-धर्म में विश्वास करता है। वह कहता है, यदि तुमने तपस्या की तो तुम्हारी शुद्धि अभी इसी क्षण प्रारम्भ हो गई। यदि हिंसा का त्याग किया तो जीवन में तत्काल अहिंसा का प्रादुर्भाव हो गया। उसके एक हाथ में कारण है, तो दूसरे हाथ में कार्य है। दूसरे हाथ का भी अन्तर क्यों? एक ही हाथ में सब कुछ है। जिस धर्म से वर्तमान जीवन में पवित्रता, निर्मलता और प्रकाश न जगमगाए, उससे सिर्फ भविष्य पर ही भरोसा रखना, अपने आप को धोखे में डालना है। भगवान् महावीर ने कहा है कि साधक को धर्म की ज्योति का प्रकाश जीवन में पग-पग पर प्राप्त करना चाहिए। जहाँ जीवन है, वहीं धर्म की ज्योति है। धर्मस्थल, घर, बाजार, कार्यालय—जहाँ कहीं भी हो, धर्म का प्रकाश वहीं पर जगमगाना चाहिए। यह नहीं चल सकता कि आपका धर्मस्थान का धर्म अलग हो और बाजार का धर्म अलग हो। धर्मस्थल की साधना अलग हो और घर की साधना अलग हो। धर्मस्थल पर चींटी को सताते भी आपका कलेजा कम्पित हो और बाजार में गरीबों का खून बहाने पर भी मन में कुछ कम्पन न हो, यह कैसी बात? महावीर का धर्म इस द्वैत को बर्दास्त नहीं करता।

धर्म का स्रोत :

भारत के धर्म-चिन्तकों ने कहा है कि यदि अन्तर् में धर्म का प्रकाश हो गया हो, तो कोई कारण नहीं कि बाहर में अन्धकार रहे। अन्तर् के आलोक में विचरण करने वाला कभी बाहर के अन्धकार में नहीं भटक सकता। धर्म का सच्चा स्वरूप यही है कि यदि अन्तर् में वह प्रकट होकर आनन्द की स्रोतस्विनी बहाता है, तो वह निश्चय ही सामाजिक, पारिवारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं राष्ट्रिय जीवन के तटों को भी सरसब्ज बनाए। नदी का, नहर का और तालाब का तट एवं परिपार्श्व कभी भी सूखा नहीं रह सकता। वहाँ हरीभरी हरियाली की मोहक छटा छिटकती मिलेगी। यदि बाह्य और अन्तर् जीवन में फर्क है, तो इसका मतलब यही है कि बाहर और भीतर दोनों ओर दिवाला ही दिवाला है, जीवन में धर्म का देवता प्रकट हुआ ही नहीं है, सिर्फ उसका स्वाँग ही रचा गया है। वंचना और प्रतारणा मात्र है।

भय और प्रलोभन :

दुर्भाग्य यह है कि धर्म और वैराग्य के कुछ ऐसे रूप बन गए हैं कि यहाँ वही सबसे बड़ा साधक समझा जाता है, जो जीवन में सब ओर से उदासीन रहे। वह हर समय, हर क्षण मृत्यु की नाटकीय यातनाओं को सामने रखता हुआ, जीवन के प्रति बिल्कुल नीरसता का भाव बनाए रखे। उसकी वाणी पर हमेशा संसार के दुःख, पीड़ा एवं शोक की गाथाएँ ही मुखरित होती रहें। संसार के प्रति सदा ही उसका दृष्टिकोण घृणा, भय और असन्तोष से भरा रहता है। इस प्रकार उस साधक के जीवन में सदा मुर्दनी छाई रहती है। और सर्वत्र मृत्यु-ही-मृत्यु, भय-ही-भय एवं रुदन-ही-रुदन उसकी आँखों में रहते हैं। ऐसा साधक साधना के आनन्द रूप अमृत फल का रसास्वादन नहीं कर सकता। जीवन की रस धारा एवं निर्भयता का आनन्द नहीं ले सकता और न ही धर्म का स्वस्थ उल्लास ही कभी उसके मुख पर उभर सकता है।

भारतीय दर्शनों में नरक की पीड़ाओं और यातनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है, और कहा गया है कि धर्म उनसे मुक्ति दिलाता है। किन्तु यदि नरक की दारुण यातनाओं और पीड़ाओं से घबरा कर व्यक्तिगत मुक्ति पाने के लिए ही हम धर्म की शरण लेते हैं, तो यह स्थिति उस बच्चे की स्थिति के समान हुई, जो गली में कुत्ते के डर से रोता-चिल्लाता और भागता हुआ माता की गोद में आकर चिपक जाता है। बच्चे की इस दौड़ में प्रेम का रस नहीं है। वह माता-पिता की गोद में प्रेमवश नहीं गया है, बल्कि कुत्ते के भय से घबराकर गया है। यदि कुत्ते का भय नहीं होता, तो वह दिन भर गली में खेलता रहता। माता के बुलाने पर भी खेल छोड़कर नहीं आता। आज इसी बच्चे के समान हजारों साधकों की स्थिति है। वे साधक संसार के दुःखों, कष्टों और यातनाओं के भय से भागकर भगवान् और धर्म की गोद में दौड़े आ रहे हैं। भजन, ध्यान आदि का क्रम चल रहा है जरूर, किन्तु ये सब नरक आदि के दुःखरूप कुत्तों के डर से भागकर धर्म और साधना की गोद में जाने जैसी ही क्रियाएँ हैं। उनके सामने भगवान् का, धर्म का प्रेम नहीं है, बल्कि नरक के कुत्ते का डर है। वही एक डर उनकी आँखों में छाया हुआ है। उन्हें बस नरक के उन दुःखों और कष्टों से मुक्ति चाहिए और कुछ नहीं। किन्तु भारतवर्ष के विचारशील आचार्यों ने, सुविज्ञ मनीषियों ने कहा है कि इस प्रकार कष्टों, दुःखों और पीड़ाओं से आतंकित, भयप्रताड़ित एवं विक्षुब्ध होकर त्राण पाने की चेष्टा में धर्माराधन करनेवाला व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो भय और पीड़ाओं से संत्रस्त एवं व्याकुल होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसे मुक्ति नहीं मिल पाती। भय तो स्वयं कर्म विशेष के उदय भाव का द्योतक है। वह मोहनीय कर्म का एक अंग है। चाहे वह यहाँ वर्तमान जीवन से सम्बन्धित हो, या परलोक सम्बन्धी पीड़ाओं और दुःखों की कल्पना से उद्भूत हुआ हो, अथवा भूतकाल की यातनाओं और संकटों के स्मरण से उत्पन्न हुआ हो, भय आखिर भय है। भय की जाति एक ही है। भयगर्भित धर्म एवं दुःखजनित वैराग्य साधना के मार्ग को प्रशस्त नहीं बना सकते। इसीलिए भगवान् ने कहा है—

"नो इहलोगासंसप्पओगे।
नो परलोगासंसप्पओगे।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान जीवन की आशंसा प्रलोभन को छोड़ो और परलोक की आशंसा प्रलोभन को भी छोड़ो। दुःख और सुख, जीवन और मरण के बीच का जो समत्व का मार्ग है, उस पर बढ़ो। वही साधना का सही मार्ग है। जैन-दर्शन ने जिस प्रकार भय-प्रताड़ित भावनाओं को हेय माना है, उसी प्रकार लोभाकुल विचारों को भी निकृष्ट कोटि पर रखा है। साधना के पीछे दोनों ही नहीं होने चाहिए। स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन भी मनुष्य को दिङ्मूढ़ कर देता है। जिस प्रकार सात भय में परलोक का भय भी एक भय है, उसी प्रकार स्वर्गादि की प्राप्ति की कामना भी एक तीव्र आसक्ति है। दोनों ही मोह कर्म के उदय का फल है! इसके पीछे मनोवैज्ञानिक पहलू यह है कि जो भय एवं प्रलोभन के कारण, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक, साधना पथ पर चरण बढ़ाता है, वह प्रसंगोपात्त भय एवं प्रलोभन की उक्त भावना के हटते ही साधना पथ को छोड़कर दूर खड़ा हो जाता है। चूँकि यह निश्चित है कि जो जिस कारण से प्रेरित होकर कार्य होता है, उस कारण के हटते ही वह कार्य भी अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार साधना के पीछे सहज निष्ठा और ईमानदारी की भावना नहीं रहती, प्राणार्पण की वृत्ति नहीं रहती, बल्कि सिर्फ सामयिक एवं तात्कालिक भय-मुक्ति और सुख-लाभ की ही भावना रहती है। ऐसा व्यक्ति साधना के क्षेत्र में सतत आनंदित नहीं रह सकता। साधना का तेज और उल्लास उसके चेहरे पर दमकता नजर नहीं आता।

साधना की अग्नि में आत्मा की शुद्धि और उसकी पवित्रता एवं निर्मलता कुछ ऐसी हो कि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय जीवन में उसकी निर्मल ज्योति निखरती रहे। उसमें आनन्द एवं रस का प्रवाह बहता रहे। भारत के महान् आचार्यों ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा कि तू साधना के क्षेत्र में आया है। भगवान् का स्मरण एवं जप आदि करता है, परन्तु उसके फलस्वरूप यदि किसी प्रकार के फलविशेष की माँग उपस्थित करता है, तो इस प्रकार स्वयं ही आदान-प्रदान और प्रतिफल निश्चित करने का तुझे कोई अधिकार नहीं है। तू तो बस साधना कर। उसके लिए सिद्धि की लालसा क्यों करता है? उसके फल के प्रति क्यों आसक्त रहता है? फल की कामना से की गई साधना वास्तव में शुद्ध साधना नहीं कहलाती है। शास्त्रों में कहा है—

'सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था'[1]

भगवान् ने निष्काम साधना (अनिदान वृत्ति) की प्रशंसा की है। सच्चा भक्त भगवान की स्तुति करते हुए यही कहता है कि 'हे भगवन्! मैंने जो भी आपकी प्रार्थना एवं स्तुति की है, आपश्री के चरणों में जो भी श्रद्धा पुष्प चढ़ाए हैं, वे कोई शेर, सर्प, चोर, जल, अग्नि, व्याधि, नरक आदि दुःखों से बचने के लिए नहीं चढ़ाए हैं, बल्कि मेरे अन्तर् मानस में आपका दिव्य प्रकाश जगमगाए और मैं आपके ही स्वरूप को पा जाऊँ, बस मेरी श्रद्धांजलि इतने ही अर्थ में कृतार्थ हो जाएगी।'

यदि कोई चिलचिलाती धूप में तप रहा हो, रेगिस्तान की तन झुलसती गर्मी में जल रहा हो, और पास में कोई हरा-भरा छायादार वृक्ष खड़ा हो तो यात्री को वृक्ष से छाया एवं शीतलता प्रदान करने की प्रार्थना नहीं करनी होती। बस छाया में जाकर बैठने की आवश्यकता है। बैठते ही शीतलता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु यदि वह दूर खड़ा-खड़ा वृक्ष से छाया की केवल याचना ही करता रहे, तो वृक्ष कभी भी निकट आकर छाया नहीं देगा, ताप नहीं मिटाएगा। वृक्ष से छाया की याचना करना मूर्खता है।[2] संसार के मरुस्थल में भटकते-भटकते अनादिकाल बीत गया। शुभ-योग से कभी समय आया कि सद्गुणों का धर्ता सद्गुरु

---

१. दशाश्रुत-स्कन्ध

२. छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्।
कि छायया याचितयाऽत्मलाभः॥—विषापहार स्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिल गया, सद्गुणों का उपदेश मिल गया, एक तरह से कल्प वृक्ष ही मिल गया और धर्मरूप कल्पवृक्ष की शीतल छाया में आप आ गए, तो बस आपका कर्तव्य पूरा हो गया। उसकी छाया में आना आपका कर्तव्य है, इसके बाद फल प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने की जरूरत नहीं। छाया में आने का फल अपने आप प्राप्त हो जाता है। धर्म से दूर रहकर सिर्फ दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए प्रार्थना करता रहे, तो उससे कुछ मिलने का नहीं है। यदि आप धर्म की शीतल छाया में आकर बैठ गए, तो फिर आपके भव-ताप को मिटाकर शान्ति प्रदान करने की जिम्मेदारी धर्म की है। अतः धर्म की छाया में निष्काम भाव से आकर बैठने की आवश्यकता है। भय एवं प्रलोभन को, फल की आशंका को दूर कर निष्काम भाव से धर्म की पावन छाया में आसन जमाये रहो, अपने आप दुःखों से त्राण मिल जाएगा।

अन्तर का देवता :

दार्शनिक चिन्तन क्षेत्र की एक उक्ति है कि स्वर्ग के लिए प्रयत्न करने वालों को स्वर्ग नहीं मिलता। देवताओं के पीछे भटकने वाले पर देवता प्रसन्न नहीं होते। भगवान् महावीर का जन्म जिस युग में हुआ था, उस युग में लोग दुःखों से मुक्ति पाने के लिए देवी-देवताओं की मनौती करते थे, उनकी स्तुति, सेवा आदि करके उन्हें प्रसन्न करना चाहते थे। ऐसे युग में भगवान् महावीर ने साधकों को सावधान किया था, जो आँख बन्द कर देवताओं के पीछे दौड़ रहे थे। भगवान् महावीर ने कहा—'साधक देवताओं के लिए नहीं है, किन्तु देवता साधकों के लिए हैं। साधक देवता के चरणों में नहीं, अपितु देवता ही साधक के चरणों में नमस्कार करते हैं।' उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका स्पष्ट करते हुए बतलाया कि—

'देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो।'—दशवै १, १.

देवता उसे नमस्कार करते हैं, जिसका मन धर्म में अर्थात् अपने स्वरूप में रमण करता है। हम लोग देवता को बहुत बड़ी हस्ती समझ बैठे हैं, किन्तु धर्माराधक मनुष्य के सामने देवता का कोई मूल्य नहीं है। देवता तो स्वयं मनुष्य रूप में जन्म लेकर आध्यात्मिक साधना करने के लिए लालायित रहते हैं। एक नहीं, कोटि-कोटि देवता आध्यात्मिक साधक की सेवा में संलग्न रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं।

चांडाल पुत्र हरिकेश को अपने प्रारम्भिक जीवन में कितनी पीड़ाएँ और कितनी दारुण यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। परंतु धर्म में अपने मन को उतारने के बाद वही चांडाल पुत्र हरिकेश मुनि बना और साधना का तेज बढ़ने लगा, तो उसका तप-तेज इतना दीप्त और विशाल हुआ कि देवता भी उसकी चरण-धूलि लेने को पीछे-पीछे फिरने लगे। एक दिन जिसका कोई नहीं था, उसी को एक दिन देवता सादर नमस्कार करने लगे। वह शक्ति, वह साधना कहीं बाहर से नहीं आई, किन्तु उसी के अन्तरतम में छिपी दिव्य शक्ति का विकास थी वह। जब अन्तर् का देवता जग गया, उसकी अमित शक्ति के परम तेज का आलोक इधर-उधर जगमगाने लगा, तो देवता अपने आप चरणों में दौड़े आए।

जब तक प्राणी परभाव में रहता है, तब तक उसकी दृष्टि अधोमुखी होती है। वह समझ नहीं पाता कि देवता बड़ा है या मैं बड़ा हूँ। अपने जीवन को पशु की तरह गुजारता हुआ वह सदा भटकता रहता है, रोता रहता है। किन्तु जब अपना बोध होता है, अन्तर का ऐश्वर्य और तेज निखरता है, तो फिर किसी अन्य के द्वार पर जाने की जरूरत नहीं रहती। यहाँ तक कि भगवान् के द्वार पर भी भक्त नहीं जाता, बल्कि भगवान् ही भक्त के पीछे-पीछे दौड़ता है। भारतवर्ष का एक महान् साधक, जिसे हम कबीर के नाम से जानते हैं, बहुत ही अद्भुत आत्मगौरव और आत्मतेज का धनी था। उसने भक्तों से कहा है कि तुम क्यों भगवान् के पीछे पड़े हो? यदि तुम सच्चे भक्त हो, तुम्हारे पास सच्चा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म है, धर्म के प्रति अंन्तर् में वास्तविक आनन्द और उल्लास है, तो भगवान् स्वयं तुम्हारे पास आएगा।

"मन ऐसा निर्मल भया, जैसा गंगा-नीर।
पीछे-पीछे हरि फिरत, कहत कबीर-कबीर॥"

यह साधक की मस्ती का गीत है। जब मन का दर्पण निर्मल हो गया, उसमें भगवत्-स्वरूप प्रतिबिम्बित होने लगा, तो साधक को कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। साधना के दृढ़ आसन पर बैठने वाले के समक्ष संसार का समग्र वैभव, ऐश्वर्य और शासन केन्द्रित हो जाता है और तब वह अपना भगवान्, अपना स्वामी खुद हो जाता है। उसे फिर दूसरों की कोई अपेक्षा नहीं रहती।

अपना नाथ :

भगवान् महावीर के समय में अनाथ नाम से प्रसिद्ध एक मुनि हो गए हैं। वे अपने घर में विपुल वैभव और ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति थे। हर किसी को चमत्कृत कर देनेवाला विशाल वैभव, माता-पिता का अपार स्नेह, पत्नी का अनन्य प्रेम—इन सबको ठुकराकर उन्होंने साधना का मार्ग स्वीकार किया और राजगृह के शैल-शिखरों की छाया में, सुरम्य सघन वनप्रदेश में जाकर सजीव चट्टान की तरह साधना में स्थिर हो गए। एक दिन मगध सम्राट श्रेणिक ने देखा, तो उसके रूप एवं यौवन के सौन्दर्य पर सहसा मुग्ध हो गया। श्रेणिक के मन में विचार आया कि यह युवक भोग के काल में योग के, त्याग के मार्ग पर कैसे आ गया? उसने युवक मुनि से साधु बनने का कारण पूछा, तो नम्र भाव से उत्तर दिया, "राजन्! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई सहारा नहीं था। इसलिए मुनि बन गया।"

श्रेणिक ने मुनि के उत्तर को अपने भोग-प्रधान दृष्टिकोण से नापा कि युवक गरीब होगा, अतएव अभावों और कष्टों से प्रताड़ित होकर गृहस्थ जीवन से भाग आया है। राजा के मन में एक सिहरन हुई कि न जाने इस प्रकार कितने होनहार युवक अभावों से ग्रस्त होकर साधु बन जाते हैं और ये उभरती तरुणाइयाँ, जिनके जीवन का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, यों ही बर्बाद हो जाती हैं। श्रेणिक इन विचारों की उधेड़-बुन में कुछ देर खोया-खोया-सा रहा, फिर युवक मुनि की आँखों में झाँकता हुआ बोला—"यदि तुम अनाथ हो और तुम्हारा कोई सहारा नहीं है, तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को प्रस्तुत हूँ।" इस पर उस युवक साधक ने, जिसको साधना के अनन्त अमृत-सागर की कुछ बूंदों का रसास्वाद प्राप्त हो चुका था, बड़े ओजस्वी और निर्भय शब्दों में कहा—"राजन्! तुम तो स्वयं अनाथ हो, फिर मेरा नाथ बनने की बात कैसे करते हो? जो स्वयं अनाथ हो, भला वह दूसरों के जीवन का नाथ किस प्रकार हो सकता है?"

युवक साधक ने यह बहुत बड़ी बात कही थी। यह बात केवल जिह्वा से नहीं, बल्कि अन्तर्हृदय से कही गई थी। उत्तर के शब्द अन्तर् से उठकर आए थे, तभी वे इतने वजनदार और इतने सच्चे थे। राजा श्रेणिक के ज्ञानचक्षु पर फिर भी पर्दा पड़ा रहा। उसने सोचा, शायद युवक को मेरे ऐश्वर्य और वैभव का पता नहीं है, अतः थोड़ा आत्म परिचय दे देना चाहिए। राजा ने कहा—"मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ? मैं कोई साधारण व्यक्ति नहीं हूँ। मगध का सम्राट् हूँ। मेरा विशाल वैभव एवं अपार ऐश्वर्य मगध के कण-कण में बोल रहा है।" इसके उत्तर में युवक मुनि ने कहा—"तुम मेरे भाव को अपनी भाषा में समझे, किन्तु मेरी भाषा में नहीं समझे। शब्दों के चक्कर में उलझ कर उनकी आत्मा से बहुत दूर चले गए। तुम तो मगध के ही सम्राट् हो। अतः तुम तो क्या, धरती के चक्रवर्ती और स्वर्ग के इन्द्र भी अनाथ हैं। वे भी विषय-वासना, भोग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी संसार के इन्हीं दासों में से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओं के इशारे पर क्रीतदास की तरह नाच रहे हो, तो फिर दूसरों के नाथ किस प्रकार बन सकते हो? जो स्वयं अपने विकारों के समक्ष दब जाता है, अपने आवेगों के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरों पर शासन कर सकता है? जब तुम अपने मन की गुलामी से भी छुटकारा नहीं पा सकते, तो संसार के इन क्षणभंगुर तुच्छ वैभव और ऐश्वर्य की महत्ता की क्या बात करते हो? जिसके भरोसे तुम दूसरों के नाथ बनना चाहते हो। यह भौतिक-वैभव तो मेरे पास भी कुछ कम न था। पर, यह नश्वर था, इसलिए छोड़ आया हूँ।

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह संवाद जीवन-विजय का संवाद है। यह संवाद साधना की उस स्थिति पर पहुँचाता है, जहाँ भक्त को भगवान् के पीछे दौड़ने की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जहाँ वह होता है, वहीं अन्तर् में भगवान् उतर आते हैं। अनाथ मुनि की वाणी में वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा बोल रही थी। उन्होंने जो संदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नहीं, महावीर का ही संदेश था। महावीर की आत्मा स्वयं उसके अन्तर् में जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का संस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अंग-अंग में, सांस-सांस में प्रकाशित होने लग जाए। उसके संस्कारों का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। एक सूफी शायर ने ऐसी ही चरम दशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है—

"शहरे तन के सारे दर्वाजों पे हो गर रोशनी।
तो समझना चाहिए वहाँ हुकूमत इल्म की।।"

इस शरीर रूपी शहर के हर गली-कूचे और दरवाजों पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो, तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहाँ का स्वामी स्वयं घर में है और वह पूरे होश में है। उस शहर पर कोई हमला नहीं कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ बन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन में धर्म का स्रोत प्रतिक्षण पद-पद पर बहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण बना रहे। जीवन में धर्म का सामंजस्य होने के बाद, साधक को अन्यत्र कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं। मुक्ति के लिए भी कहीं दूर जाना नहीं है, अपितु अन्दर की परतों को भेद कर अन्दर में ही उसे पाना है।

धर्म और ध्यान :

साधना, जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं, जो वृत्तियों के दमन से या शमन से सम्बन्धित न होकर क्षपण से सम्बन्धित है, अतः वह क्षायिक साधना है। प्रश्न है, उसका मूल आधार क्या है? वह कैसे एवं किस रूप में की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है, वह शब्द है—'ध्यान।' महावीर की साधना का आन्तरिक मार्ग यही था। ध्यान के मार्ग से ही वे आत्मा की गहराई में अनादि-काल से दबे आ रहे अपने अनन्त ईश्वरत्व को प्रगट कर सके, विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता तक पहुँच सके। आध्यात्मिक साधना का अर्थ ही ध्यान है।

वस्तुतः ध्यान से ही आध्यात्मिक तथ्य की वास्तविकता का बोध होता है। ध्यान जीवन की बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करता है, चैतन्य की अन्तर्निहित अनन्त क्षमता का उद्घाटन करता है। ध्यान आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णता का विस्फोट है, जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की समग्र सत्ता का एक वास्तविक जागरण है। ध्यान हमारी अशुद्ध शक्तियों का शोधन करता है। ध्यान के द्वारा ही चेतना की अशुभ धारा शुभ में रूपान्तरित होती है, शास्त्र की भाषा में कहें, तो चेतना की शुभाशुभ समग्र धारा शुद्ध में रूपायित हो जाती है। प्रकाश में जैसे अन्धकार विनष्ट हो जाता है, वैसे ही ध्यान की ज्योति में विकृतियाँ सर्वतो भावन समाप्त हो जाती हैं। विकृतियों का तभी तक शोरगुल रहता है, जब तक कि चेतना सुप्त है। चेतना की जागृति में आध्यात्मिक सत्ता का अथ से इति तक संपूर्ण कायाकल्प ही हो जाता है, फलतः अन्तरात्मा में एक अद्भुत नीरव एवं अखण्ड शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगती है। चेतना के वास्तविक जागरण में कोई न तनाव रहता है, न पीड़ा, न दुःख, न द्वन्द्व। जिसे हम मन की आकुलता कहते हैं, चित्त की व्यग्रता कहते हैं, उसका तो कहीं अस्तित्व तक नहीं रहता। ध्यान चेतना के जागरण का अमोघ हेतु है। हेतु क्या, एक तरह से यह जागरण ही तो स्वयं ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है— अपने को देखना, अन्तर्मुख होकर तटस्थ भाव से अपनी स्थिति का सही निरीक्षण करना। सुख-दुःख की, मान-अपमान की, हानि-लाभ की, जीवन-मरण की जो भी शुभाशुभ घटना हो रही है, उसे केवल देखिए। राग-द्वेष से परे होकर तटस्थ भाव से देखिए। केवल देखना भर है, देखने के सिवा और कुछ नहीं करना है। बस, यही ध्यान है। शुभाशुभ का तटस्थ दर्शन, शुद्ध 'स्व' का तटस्थ निरीक्षण! चेतना का बाहर से अन्दर में प्रवेश! अन्दर में लीनता!

सर्वप्रथम स्थान—शरीर की स्थिरता, फिर मौन—वाणी की स्थिरता, और फिर ध्यान—अन्तर्मन की स्थिरता। आज भी हम कायोत्सर्ग की स्थिति में ध्यान करते समय यही कहते हैं—**'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।'** महावीर के ध्यान का यही क्रम था। और, इस प्रकार तप करते-करते महावीर का ध्यान हो जाता था, अथवा यों कहिए कि ध्यान करते-करते, अन्तर्लीन होते-होते तप हो जाता था। यदि स्पष्टता के साथ वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जाए, तो ध्यान स्वयं तप है। स्वयं भगवान् की भाषा में अनशन आदि तप बाह्य तप हैं। इनका सम्बन्ध शरीर से अधिक है। शरीर की भूख-प्यास आदि को पहल निमंत्रण देना और फिर उसे सहना, यह बाह्य तप की प्रक्रिया है। और ध्यान अन्तरंग तप है, अन्तरंग अर्थात् अन्दर का तप, मन का तप, भाव का तप, स्व का स्व में उतरना, स्व का स्व में लीन होना। महावीर की यह आत्माभिमुख ध्यान-साधना धीरे-धीरे सहज होती गई, अर्थात् अन्तर्लीनता बढ़ती गई। विकल्प कम होते गए, चंचलता-उद्विग्नता कम होती गई और इस प्रकार धीरे-धीरे निर्विकल्पता, उदासीनता, अनाकुलता, वीतरागता विकसित होती गई। ध्यान सहज होता गया, हर क्षण, हर स्थिति में होता गया। महावीर के जीवन में आकुलता के, पीड़ा के, द्वन्द्व के एक-से-एक भीषण प्रसंग आए। किन्तु महावीर अनाकुल रहे, निर्द्वन्द्व रहे। महावीर ध्यानयोगी थे, अतएव वे हर अच्छी-बुरी घटना के तटस्थ दर्शक बन कर रह सकते थे। इसीलिए अपमान-तिरस्कार के कड़वे प्रसंगों में, और सम्मान-सत्कार के मधुर क्षणों में उनकी अन्तश्चेतना सम रही, तटस्थ रही, वीतराग रही। वे आने वाली या होने वाली हर स्थिति के केवल द्रष्टा रहे, न कर्ता रहे और न भोक्ता। हम बाहर में उन्हें अवश्य कर्ता-भोक्ता देखते हैं। किन्तु देखना तो यह है कि वे अन्दर में क्या थे? सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता विकल्पात्मक स्थिति में होता है। केवल द्रष्टा ही है, जो शुद्ध निर्विकल्पात्मक ज्ञान-चेतना का प्रकाश प्राप्त करता है।

धर्म, दर्शन और अध्यात्म :

धर्म, दर्शन और अध्यात्म का प्रायः समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है, किन्तु गहराई से विचार करें तो इन तीनों का मूल अर्थ भिन्न है। अर्थ ही नहीं, क्षेत्र भी भिन्न है।

धर्म का सम्बन्ध आचार से है। **'आचारः प्रथमो धर्मः।'** यह ठीक है कि बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले धर्म का सम्बन्ध अन्दर और बाहर दोनों प्रकार के आचारों से था। और इस प्रकार अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था। इसीलिए प्राचीन जैन-ग्रन्थों में धर्म के दो रूप बताए गए हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय अन्दर में 'स्व' की शुद्धानुभूति एवं शुद्धोपलब्धि है, जबकि व्यवहार बाह्य क्रियाकाण्ड है, बाह्याचार का विधि-निषेध है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है, वह देशकाल की बदलती हुई परिस्थितियों से भिन्न होता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक होता है। व्यवहार, चूंकि बाह्य आचार-विचार पर आधारित है, अतः वह देशकाल के अनुसार बदलता रहता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं होता। दिनांक तो नहीं बताया जा सकता, परन्तु काफी समय से धर्म अपनी अन्तर्मुख स्थिति से दूर हटकर बहिर्मुख स्थिति में आ गया है। आज धर्म का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों का बाह्याचार सम्बन्धी विधि-निषेध ही रह गया है। धर्म की व्याख्या करते समय प्रायः हर मत और पन्थ के लोग अपने परंपरागत विधि-निषेध सम्बन्धी क्रियाकाण्डों को ही उपस्थित करते हैं और उन्हीं के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हैं। इसका यह अर्थ है कि धर्म अपने व्यापक अर्थ को खोकर केवल एक क्षरणशील संकुचित अर्थ में आबद्ध हो गया है। अतः आज का मानस, धर्म से अभिप्राय, मत-पंथों के अमुक बँधे-बंधाये आचार-विचार से लेता है, अन्य कुछ नहीं।

दर्शन का अर्थ तत्त्वों की मीमांसा एवं विवेचना है। दर्शन का क्षेत्र है—सत्य का परीक्षण। जीव और जगत् एक गूढ़ पहेली है, इस पहेली को सुलझाना ही दर्शन का कार्य है। दर्शन प्रकृति और पुरुष, लोक और परलोक, आत्मा और परमात्मा, दृष्ट और अदृष्ट आदि रहस्यों का उद्घाटन करने वाला है। वह सत्य और तथ्य का सही मूल्यांकन करता है। दर्शन ही वह दिव्यचक्षु है, जो इधर-उधर की नई-पुरानी मान्यताओं के सघन आवरणों को भेदकर सत्य के मूलरूप का साक्षात्कार कराता है। दर्शन के बिना धर्म अन्धा है। और यह अन्धा गन्तव्य पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे? पथ के टेढ़े-मेढ़े घुमाव, गहरे गर्त और आस-पास के खतरनाक झाड़-झंखाड़ बीच में ही कहीं अन्धे यात्री को निगल सकते हैं।

अध्यात्म, जो बहुत प्राचीन काल में धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था, जीवन-विशुद्धि का सर्वांगीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार को खोजता है, उसका परिशोधन एवं परिष्कार करता है। 'स्व' जो कि 'स्वयं' से विस्मृत है, अध्यात्म इस विस्मरण को तोड़ता है। 'स्व', स्वयं ही जो अपने 'स्व' के अज्ञान तमस् का शरण-स्थल बन गया है, अध्यात्म इस अन्धतमस् को ध्वस्त करता है, स्वरूप स्मृति की दिव्य ज्योति जलाता है। अध्यात्म अन्दर में सोये हुए ईश्वरत्व को जगाता है, उसे प्रकाश में लाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के आवरणों की गन्दी परतों को हटाकर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व' तक पहुँचाता है, उसे अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का आरम्भ 'स्व' को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा से होता है, और अन्ततः 'स्व' के पूर्ण बोध में, 'स्व' की पूर्ण उपलब्धि में इसकी परिसमाप्ति है।

अध्यात्म किसी विशिष्ट पंथ या संप्रदाय की मान्यताओं में विवेक-शून्य अंध-विश्वास और उनका अन्ध-अनुपालन नहीं है। दो-चार-पाँच परम्परागत नीति-नियमों का पालन अध्यात्म नहीं है, क्योंकि यह अमुक क्रियाकाण्डों की, अमुक विधि-निषेधों की कोई प्रदर्शनी नहीं है और न यह कोई देश, धर्म और समाज की देश कालानुसार बदलती रहने वाली व्यवस्था का ही कोई रूप है। यह तो एक आन्तरिक प्रयोग है, जो जीवन को सच्चे एवं अविनाशी सहज आनन्द से भर देता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवन को शुभाशुभ के बन्धनों से मुक्त कर देती है, 'स्व' की शक्ति को विघटित होने से बचाती है। अध्यात्म, जीवन की अशुभ स्थिति को शुद्ध स्थिति में रूपान्तरित करने वाला अमोघ रसायन है, अतः यह अन्तर् की प्रसुप्त विशुद्ध शक्तियों को प्रबुद्ध करने का एक सफल आयाम है। अध्यात्म का उद्देश्य, नैतिकता औचित्य की स्थापना मात्र नहीं है, प्रत्युत शश्वत एवं शुद्ध जीवन के अनन्त सत्य को प्रकट करना है। अध्यात्म कोरा स्वप्निल आदर्श नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह तो जीवन का वह जीता-जागता यथार्थ है, जो 'स्व' को 'स्व' पर केन्द्रित करने का, निज को निज में समाहित करने का पथ प्रशस्त करता है।

अध्यात्म को, धर्म से अलग स्थिति इसलिए दी गई है कि आज का धर्म कोरा व्यवहार बन कर रह गया है, बाह्याचार के जंगल में भटक गया है; जबकि अध्यात्म अब भी अपने निश्चय के अर्थ पर समारूढ़ है। व्यवहार बहिर्मुख होता है और निश्चय अन्तर्मुख। अन्तर्मुख अर्थात् स्वाभिमुख। अध्यात्म का सर्वेसर्वा 'स्व' है, चैतन्य है। परम चैतन्य के शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति और प्राप्ति ही अध्यात्म का मूल उद्देश्य है। अतएव अध्यात्म जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भावात्मक स्थिति है, निषेधात्मक नहीं। यदि संक्षिप्त रूप में कहा जाए, तो अध्यात्म जीवन के स्थायी मूल्य की ओर दिशासूचन करने वाला वह आयाम है, जो किसी वर्ग, वर्ण, जाति और देश की भेदवृत्ति के बिना, एक अखण्ड एवं अविभाज्य सत्य पर प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अध्यात्म मानव-मात्र की अन्तश्चित् शक्ति रूप महासत्य का अनुसन्धान करने वाला वह मुक्तद्वार है, जो सबके लिए सदा और सर्वत्र खुला है। अपेक्षा सिर्फ मुक्त भाव से प्रवेश करने की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४

आत्म-जागरण

भक्ति-मार्ग के एक यशस्वी आचार्य ने कभी तरंग में आकर गाया था—

"नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमोनमः।
नमो मह्यं नमो मह्यं, मह्यमेव नमोनमः॥"

श्लोक के पूर्वार्द्ध में लगता है, आचार्य किसी बाह्य-शक्ति के चरणों में सिर झुका रहे हैं। इसलिए वे बार-बार 'तेरे चरणों में नमस्कार' की रट लगा रहे हैं, वे द्वैत के प्रवाह में बह रहे हैं। ऐसा लगता है कि भक्त कहीं बाहर में खड़े भगवान् को रिझाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु श्लोक का उत्तरार्द्ध आते ही, लगता है, भक्त की आत्मा जागृत हो जाती है, वह सम्भल जाता है—"अरे! मैं किसे वन्दना करता हूँ? मेरा भगवान् बाहर कहाँ है? मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या उपाश्रय से मेरे भगवान् का क्या सम्बन्ध है? मेरा भगवान् तो मेरे भीतर ही बैठा है। मैं ही तो मेरा भगवान् हूँ। अतः अपने को ही अपना नमस्कार है।" इस स्थिति में वह उत्तरार्द्ध पर आते-आते बोल उठता है—

"नमो मह्यं नमो मह्यं, मह्यमेव नमोनमः।"

मुझे ही मेरा नमस्कार है। अपने को अपना नमस्कार करने का अर्थ है कि साधक आत्म-जागृति के पथ पर आता है, चूंकि उसकी आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई पाटने वाला तत्त्व अब स्पष्ट होने लग जाता है। वह भेद से अभेद की ओर, द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ चलता है।

अद्वैत की भूमिका :

भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ और साधनाएँ इसी आदर्श पर चलती आई हैं। वे द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ी हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर मुड़ी हैं। बच्चे को जब सर्वप्रथम वर्णमाला सिखाई जाती है, तो आरम्भ में उसे बड़े-बड़े अक्षरों के द्वारा अक्षर-परिचय कराया जाता है, जब वह उन्हें पहचानने लग जाता है, तो छोटे अक्षर पढ़ाए जाते हैं और बाद में संयुक्त अक्षर। यदि प्रारम्भ से ही उसे सूक्ष्म व संयुक्त अक्षरों की किताब दे दें, तो वह पढ़ नहीं सकेगा, उलटे ऐसी पढ़ाई से ऊब जाएगा। यही दशा साधक की है। प्रारम्भ में उसे द्वैत की साधना पर चलाया जाता है। बाह्य रूप में की गई प्रभु की वन्दना, स्तुति आदि के द्वारा अपने भीतर में सोए हुए प्रभु को जगाया जाता है। साधक अपनी दुर्बलताओं, गलतियों का ज्ञान करके उन्हें प्रभु के समक्ष प्रकाशित करता है। प्रकाशित करना तो एक बाह्य भाव समझिए; वास्तव में तो वह प्रभु की निर्मल विशुद्ध आत्म-छवि से अपना मिलान करता है, तुलना करता है और उस निर्मलता के समान ही अपनी अन्तःस्थित शुद्धता, निर्मलता को उद्घाटित करने के लिए विभाव-गत मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करता है। जब तक घटिया-बढ़िया दो वस्तुओं को बराबर में रखकर तुलनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीक्षण नहीं किया जाए, तब तक उनकी वास्तविकता नहीं खुलती। साधक जब दूर-दूर तक अपनी दृष्टि को ले जाता है और देख लेता है कि अब परमात्मा की छवि में और मेरी छवि में कोई भेद नहीं दीखता है, तो फिर वह लौटकर अपने अन्दर में समा जाता है। वह बाहर से भीतर आ जाता है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर आ जाता है और तब वह **'नमस्तुभ्यं'** की जगह **'नमोमह्यं'** की धुन लगा बैठता है।

लक्ष्य की ओर :

साधकों के जीवन वृत्त से और उनकी समस्याओं से मालूम होता है कि हर एक साधक के लिए यह सरल नहीं है कि वह झटपट **'नमस्तुभ्यं'** से मुड़कर **'नमो मह्यं'** की ओर आ जाए। शास्त्रों में इन दोनों ही विषयों की चर्चा की गई है। हमारे पास धर्म-शास्त्र, पुराण, आगम प्रकरण आदि की कोई कमी नहीं है, उनका बहुत बड़ा विशाल भण्डार है। साधारण साधक की बुद्धि तो उसमें उलझ ही जाती है, उसके लिए शास्त्र एक बीहड़ जंगल के समान हो जाता है। पृथ्वी के जंगलों की एक सीमा होती है, किन्तु शब्दों और शास्त्रों के महावन की कोई सीमा नहीं है। इस असीम कानन में हजारों यात्री भटक गए हैं, नए यात्री भटकते हैं सो तो हैं ही, किन्तु पुराने और अनुभवी कहे जाने वाले साधक भी कभी-कभी दिग्मूढ़ हो जाते हैं। शास्त्रों में उदाहरण आता है कि कोई-कोई साधक चौदह पूर्व का ज्ञान पाकर भी इस शास्त्र वन में भटक जाते हैं। आचार्य शंकर ने कहा है—

"शब्दजालं महारण्यं, चित्तभ्रमण कारणम्।"

शब्दों का यह महावन इतना भयंकर है कि एक बार भटक जाने के बाद निकलना कठिन हो जाता है। इसलिए हमें शास्त्रचर्चा की अपेक्षा अनुभव की बात करनी चाहिए। भक्ति मार्ग एक उपवन है, जिसमें घूमने के लिए सहज आकर्षण रहता है, लेकिन हमेशा ही बगीचे में घूमते रहना तो उपयुक्त नहीं है। पड़ोसी से बात करने के लिए जब कोई घर का द्वार खोलकर बाहर जाता है, तो वह बाहर ही नहीं रह जाता, बल्कि लौटकर पुनः घर में आता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी हमारी स्थिति सिर्फ बाहर चक्कर लगाते रहने की ही नहीं है, हमें लौटकर अपने घर में आना चाहिए। चिरकाल तक बाहर घूमे हैं, अतः हम अपने घर में भी अनजाने से हो गए हैं। इसके लिए आत्मज्ञान की लौ जगाकर अपने घर को देखना होगा। आत्म-विश्वासपूर्वक अपनी अनन्त शक्तियों का ज्ञान करना होगा।

मंजिल और मार्ग :

सबसे पहले यह जानना होगा कि हमारी मंजिल क्या है? और, उसका मार्ग क्या है? हमें कहाँ जाना है, और जा कहाँ रहे हैं, यह निर्धारित करना होगा। हमारी सबसे ऊँची मंजिल है परमात्मपद! वह अन्तिम अनन्त शिखर—जहाँ पहुँचने के बाद वापिस नहीं लौटना होता। अन्तर्मुख साधना के महान् पथ पर हमें तब तक चलना है, जब तक कि मंजिल को नहीं पा लें। हम वे यात्री हैं, जिनको सतत चलना ही चलना होता है, बीच में कहीं विश्राम नहीं होता। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने ठीक ही कहा है—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
श्रांत भवन में टिक रहना।
किन्तु, पहुँचना उस सीमा पर,
जिसके आगे राह नहीं।"

मार्ग में सतत चलना है, जबतक कि अपना लक्ष्य नहीं आ जाए। कहीं हरे-भरे उपवन की मोहकता भी आएगी और कहीं सूखे पतझड़ की उद्विग्नता भी। किन्तु हमें दोनों मार्गों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से ही समभावपूर्वक गुजरना है। कहीं अटकना नहीं है। स्वर्ग की लुभावनी सुषमा और नरक की दारुण यातना—दोनों पर ही विजय पाकर हमें अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना है। सर्वत्र हमें अपने प्रकाश-दीप—सम्यक्-दर्शन को छोड़ना नहीं है। सम्यक्-दर्शन ही हमारे मार्ग का दीपक है।

एक जैनाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई यह शर्त रखे कि तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, और दूसरी ओर यह बात कि यदि सम्यक्-दर्शन पाते हैं तो नरक की ज्वाला में जलना होगा, उसकी भयंकर गन्दगी में सड़ना पड़ेगा, तो हमें इन दोनों बातों में से दूसरी बात ही मंजूर हो सकती है। मिथ्यात्व की भूमिका में स्वर्ग भी हमारे किसी काम का नहीं, जबकि सम्यक्-दर्शन के साथ नरक भी हमें स्वीकार है। आचार्य की इस उक्ति में लक्ष्य के प्रति कितना दीवानापन है! निछावर होने की कितनी बड़ी प्रबल भावना है!

इसके पीछे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, जिसे कि आचार्यों ने कहा है—वह यह है कि हमें नरक और स्वर्ग से, सुख और दुःख से कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन तो परमात्म-शक्ति के दर्शन से है। या यों कहिए कि आत्मशक्ति के दर्शन से है, सम्यक्-दर्शन से है। जीवन की यात्रा में सुख-दुःख यथाप्रसंग दोनों आते हैं, परन्तु हमें इन दोनों से परे रहकर चलने की आवश्यकता है। यदि मार्ग में कहीं विश्राम करना हो, तो कोई बात नहीं, कुछ समय के लिए अटक गए, विश्राम किया, किन्तु फिर आगे चल दिए। कहीं डेरा डाल कर नहीं बैठना है। चलते रहना ही हमारा मन्त्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक मन्त्र आता है—

"....चरैवेति, चरैवेति।"

चलते रहो, चलते रहो। कर्तव्य पथ में सोने वाले के लिए कलियुग है, जागरण की अंगडाई लेने वाले के लिए द्वापर है, उठ बैठने वाले के लिए त्रेता है और पथ पर चल पड़ने वाले के लिए सतयुग है, इसलिए चलते रहो, चलते रहो। चलते रहने वाले के लिए सदा सतयुग रहता है। संसार में यदि कोई कहीं डेरा जमाना भी चाहे, तो महाकाल किसी को कहाँ जमने देता है? तो फिर कहीं उलझने की चेष्टा क्यों की जाए? जीवन में सुख के फूलों और दुःख के काँटों में उलझने की जरूरत नहीं है, इन सबसे निरपेक्ष होकर आत्मशक्ति को जागृत किए चलना है। आत्मशक्ति का जागरण जब होगा, तब अपने प्रति अपना विश्वास जगेगा। आत्मा के अन्तराल में छिपी अनन्त शक्तियों के प्रति निष्ठा पैदा होने से ही आत्म-शक्ति का जागरण होता है।

जैन-सूत्रों में ऐसा वर्णन आता है कि आत्मा के एक-एक प्रदेश पर कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाएँ छाई हुई हैं। अब देखिए कि आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, और प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म वर्गणाएँ चिपकी बैठी हैं। मनुष्य अवश्य ही घबरा जाएगा कि किस प्रकार मैं कर्मों की अनन्त सेना से लड़ सकूँगा? और, कैसे इन बन्धनों को तोड़ कर मुक्त बन सकूँगा? किन्तु, जब वह अपनी आत्मशक्ति पर विचार करेगा, तो अवश्य ही उसका साहस बढ़ जाएगा। जैन-दर्शन ने बताया है कि जिस प्रकार एक पक्षी पंखों पर लगी धूल को पंख फड़फड़ा कर एक झटके में दूर कर देता है, उसी प्रकार साधक भी अनन्तानन्त कर्म बन्धनों को, एक झटके में तोड़ सकता है। पलक मारते ही, जैसे पक्षी के पंखों की धूल उड़ जाती है, त्यों ही आत्म-विश्वास जागृत होते ही, कर्म-वर्गणा की जमी हुई अनन्त तहें एक साथ ही साफ हो जाती हैं। आज के वैज्ञानिक युग में तो इस प्रकार का संदेह ही नहीं करना चाहिए कि कुछ ही क्षणों में किस प्रकार अनन्त कर्म बन्धन छूट सकते हैं, जबकि विज्ञान के क्षेत्र में पलक मारते ही संसार की परिक्रमा करने वाले राकेट, और क्षण भर में विश्व को भस्मसात करने वाले बमों का आविष्कार हो चुका है। यांत्रिक वस्तुओं की क्षमता तो सीमित है, परन्तु आत्मा की शक्ति अनन्त है, उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं है। अवधिज्ञान और मनः-पर्यायज्ञान में यह शक्ति है कि वह एक मिनट के असंख्यातवें भाग में भी सुदूर विश्व का ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर लेता है। हाथ की रेखाओं की तरह संसार की भौतिक हलचलें, उनके सामने स्पष्ट रहती हैं। केवलज्ञान की शक्ति तो उनसे भी अनन्तगुनी अधिक है, उसका कोई पार ही नहीं है।

आत्म-विश्वास का चमत्कार :

जिस जीवन यात्री का, अपने पर भरोसा होता है, आत्म-शक्ति पर विश्वास होता है, वह कहीं बाहर में नहीं भटकता। वह अपनी गरीबी का रोना कहीं नहीं रोता। उसके अन्दर और बाहर में सर्वत्र आत्म-विश्वास की रोशनी चमकने लग जाती है। जितने भी शास्त्र हैं, गुरु हैं, सब शिष्य के सोए हुए आत्म-विश्वास को जगाने का प्रयत्न करते हैं। रामायण में एक वर्णन आता है कि जब हनुमान राम के दूत बनकर लंका में पहुँचे, तो राक्षसों के किसी भी अस्त्र-शस्त्र से वे पराजित नहीं हुए। किन्तु, आखिर इन्द्रजीत के नागपाश में बंध गए। और, जब रावण की सभा में लाए गए, तो रावण ने व्यंग्य किया।

"हनुमान! तुम हमारे पीढ़ियों के गुलाम होकर भी आज हमसे ही लड़ने आए हो। यदि तुम दूत बनकर नहीं आए होते, तो तुम्हारा वध कर दिया जाता। किन्तु, दूत अवध्य होता है, अतः अब तुम्हें तुम्हारा मुँह काला करके नगर से बाहर निकाला जाएगा।"

हनुमान ने जब यह सुना तो उसका आत्मतेज हुँकार कर उठा। उसने सोचा —यह अपमान हनुमान का नहीं, राम का है; मैं तो उन्हीं का दूत हूँ। शरीर मेरा है, आत्मा तो राम की है। भक्त में हमेशा ही भगवान् की आत्मा बोला करती है, तो मैं अपने भगवान् का यह अपमान कैसे सह सकता हूँ? बस हनुमान में आत्मा की वह शक्ति जगी कि एक झटके में ही वह नागपाश को तोड़कर मुक्त आकाश में पहुँच गए। हनुमान जब तक नागपाश की शक्ति को अपनी शक्ति से बढ़कर मानते रहे, तब तक नागपाश में बँधे रहे। और, जब हनुमान को नागपाश की शक्ति से बढ़कर अपनी शक्ति का भान हुआ, तो नागपाश को टूटते कुछ भी समय नहीं लगा।

यह स्थिति केवल रामायण के हनुमान की ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी की है। जब तक उसे अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है, तब तक वह दुर्बलता के हाथों का खिलौना बना रहता है, किन्तु जब आत्मशक्ति का विश्वास हो जाता है, अपने अनन्त शौर्य का भान हो जाता है, तब वह किसी के अधीन नहीं रहता। मनुष्य को अपनी दीन-हीन स्थिति पर निराश न होकर, अपनी आत्मशक्ति को जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं, उन सबने अपनी आत्मशक्ति को जगाया है और इसी के सहारे वे विकास की चरम कोटि पर पहुँचे हैं। उन सबका यही संदेश है कि अपनी आत्मशक्ति को जगाओ। आत्म-जागरण ही तुम्हारे विकास का प्रथम सोपान है।

संकल्प-बल :

भारतीय दर्शन का एक मात्र स्वर रहा है—क्या थे, इसकी चिन्ता छोड़ो, क्या हैं, इसकी भी चिन्ता न करो, लेकिन यह सोचो कि क्या बनना है। क्या होना है, इसका नक्शा बनाओ, रेखाचित्र तैयार करो, अपने भविष्य का संकल्प करो। जो भवन बनाना है, उसका नक्शा बनाओ, रेखाचित्र तैयार करो और पूरी शक्ति के साथ जुट जाओ, उसे साकार बनाने में।

संकल्प कच्चा धागा नहीं है, जो एक झटका लगा कि टूट जाए। वह लौह-शृंखला से भी अधिक दृढ़ होता है। झटके लगते जाएँ, तूफान आते जाएँ, पर संकल्प का सूत्र कभी टूटने न पाए। दिन पर दिन बीतते चले जाते हैं, वर्ष पर वर्ष गुजरते जाते हैं, और तो क्या, जन्म के जन्म बीतते जाते हैं, फिर भी साधक स्वीकृत पथ पर चलता जाता है, अटूट श्रद्धा एवं संकल्प का तेज लिए हुए। चलने वाले को यह चिन्ता नहीं रहती कि लक्ष्य अब कितना दूर रहा है! वह तो चलता ही रहता है, एक न एक दिन लक्ष्य मिलेगा ही, इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में। संकल्प सही है, तो वह पूरा होकर ही रहेगा। उसके लिए प्रयत्न अवश्य किया जाता है, परन्तु समय की सीमा नहीं होती। मृत्यु का भय भी नहीं होता। संकल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर चलने वाले के लिए मृत्यु सिर्फ एक विश्राम है। एक पटाक्षेप है। वह जहाँ भी है, चलता रहता है, नया जन्म धारण करेगा, तो वहाँ भी उसकी यात्रा रुकेगी नहीं, मार्ग बदलेगा नहीं, वह फिर अगली मंजिल तय करने को साहस के साथ चल पड़ेगा।

भगवान् महावीर ने कहा है—साधक! तुम अपनी यात्रा के महापथ पर चलते-चलते रुक जाते हो, तो कोई भय नहीं, पैर लड़खड़ा जाते हैं, तो घबराने की कोई बात नहीं। संकल्प से डिगो मत, वापस लौटो मत! यदि कहीं कुछ क्षण रुक गए, बैठ गए, तो क्या है? कुछ देर विश्राम किया, फिर उठो, फिर चलो। चलते रहो! निरन्तर चलते रहो!

बालक चलता है, लड़खड़ाकर गिर भी जाता है, उठता है और फिर गिरता है। पर, उसकी चिन्ता नहीं की जाती। चरण सध जाएँगे तो एक दिन वही विश्व की दौड़ में सर्वश्रेष्ठ होकर आगे आ जाएगा। मतलब यह है कि जो चलता है, वह एक दिन मंजिल पर अवश्य पहुँचता है, किन्तु जो मार्ग में थक कर लमलट हो जाता है, चारों-खाने-चित हो जाता है, वह कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता! साधक को संकल्प की लौ जलाकर चलते रहना है, बढ़ते रहना है। फिर उसकी यात्रा अधूरी नहीं रहेगी, उसका संकल्प असफल नहीं रहेगा।

एक विचारक ने कहा है कि—यदि तुम्हारी यह शिकायत है कि इच्छा पूरी नहीं हुई, तो इसका मतलब है कि तुम्हारी इच्छा पूरी थी ही नहीं, अधूरी इच्छा लेकर ही तुम चल पड़े थे। पूरी इच्छा एक दिन अवश्य पूरी होती है। वह भीतर से अपने आप बल जागृत करती हुई पूर्णता की ओर बढ़ी जाती है। पूरी इच्छा में स्वतः ही बल जागृत हो जाता है।

सच्ची निष्ठा :

आज के साधक-जीवन की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि वह चलता तो है, पर उसके चरणों में श्रद्धा और निष्ठा का बल नहीं होता। चलने की सच्ची भूख उसमें नहीं जग पाती। कर्म करता जाता है, किन्तु सच्ची निष्ठा उसके अन्दर जागृत नहीं होती। ऐसे चलता है, जैसे घसीटा जा रहा हो, संशय, भय, अविश्वास के पद-पद पर लड़खड़ाता-सा। ऐसा लगता है कि कोई जीर्ण-शीर्ण दीवार है, अभी एक धक्के से गिर पड़ेगी, कोई सूखा कंकाल वृक्ष है, जो हवा के किसी एक झोंके से भूमिसात् हो जाएगा। किंतु जिसके अंदर सच्ची निष्ठा का बल है, वह महापराक्रमी वीर की भाँति सदा सीना ताने, आगे ही आगे बढ़ता जाता है। और, मंजिल एक दिन उसके पाँव चूमती है।

संशय : जीवन का खतरनाक बिन्दु :

तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्वाध्याय करते समय एक सूक्त दृष्टिगोचर हुआ **"श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी"**—श्रद्धा देवी ही विश्व की प्रतिष्ठा है, आधारशिला है। यदि यह आधार हिल गया, तो समूचा विश्व डगमगा जाएगा। भूचाल आते हैं, तो हमारे पुराने पंडित लोग कहते हैं, शेषनाग ने सिर हिलाया है। मैं सोचता हूँ, साधक जीवन में जब-जब भी उथल-पुथल होती है, गड़बड़ मचती है, तब अवश्य ही श्रद्धा का शेषनाग अपना सिर हिलाता है। अवश्य ही कहीं वह स्खलित हुआ होगा, उसका कोई आधार शिथिल हुआ होगा।

पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का सबसे निकटतम सूत्र भी विश्वास के धागों से निर्मित हुआ है, और राष्ट्र-राष्ट्र का विराट् सम्बन्ध भी इसी विश्वास के सूत्र से बँधा हुआ है। मैं पूछता हूँ, पति-पत्नी कब तक पति-पत्नी हैं? जब तक उनके बीच स्नेह एवं विश्वास का सूत्र जुड़ा हुआ है। यदि पति-पत्नी के बीच संशय आ जाता है, मन में अविश्वास हो जाता है, तो वे एक दिन एक-दूसरे की जान के ग्राहक बन जाते हैं। सामाजिक मर्यादावश वे जीते-जी भले ही साथ रहते हैं, परन्तु ऐसे रहते हैं, जैसे कि एक ही जेल की कोठरी में दो दुश्मन साथ-साथ रह रहे हों। घर, परिवार, समाज और राष्ट्र के हरे-भरे उपवन वीरान हो जाते हैं, बर्बाद हो जाते हैं, संशय एवं अविश्वास के कारण। विश्व में और खासकर भारत में आज जो संकट छाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह विश्वास का संकट है, श्रद्धा का संकट है। आज किसका भरोसा है कि कौन किस घड़ी में बदल जाएगा? समर्थक विरोधी बन जाएँगे, इकरार इन्कार में बदल जाएँगे? अविश्वास के वातावरण से समूचा राष्ट्र दिशाहीन गति-हीन हुआ जा रहा है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा बिखर रहा है। मैं आपसे कहता हूँ, यह निश्चय समझ लीजिए, जब तक मन में से अविश्वास एवं संशय का भाव समाप्त नहीं होगा, तब तक राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकेगा, भुखमरी और दरिद्रता से मुक्ति नहीं पा सकेगा। अमेरिका और रूस की सहायता पर आप अधिक दिन नहीं जी सकते। आपके जीने का अपना आधार होना चाहिए। सोने के लिए पड़ोसी की छत मत ताकिए, आखिर अपनी छत ही आपके सोने के काम में आ सकती है। अपना बल ही आपके चलने में सहयोगी होगा। और, वह बल कहीं और स्थान से नहीं, आपके ही हृदय के विश्वास से, निष्ठा से प्राप्त होगा।

हमारा जीवन कीड़े-मकोड़ों की तरह अविश्वास की भूमि पर रेंगने के लिए नहीं है। आस्था के अनन्त गगन में गरुड़ की भाँति उड़ान भरने के लिए है। हम भविष्य के स्वप्न देखने के लिए हैं, सिर्फ देखने के लिए ही नहीं, स्वप्नों को साकार करने के लिए हैं।

श्रद्धा का बीज :

श्रद्धा का बीज मन में डालिए, फिर उस पर कर्म की वृष्टि कीजिए। तथागत बुद्ध ने एकबार अपने शिष्यों से कहा था—भिक्षुओ! श्रद्धा का बीज मन की उर्वर-भूमि में डालो, उस पर तप की वृष्टि करो, सुकृत का कल्पवृक्ष तब स्वयं लहलहा उठेगा—**"सद्धा बीजं तपो वुट्ठी।"**

भारतीय जीवन आस्थावादी जीवन है, उसका तर्क भी श्रद्धा के लिए होता है। मैं आपसे निरी श्रद्धा—जिसे आज की भाषा में अन्धश्रद्धा (ब्लाइण्ड फैथ) कहते हैं, उसकी बात नहीं करता। मैं कहता हूँ जीवन के प्रति, अपने भविष्य के प्रति विवेकप्रधान श्रद्धाशील होने की बात! अपने विराट् उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करना, उस ओर निष्ठापूर्वक चल पड़ना, चलते रहना, यही मेरी श्रद्धा का रूप है। यही भारत का गरुड़ दर्शन है। हमारे जीवन में अपने हीनतावादी मन्थरा का दर्शन नहीं आना चाहिए।[1] अपने भविष्य को अपनी उन्नति एवं विकास की अनन्त संभावनाओं को क्षुद्र दृष्टि में बन्द नहीं करना है, किन्तु उसके विराट् स्वरूप का दर्शन करना है और फिर दृढ़ निष्ठा एवं दृढ़ संकल्प का बल लेकर उस ओर चल पड़ना है; लक्ष्य मिलेगा, निश्चित मिलेगा। एक बार विश्वास का बल जग पड़ा, तो फिर इन क्षुद्रता के बन्धनों के टूटने में क्या देरी है—**"बद्धो हि नलिनीनालैः ,कियत् तिष्ठति कुञ्जरः.... ?"** कमल की नाल से बँधा हुआ हाथी कितनी देर रुका रहेगा? जब तक चलने का संकल्प न जगे, अपने चरण को गति नहीं दे, तब तक ही न! बस, चरण बढ़े कि बन्धन टूटे। आप भी जब तक श्रद्धा से चरण नहीं बढ़ाते हैं, संशय से विश्वास की ओर नहीं मुड़ते हैं, तब तक ही यह बन्धन है, यह संकट है! बस, सच्चे विश्वास ने गति ली नहीं कि बन्धन टूटे नहीं, और जैसे ही बन्धन टूटे कि मुक्ति सामने ही खड़ी है, स्वागत में।

●

१. हमहूँ कहब अब ठकुर सुहाती। नाहीं तो मौन रहब दिन राती।
तथा
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरी छाड़ि कि होइब रानी।
—रामचरित मानस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५

धर्म की परख का आधार

अध्यात्म और विज्ञान, दोनों ही मानव जीवन के मुख्य प्रश्न हैं और बहुत गहरे हैं। जीवन के साथ दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी आज दोनों को भिन्न भूमिकाओं पर खड़ा कर दिया गया है। अध्यात्म को आज कुछ विशेष क्रियाकांडों एवं तथाकथित प्रचलित मान्यताओं के साथ जोड़ दिया गया है और विज्ञान को सिर्फ भौतिक अनुसन्धान एवं जगत् के बहिरंग विश्लेषण तक सीमित कर दिया गया है। दोनों ही क्षेत्रों में आज एक वैचारिक प्रतिबद्धता आ गई है, इसलिए एक विरोधाभास-सा खड़ा हो गया है, और इस कारण कहीं-कहीं दोनों को परस्पर प्रतिद्वन्द्वी एवं विरोधी भी समझा जा रहा है। आज के तथाकथित धार्मिक जन विज्ञान को सर्वथा झूठा और गलत बता रहे हैं और विज्ञान भी बड़ी बेरहमी के साथ धार्मिकों की तथाकथित अनेक धारणाओं को झकझोर रहा है।

अपोलो ८, अभी-अभी चन्द्रलोक की परिक्रमा करके आ गया है, वहाँ के चित्र भी ले आया है। अपोलो ८, के तीनों अमरीकी अंतरिक्ष यात्रियों ने आँखों देखी स्थिति बताई है कि—वहाँ पहाड़ों और गड्ढों से व्याप्त एक सुनसान वीरान धरातल है और उनकी घोषणा को रूस जैसे प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के वैज्ञानिकों ने भी सत्य स्वीकार किया है। परन्तु, हमारा धार्मिक वर्ग एक सिरे से दूसरे सिरे तक आज इन घोषणाओं से काफी चिन्तित हो उठा है। मेरे पास बाहर से अनेक पत्र आए हैं, बहुत से जिज्ञासु प्रत्यक्ष में भी मिले हैं—सबके मन में एक ही प्रश्न तरंगित हो रहा है—"अब हमारे शास्त्रों का क्या होगा? हमारे शास्त्र तो चन्द्रमा को एक महान् देवता के रूप में मानते हैं, सूर्य से भी लाखों मील ऊँचा[1] चन्द्रमा का स्फटिकरत्नों का[2] विमान है, उसपर सुंदर वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत देव-देवियाँ हैं।[3] चन्द्र विमान एक लाख योजन ऊँचे मेरु पर्वत के चारों ओर भ्रमण करता है।[4] चन्द्र में जो काला धब्बा दिखाई देता है, वह मृग का चिन्ह है। हमारे शास्त्रों के इन सब वर्णनों का अब क्या होगा? वहाँ जाने वाले तो बताते हैं, चित्र दिखाते हैं कि चन्द्र में केवल पहाड़ और खड्डे हैं, किसी यात्री से किसी देवता की मुलाकात भी वहाँ नहीं हुई, यह क्या बात है? ये वैज्ञानिक झूठे हैं या शास्त्र? शास्त्र झूठे कैसे हो सकते हैं? ये भगवान् की वाणी है, सर्वज्ञ-वाणी है।"

विज्ञान एवं अध्यात्म का क्षेत्र :

मैं सोचता हूँ, धार्मिक के मन में आज जो यह अकुलाहट पैदा हो रही है, धर्म के प्रतिनिधि तथाकथित शास्त्रों के प्रति उसके मन में जो अनास्था एवं विचिकित्सा का ज्वार उठ रहा है, उसका एक मुख्य कारण है—वैचारिक प्रतिबद्धता! कुछ परम्परागत रूढ़ विचारों के साथ उसकी धारणा जुड़ गई है, कुछ तथाकथित ग्रन्थों और पुस्तकों को उसने धर्म का प्रतिनिधि शास्त्र समझ लिया है, यह न तो इसका ठीक तरह बौद्धिक विश्लेषण कर सकता है और न ही विश्लेषण प्राप्त सत्य के आधार पर उनके मोह को ठुकरा सकता है। वह बार-बार

---

१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, १८।३ २. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्योतिष चक्राधिकार, ८
३. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २०।२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ८. ४. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २०।१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुहराई गई धारणा एवं रूढ़िगत मान्यता के साथ बँध गया है, प्रतिबद्ध हो गया है। बस, यह प्रतिबद्धता—आग्रह ही उसके मन की विचिकित्सा का कारण है।

शास्त्र की चर्चा करने से पहले एक बात हमें समझ लेनी है कि अध्यात्म और विज्ञान राम-रावण जैसे कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, दोनों ही विज्ञान हैं, एक आत्मा का विज्ञान है, तो दूसरा प्रकृति का विज्ञान है। अध्यात्म-विज्ञान के अन्तर्गत आत्मा के शुद्धाशुद्ध स्वरूप, बन्धमोक्ष, शुभाशुभ परिणतियों का ह्रास-विकास आदि का विश्लेषण आता है। और विज्ञान, जिसे मैं प्रकृति का विज्ञान कहना ठीक समझता हूँ, इसमें हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन, इनका संरक्षण-पोषण एवं चिकित्सा आदि, तथा प्रकृति का अन्य मार्मिक विश्लेषण समाहित होता है। दोनों का ही जीवन की अखण्ड सत्ता के साथ सम्बन्ध है। एक जीवन की अन्तरंग धारा का प्रतिनिधि है, तो एक बहिरंग धारा का। अध्यात्म का क्षेत्र मानव का अन्तःकरण, अन्तश्चैतन्य एवं आत्मतत्त्व रहा है, जबकि आज के विज्ञान का क्षेत्र प्रकृति के अणु से लेकर विराट् खगोल-भूगोल आदि का प्रयोगात्मक अनुसन्धान करना है, इसलिए वह हमारी भाषा में बहिरंग ज्ञान है, जबकि अन्तरंग चेतना का विवेचन, विशोधन एवं ऊर्ध्वीकरण करना अध्यात्म का विषय है, वह अन्तरंग ज्ञान है।

इस दृष्टि से विज्ञान व अध्यात्म में प्रतिद्वन्द्विता नहीं, अपितु पूरकता आती है। विज्ञान प्रयोग है, अध्यात्म योग है। विज्ञान सृष्टि की, परमाणु आदि की चमत्कारी शक्तियों का रहस्य उद्घाटित करता है, प्रयोग द्वारा उन्हें हस्तगत करता है, और अध्यात्म उन शक्तियों का कल्याणकारी उपयोग करने की दृष्टि देता है। मानव-चेतना को विकसित, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व बनाने की दृष्टि अध्यात्म के पास है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों का कब, कैसे, कितना और किसलिए उपयोग करना चाहिए, इसका निर्णय अध्यात्म देता है, वह भौतिक प्रगति को विवेक की आँख देता है—फिर कैसे कोई विज्ञान और अध्यात्म को विरोधी मान सकता है?

हमारा प्रस्तुत जीवन केवल आत्ममुखी होकर नहीं टिक सकता है और न केवल बहिर्मुखी ही रह सकता है। जीवन की दो धाराएँ हैं—एक बहिरंग, दूसरी अंतरंग। दोनों धाराओं को साथ लेकर चलना, यही तो जीवन की अखण्डता है। बहिरंग जीवन में विशृंखलता नहीं आए, द्वन्द्व नहीं आए, इसके लिए अंतरंग जीवन की दृष्टि अपेक्षित है। अन्तरंग जीवन आहार-विहार आदि के रूप में बहिरंग से, शरीर आदि से, सर्वथा निरपेक्ष रहकर चल नहीं सकता, इसलिए बहिरंग का सहयोग भी अपेक्षित है। भौतिक और आध्यात्मिक, सर्वथा निरपेक्ष दो अलग-अलग खण्ड नहीं हो सकते, बल्कि दोनों को अमुक स्थिति एवं मात्रा में साथ लेकर ही चला जा सकता है, तभी जीवन सुन्दर, उपयोगी एवं सुखी रह सकता है। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ तो लगता है—अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान दोनों ही जीवन के अंग हैं, फिर इनमें विरोध और द्वन्द्व की बात क्या रह जाती है? यही आज का मुख्य प्रश्न है!

शास्त्र बनाम ग्रन्थ :

भौतिक विज्ञान के कुछ भूगोल-खगोल सम्बन्धी अनुसन्धानों के कारण धर्मग्रन्थों की कुछ मान्यताएँ आज गड़बड़ा रही हैं, वे असत्य सिद्ध हो रही हैं और उन ग्रन्थों पर विश्वास करने वाला वर्ग लड़खड़ा रहा है, अनास्था से दिग्-भ्रान्त हो रहा है। सैकड़ों वर्षों से चले आए ग्रन्थों और उनके प्रमाणों को एक क्षण में कैसे अस्वीकार कर लें और कैसे विज्ञान के प्रत्यक्षसिद्ध तथ्यों को झुठलाने का दुस्साहस कर लें। बस, यह वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता का संघर्ष ही आज धार्मिक मानस में उथल-पुथल मचाए जा रहा है। जहाँ-जहाँ पर परम्परागत वैचारिक प्रतिबद्धता, तर्कहीन विश्वासों की जड़ता विजयी हो रही है, वहाँ-वहाँ विज्ञान को असत्य, भ्रामक और सर्वनाशी कहने के सिवा, और कोई चारा भी नहीं है। मैं समझता हूँ, इसी भ्रान्ति के कारण विज्ञान को धर्म का विरोधी एवं प्रतिद्वन्द्वी मान लिया गया है, और धार्मिकों की इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्ध प्रतिबद्धता एवं घृणा के उत्तर में नई दिशा के उग्र विचारकों ने धर्म को एक मादक अफीम करार दे दिया है। पाखण्ड और असत्य का प्रतिनिधि बता दिया है।

यदि हम संतुलित होकर समझने-सोचने का प्रयत्न करें, तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि तथाकथित धर्मग्रन्थों की मान्यता के साथ विज्ञान के अनुसन्धान क्यों टकरा रहे हैं? इस सन्दर्भ में दो बातें हमें समझनी होंगी—पहली यह कि शास्त्र की परिभाषा क्या है? उसका प्रयोजन और प्रतिपाद्य क्या है? और, दूसरी यह कि शास्त्र के नाम पर चले आ रहे प्रत्येक ग्रन्थ, स्मृति, पुराण और अन्य संदर्भ पुस्तकों को अक्षरशः सत्य मानें या नहीं?

ग्रन्थ और शास्त्र में भेद :

सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्र एक बहुत पवित्र एवं व्यापक शब्द है, इसकी तुलना में ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। यद्यपि शब्दकोष की दृष्टि से ग्रन्थ और शास्त्र को पर्यायवाची शब्द माना गया है, किन्तु व्याकारण की दृष्टि से ऐसा नहीं माना जा सकता। कोई भी शब्द किसी दूसरे शब्द का सर्वथा पर्यायवाची नहीं हो सकता, उनके अर्थ में अवश्य ही मौलिक अन्तर रहता है। शास्त्र और ग्रन्थ को भी मैं इसी प्रकार दो अलग-अलग शब्द मानता हूँ।

शास्त्र का सम्बन्ध अन्तर् से है, सत्यं, शिवं, सुन्दरं की साक्षात् अनुभूति से है, स्व-पर कल्याण की मति-गति-कृति से है, जबकि ग्रन्थ के साथ ऐसा नियम नहीं है। शास्त्र सत्य के साक्षात् दर्शन एवं आचरण का उपदेष्टा होता है, जबकि ग्रन्थ इस तथ्य के लिए प्रतिनियत नहीं है। शास्त्र और ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह विवेक यदि हमारी बुद्धि में जग गया है, तो फिर विज्ञान और अध्यात्म में, विज्ञान और धर्म में तथा विज्ञान और शास्त्र में कोई टकराहट नहीं होगी, कोई किसी को असत्य एवं सर्वनाशी सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

धर्मग्रन्थों के प्रति, चाहे वे जैन सूत्र हैं, चाहे स्मृति और पुराण हैं, आज के बुद्धिवादी वर्ग में एक उपहास की भावना बन चुकी है, और सामान्य-श्रद्धालु वर्ग में उनके प्रति अनास्था पैदा हो रही है। इसका कारण यही है कि हमने शास्त्र की मूल मर्यादाओं को नहीं समझा, ग्रन्थ का अर्थ नहीं समझा और संस्कृत, प्राकृत में जो भी कोई प्राचीन कहा जानेवाला ग्रन्थ मिला, उसे शास्त्र मान बैठे, भगवद्वाणी मान बैठे, और गले से खूब कस कर बाँध लिया कि यह हमारा धर्म ग्रन्थ है, यह ध्रुव सत्य है, इसके विपरीत जो कुछ भी कोई कहता है, वह झूठ है, गलत है।

कहते हैं कि सऊदी अरब में सबसे पहले जब टेलीफोन के तार की लाइन डाली जा रही थी, तो वहाँ धर्मगुरु मौलवी लोगों ने बड़ा भारी विरोध किया। धार्मिक जनता को भड़काया—यह तो शैतान का काम है, कुरान शरीफ के हुक्म के खिलाफ है। वादविवाद उग्र हो चला, इधर-उधर उत्तेजना फैलने लगी, तो वहाँ के तत्कालीन बुद्धिमान बादशाह इब्न सऊदी ने फैसला दिया कि—"इसकी परीक्षा होनी चाहिए कि दरअसल ही यह शैतान का काम है या नहीं। इसके लिए दो मौलानाओं को नियत किया गया कि वे क्रमशः टेलीफोन पर कुरान की आयतें पढ़ें। यदि शैतान का काम होगा, तो वे पवित्र आयतें तार से उस पार सुनाई नहीं देंगी, और यदि सुनाई दीं, तो वह शैतान का काम नहीं होगा।" आप जान सकते हैं, क्या प्रमाणित हुआ? वही प्रमाणित हुआ, जो प्रमाणित हो सकता था। सत्य के समक्ष भ्रान्त धारणाओं के दावे कब तक टिक सकते हैं?

धर्मग्रन्थों के प्रति इस प्रकार का जो विवेकहीन बँधा-बँधाया दृष्टिकोण है, वह केवल भारत को ही नहीं, बल्कि संपूर्ण धार्मिक विश्व को जकड़े हुए है। यह सब कब से चला आ रहा है, कहा नहीं जा सकता। ग्रन्थों से चिपटे रहने की इस जड़ता ने कितने वैज्ञानिकों को मौत के घाट उतरवाया, कितनों को देश-त्याग करवाया? यह इतिहास के पृष्ठों पर आज भी पढ़ा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ : संकलना मात्र :

मानव मस्तिष्क में विचारों की यह प्रतिबद्धता ग्रन्थ ने ही पैदा की है। ग्रन्थ का अर्थ ही है—ग्रन्थि! गाँठ! जैन भिक्षु को, श्रमण को निर्ग्रन्थ कहा गया है। अर्थात् उसके भीतर में मोह, आसक्ति आदि की कोई गाँठ नहीं होती, ग्रन्थि नहीं होती। गाँठ तब डाली जाती है, जब कुछ जोड़ना होता है, संग्रह करना होता है। कुछ इधर से लिया, कुछ उधर से लिया, गाँठ डाली, जुड़ गया, या जोड़ लिया, और गाँठ लगाई—इस प्रकार लेते गए, जोड़ते गए और ग्रन्थ तैयार होते गए। ग्रन्थ शब्द के इसी भाव को हिन्दी की 'गूँथना' क्रिया व्यक्त करती है। माली जब फूलों को धागे में पिरोता है, तब एक फूल लेता है, गाँठ डाल लेता है, फिर दूसरा फूल लेता है और फिर गाँठ डाल लेता है—इस प्रकार पिरोता जाता है, गाँठें डालता जाता है और माला तैयार हो जाती है। बिना गांठ डाले माला तैयार नहीं होती। इसी प्रकार विचारों की गाँठें जोड़े बिना ग्रन्थ भी कैसे तैयार होगा? इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ के लिए मौलिक चिंतन की अपेक्षा नहीं रहती, वह तो एक संकलना मात्र है, विचारों एवं मान्यताओं के मनकों की माला है, संगृहीत विचारों की गठरी है। शास्त्र के सम्बन्ध में यह बात नहीं हो सकती।

शास्त्र : सत्य का साक्षात् दर्शन :

शास्त्र, सत्य का साक्षात् दर्शन होता है। क्योंकि सत्य सदा अखण्ड, संपूर्ण एवं समग्र मानव चेतना को स्पर्श करने वाला होता है। हमारी संस्कृति में 'सत्य' के साथ 'शिव' संलग्न रहता है। सत्य के दर्शन में सृष्टि की समग्र चेतना के कल्याण की छवि प्रतिबिम्बित रहती है। भौतिक विज्ञान भी सत्य का उद्घाटन करता है, किन्तु उसके उद्घाटन में केवल बौद्धिक स्पर्श होता है, समग्र चैतन्य की शिवानुभति का आधार नहीं होता, इसीलिए मैं उसे धर्मशास्त्र की सीमा में नहीं मान सकता।

शास्त्र के सम्बन्ध में हमारी यह भी एक धारणा है कि शास्त्र आर्ष वाणी अर्थात् ऋषि की वाणी है। यास्क ने ऋषि की परिभाषा की है, सत्य का साक्षात्द्रष्टा, ऋषि होता है—**ऋषिर्दर्शनात्**।[1] हर साधक ऋषि नहीं कहलाता, किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा और तर्कशुद्ध ज्ञान के द्वारा जो सत्य की स्पष्ट अनुभूति कर सकता है, वही वस्तुतः ऋषि है[2]। इसलिए वेदों में ऋषि को मंत्रद्रष्टा के रूप में अभिहित किया गया है। हाँ, तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि भारत की वैदिक एवं जैन परम्परा में आर्षवाणी का अर्थ साक्षात् सत्यानुभूति पर आधारित शिवत्व का प्रतिपादक मौलिक ज्ञान होता है। शास्त्र का उपदेष्टा आँख मूँद कर उधार लिया हुआ शिवत्वशून्य ज्ञान नहीं देता। उसका सर्वजन हिताय उपदेश अन्तःस्फूर्त निर्मल ज्ञान के प्रवाह से उद्भूत होता है, जिसका सम्बन्ध सीधा आत्मा से होता है। आत्मा के अनन्त ज्ञान, दर्शन स्वरूप आलोक को व्यक्त करना एवं आत्मस्वरूप पर छाई हुई विभाव-परि- णतियों की मलिनता का निवारण करना—यही आर्षवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य होता है।

जैन-परम्परा में महान् प्रतिनिधि आगमवेत्ता आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण से जब पूछा गया कि शास्त्र किसे कहते हैं? तो उन्होंने बताया—

"सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावतो सत्थं।"[3]

---

१. निरुक्त २।११

२. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।—निरुक्त १।२०

३. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १३८४
शासु अनुशिष्टौ शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्—टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो एवं आत्मा का अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है। शास्त्र शब्द शास् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—शासन, शिक्षण, उद्बोधन! अतः शास्त्र का अर्थ हुआ—जिस तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा अनुशासित होती है, उद्बुद्ध होती है, वह तत्त्वज्ञान शास्त्र है। आचार्य जिनभद्र की यह व्याख्या उनकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं है, बल्कि इसका आधार जैन आगम है। आगम में भगवान् महावीर की वाणी का यह उद्घोष हुआ है कि—"जिसके द्वारा आत्मा जागृत होती है, तप, क्षमा एवं अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होती है, वह शास्त्र है।"

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में चार बातें दुर्लभ बताई गई हैं—**"माणुसत्तं सुईसद्धा, संजमम्मि य वीरियं"**[1] अर्थात् मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम-पुरुषार्थ! आगे चलकर बताया गया है कि श्रुति अर्थात शास्त्र कैसा होता है?—**"जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं"**[2]—जिसको सुनकर साधक का अन्तर्मन प्रतिबुद्ध होता है, उसमें तप की भावना जागृत होती है और फलतः इधर-उधर बिखरी हुई अनियन्त्रित उद्दाम इच्छाओं का निरोध किया जाता है। इच्छा निरोध से संयम की ओर प्रवृत्ति होती है, क्षमा की साधना में गतिशीलता आती है—वह शास्त्र है।

इस संदर्भ में इतना और बता देना चाहता हूँ कि 'खंति' आदि शब्दों की भावना बहुत व्यापक है—इसे भी समझ लेना चाहिए। क्षमा का अर्थ केवल क्रोध को शान्त करने तक ही सीमित नहीं है, अपितु कषायमात्र का शमन करना भी है। जो क्रोध का शमन करता है, मान का शमन करता है, माया और लोभ की वृत्तियों का शमन करता है, वही सच्चा 'क्षमावान' है। 'क्षमा' का मूल अर्थ 'समर्थ' होना भी है, जो कषायों को विजय करने में सक्षम अर्थात् समर्थ होता है, जो क्रोध, मान आदि की वृत्तियों को विजय कर सके, मन को सदा शांत-उपशांत रख सके—वह 'क्षमावान' कहलाता है।

शास्त्र का लक्ष्य : श्रेयभावना :

शास्त्र की प्रेरकता में तप और क्षमा के साथ अहिंसा शब्द का भी उल्लेख किया गया है। अहिंसा की बात कह कर समग्र प्राणिजगत् के श्रेय एवं कल्याण की भावना का समावेश शास्त्र में कर दिया गया है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को 'भगवती' कहा है।[3] महान् श्रुतधर आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को परब्रह्म कहा है।[4] इसका मतलब है—अहिंसा एक विराट् आध्यात्मिक चेतना है, समग्र प्राणिजगत के शिव एवं कल्याण का प्रतीक है। इसीलिए मैंने 'सत्यं' के साथ 'शिवं' की मर्यादा का उल्लेख किया है। अहिंसा हमारे 'शिवं' की साधना है। करुणा, कोमलता, सेवा, सहयोग, मैत्री और अभय—ये सब अहिंसा की फलश्रुतियाँ है। इस प्रकार हम शास्त्र की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि तप, क्षमा एवं अहिंसा के द्वारा जीवन को साधने वाला, अन्तरात्मा को परिष्कृत करने वाला जो तत्त्वज्ञान है, वह शास्त्र है।

शास्त्र का प्रयोजन :

शास्त्र की परिभाषा समझ लेने पर इसका प्रयोजन क्या है? यह भी स्पष्ट हो जाता है। भगवान् शास्त्र का प्रवचन किसलिए करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी आर्य सुधर्मा ने कहा है—**'सव्व-जग-जीवरक्खण दयट्ठयाए**

---

१. उत्तराध्ययन ३।१
२. उत्तराध्ययन ३।८
३. प्रश्नव्याकरण, २।१
४. अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।—स्वयंभू स्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवया पावयणं सुकहियं[1] समस्त प्राणिजगत् की सुरक्षा एवं दया भावना से प्रेरित हो कर उसके कल्याण के लिए भगवान् ने उपदेश दिया।

परिभाषा और प्रयोजन कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं और कहीं एक भी। यहाँ परिभाषा में प्रयोजन स्वतः निहित है। यों शास्त्र की परिभाषा में ही शास्त्र का प्रयोजन स्पष्ट हो गया है, और अलग प्रयोजन बतला कर भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शास्त्र का शुद्ध प्रयोजन विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। शास्त्र के इस प्रयोजन को जैन भी मानते हैं, बौद्ध और वैदिक भी मानते हैं, ईसाई और मुसलमान भी यही बात कहते हैं—"ईसा और मुहम्मद साहब दुनियाँ की भलाई के लिए प्रेम और मुहब्बत का पैगाम लेकर आए।"

मैं समझता हूँ, शास्त्र का यह एक ऐसा व्यापक और विराट् उद्देश्य है, जिसे कोई भी तत्त्व-चिन्तक चुनौती नहीं दे सकता।

जैन श्रुतपरम्परा के महान् ज्योतिर्धर आचार्य हरिभद्र के समक्ष जब शास्त्र के प्रयोजन का प्रश्न आया, तो उन्होंने भी इसी बात को दुहराते हुए उत्तर दिया—

"मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः॥"[2]

जिस प्रकार जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसे उज्ज्वल बना देता है, वैसे ही शास्त्र भी मानव के अन्तःकरण में स्थित काम, क्रोध आदि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र तथा निर्मल बना देता है। इस प्रकार भगवान् महावीर से लेकर एक हजार से कुछ अधिक वर्ष तक के चिन्तन में शास्त्र की यही एक सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत हुई—"जिसके द्वारा आत्म-परिबोध हो, आत्मा अहिंसा एवं संयम की साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, उस तत्त्व-ज्ञान को शास्त्र कहा जाता है।"

शास्त्र के नाम पर :

मानवता के सार्वभौम चिन्तन एवं विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों के कारण आज यह प्रश्न खड़ा हो गया है कि इन शास्त्रों का क्या होगा? विज्ञान की बात का उत्तर क्या है, इन शास्त्रों के पास?

पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ, जैसी कि हमने शास्त्र की परिभाषा समझी है, वह स्वयं में एक विज्ञान है, सत्य है। तो क्या विज्ञान, विज्ञान को चुनौती दे सकता है? सत्य, सत्य को चुनौती दे सकता है? नहीं! एक सत्य दूसरे सत्य को काट नहीं सकता, यदि काटता है, तो वह सत्य ही नहीं है। फिर यह मानना चाहिए कि जिन शास्त्रों को हमारा मानवीय चिन्तन तथा प्रत्यक्ष विज्ञान चुनौती देता है, वे शास्त्र नहीं हो सकते, बल्कि वे शास्त्र के नाम पर चलने वाले ग्रन्थ या किताबें मात्र हैं। चाहे वे जैन आगम हैं, या श्रुति-स्मृतियाँ और पुराण हैं, चाहे पिटक हैं या बाइबिल एवं कुरान हैं। मैं पुराने या नये—किन्हीं भी विचारों की अन्ध प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं करता। शास्त्र या श्रुति-स्मृति के नाम पर, आँख मूंदकर किसी चीज को सत्य स्वीकार कर लेना, मुझे सह्य नहीं है। मुझे ही क्या, किसी भी चिन्तक को सह्य नहीं है। और, फिर जो शास्त्र की सर्वमान्य व्यापक कसौटी है, उस पर वे खरे भी तो नहीं उतर रहे हैं।

जिन शास्त्रों ने धर्म के नाम पर 'पशुहिंसा'[3] एवं 'नर बलि' तक का प्रचार किया,[4]

---

१. प्रश्नव्याकरण, २।१-७
२. योग-बिन्दु प्रकरण, २।६
३. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ —मनुस्मृति, ५।३६
४. वाल्मीकि रामायण (शुनः शेप) बालकाण्ड, सर्ग ६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव-मानव के बीच में घृणा एवं उपेक्षा की दीवारें खड़ी कीं, क्या वह सत्यद्रष्टा ऋषियों का चिन्तन था? मानवजाति के ही एक अंग शूद्र के लिए कहा गया कि—वह जीवित श्मशान है,[1] उसकी छाया से भी बचना चाहिए।[2] तो क्या अखण्ड मानवीयता की अनुभूति वहाँ पर कुछ भी हुई होगी? जिस नारी ने मातृत्व का महान् गौरव प्राप्त करके समग्र मानव-जाति को अपने वात्सल्य से प्रीणित किया, उसके लिए यह कहना कि **"न स्त्रीभ्यः कश्चिदन्यद् वै पापीयस्तरमस्ति वै"**[3]—स्त्रियों से बढ़कर अन्य कोई दुष्ट नहीं है! क्या यह धर्म का अंग हो सकता है? वर्गसंघर्ष, जातिविद्वेष एवं साम्प्रदायिक घृणा के बीज बोने वाले ग्रन्थों ने जब मानव चेतना को खण्ड-खण्ड करके यह उद्घोष किया कि "अमुक सम्प्रदाय वाले का स्पर्श होने पर शुद्धि के लिए—**"सचैलो जलमाविशेत्"**[4] वस्त्र सहित पानी में डुबकी लगा लेनी चाहिए, तब क्या उनमें कहीं आत्म-परिबोध की झलक थी?

मैंने बताया कि ऋषि वह है, जो सत्य का साक्षात्द्रष्टा एवं चिन्तक है, प्राणिमात्र के प्रति जो विराट् आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति कर रहा है—क्या उस ऋषि या श्रमण के मुख से कभी ऐसी वाणी फूट सकती है? कभी नहीं! वेद, आगम और पिटक जहाँ एक ओर मैत्री का पवित्र उद्घोष कर रहे हैं, क्या उन्हीं के नाम पर, उन्हीं द्रष्टा ऋषि और मुनियों के मुख से मानव-विद्वेष की बात कहलाना शास्त्र का गौरव है?

शास्त्रों के नाम पर जहाँ एक ओर ऐसी बेतुकी बातें कही गई, वहाँ दूसरी ओर भूगोल-खगोल के सम्बन्ध में भी बड़ी विचित्र, अनर्गल एवं असम्बद्ध कल्पनाएँ खड़ी की गई हैं। पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र आदि के सम्बन्ध में इतनी मनोमोहक, किन्तु प्रत्यक्षबाधित बातें लिखी गई हैं कि जिनका आज के अनुसन्धानों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की कुछ धारणाएँ उस युग में व्यापक रूप से प्रचलित रही होंगी, श्रुतानुश्रुत परम्परा या अनुमान के आधार पर जैन-समाज उन्हें एक-दूसरे तक पहुँचाता आया होगा। पर क्या उन लोकप्रचलित मिथ्या धारणाओं को शास्त्र का रूप दिया जा सकता है? शास्त्र का उनके साथ क्या सम्बन्ध है? मध्यकाल के किसी विद्वान् ने संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थ के रूप में कुछ भी लिख दिया, या पुराने शास्त्रों में अपनी ओर से कुछ नया प्रक्षिप्त कर दिया और किसी कारण उसने वहाँ अपना नाम प्रकट नहीं किया, तो क्या वह शास्त्र हो गया? क्या उसे धर्म-शास्त्र मान लेना चाहिए? क्या उसे भगवान् या आप्त ऋषियों की वाणी मानकर शिरोधार्य कर लेना चाहिए?

उत्तरकालीन संकलन :

वैदिक साहित्य का इतिहास पढ़ने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्तरकाल में कितने बड़े-बड़े धर्मग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत और गीता, जिन्हें आज का धार्मिक मानस ऋषियों की पवित्र वाणी एवं भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश मान रहा है, वह कब, कैसे, किन परिस्थितियों में रचे गए, या परिवर्धित किए गए और रचनाकार एवं परिवर्धनकार ने भले ही विनम्र भाव से ऐसा किया हो, फलतः अपना नामोल्लेख भी नहीं किया हो, पर यह सब गलत हुआ है। मैं बताना चाहता हूँ कि जिस महाभारत को आज आप धर्मशास्त्र मानते हैं, और व्यासऋषि के मुख से निःसृत, गणपति द्वारा संकलित मानते हैं, वह प्रारम्भ में केवल छोटा-सा इतिहास ग्रन्थ था, जिसमें पांडवों

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र ४।३

२. यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राप्य विशुध्यति॥
—अत्रि० २८८-२८९, याज्ञ० २।३० (मिताक्षरा में उद्धृत)

३. महा० अनु० ३८।१२

४. बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्।
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्टवा सचैलो जलमाविशेत्॥ —स्मृतिचन्द्रिका, पृ० ११८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की विजय का वर्णन होने से वह 'जय' नाम से प्रख्यात था। जब इसका दूसरा संस्करण ई० पू० १७६ के पूर्व तैयार हुआ, तो उसका नाम भारत रखा गया, और बहुत समय बाद प्रक्षिप्त-अंशों की वृद्धि होते-होते वह महाभारत बन गया।[1] आज की गीता का समूचा पाठ, क्या सचमुच में ही कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया गया श्रीकृष्ण का उपदेश है, या बाद के किसी विद्वान् की परिवर्द्धित रचना या संकलन है? मनुस्मृति जो हिन्दुओं का मानव-धर्मशास्त्र कहलाता है, अपने आज के रूप में किस मनु की वाणी है? किसने उसे बनाया? ये तथ्य आज इतिहास से छिपे नहीं रहे हैं।[2]

मैं इन धर्मग्रन्थों का, जिनमें काफी अच्छा अंश जीवन निर्माण का भी है, किसी साम्प्रदायिक दृष्टि से विरोध नहीं कर रहा हूँ, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि मध्यकाल में जिस किसी विद्वान् ने, जो कुछ संस्कृत में लिख दिया या उसे कहीं प्रक्षिप्त कर दिया, उसे हम धर्मशास्त्र मानकर उसके खूंटे से अपनी बुद्धि को बाँध लें, यह उचित नहीं। उन ग्रन्थों में जो विशिष्ट चिन्तन एवं दर्शन है, समग्र मानव जाति के कल्याण का जो संदेश है, उसका मैं बहुत आदर करता हूँ, और इसीलिए उनका स्वाध्याय व प्रवचन भी करता हूँ। किन्तु, इस सम्बन्ध में इस वैचारिक प्रतिबद्धता को मैं उचित नहीं समझता कि उनमें जो कुछ लिखा है, वह अक्षरशः सत्य है।

उत्तरकाल में आगमों की संकलना :

मैं सत्य के सम्बन्ध में किसी विशेष चिन्तनधारा के प्रति कभी प्रतिबद्ध नहीं रहा, सदा उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र चिन्तन का पक्षपाती रहा हूँ, इसलिए जो बात वैदिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में कह सकता हूँ, वह जैन ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कहते हुए मुझे कोई संकोच नहीं है।

इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मैं इस तथ्य को मानता हूँ कि प्रत्येक धर्म परम्परा में समय-समय पर परिवर्तन होते आए हैं, सही के साथ कुछ गलत विचार भी आए हैं और यथावसर उनका परिष्कार भी हुआ है। इसी दिशा में जैन आगमों की मान्यता के सम्बन्ध में मतभेदों की एक लम्बी परम्परा भी मेरे समक्ष खड़ी है। उसमें कब, क्या, कितने परिवर्तन हुए, कितना स्वीकारा गया और कितना नकारा गया, इसका भी कुछ इतिहास हमारे सामने आज विद्यमान है।

नन्दी सूत्र, जिसे कि आप आगम मानते हैं और भगवान् के कहे हुए शास्त्रों की कोटि में गिनते हैं, वह भगवान् महावीर से काफी समय बाद की संकलना है। उसके लेखक या संकलनकर्ता आचार्य देववाचक थे। भगवान् महावीर और आचार्य देववाचक के बीच के सुदीर्घ काल में, देश में कितने बड़े-बड़े परिवर्तन आये, कितने भयंकर दुर्भिक्ष पड़े, राजसत्ता में कितनी क्रांतियाँ और परिवर्तन हुए, धार्मिक परम्पराओं में कितनी तेजी से परिवर्तन, परिवर्धन एवं संशोधन हुए, इसकी एक लम्बी कहानी है। किन्तु हम उस एक हजार वर्ष पश्चात् संकलित सूत्र को और उसमें उल्लिखित सभी शास्त्रों को भगवान् महावीर की वाणी स्वीकार करते हैं। यह भी माना जाता है कि उपांगों की संकलना महावीर के बहुत बाद में हुई, और प्रज्ञापना जैसे विशाल ग्रन्थ के रचयिता भी श्यामाचार्य के नाम से सुविश्रुत विद्वान् आचार्य भगवान् महावीर के बहुत बाद हुए हैं। दशवैकालिक और अनुयोग द्वार सूत्र भी क्रमशः आचार्य शय्यंभव और आर्यरक्षित की रचना सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि

---

१. (क) दिग्विजय पर्व, संभवतः १७६ ई० पू० से पहले का है। —भा० इ० रू० पृ० १००३
(ख) महाभारत का वर्तमान संस्करण सातवाहन युग में तैयार हुआ।
(ई० पू० १ ई० १ तक) भा० इ० रू० पृ० १००३

२. मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति सातवाहन युग की कृति है।
—भारतीय इतिहास की रूपरेखा (जयचन्द्र विद्यालंकार) भा०-२, पृ० १००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन आगमों में बहुत कुछ अंश जीवनस्पर्शी है, पर भगवान् महावीर से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है, यह निश्चित है।

मेरे बहुत से साथी इन उत्तरकालीन संकलनाओं को इसलिए प्रमाण मानते हैं कि इनका नामोल्लेख अंग साहित्य में हुआ है और अंग सूत्रों का सीधा सम्बन्ध महावीर से जुड़ा हुआ है। मैं समझता हूँ कि यह तर्क सत्य स्थिति को अपदस्थ नहीं कर सकता, हकीकत को बदल नहीं सकता। भगवती जैसे विशालकाय अंग सूत्र में महावीर के मुख से यह कहलाना कि—'जहा पण्णवणाए'—जैसा प्रज्ञापना में कहा है, यह किस इतिहास से संगत है? प्रज्ञापना, रायपसेणी और उववाई के उद्धरण भगवान् महावीर अपने मुख से कैसे दे सकते हैं? जबकि, उनकी संकलना बहुत बाद में हुई है।

इस तर्क का समाधान यह दिया जाता है कि बाद के लेखकों व आचार्यों ने अधिक लेखन से बचने के लिए संक्षिप्त रुचि के कारण स्थान-स्थान पर ऐसा उल्लेख कर दिया है। जब यह मान लिया है कि अंग आगमों में भी आचार्यों का अंगुलीस्पर्श हुआ है, उन्होंने संक्षिप्तीकरण किया है, तो यह क्यों नहीं माना जा सकता कि कहीं-कहीं कुछ मूल से बढ़ भी गया है, विस्तार भी हो गया है! मैं नहीं कहता कि उन्होंने कुछ ऐसा किसी गलत भावना से किया है, भले ही यह सब कुछ पवित्र प्रभुभक्ति एवं श्रुत महत्ता की भावना से ही हुआ हो, पर यह सत्य है कि जब घटाना संभव है, तो बढ़ाना भी संभव है। और, इस संभावना के साक्ष्य रूप प्रमाण भी आज उपलब्ध हो रहे हैं।

भूगोल-खगोल : महावीर की वाणी नहीं :

यह सर्व सम्मत तथ्य आज मान लिया गया है कि मौखिक परम्परा एवं स्मृति-दौर्बल्य के कारण बहुत-सा श्रुत विलुप्त हो गया है, तो यह क्यों नहीं माना जा सकता कि सर्वसाधारण में प्रचलित उस युग की कुछ मान्यताएँ भी आगमों के साथ संकलित कर दी गई हैं! मेरी यह निश्चित धारणा है कि ऐसा होना सम्भव है, और वह हुआ भी है।

उस युग में भूगोल, खगोल, ग्रह, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि के सम्बन्ध में कुछ मान्यताएँ आम प्रचलित थीं, कुछ बातें तो भारत के बाहरी क्षेत्रों में भी अर्थात् इस्लाम और ईसाई धर्मग्रन्थों में भी इधर-उधर के सांस्कृतिक रूपान्तर के साथ ज्यों की त्यों उल्लिखित हुई है, जो इस बात का प्रमाण है कि ये धारणाएँ सर्वसामान्य थीं। जो जैनों ने भी ली, पुराण-कारों ने भी ली और दूसरों ने भी! उस युग में उनके परीक्षण का कोई साधन नहीं था, इसलिए उन्हें सत्य ही मान लिया गया और वे शास्त्रों की पंक्तियों के साथ चिपट गईं! पर बाद के उस वर्णन को भगवान् महावीर के नाम पर चलाना क्या उचित है? जिस चन्द्रलोक के धरातल के चित्र आज समूचे संसार के हाथों में पहुँच गए हैं और अपोलो-८ के यात्रियों ने आँखों से देखकर बता दिया है कि वहाँ पहाड़ है, ज्वालामुखी के गर्त हैं, श्री-हीन उजड़े भूखण्ड हैं, उस चन्द्रमा के लिए कुछ पुराने धर्मग्रन्थों की दुहाई देकर आज भी यह मानना कि वहाँ सिंह, हाथी, बैल और घोड़ों के रूप में हजरों देवता हैं, और वे सब मिल कर चन्द्र विमान को वहन कर रहे हैं;[1] कितना असंगत एवं कितना अबौद्धिक है? क्या यह महावीर की वाणी, एक सर्वज्ञ की बानी हो सकती है? जिन गंगा आदि नदियों की इंच-इंच भूमि आज नाप ली गई है, उन नदियों को आज भी लाखों मील के लम्बे-चौड़े विस्तार वाली बताना, क्या यह महावीर की सर्वज्ञता एवं भगवत्ता का उपहास नहीं है?

आज हमें नये सिरे से चिंतन करना चाहिए। यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर सत्य का सही मूल्यांकन करना चाहिए। दूध और पानी की तरह यह अलग-अलग कर देना चाहिए कि भगवान् की वाणी क्या है? महावीर के वचन क्या हैं? एवं, उससे

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ज्योतिषचक्राधिकार, चन्द्रऋद्धि वर्णन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरकालीन विद्वानों की संकलना क्या है ? यह साहस आज करना होगा, कतराने और सकुचाने से सत्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकेगा। आज का तर्क प्रधान युग निर्णायक उत्तर माँगता है और यह उत्तर धर्मशास्त्रों के समस्त प्रतिनिधियों को देना ही होगा।

मैं समझता हूँ कि आज के युग में भी आप के मन में तथाकथित शास्त्रों के अक्षर-अक्षर को सत्य मानने का व्यामोह है, तो महावीर की सर्वज्ञता को अप्रमाणित होने से आप कैसे बचा सकेंगे ? यदि महावीर की सर्वज्ञता को प्रमाणित रखना है, तो फिर यह विवेकपूर्वक सिद्ध करना ही होगा कि महावीर की वाणी क्या है ? शास्त्र का यथार्थ स्वरूप क्या है ? और, वह शास्त्र कौन-सा है ? अन्यथा आनेवाली पीढ़ी कहेगी कि महावीर को भूगोल-खगोल के सम्बन्ध में कुछ भी अता-पता नहीं था, उन्हें स्कूल के एक साधारण विद्यार्थी जितनी भी जानकारी नहीं थी !

शास्त्रों की छंटनी :

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है, हम कौन होते हैं, जो महावीर की वाणी की छँटनी कर सकें ? हमें क्या अधिकार है कि शास्त्रों का फैसला कर सकें कि कौन शास्त्र है और कौन नहीं ?

उत्तर में निवेदन है, हम महावीर के उत्तराधिकारी हैं, भगवान् का गौरव हमारे अन्तर्मन में समाया हुआ है, भगवान् की अपभ्राजना हम किसी भी मूल्य पर सहन नहीं कर सकते। हम त्रिकाल में भी यह नहीं मान सकते कि भगवान् ने असत्य प्ररूपणा की है। अतः जो आज प्रत्यक्ष में असत्य प्रमाणित हो रहा है, या हो सकता है, वह भगवान् का वचन नहीं हो सकता। इसलिए हमें पूरा अधिकार है कि यदि कोई भगवान् को, भगवान् की वाणी को चुनौती देता है, तो हम यथार्थ सत्य के आधार पर उसका प्रतिरोध करें, उस चुनौती का स्पष्ट उत्तर दें, कि सचाई क्या है ?

विज्ञान ने हमारे शास्त्रों की प्रामाणिकता को चुनौती दी है। हमारे कुछ बुजुर्ग कहे जाने वाले विद्वान् मुनिराज या श्रावक जिस ढंग से उस चुनौती का उत्तर दे रहे हैं, वह तर्क-संगत नहीं है, उनका कहना है कि "असली चन्द्रमा बहुत दूर है।" कुछ यह भी कहते हैं कि "यह सब झूठ है वैज्ञानिकों का, नास्तिकों का षड्यन्त्र है, केवल धर्म की निन्दा करने के लिए।" मैं समझता हूँ, इस प्रकार के उत्तर निरे मजाक के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिस हकीकत को प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों के वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं, बाल की खाल उतारने वाले तार्किक भी आदरपूर्वक मान्य कर रहे हैं, धरती पर रह रहे लाखों लोगों ने भी टेलिवीजन के माध्यम से चन्द्र तक आने-जाने का दृश्य देखा है, उस प्रत्यक्ष-सत्य को हम यों झुठला नहीं सकते। और न नकली-असली चन्द्रमा बताने से ही कोई बात का उत्तर हो सकता है। प्रतिरोध करने का यह तरीका गलत है, उपहासास्पद है। शास्त्रों की गरिमा को, अब इस हिलती हुई दीवार के सहारे अधिक दिन टिकाया नहीं जा सकता।

मैं पूछता हूँ, आपको शास्त्रों की परख करने का अधिकार क्यों नहीं है ? कभी एक परम्परा थी, जो चौरासी आगम मानती थी, ग्रन्थों में उसके प्रमाण विद्यमान हैं। फिर एक परम्परा खड़ी हुई, जो चौरासी में से छँटनी करती-करती पैंतालीस तक आकर ठहरी। भगवान् महावीर के लगभग दो हजार वर्ष बाद फिर एक परम्परा ने जन्म लिया, जिसने पैंतालीस को भी अमान्य ठहराया और बत्तीस आगम माने। मैं पूछता हूँ— धर्मवीर लोंकाशाह ने, पैंतालीस आगमों में से इकत्तीस या बत्तीस छाँट लिए, क्या वे कोई बहुत बड़े श्रुतधर आचार्य थे ? क्या उन्हें कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ था ? क्या उन्हें कोई ऐसी देववाणी हुई थी, अमुक शास्त्र, शास्त्र है, और अमुक नहीं। फिर उन्होंने जो यह निर्णय किया और जिसे आज आप मान रहे हैं, वह किस आधार पर था ? सिर्फ अपनी प्रज्ञा एवं दृष्टि से ही तो यह छँटनी उन्होंने की थी ! तो आज क्या वह प्रज्ञा और वह दृष्टि लुप्त हो गई है ? क्या आज किसी विद्वान् में वह निर्णायक शक्ति नहीं रही ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या साहस नहीं है? अथवा वे अपनी श्रद्धा-प्रतिष्ठा के भय से भगवद्वाणी का यह उपहास देखते हुए भी मौन हैं? मैं साहस के साथ कह देना चाहता हूँ कि आज वह निर्णायक घड़ी आ पहुँची है कि 'हाँ' या 'ना' में स्पष्ट निर्णय करना होगा। पौराणिक प्रतिबद्धता एवं शाब्दिक व्यामोह को तोड़ना होगा, और तर्क की कसौटी पर परख कर यह निर्णय करना ही होगा कि भगवद्वाणी क्या है? और, उसके बाद का अंश क्या है?

विचार-प्रतिबद्धता को तोड़िए :

किसी भी परम्परा के पास ग्रन्थ या शास्त्र कम-अधिक होने से जीवन के आध्यात्मिक विकास में कोई अन्तर आने वाला नहीं है। यदि शास्त्र कम रह गए, तो भी आपका आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊँचा हो सकता है, विकसित हो सकता है, और शास्त्र का अम्बार लगा देने पर भी आप बहुत पिछड़े हुए रह सकते हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए जिस चिंतन और दृष्टि की आवश्यकता है, वह तो अन्तर से जागृत होती है। जिसकी दृष्टि सत्य के प्रति जितनी आग्रह रहित एवं उन्मुक्त होगी, जिसका चिंतन जितना आत्ममुखीन होगा, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास कर सकेगा।

मैंने देखा है, अनुभव किया है—ग्रन्थों एवं शास्त्रों को लेकर हमारे मानस में एक प्रकार की वासना, एक प्रकार का आग्रह, जिसे हठाग्रह ही कहना चाहिए, पैदा हो गया है। आचार्य शंकर ने विवेक चूड़ामणि में कहा है—देह वासना एवं लोकवासना के समान शास्त्र-वासना भी यथार्थ ज्ञान की प्रतिबन्धक है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे **"दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद्यो सतामपि"**,—कहकर दृष्टिरागी के लिए सत्य की अनुसंधित्सा को बहुत दुर्लभ बताया है।

हम अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद विचार पद्धति की बात-बात पर जो दुहाई देते हैं, वह आज के राजनीतिकों की तरह केवल नारा नहीं होना चाहिए, हमारी दृष्टि सत्य-दृष्टि बननी चाहिए, ताकि हम स्वतंत्र अप्रतिबद्ध प्रज्ञा से कुछ सोच सकें। जब तक दृष्टि पर से अंधश्रद्धा का चश्मा नहीं उतरेगा, जब तक पूर्वाग्रहों के खूँटे से हमारा मानस बंधा रहेगा, तब तक हम कोई भी सही निर्णय नहीं कर सकेंगे। इसलिए युग की वर्तमान परिस्थितियों का तकाजा है कि हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नये सिरे से सोचें! प्रज्ञा की कसौटी हमारे पास है, और यह कसौटी भगवान् महावीर एवं गणधर गौतम ने, जो स्वयं सत्य के साक्षात्द्रष्टा एवं उपासक थे, बतलाई है—**"पन्ना समिक्खए धम्मं"**?[1] प्रज्ञा ही धर्म की, सत्य की समीक्षा कर सकती है, उसी से तत्त्व का निर्णय किया जा सकता है।

शास्त्र-स्वर्ण की परख :

प्रज्ञा एक कसौटी है, जिस पर शास्त्र रूप स्वर्ण की परख की जा सकती है। और, वह परख होनी ही चाहिए। हममें से बहुत से साथी हैं, जो कतराते हैं कि कहीं परीक्षा करने से हमारा सोना पीतल सिद्ध न हो जाए! मैं यह कहना चाहता हूँ कि इसमें कतराने की कौन-सी बात है? यदि सोना वस्तुतः सोना है, तो वह सोना ही रहेगा, और यदि पीतल है, तो उस पर सोने का भ्रम आप कब तक पालते रहेंगे? सोने और पीतल को अलग-अलग होने दीजिए—इसी में आप की प्रज्ञा की कसौटी का चमत्कार है।

जैनागमों के महान् टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भगवती की टीका की पीठिका में एक बहुत बड़ी बात कही है, जो हमारे लिए संपूर्ण भगवद्-वाणी की कसौटी हो सकती है।

प्रश्न है कि आप्त कौन है? और उनकी वाणी क्या है? आप्त भगवान् क्या उपदेश करते हैं?

उत्तर में कहा गया है—जो मोक्ष का अंग है, मुक्ति का साधन है, आप्त भगवान्

---

१. उत्तराध्ययन, २३।२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी यथार्थ सत्य का उपदेश करते हैं। आत्मा की मुक्ति के साथ जिसका प्रत्यक्ष या पारम्परिक कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका उपदेश भगवान् कभी नहीं करते। यदि उसका भी उपदेश करते हैं, तो उनकी आप्तता में दोष आता है।[1]

यह एक बहुत सच्ची कसौटी है, जो आचार्य अभयदेव ने हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। इससे भी पूर्व लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी के महान् तार्किक, जैन तत्त्वज्ञान को दर्शन का रूप देनेवाले आचार्य सिद्धसेन ने भी शास्त्र की एक कसौटी निश्चित करते हुए कहा था—

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥"[2]

"जो वीतराग—आप्त पुरुषों के द्वारा जाना परखा गया है, जो किसी अन्य वचन के द्वारा अपदस्थ—हीन नहीं किया जा सकता और जो तर्क तथा प्रमाणों से खण्डित नहीं हो सकने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त से सार्व अर्थात् सार्वजनीन—सर्वजन हितकारी होता है एवं अध्यात्म साधना के विरुद्ध जाने वाली विचार सरणियों का निरोध करता है—वही सच्चा शास्त्र है।"

तार्किक आचार्य ने शास्त्र की जो कसौटी की है, वह आज भी अमान्य नहीं की जा सकती। वैदिक परम्परा के प्रथम दार्शनिक कपिल एवं महान् तार्किक गौतम ने भी जब शब्द को प्रमाण कोटि में माना, तो पूछा गया—शब्द प्रमाण क्या है? तो कहा—'आप्त का उपदेश शब्द प्रमाण है!' आप्त कौन है? तत्त्व का यथार्थ उपदेष्टा आप्त है।[3] जिसके वचन में पूर्वापर विरोध, असंगति-विसंगति नहीं होती, और जो वचन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध नहीं जाता, खण्डित नहीं होता—वही आप्त-वचन है। आचार्य के उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि किसका, क्या वचन मान्य हो सकता है, और क्या नहीं। जो वचन यथार्थ नहीं है, सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है, वह भले कितना ही विराट् एवं विशाल ग्रन्थ क्यों न हो, उसे 'आप्त-वचन' कहने से इन्कार कर दीजिए। इसी में आप्त की, और आपकी प्रामाणिकता है, प्रतिष्ठा है।

हम स्वयं निर्णय करें :

तर्कशास्त्र की ये सूक्ष्म बातें मैंने आपको इसलिए बताई हैं कि हम अपनी प्रज्ञा को जागृत करें और स्वयं परखें कि वस्तुतः शास्त्र क्या है, उसका प्रयोजन क्या है? और फिर यह भी निर्णय करें कि जो अपनी परिभाषा एवं प्रयोजन के अनुकूल नहीं है, वह शास्त्र, शास्त्र नहीं है। उसे और कुछ भी कह सकते हैं—ग्रन्थ, रचना, कृति कुछ भी कहिए, पर हर किसी ग्रन्थ को भगवद्-वाणी या आप्त-वचन नहीं कह सकते।

शास्त्र की एक कसौटी, जो उत्तराध्ययन सूत्र से मैंने आपको बतलाई है, जिसमें कहा गया है—तप, क्षमा एवं अहिंसा की प्रेरणा जगाकर आत्मदृष्टि को जागृत करने वाला शास्त्र है। यह इतनी श्रेष्ठ और सही कसौटी है कि इसके आधार पर भी यदि हम वर्तमान में शास्त्रों का निर्णय करें, तो बहुत ही सही दिशा प्राप्त कर सकते हैं।

बहुत से जिज्ञासुओं और मेरे साथी मुनियों के समक्ष मैंने जब भी कभी अपने ये विचार

---

१. नहि आप्तः साक्षाद् पारंपर्येण वा यत्र मोक्षाङ्गं तद् प्रतिपादयितुमुत्सहते अनाप्तत्व-प्रसंगात्।
—आचार्य अभयदेव, भगवती वृत्ति, १।१

२. न्यायावतार, ९

३. आप्तोपदेशः शब्दः—सांख्यदर्शन १।१०१
—न्यायदर्शन १।१।७
आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा।—यथादृष्टस्यार्थस्य
चिख्यापयषिया प्रयुक्त उपदेष्टा....।—न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तर्क उपस्थित किए हैं, तो वे कतराने-से लगते हैं और कहते हैं, "बात तो ठीक है, पर यह कैसे कहें कि अमुक आगम को हम शास्त्र नहीं मानते ! इससे समाज में बहुत हलचल मच जाएगी, श्रावकों की श्रद्धा खत्म हो जाएगी, धर्म का ह्रास हो जाएगा।" मैं जब उनकी उक्त रुढ़िचुस्त एवं भीरुता भरी बातें सुनता हूँ, तो मन जरा झुँझला उठता है—यह क्या कायरता है ? यह कैसी दुर्बल मनोवृत्ति है हमारे में ? हम समझते हैं कि बात सही है, पर कह नहीं सकते। चूँकि लोग क्या कहेंगे ? मैं समझता हूँ—इसी दब्बू मनोवृत्ति ने हमारे आदर्शों को गिराया है, हमारी संस्कृति का पतन किया है। यही मनोवृत्ति वर्तमान में पैदा हुई शास्त्रों के प्रति अनास्था एवं धर्म विरोधी भावना की जिम्मेदार है।

भगवद्-भक्ति या शास्त्र-मोह :

बहुत वर्ष पहले की बात है, मैं देहली में था। वहाँ के लाला उमरावमलजी एक बहुत अच्छे शास्त्रज्ञ, साथ ही तर्कशील श्रावक थे। उनके साथ प्रायः अनेक शास्त्रीय प्रश्नों पर चर्चा चलती रहती थी। एक बार प्रसंग चलने पर मैंने कहा—"लालाजी ! मैं कुछ शास्त्रों के सम्बन्ध में परम्परा से भिन्न दृष्टि रखता हूँ ! मैं यह नहीं मानता कि इन शास्त्रों का अक्षर-अक्षर भगवान् ने कहा है। शास्त्रों में कुछ अंश ऐसे भी हैं, जो भगवान् की सर्वज्ञता के साक्षी नहीं है। भूगोल-खगोल को ही ले लीजिए ! यह सब क्या है ?"

मैंने यह कहा तो लालाजी एकदम चौंके और बोले—"महाराज ! आपने यह बात कैसे कही ? ऐसा कैसे हो सकता है ?"

इस पर मैंने उनके समक्ष शास्त्रों के कुछ स्थल रखे, साथ ही लम्बी चर्चा की, और फिर उनसे पूछा—"क्या ये सब बातें एक सर्वज्ञ भगवान् की कही हुई हो सकती हैं ? हो सकती हैं, तो इनमें परस्पर असंगतता एवं विरोध क्यों है ? सर्वज्ञ की वाणी कभी असंगत नहीं हो सकती, और यदि असंगत है, तो वह सर्वज्ञ की वाणी नहीं हो सकती।"

लालाजी बुजुर्ग होते हुए भी जड़ मस्तिष्क नहीं थे, श्रद्धा प्रधान होते हुए भी तर्कशून्य नहीं थे। उन्होंने लम्बी तत्त्वचर्चा के बाद अन्त में मुक्त मन से कहा—"महाराज ! इन चाँद-सूरज के शास्त्रों से भगवान् का सम्बन्ध जितना जल्दी तोड़ा जाए, उतना ही अच्छा है। वर्ना इन शास्त्रों की श्रद्धा बचाने गए, तो कहीं भगवान् की श्रद्धा से ही हाथ न धो बैठें !"

मैं आपसे भी यही पूछना चाहता हूँ कि आप इन चंद्र, सूर्य, सागर एवं सुमेरु की चर्चा करने वाले शास्त्रों को महत्त्व देना चाहते हैं या भगवान् को ? आपके मन में भगवद्-भक्ति का उद्रेक है या शास्त्र का मोह ?

आप कहेंगे, शास्त्र नहीं रहा, तो भगवान् का क्या पता चलेगा ? शास्त्र ही तो भगवान् का ज्ञान कराते हैं।

बात ठीक है, शास्त्रों से ही भगवान् का ज्ञान होता है। परन्तु, कौन से शास्त्रों से ? हम आत्मा हैं और भगवान् परमात्मा हैं। आत्मा परमात्मा में क्या अन्तर है ? अशुद्ध और शुद्ध स्थिति का ही तो अन्तर है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही भगवान् है, भगवान् का स्वरूप है। इस प्रकार भगवान् का स्वरूप आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है। और, जो शास्त्र आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने वाला है, आत्मा से परमात्मा होने का मार्ग बताने वाला है, जीवन की पवित्रता और श्रेष्ठता का पथ दिखाने वाला है, वास्तव में वही धर्मशास्त्र है, और उसी धर्मशास्त्र की हमें आवश्यकता है। किन्तु इसके विपरीत जो शास्त्र आत्मस्वरूप की जगह आत्म-विभ्रम की विरूपता खड़ी कर देता है, हमें अन्तर्मुख नहीं, अपितु बहिर्मुख बनाता है, उसे शास्त्र की कोटि में रखने से क्या लाभ है ? वह तो उलटा हमें भगवत् श्रद्धा से दूर खदेड़ता है, मन को शंकाकुल बनाता है, और प्रबुद्ध लोगों को हमारे शास्त्रों पर, हमारे भगवान् पर अँगुली उठाने का मौका देता है। आप तटस्थ दृष्टि से देखिए कि ये भूगोल-खगोल सम्बन्धी चर्चाएँ, ये चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत और समुद्र आदि के लम्बे-चौड़े वर्णन करने वाले शास्त्र हमें आत्मा को बन्धन मुक्त करने के लिए क्या प्रेरणा देते हैं ? आत्मविकास का कौन-सा मार्ग दिखाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं ? इन वर्णनों से हमें तप, त्याग, क्षमा, अहिंसा आदि का कौन-सा उपदेश प्राप्त होता है ? जिनका हमारी आध्यात्मिक चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं, आत्म-साधना से जिनका कोई वास्ता ही नहीं, हम उन्हें शास्त्र मानें तो क्यों ? किस आधार पर ?

मैंने प्रारम्भ में एक बात कही थी कि जैन एवं वैदिक-परम्परा के अनेक ग्रन्थों का निर्माण या नवीन संस्करण ईसा पूर्व की पहली शताब्दी से लेकर ईसा पश्चात् चौथी-पाँचवी शताब्दी तक होता रहा है। उस युग में जो भी प्राकृत या संस्कृत में लिखा गया, उसे धर्म-शास्त्र की सूची में चढ़ा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव की स्वतन्त्र तर्कणा एक तरह से कुण्ठित हो गई और श्रद्धावनत होकर मानव ने हर किसी ग्रन्थ को शास्त्र एवं आप्त-वचन मान लिया। भारत की कोई भी परंपरा इस बौद्धिक विकृति से मुक्त नहीं रह सकी। श्रद्धाधिक्य के कारण, हो सकता है, प्रारम्भ में यह भूल कोई भूल प्रतीत न हुई हो, पर आज इस भूल के भयंकर परिणाम हमारे समक्ष आ रहे हैं। भारत की धार्मिक प्रजा उन तथाकथित धर्म-शास्त्रों की जकड़ में इस प्रकार प्रतिबद्ध हो गई है कि न कुछ पकड़ते बनता है और न कुछ छोड़ते बनता है।

मेरा यह कथन शास्त्र की अवहेलना या अपभ्राजना नहीं है, किन्तु एक सत्य हकीकत है, जिसे जानकर, समझ कर हम शास्त्र के नाम पर अन्धी शास्त्र प्रतिबद्धता से मुक्त हो जाएँ। जैसा मैंने कहा—शास्त्र तो सत्य का उद्घाटक होता है। असत्य धारणाओं का संकलन, शास्त्र नहीं होता। मैं तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की वाणी को पवित्र मानता हूँ, महाश्रमण महावीर की वाणी को आत्म-स्पर्शी मानता हूँ—इसलिए कि वह सत्य है, ध्रुव है। किन्तु उनके नाम पर रचे गये ग्रन्थों को, जिनमें कि अध्यात्म चेतना का कुछ भी स्पर्श नहीं है, सत्यं, शिवं की कुछ भी अनुभूति नहीं है, मैं उन्हें शास्त्र नहीं मानता।

कुछ मित्र मुझे अर्ध-नास्तिक कहते हैं, मिथ्यात्वी भी कहते हैं। मैं कहता हूँ, अर्ध-नास्तिक का क्या मतलब ? पूरा ही नास्तिक क्यों न कह देते ? यदि सत्य का उद्घाटन करना, उसे मुक्त मन से स्वीकार कर लेना, नास्तिकता है, तो वह नास्तिकता अभिशाप नहीं, वरदान है।

मेरा मन महावीर के प्रति अटूट श्रद्धा लिए हुए है, सत्यद्रष्टा ऋषियों के प्रति एक पवित्र भावना लिए हुए है, और यह श्रद्धा ज्यों-ज्यों चिंतन की गहराई का स्पर्श करती है, त्यों-त्यों अधिकाधिक प्रबल, तथा दृढ़ होती जाती है। मैं आज भी उस परम ज्योति को अपने अन्तरंग में देख रहा हूँ और उस पर मेरा मन सर्वतोभावेन समर्पित हो रहा है। भगवान् मेरे लिए ज्योति-स्तम्भ हैं, उनकी वाणी का प्रकाश मेरे जीवन के कण-कण में समाता जा रहा है, किन्तु भगवान् की वाणी क्या है, और क्या नहीं, यह मैं अपने अन्तर्विवेक के प्रकाश में स्पष्ट देखकर चल रहा हूँ। भगवान् की वाणी वह है, जो अन्तर् में सत्य श्रद्धा की ज्योति जगाती है, अन्तर् में सुप्त ईश्वरत्व को प्रबुद्ध करती है, हमारी अन्तश्चेतना को व्यापक एवं विराट् बनाती है। भगवद्वाणी की स्फुरणा आत्मा की गति-प्रगति से सम्बन्धित है, सूर्य, चन्द्र आदि की गति से नहीं। सोने, चाँदी के पहाड़ों की ऊँचाई-नीचाई से नहीं, नदी-नालों एवं समुद्रों की गहराई-लम्बाई से नहीं। ऋषियों की वाणी विश्वमैत्री एवं विराट् चेतना की प्रतिनिधि है, उसमें वर्गसंघर्ष, जातिविद्वेष एवं असत् कल्पनाओं के स्वर नहीं हो सकते। भगवान् की वाणी में जो शाश्वत सत्य का स्वर मुखरित हो रहा है, उसको कोई भी विज्ञान, कोई भी प्रयोग चुनौती नहीं दे सकता, कोई भी सत्य का शोधक उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। किन्तु हम इस अज्ञान में भी न रहें कि भगवान् की वाणी के नाम पर, आप्त-वचनों के नाम पर, आज जो कुछ भी लिखा हुआ प्राप्त होता है, वह सब कुछ साक्षात् भगवान् की वाणी है, जो कुछ लिपिबद्ध है वह अक्षर-अक्षर भगवान् का ही कहा हुआ है। प्राकृत एवं अर्धमागधी के हर किसी ग्रन्थ पर महावीर की मुद्रा लगा देना, महावीर की भक्ति नहीं, अवहेलना है। यदि हम सच्चे श्रद्धालु हैं, भगवद्भक्त हैं, तो हमें इस अवहेलना से मुक्त होना चाहिए। और यह विवेक कर लेना चाहिए कि जो विचार, जो तथ्य, जो वाणी सिर्फ भौतिक जगत् के विश्लेषण एवं विवेचन से संबंधित है, साथ ही प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित भी है, वह भगवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की वाणी नहीं है, वह हमारा मान्य शास्त्र नहीं है। हाँ, वह आचार्यों द्वारा रचित या संकलित ग्रन्थ, काव्य या साहित्य कुछ भी हो सकता है, किन्तु शास्त्र नहीं।

मैं समझता हूँ, मेरी यह बात आपके हृदय में मुश्किल से उतरेगी। आप गहरा ऊहापोह करेंगे। कुछ तो, मुझे कुछ का कुछ भी कहेंगे। इसकी मुझे कुछ भी चिंता नहीं है। सत्य है कि आज के उलझे हुए प्रश्नों का समाधान इसी दृष्टि से हो सकता है। मैंने अपने चिन्तन-मनन से समाधान पाया है, और अनेक जिज्ञासुओं को भी दिया है, मैं तो मानता हूँ कि इसी समाधान के कारण आज भी मेरे मन में महावीर एवं अन्य ऋषि-मुनियों के प्रति श्रद्धा का निर्मल स्रोत उमड़ रहा है, मेरे जीवन का कण-कण आज भी सहज श्रद्धा के रस से आप्लावित हो रहा है। और मैं तो सोचता हूँ, मेरी यह स्थिति उन तथाकथित श्रद्धालुओं से अधिक अच्छी है, जिनके मन में तो ऐसे कितने ही प्रश्न सन्देह में उलझ रहे हैं, किन्तु वाणी में शास्त्र-श्रद्धा की धुंआधार गर्जना हो रही है। जिनके मन में केवल परम्परा के नाम पर ही कुछ समाधान हैं, जिनकी बुद्धि पर इतिहास की अज्ञानता के कारण विवेक-शून्य श्रद्धा का आवरण चढ़ा हुआ है, उनकी श्रद्धा कल टूट भी सकती है, और न भी टूटे तो कोई उसकी श्रेष्ठता मैं नहीं समझता। किन्तु विवेकपूर्वक जो श्रद्धा जगती है, चिन्तन से स्फुरित होकर जो ज्योति प्रकट होती है, उसीका अपने और जगत् के लिए कुछ मूल्य है। उस मूल्य की स्थापना आज नहीं, तो कल होगी, अवश्य ही होगी।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि शास्त्रों का सही अभिधान ही हमारे जीवन की पथ-दिशा प्रशस्त करता है। और, पर्याय क्रम से ये शास्त्र ही हमारे धर्म के आधार भी हैं, उसकी सही कसौटी भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परख धर्म का शास्त्र-निकष है,
किन्तु, शास्त्र वह कौन, कहाँ है?
शास्त्र वही है, दया, क्षमा--
त्याग, तपस् की ज्योति जहाँ है।।

०

शब्दों के जंगल में मानव,
आदि-काल से भटक रहा है।
भाव-बोध का सत्य, खेद है--
शब्द-जाल में अटक रहा है।।

--उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६

उत्सर्ग और अपवाद : दोनों ही मार्ग

जैन-साधना :

जैन संस्कृति की साधना, आत्म-भाव की साधना है, मनोविकारों के विजय की साधना है। वीतराग प्ररूपित धर्म में साधना का शुद्ध लक्ष्य है—मनोगत विकारों को पराजित कर सर्वतोभावेन आत्मविजय की प्रतिष्ठा। अतएव जैनधर्म की साधना का आदिकाल से यही महाघोष रहा है कि एक (आत्मा का अशुद्ध भाव) के जीत लेने पर पाँच—क्रोधादि चार कषाय और मन जीत लिए गए, और इन पाँचों के जीत लिए जाने पर दश (मन, चार कषाय और पाँच इन्द्रिय) जीत लिए गए। इस प्रकार दश शत्रुओं को जीत कर मैंने, जीवन के समस्त शत्रुओं को सदा के लिए जीत लिया है।[1]

जैन-साधना का संविधान :

'जैन-शब्द 'जिन' शब्द से बना है। जो भी जिन का उपासक है, वह जैन है। जिन के उपासक का अर्थ है—जिनत्व-भाव का साधक। राग-द्वेषादि विकारों को सर्वथा जीत लेना जिनत्व है। अतः जो राग-द्वेष रूप विकारों को जीतने के लिए प्रयत्नशील है, कुछ को जीत चुका है, और कुछ को जीत रहा है, अर्थात् जो निरन्तर शुद्ध जिनत्व की ओर गतिशील है, वह जैन है।

अस्तु निजत्व में जिनत्व की प्रतिष्ठा करना ही जैन-धर्म है, जैन-साधना है। यही कारण है कि जैन-धर्म बाह्य विधि-विधानों एवं क्रिया-काण्डों पर आग्रह रखता हुआ भी, आग्रह नहीं रखता है, अर्थात् दुराग्रह नहीं रखता है। साधना के नियमोपनियमों का आग्रह रखना एक बात है, और दुराग्रह रखना दूसरी बात है, यह ध्यान में रखने जैसा है। साधना के लिए विधि-निषेध आवश्यक हैं, अतीव आवश्यक हैं। उनके बिना साधना का कुछ अर्थ नहीं। फिर भी वे गौण हैं, मुख्य नहीं। मुख्य है—समाधि-भाव, समभाव, आत्मा की शुद्धि। अन्तर्मन शान्त रहे, कषायभाव का शमन हो, चंचलता—उद्विग्नता जैसा किसी प्रकार का क्षोभ न हो, सहज शुद्ध शान्ति एवं समाधि का महासागर जीवन के कण-कण में लहराता रहे, फिर भले ही वह किसी भी तरह हो, किसी भी साधन से हो,[2] यह है जैन साधना का अजर-अमर संविधान। इसी संविधान की छाया में जैन-साधना के यथा देश-काल विभिन्न रूप अतीत में बदलते रहे हैं, वर्तमान में बदल रहे हैं और भविष्य में बदलते रहेंगे। इसके लिए जैन तीर्थंकरों का शासन-भेद ध्यान में रखा जा सकता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर एककार्य-प्रपन्न थे, एक ही लक्ष्य रख रहे थे, फिर भी दोनों में विशेष विभेद था। दोनों ही महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित साधना का अन्तःप्राण बन्धन-मुक्ति एक था, किन्तु बाहर में चातुर्याम और पंच

---

१. एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्व-सत्तू जिणामहं॥
—उत्तराध्ययन २३, ३६

२. दोसा जेण निरुंभंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व॥
—निशीथ भाष्य गा० ५२५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा के रूप में धर्म-भेद तथा अचेलक और सचेलक के रूप में लिंगभेद था, यह इतिहास का एक परम तथ्य है।[3]

साधना : एक सरिता :

जैन-धर्म की साधना विधिवाद और निषेधवाद के एकान्त अतिरेक का परित्याग कर दोनों के मध्य में से होकर बहने वाली सरिता है। सरिता को अपने प्रवाह के लिए दोनों कूलों के सम्बन्धातिरेक से बचकर यथावसर एवं यथास्थान दोनों का यथोचित स्पर्श करते हुए मध्य में प्रवहमान रहना आवश्यक है। किसी एक कूल की ओर ही सतत बहती रहने वाली सरिता न कभी हुई है, न है, और न कभी होगी। साधना की सरिता का भी यही स्वरूप है। एक ओर विधिवाद का तट है, तो दूसरी ओर निषेधवाद का। दोनों के मध्य में से बहती है, साधना की अमृत सरिता। साधना की सरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जहाँ दोनों का स्वीकार आवश्यक है, वहाँ दोनों के अतिरेक का परिहार भी आवश्यक है। विधिवाद और निषेधवाद की इति से बचकर यथोचित विधि-निषेध का स्पर्शकर समिति-रूप में बहने वाली साधना की सरिता ही अन्ततः अपने अजर-अमर अनन्त साध्य में विलीन हो सकती है।

उत्सर्ग और अपवाद :

साधना की सीमा में प्रवेश पाते ही साधना के दो अंगों पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—उत्सर्ग तथा अपवाद। ये दोनों अंग साधना के प्राण हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाने पर साधना अधूरी है, विकृत है, एकांगी है, अकान्त है। जीवन में एकान्त कभी कल्याणकर नहीं हो सकता। क्योंकि वीतराग-देव के अक्षुण्ण पथ में एकान्त मिथ्या है, अहित है, अशुभंकर-है। मनुष्य द्विपद प्राणी है, अतः वह अपनी यात्रा दोनों पदों से ही भली-भाँति कर सकता है। एक पद का मनुष्य लंगड़ा होता है। ठीक, साधना भी अपने दो पदों से ही सम्यक् प्रकार से गति कर सकती है। उत्सर्ग और अपवाद साधना के दो चरण हैं। इनमें से एक चरण का भी अभाव, यह सूचित करेगा कि साधना पूरी नहीं, अधूरी है। साधक के जीवन-विकास के लिए उत्सर्ग और अपवाद आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य भी है। साधक की साधना के महापथ पर जीवन-रथ को गतिशील एवं विकासोन्मुख रखने के लिए—उत्सर्ग और अपवाद-रूप दोनों चक्र सशक्त तथा सक्रिय रहने चाहएँ—तभी साधक अपनी साधना द्वारा अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि कर सकता है।

उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा :

उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा बहुत गंभीर एवं विस्तृत है। अतः सर्वप्रथम लंबी चर्चा में न जाकर हम प्राचीन आचार्यों की धारणा के अनुसार संक्षेप में उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा पर विचार कर लेना चाहते हैं।

आचार्य संघदास, 'उत्' उपसर्ग का अर्थ 'उद्यत' करते हैं और 'सर्ग' का 'विहार'। अस्तु जो उद्यत विहार चर्या है, वह उत्सर्ग है। उत्सर्ग का प्रतिपक्ष अपवाद है। क्योंकि अपवाद, दुर्भिक्षादि में उत्सर्ग से प्रच्युत हुए साधक को ज्ञानादि-अवलम्बनपूर्वक धारण करता है। अर्थात् उत्सर्ग में रहते हुए साधक यदि ज्ञानादि गुणों का संरक्षण नहीं कर पाता है, तो अपवाद सेवन के द्वारा उनका संरक्षण कर सकता है।[4]

---

३. उत्तराध्ययन, २३वाँ अध्ययन, गाथा २५ से ३२, केशीगौतम संवाद।

४. उज्जयस्सग्गस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।
उस्सग्गा विनिवतिय, धरेइ सालबमववाओ ॥३१६॥—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

उद्यतः सर्गः—विहार उत्सर्गः। तस्य च उत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादः। कथम्? इति चेद् अतआह—उत्सर्गद् अध्वाऽश्वमौदर्यादिषु 'विनिपतितं' प्रच्युत ज्ञानादिसालम्बमपवादो धारयति ॥३१६॥

—आचार्य मलयगिरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि "द्रव्य क्षेत्र, काल आदि की अनुकूलता से युक्त समर्थ साधक के द्वारा किया जाने वाला कल्पनीय (शुद्ध) अन्नपानगवेषणादि-रूप उचित अनुष्ठान, उत्सर्ग है। और द्रव्यादि की अनुकूलता से रहित का यतनापूर्वक तथाविध अकल्प्य-सेवनरूप उचित अनुष्ठान, अपवाद है।"[५]

आचार्य मुनिचन्द्र सूरि, सामान्य रूप से प्रतिपादित विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष रूप से प्रतिपादित विधि को अपवाद। अपने उक्त कथन का आगे चल कर वे और भी स्पष्टीकरण करते हैं कि समर्थ साधक के द्वारा संयमरक्षा के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह उत्सर्ग है। और असमर्थ साधक के द्वारा संयम की रक्षा के लिए ही जो बाहर में उत्सर्ग से विपरीत-सा प्रतीता होने वाला अनुष्ठान किया जाता है, वह अपवाद है। दोनों ही पक्षों का विपर्यासरूप से अनुष्ठान करना, न उत्सर्ग है और न अपवाद, अपितु संसाराभिनन्दी प्राणियों की दुश्चेष्टा मात्र है।[६]

आचार्य मल्लिषेण उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण करते हैं—"सामान्य रूप से संयम की रक्षा के लिए नवकोटि-विशुद्ध[७] आहार ग्रहण करना, उत्सर्ग है। परन्तु यदि कोई मुनि तथाविध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सम्बन्धी आपत्तियों से ग्रस्त हो जाता है, और उस समय गत्यन्तर न होने से उचित यतना के साथ अनेषणीय आदि आहार ग्रहण करता है, यह अपवाद है। किन्तु, अपवाद भी उत्सर्ग के समान संयम की रक्षा के लिए ही होता है।"[८]

एक अन्य आचार्य कहते हैं—"जीवन में नियमोपनियमों की जो सर्वसामान्य विधि है, वह उत्सर्ग है। और, जो विशेष विधि है, वह अपवाद है।"[९]

किं बहुना, सभी आचार्यों का अभिप्राय एक ही है कि सामान्य उत्सर्ग है, और विशेष अपवाद है। लौकिक उदाहरण के रूप में समझिए कि प्रतिदिन भोजन करना, यह जीवन की सामान्य पद्धति है। भोजन के बिना जीवन टिक नहीं सकता है, जीवन की रक्षा के लिए उत्सर्गतः भोजन आवश्यक है। परन्तु, अजीर्ण आदि की स्थिति में भोजन का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। किन्हीं विशेष रोगादि की स्थितियों में भोजन का त्याग भी जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है। अर्थात् एक प्रकार से भोजन का परित्याग ही जीवन हो जाता है। यह भोजन सम्बन्धी अपवाद है। इसी प्रकार अमुक पद्धति का भोजन सामान्यतः ठीक रहता है, यह भोजन का उत्सर्ग है। परन्तु, उसी पद्धति का भोजन कभी किसी विशेष स्थिति में ठीक नहीं भी रहता है, यह भोजन का अपवाद है।

साधना के क्षेत्र में भी उत्सर्ग और अपवाद का यही क्रम है। उत्सर्गतः प्रतिदिन की साधना में जो नियम संयम की रक्षा के लिए होते हैं, वे विशेषतः संकटकालीन अपवाद स्थिति

---

५. दव्वादिएहिं जुत्तस्सुस्सग्गो चदुच्चियं अणुट्ठाणं।
रहियस्स तमववाओ, उचियं चियरस्स न उ तस्स।।—उपदेश पद, गा० ७८४

६ सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। विशेषोक्तस्त्वपवादः। द्रव्यादियुक्तस्य यत्तदौचित्येन अनुष्ठा स उत्सर्गः तद्रहितस्य पुनस्तदौचित्येनैव च यदनुष्ठानं सोऽपवादः। यच्चैतयोः पक्षयोर्विपर्यासेन अनुष्ठानं प्रवर्तते, न स उत्सर्गोऽपवादो वा, किन्तु संसाराभिनन्दिसत्वचेष्टितमिति।
—उपदेशपद-सुखसम्बोधिनी, गा० ७८१-७८४

७. आहार के लिए स्वयं हिंसा न करना, न करवाना, न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करना।
आहार आदि स्वयं न पकाना, न पकवाना, न पकाने वालों का अनुमोदन करना।
आहार आदि स्वयं न खरीदना, न दूसरों से खरीदवाना, न खरीदने वालों का अनुमोदन करना।
—स्थानांङ्ग सूत्र ९, ३, ६८१

८. यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविध द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावेपंचकादियतनया अनेषणीयादिग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव।
—स्याद्वाद मञ्जरी, कारिका ११

९. सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः, विशेषोक्तो विधिरपवादः।—दर्शन शुद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में संयम की रक्षा के लिए नहीं भी हो सकते हैं। अतः उस स्थिति में गृहीत नियमों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है, और वह परिवर्तन भले ही बाहर से संयम के विपरीत ही प्रतिभासित होता हो, किन्तु अंदर में संयम की सुरक्षा के लिए ही होता है।

एकान्त नहीं, अनेकान्त :

कुछेक विचारक जीवन में उत्सर्ग को ही पकड़ कर चलना चाहते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्सर्ग की एकान्त साधना पर ही खर्च कर देने पर तुले हुए हैं, फलतः जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में (एकांगी दृष्टि में) अपवाद धर्म नहीं, अपितु एक महत्तर पाप है। इस प्रकार के विचारक साधना के क्षेत्र में उस कानी हथिनी के समान हैं, जो चलते समय मार्ग के एक ओर ही देख पाती है। दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं, जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद को पकड़ कर ही चलना श्रेय समझते हैं। जीवन-पथ में वे कदम-कदम पर अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। जैसे शिशु, बिना किसी सहारे के चल ही नहीं सकता। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय कोटि में नहीं आ सकते। जैन-धर्म की साधना एकान्त की नहीं, अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।

जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य हरिभद्र ने आचार्य संघदास गणी की भाषा में एकान्त पक्ष को लेकर चलने वाले साधकों को संबोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—"भगवान् तीर्थंकर देवों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। भगवान् तीर्थंकर की एक ही आज्ञा है, एक ही आदेश है, कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसमें सत्यभूत हो कर रहो। उसे वफादारी के साथ करते रहो।"[१०]

आचार्य ने जीवन का महान् रहस्य खोल कर रख दिया है। साधक का जीवन न एकान्त निषेध पर चल सकता है, और न एकान्त विधान पर ही। यथावसर कभी कुछ लेकर और कभी कुछ छोड़कर ही वह अपना विकास कर सकता है। एकान्त का परित्याग करके ही वह अपनी साधना को निर्दोष बना सकता है।

साधक का जीवन एक प्रवहण-शील तत्त्व है। उसे बाँधकर रखना भूल होगी। नदी के सतत प्रवहणशील वेग को किसी क्षुद्र गर्त में बाँधकर रख छोड़ने का अर्थ होगा, उसमें दुर्गन्ध पैदा करना तथा उसकी सहज स्वच्छता एवं पावनता को नष्ट कर डालना। जीवन-वेग को एकान्त उत्सर्ग में बन्द करना, यह भी भूल है और उसे एकान्त अपवाद में कैद करना, यह भी चूक है। जीवन की गति को किसी भी एकान्त पक्ष में बाँधकर रखना, हितकर नहीं। जीवन को बाँधकर रखने में क्या हानि है? बाँधकर रखने में, संयत करके रखने में तो कोई हानि नहीं है। परन्तु, एकान्त विधान और एकान्त निषेध में बाँध रखने में जो हानि है, वह एक भयंकर हानि है। यह एक प्रकार से साधना का पक्षाघात है। जिस प्रकार पक्षाघातरोग में जीवन सक्रिय नहीं रहता, उसमें गति नहीं रहती, उसी प्रकार विधि-निषेध के पक्षाघातरूप एकान्त आग्रह से भी साधना की सक्रियता नष्ट हो जाती है, उसमें यथोचित गति एवं प्रगति का अभाव हो जाता है।

विधि-निषेध अपने आप में एकान्त नहीं हैं। यथापरिस्थिति विधि निषेध हो सकता है और निषेध विधि। जीवन में इस ओर नियत-जैसा कुछ नहीं है। आचार्य उमास्वाति प्रशमरति प्रकरण में स्पष्टतः लिखते हैं—

"भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र तथा औषध आदि कोई भी वस्तु शुद्ध-कल्प्य-ग्राह्य होने पर भी अकल्प्य-अशुद्ध-अग्राह्य हो जाती है, और अकल्प्य होने पर भी कल्प्य हो जाती है।"[११]

---

१०. न वि किंचि अणुण्णातं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
तित्थगराणं, आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं ।।—उपदेश पद ७७६

११. किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात् स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्,
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ।।१४५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"देश, काल, क्षेत्र, पुरुष, अवस्था, उपघात और शुद्ध भावों की समीक्षा के द्वारा ही वस्तु कल्प्य-ग्राह्य होती है। कोई भी वस्तु सर्वथा एकान्त रूप से कल्प्य नहीं होती।"[१२]

वस्तु अपने-आप में न अच्छी है, न बुरी है। व्यक्ति-भेद से वह अच्छी या बुरी हो जाती है। आकाश में चन्द्रमा के उदय होने पर चक्रवाक-दम्पती को शोक होता है, चकोर को हर्ष। इनमें चन्द्रमा का क्या है? वह चक्रवाक और चकोर के लिए अपनी स्थिति में कोई भिन्न-भिन्न परिवर्तन नहीं करता है। चक्रवाक और चकोर की अपनी मनःस्थिति भिन्न है, अतः उसके अनुसार चन्द्र अच्छा या बुरा प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार साधक भी विभिन्न स्थिति में रहते हैं, उनका स्तर भी देश, काल आदि की विभिन्नता में विभिन्न स्तरों पर ऊँचा-नीचा होता रहता है। अतएव एक ही वस्तु एक साधक के लिए निषिद्ध, अग्राह्य होती है, तो दूसरे के लिए उनकी अपनी स्थिति में ग्राह्य भी हो सकती है। परिस्थिति और तदनुसार होने वाली भावना ही मुख्य है। **"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशि।"** जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। लोक-भाषा में भी किवदन्ती है—**"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।"** अर्थात् सत्य एक ही है, वह विभिन्न देश-काल में विभिन्न मनोभावों के अनुसार विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता रहता है।

निशीथ सूत्र के भाष्यकार इस सम्बन्ध में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। वे समस्त उत्सर्गों और अपवादों, विधि और निषेधों, की शास्त्रीय सीमाओं की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्य निषिद्ध किए गए हैं, वे सब असमर्थ साधक के लिए अपवाद स्थिति में कारण विशेष को ध्यान में रखते हुए ग्राह्य हो जाते हैं।"[१३]

आचार्य जिनदास ने निशीथ चूर्णि में उपर्युक्त भाष्य पर विवरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

जो उत्सर्ग में प्रतिषिद्ध हैं, वे सब-के-सब कारण उत्पन्न होने पर कल्पनीय-ग्राह्य हो जाते हैं। ऐसा करने में किसी प्रकार का भी दोष नहीं है।[१४]

उत्सर्ग और अपवाद का यह विचार ऐसा नहीं कि विचार जगत् के किसी एक कोने में ही पड़ा रहा हो, इधर-उधर न फैला हो। जैन-साहित्य में सुदूर अतीत से लेकर बहुत आगे तक उत्सर्ग और अपवाद पर चर्चा होती रही, और वह मतभेद की दिशा में न जाकर पूर्व-निर्धारित एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ती रही। आचार्य जिनेश्वर अपने युग के एक प्रमुख क्रिया-काण्डी आचार्य हुए हैं। परन्तु, उन्होंने भी शास्त्रीय विधि-निषेधों के सम्बन्ध में एकान्त का आग्रह नहीं रखा। आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण पर टीका करते हुए वे चरक संहिता का एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

"देश, काल और रोगादि के कारण मानव-जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ जाती है कि जिस में अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य हो जाता है। अर्थात् जो विधान है, वह निषेध कोटि में चला जाता है, और जो निषेध है, वह विधान कोटि में आ पहुँचता है।"[१५]

उत्सर्ग और अपवाद की एकार्थ-साधनता :

प्रस्तुत चर्चा में यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखने जैसी है कि उत्सर्ग और अपवाद

---

१२. देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान्,
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥१४६॥—प्रशमरति

१३. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥—निशीथ भाष्य, ५२४५

१४. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि, उप्पण्णे कारणे सव्वाणि वि ताणि कप्पंति।
ण दोसो..... ॥ —निशीथ चूर्णि, ५२४५

१५. उत्पद्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यमकार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥—अष्टकप्रकरण, २७, ५ टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों एकार्थ-साधक होते हैं, अर्थात् दोनों का लक्ष्य एक होता है, दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं, साधक होते हैं, बाधक और घातक नहीं। दोनों के सुमेल से ही, एकार्थ-साधकत्व से ही, साधक का साधना-पथ प्रशस्त हो सकता है।[१६] उत्सर्ग और अपवाद यदि परस्पर निरपेक्ष हों, अन्यार्थक हों, एक ही प्रयोजन को सिद्ध न करते हों, तो वे शास्त्र-भाषा के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद ही नहीं हो सकते। शास्त्रकार ने दोनों को मार्ग कहा है। और, मार्ग वे ही होते हैं, जो एक ही निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर जाते हों, भले ही घूम-फिर कर जाएँ। जो विभिन्न लक्ष्यों की ओर जाते हों, वे एक लक्ष्य पर पहुँचने की भावना रखने वाले यात्रियों के लिए मार्ग न होकर, कुमार्ग ही होते हैं। साधना के क्षेत्र में उत्सर्ग भी मार्ग है, और अपवाद भी मार्ग है, दोनों ही साधक को मुक्ति की ओर ले जाते हैं, दोनों ही संयम की रक्षा के लिए होते हैं।

एक ही रोग में एक व्यक्ति के लिए वैद्य किसी एक खाद्य वस्तु को अपथ्य कह कर निषेध करता है, तो दूसरे व्यक्ति के लिए देश, काल और प्रकृति आदि की विशेष स्थिति के कारण उसी निषिद्ध वस्तु का विधान भी करता है। परन्तु, इस विधि और निषेध का लक्ष्य एक ही है—रोग का उपशमन, रोग का उन्मूलन। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय उदाहरण के लिए आयुर्वेदोक्त विधान है कि "सामान्यतः ज्वर रोग में लंघन (भोजन का परित्याग) हितावह एवं स्वास्थ्य के अनुकूल रहता है, परन्तु वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामादि से उत्पन्न ज्वर में लंघन से हानि ही होती है।"[१७] इस प्रकार एक स्थान पर भोजन का त्याग अमृत है, तो दूसरे स्थान पर भोजन का अत्याग अमृत है। दोनों का लक्ष्य एक ही है, भिन्न नहीं।

उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी यही बात है। दोनों का लक्ष्य एक ही है—जीवन की संशुद्धि, आध्यात्मिक पवित्रता, संयम की रक्षा, ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि। उत्सर्ग अपवाद का पोषक होता है और अपवाद उत्सर्ग का। उत्सर्ग मार्ग पर चलना, यह जीवन की सामान्य पद्धति है, जैसे कि सीधे राजमार्ग पर चलने वाला यात्री कभी प्रतिरोध-विशेष के कारण राजमार्ग का परित्याग कर समीप की पगडंडी भी पकड़ लेता है, परन्तु कुछ दूर चलने के बाद अनुकूलता होते ही पुनः उसी राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद और अपवाद से उत्सर्ग के सम्बन्ध में लागू पड़ती है। दोनों का लक्ष्य गति है, अगति नहीं। फलतः दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग या कुमार्ग नहीं। दोनों के यथोक्त सुमेल से ही साधक की साधना शुद्ध एवं परिपुष्ट होती है।

उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक?

प्रश्न किया जा सकता है कि साधक कब उत्सर्ग मार्ग से गमन करे और कब अपवाद मार्ग से? प्रश्न वस्तुतः बड़े ही महत्त्व का है। उक्त प्रश्न पर पहले भी यथाप्रसंग कुछ-न-कुछ लिखा गया ही है, किन्तु वह संक्षेप भाषा में है। संभव है, साधारण पाठक उस पर से कोई स्पष्ट धारणा न बना सके। अतः हम यहाँ कुछ विस्तृत चर्चा कर लेना चाहते हैं।

उत्सर्ग साधना-पथ की सामान्य विधि है, अतः उस पर साधक को सतत चलना है। उत्सर्ग छोड़ा जा सकता है, किन्तु वह यों ही अकारण नहीं, बिना किसी विशेष परिस्थिति के नहीं। और, वह भी सदा के लिए नहीं। जो साधक अकारण ही उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है, अथवा किसी अपुष्ट (नगण्य) कारण की आड में उसे छोड़ देता है, वह साधक

---

१६. नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, ११वीं कारिका
यमर्थमेवाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेन एकार्थसाधनविषयत्वात्।
—स्याद्वादमञ्जरी, कारिका ११

१७. कालाविरोधिनिर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ऋतेऽनिल-श्रम-क्रोध-शोक-कामकृतज्वरात्॥—स्याद्वादमञ्जरी (उद्धृत) का० ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईमानदार साधक नहीं है। वह भगवदाज्ञा का आराधक नहीं, अपितु विराधक है। जो व्यक्ति अकारण ही औषधि का सेवन करता है, अथवा रोग की समाप्ति हो जाने पर भी रोगी होने का नाटक खेलता रहता है, वह मक्कार है, कर्तव्य-भ्रष्ट है। इस प्रकार के अकर्मण्य व्यक्ति अपने आप भी विनष्ट होते हैं और समाज को भी कलंकित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है, जो बात-बात पर उत्सर्ग मार्ग का परित्याग करते हैं, अकारण ही अपवाद का सेवन करते हैं और एक बार कारणवश अपवाद में आने के पश्चात् कारण की समाप्ति हो जाने पर भी वहीं डटे रहते हैं। इस प्रकार के साधक स्वयं तो पथ-भ्रष्ट होते ही हैं, किंतु समाज में भी एक गलत आदर्श उपस्थित करते हैं। उक्त साधकों का कोई मार्ग नहीं होता, न उत्सर्ग और न अपवाद। अपनी जघन्य वासना या दुर्बलता की पूर्ति के फेर में वे शुद्ध अपवाद मार्ग को भी बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता है, संसार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग संयम मार्ग है, उसी प्रकार अपवाद भी संयम मार्ग है। किन्तु, वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिए। अपवाद के पवित्र वेष में कहीं भोगाकांक्षा चकमा न दे जाए, इसके लिए साधक को सतत सजग एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। साधक के सम्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलस्वरूप अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो, तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है। और ज्योंही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाए, स्थिति की विकटता न रहे, त्योंही अपवाद से उत्सर्ग मार्ग पर पुनः आरूढ़ हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में क्षणभर का विलम्ब भी घातक हो सकता है।

और, एक बात यह भी है कि, जितना आवश्यक हो, उतना ही अपवाद का सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि चलो, जब यह कर लिया, तो अब इसमें भी क्या है? यह भी कर लें। जीवन को निरन्तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढ़काते जाना, अपवाद नहीं है। जिन लोगों को मर्यादा का भान नहीं है, अपवाद की मात्रा एवं सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपवाद के द्वारा उत्थान नहीं, अपितु शतमुख पतन होता है—
"ववेक-भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।"

उत्सर्ग और अपवाद पर एक बहुत ही सुन्दर पौराणिक गाथा है। उस पर से सहज ही समझा जा सकता है, कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएँ हैं? और, उनका सूक्ष्म विश्लेषण किस प्रकार ईमानदारी से करना चाहिए?

एक बार द्वादश वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लोग भूखों मरने लगे, सर्वत्र हाहाकार मच गया। एक विद्वान् ऋषि भी भूख से संत्रस्त इधर-उधर अन्न के लिए भटक रहे थे। उन्होंने देखा कि राजा के कुछ हस्तिपक (पीलवान) बैठे हैं, बीच में अन्न का ढ़ेर है, सब उसी में से एक साथ ले ले कर खा रहे हैं। पास ही जल-पात्र रखा है, प्यास लगने पर बीच-बीच में सब उसी में मुँह लगा कर जल पी लेते हैं।

ऋषि ने पीलवानों से अन्न की याचना की। पीलवानों ने कहा—"महाराज, क्या दें? अन्न तो जूठा है!"

ऋषि ने कहा—"कोई हर्ज नहीं। जूठा है तो क्या है, आखिर पेट तो भरना ही है। आपत्ति काल में कैसी मर्यादा? "आपत्ति काले मर्यादा नास्ति।"

ऋषि ने जूठा अन्न ले लिया, एवं एक ओर वहीं बैठ कर खा भी लिया। जब चलने लगे, तो पीलवानों ने कहा—"महाराज, जल भी पी जाइए।" इस पर ऋषि ने कहा—"जल जूठा है, मैं नहीं पी सकता।"

इतना सुनना था कि सब-के-सब पीलवान ठहाका मारकर हँस पड़े। कहने लगे—"महाराज! अन्न पेट में पहुंचते ही, मालूम होता है, बुद्धि लौट आई है। भला, आपने जो अन्न खाया है, क्या वह जूठा नहीं था? अब पानी पीने में जूठे-सुच्चे का विचार किस आधार पर कर रहे हो?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषि ने शान्तभाव से कहा—"बन्धुओं, तुम्हारा सोचना ठीक है। परन्तु, मेरी एक मर्यादा है। अन्न अन्यत्र मिल नहीं रहा था और इधर मैं भूख से इतना अधिक व्याकुल था कि प्राण कंठ में आ लगे थे और अधिक सहन करने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतः मैंने जूठा अन्न ही अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया। अब रहा जल का प्रश्न? वह तो मुझे मेरी मर्यादा के अनुसार अन्यत्र शुद्ध (सुच्चा) मिल सकता है। अतः मैं व्यर्थ ही जूठा जल क्यों पीऊँ?"

उत्सर्ग और अपवाद कब और किस सीमा तक? इस प्रश्न का कुछ-कुछ समाधान ऊपर के कथानक से हो जाता है। संक्षेप में—जब तक चला जा सकता है, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिए। और, जबकि चलना सर्वथा दुस्तर हो जाए, दूसरा कोई भी इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे, तब अपवाद मार्ग पर उतर आना चाहिए। और, ज्योंही स्थिति सुधर जाए, पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद के अधिकारी :

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है, अतः उस पर हर किसी साधक को सतत चलते रहना है।[१८] गीतार्थ को भी चलना है और अगीतार्थ को भी। बालक को भी चलना है और तरुण तथा वृद्ध को भी। स्त्री को भी चलना है और पुरुष को भी। यहाँ कौन चले और कौन नहीं, इस प्रश्न के लिए कुछ भी स्थान नहीं है। जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार की ग्लानि का भाव न आए, धर्म एवं संघ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो, अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की क्षति का कोई विशेष प्रसंग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं।

परन्तु, अपवाद मार्ग की स्थिति उत्सर्ग से भिन्न है। अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित ही चला जाता है। अपवाद की धारा तलवार की धारा से भी कहीं अधिक तीक्ष्ण है। इस पर हर कोई साधक और वह भी हर किसी समय नहीं चल सकता। जो साधक गीतार्थ है, आचारांग आदि आचार संहिता का पूर्ण अध्ययन कर चुका है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग और अपवाद पदों का अध्ययन ही नहीं, अपितु स्पष्ट अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय दे सकता है।

जिस व्यक्ति को देश का ज्ञान नहीं है कि यह देश कैसा है, यहाँ की क्या दशा है, यहाँ क्या उचित हो सकता है और क्या अनुचित, वह गीतार्थ नहीं हो सकता।

काल का ज्ञान भी आवश्यक है। एक काल में एक बात संगत हो सकती है, तो दूसरे काल में वही असंगत भी हो सकती है। क्या ग्रीष्म और वर्षा काल में पहनने योग्य हलके-फुलके वस्त्र शीतकाल में भी पहने जा सकते हैं? क्या शीतकाल के योग्य मोटे ऊनी कंबल जेठ की तपती दुपहरी में भी परिधान किए जा सकते हैं? यह एक लौकिक उदाहरण है। साधक के लिए भी अपनी व्रत-साधना के लिए काल की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का परिज्ञान अत्यावश्यक है।

व्यक्ति की स्थिति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दुर्बल और सबल व्यक्ति की तनुस्थिति और मनःस्थिति में अन्तर होता है। सबल व्यक्ति बहुत अधिक समय तक प्रतिकूल परिस्थिति से संघर्ष कर सकता है, जब कि दुर्बल व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। वह शीघ्र ही प्रतिकूलता के सम्मुख प्रतिरोध का साहस खो बैठता है। अतः साधना के क्षेत्र में व्यक्ति की स्थिति का ध्यान रखना भी आवश्यक है। देश और काल आदि की एकरूपता होने पर भी, विभिन्न

---

१८. सखुड्डग-वियताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंड-प्फुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा॥
—दशवैकालिक, ६, ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तियों के लिए रुग्णता या स्वस्थता आदि के कारण स्थिति अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। यही बात व्यक्ति के लिए उपयुक्त द्रव्य की भी है। क्या मोटा ऊनी कंबल साधारणतया जेष्ठ मास में अनुपयुक्त होने पर भी, उसी समय में, ज्वर (पित्ती उछलने पर) की स्थिति में उपयुक्त नहीं हो जाता है? किंबहुना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के कारण विभिन्न स्थितियों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। उन सब स्थितियों का ज्ञान गीतार्थ के लिए आवश्यक है।[१९] जिस प्रकार चतुर व्यापारी आय और व्यय की भलीभाँति समीक्षा कर के व्यापार करता है, और अल्प व्यय से अधिक लाभ उठाता है, उसी प्रकार गीतार्थ भी अल्प दोष-सेवन से यदि ज्ञानादि गुणों का अधिक लाभ होता हो, तो वह उस कार्य को कर लेता है, और दूसरों को भी इसके लिए देशकालानुसार उचित निर्देशन कर सकता है।

गीतार्थ के लिए एक और महत्त्वपूर्ण बात है—यतना की। उत्सर्ग में तो यतना अपेक्षित है ही, किन्तु अपवाद में भी यतना की बहुत अधिक अपेक्षा है। अपवाद में जब कभी चालू परम्परा से भिन्न यदि किसी अकल्प्य विशेष के सेवन का प्रसंग आ जाए, तो वह यों ही विवेकमूढ़ होकर अंधे हाथी के समान नहीं होना चाहिए। अपवाद में विवेक की आँखें खुली रहनी आवश्यक हैं। उत्सर्ग की अपेक्षा भी अपवाद-काल में अधिक सजगता चाहिए। यदि यतना का भाव रहता है, तो अपवाद में स्खलना की आशंका नहीं रहती है। यतना के होते हुए उल्लुण्ठ वृत्ति कथमपि नहीं हो सकती।[२०] यतना अपने आप में वह अमृत है, जो दोष में भी गुण का आधान कर देता है। अकल्प्य सेवन में भी यदि यतना है, यतना का भाव है, तो इसका अर्थ है कि अकल्प्य-सेवन में भी संयम है। आखिर यतना और है क्या, संयम का ही तो दूसरा व्यवहारसिद्धरूप यतना है। अतः सच्चा गीतार्थ वह है, जो उत्सर्ग और अपवाद में सर्वत्र यतना का ध्यान रखता है। उसका दोष-वर्जन भी यतना के साथ होता है, और दोष-सेवन भी यतना के साथ। जीवन में सब ओर यतना का प्रकाश साधक को पथ-भ्रष्ट होने से पूर्णतः बचाए रखता है।

आचार्य भद्रबाहु और संघदास गणी ने गीतार्थ के गुणों का निरूपण करते हुए कहा है—"जो आय-व्यय, कारण-अकारण, आगाढ (ग्लान)-अनागाढ, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यक्-ज्ञान रखता है, और साथ ही कर्तव्य-कर्म का फल—परिणाम भी जानता है, वह विधिवेत्ता-गीतार्थ कहलाता है।"[२१]

अपवाद के सम्बन्ध में निर्णय देने का, स्वयं अपवाद सेवन करने और दूसरों से यथा-परिस्थिति अपवाद सेवन कराने का समस्त उत्तरदायित्व गीतार्थ पर रहता है। अगीतार्थ को स्वयं अपवाद के निर्णय का सहज अधिकार नहीं है। वह गीतार्थ के निरीक्षण तथा निर्देशन में ही यथावसर अपवाद मार्ग का अवलम्बन कर सकता है।

प्रस्तुत चर्चा में गीतार्थ को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है? इसका एक-मात्र समाधान यह है कि कर्तव्य की चारुता और अचारुता, अथवा सिद्धि और असिद्धि, अन्ततः कर्ता पर ही आधार रखती है। यदि कर्ता अज्ञ है, कार्य-विधि से अनभिज्ञ है, तो देश, काल और साधन की हीनता के कारण अन्ततः कार्य की हानि ही होगी, सिद्धि नहीं। और

१९. सुंकादी-परिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठूं समायरइ ॥६५२॥—बृहत्कल्पकभाष्य, ६५२
वमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकं 'आयं' लाभं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्प्यप्रतिसेवां समाचरति, नान्यथा।
—बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति,

२०. जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालिणी चेव।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥७६६॥
जयणाए वट्टमाणो जीवो, सम्मत्त-णाण-चरणाणं।
सद्धा-बोहाऽऽसेवणभावेणाऽऽराहओ भणिओ ॥७७०॥—उपदेशपद

२१. आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ ॥६५१॥—बृहत्कल्प निर्युक्ति, भाष्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कर्ता विज्ञ है, कार्य-विधि का मर्मज्ञ है, तो वह देश, काल और साधनों के औचित्य का भली-भाँति ध्यान रखेगा, फलतः अपने अभिलषित कार्य में सफल ही होगा, असफल नहीं।[२२]

अब एक प्रश्न और है कि आखिर गीतार्थ कहाँ तक साथ रह सकता है? कल्पना कीजिए, साधक ऐसी स्थिति में उलझ गया है कि वहाँ उसके लिए गीतार्थ का कोई भी निर्देशन प्राप्त करना असंभव है। उक्त विकट स्थिति में वह क्या करे, और क्या न करे? क्या वह अपनी नवागत स्थिति के अनुकूल परम्परागत स्थिति में कुछ योग्य फेर-फार नहीं कर सकता?

उत्तर है कि क्यों नहीं कर सकता। अन्ततोगत्वा साधक स्वयं ही अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार निर्णय कर सकता है कि वह कब उत्सर्ग पर चले और कब अपवाद पर? तत्त्वतः अपनी मति ही मति है, वही युक्त एवं अयुक्त की वास्तविक निर्णायिका है। यह ठीक है कि गीतार्थ गुरु, मूल आगम, भाष्य, चूर्णि और अन्य आचार ग्रन्थ, काफी लम्बी दूर तक साधक का निर्देशन करते हैं। परन्तु, अन्ततः साधक पर ही सब कुछ छोड़ना होता है, और वह छोड़ भी दिया जाता है। एक पिता अपने नन्हे शिशु को हाथ पकड़ कर चलाता है, चलना सिखाता है। परन्तु, कुछ समय बाद वह शिशु को उसकी अपनी शक्ति पर ही छोड़ देता है न? धर्म, आत्मा की साक्षी पर ही आधार रखता है। अन्त में अपने अन्तर्तम का भाव ही काम आता है! अस्तु, साधक जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हो वैसा करे, किन्तु सर्वत्र अपनी हार्दिक प्रामाणिकता और सत्याचरणता को अखण्ड रखे। जीवन में सत्य के प्रति उन्मुखता का रहना ही सब-कुछ है। कर्तव्य और अकर्तव्य, बाहर में कुछ नहीं है। इनका मूल अन्दर की मनोभूमि में है। वहाँ यदि पवित्रता है, तो सब पवित्र है, अन्यथा सब-कुछ अपवित्र है।

अपवाद दूषण नहीं, अपितु भूषण :

यद्यपि, उत्सर्ग, अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, इस पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी अपवाद के सम्बन्ध में सर्व साधारण की ओर से यह प्रश्न प्रायः खड़ा ही रहता है कि क्या उत्सर्ग को छोड़ कर अपवाद में जाने वाले साधक के स्वीकृत व्रतों का भंग नहीं होता? क्या इस दशा में साधक को पतित नहीं कहा जा सकता? यह प्रश्न व्रतों के बाह्याकार और उसके बाह्य भंग पर से खड़ा होता है। प्रायः जनता की आँखें बाह्य के स्थूल दृश्य पर ही अटक कर रह जाती है, किन्तु साधक स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी है, इतना सूक्ष्म कि जिसका आकार-प्रकार स्थूल से कहीं बड़ा है, बहुत बड़ा है। साधक के उसी सूक्ष्म अन्तर् में उक्त प्रश्न का सही समाधान प्राप्त हो सकता है।

आचार्य संघदास गणी एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर समाधान उपस्थित करते हैं—"एक यात्री किसी अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति से चला जा रहा है। वह यथाशक्ति शीघ्र गति से दौड़ता है, ताकि शीघ्र ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाए। परन्तु चलता हुआ थक जाता है, आगे मार्ग की और अधिक विषमताओं के कारण चल नहीं पाता है, अतः वह बीच में कहीं विश्राम करने लग जाता है। यदि वह यात्री अपने अहं के कारण उचित विश्राम न करे, क्लान्त होने पर भी हठात् चलता ही रहे, तो स्वस्थ नहीं रह सकता। कुछ दूर जाकर, वह इतना अधिक क्लान्त हो जाएगा कि अवश्य ही मूर्च्छा खाकर गिर पड़ेगा। संभव है, प्राणान्त भी हो जाए। ऐसी स्थिति में, जिस लक्ष्य के लिए तन-तोड़ दौड़-धूप की जा रही थी, वह सदा के लिए अगम्य ही रह जाएगा। अस्तु, यात्री का विश्राम भी चलने के लिए ही होता है, बैठे रहने के लिए नहीं। वह विश्रान्ति लेकर, तरोताजा होकर पुनः दुगुने वेग से चलता है, बैठ जाने के फलस्वरूप होने वाले विलम्ब के समय को शीघ्र ही

---

२२. संपत्ति य विपत्ती य, होज्ज कज्जेसु कारणं पप्प।
अणुबायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥६४६॥—बृहत्कल्प भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा कर लेता है और लक्ष्य पर पहुँच जाता है।[23] अतः व्यवहार की भाषा में भले ही विश्रान्ति-कालीन स्थिति अगति हो, किन्तु निश्चय की भाषा में तो वह स्थिति भी गति ही है।

साधक सहज भाव से शास्त्रनिर्दिष्ट उत्सर्ग मार्ग पर चलता है, और **यावद बुद्धि बलोदयं** उत्सर्ग मार्ग पर चलना भी चाहिए। परन्तु, कारणवशात् यदि कभी उसे उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग पर आना पड़े, तो यह उसका तात्कालिक विश्राम होगा। यह विश्राम इसलिए लिया जाता है कि साधक अपने स्वीकृत पथ पर द्विगुणित वेग के साथ सोल्लास आगे बढ़ सके और अभीष्ट लक्ष्य पर ठीक समय पर पहुँच सके।

फलितार्थ यह है कि अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही होता है, न कि ध्वंस के लिए। अपवाद काल में, यदि बाह्य दृष्टि से स्वीकृत व्रतों को यत्किंचित् क्षति पहुँचती भी है, तो वह मूलतः व्रतों की रक्षा के लिए ही होती है। जहरीले फोड़े से शरीर की रक्षा के लिए, आखिर शरीर के उस भाग का छेदन किया जाता ही है न? किन्तु, वह शरीर-छेदन शरीर की रक्षा के लिए ही है, नाश के लिए नहीं।

जीवन और मरण में सब मिलाकर अन्ततः जीवन ही महत्त्वपूर्ण है। **'जीवन्नरो भद्र-शतानि पश्येत्'** का स्वर्ण सूत्र आखिर एक सीमा में कुछ अर्थ रखता है। कल्पना कीजिए—साधक के समक्ष ऐसी समस्या उपस्थित है कि वह अपने व्रत पर अड़ा रहता है, तो जीवन जाता है और यदि जीवन की रक्षा करना चाहता है, तो गत्यन्तराभाव से स्वीकृत व्रतों का भंग होता है। ऐसी स्थिति में साधक क्या करे, और क्या न करे? क्या वह मर जाए? शास्त्रकार इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि अपने धर्म की रक्षा के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति हो, साधक में उत्साह हो, तरंग हो, तो वह प्रसन्न भाव से मृत्यु का आलिंगन कर सकता है। परन्तु यदि ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति न हो, मृत्यु की ओर जाने में समाधिभाव का भंग होता हो, जीवन के बचाव में कहीं अधिक धर्माराधन संभवित हो, तो साधक के लिए जीते रहना ही श्रेयस्कर है, भले ही जीवन के लिए स्वीकृत व्रतों में थोड़ा-बहुत फेर-फार भी क्यों न करना पड़े। यह केवल मेरी अपनी मति-कल्पना नहीं है। जैन जगत् के महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में कहते हैं कि "साधक को सर्वत्र सब प्रकार से अपने संयम की रक्षा करनी चाहिए। यदि कभी संयम का पालन करते हुए मरण होता हो, तो संयम-रक्षा को छोड़ कर अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिए। प्राणान्त काल में अपवाद-सेवन द्वारा जीवन की रक्षा करने वाला मुनि दोषों से रहित होता है, वह पुनः विशुद्धि प्राप्त कर सकता है। तत्त्वतः तो उसका व्रत-भंग होता ही नहीं है।[24]

व्रत-भंग क्यों नहीं होता, प्रत्यक्ष में जब कि व्रत-भंग है ही? उक्त शंका का समाधान द्रोणाचार्य अपनी टीका में करते हैं कि—"अपवाद-सेवन करने वाले साधक के परिणाम विशुद्ध हैं। और विशुद्ध परिणाम मोक्ष का हेतु ही होता है, संसार का हेतु नहीं।"*

जैन-धर्म के सम्बन्ध में कुछ लोगों कि धारणा है कि वह जीवन से इकरार नहीं करता, अपितु इन्कार करता है। परन्तु, यदि तटस्थ दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो मालूम पड़ेगा कि वस्तुतः जैन-धर्म ऐसा नहीं है। वह जीवन से इन्कार नहीं करता, अपितु जीवन के मोह से इन्कार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्त्वपूर्ण लाभ है, और वह स्व-पर की हित-साधना में उपयोगी है, तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। आचार्य भद्रबाहु, अपने उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में, देखिए, कितना तर्कपूर्ण समाधान करते हैं—

---

२३. धावंतो उव्वाओ, भग्गरू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरये असहुओ तिक्खं ॥३२०॥
—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

२४. सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही न याऽविरई ॥४६॥—ओघनिर्युक्ति

* याऽविरई, किं कारणं? तस्याशयशुद्धतया, विशुद्धपरिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात्।
—ओघनिर्युक्ति टीका, गा० ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"साधक का देह संयमहेतुक है, संयम के लिए है। यदि देह ही न रहा, तो फिर संयम कैसे रहेगा? अतएव संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है।"[२५]

यह वाणी आज के किसी भौतिकवादी की नहीं है, अपितु सुदूर अतीत युग के उस महान् अध्यात्मवादी की है, जो आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ साधक था। बात यह है कि अध्यात्मवाद कोई अंधा आदर्श नहीं है। वह आदर्श के साथ यथार्थ का भी उचित समन्वय करता है। उसके यहाँ एकान्त पक्षाग्रह-जैसी कोई बात नहीं है। मुख्य प्रश्न है—कारण और अकारण का। आचार्य जिनदास की भाषा में, साधक के लिए अकारण कुछ भी अकल्पनीय अनुज्ञात नहीं है, और सकारण कुछ भी अकल्पनीय निषिद्ध नहीं है।[२६]

यदि स्पष्ट शब्दों में निश्चयनय के माध्यम से कहा जाए तो, साधक, न जीवन के लिए है और न मरण के लिए है। वह तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए है। अतः जिस जिस प्रकार ज्ञानादि की सिद्धि एवं वृद्धि होती हो, उसे उसी प्रकार करते रहना चाहिए, इसी में संयम है।[२७] यदि, जीवन से ज्ञानादि की सिद्धि होती हो, तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए। और, यदि मरण से ही ज्ञानादि अभीष्ट की सिद्धि होती हो, तो मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है।

उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी यही बात है। साधक, न केवल उत्सर्ग के लिए है और न केवल अपवाद के लिए है। वह दोनों के लिए है, मात्र शर्त है—साधक के ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि होनी चाहिए। जीवन और मरण की कोई खास समस्या न भी हो, फिर भी यदि सन्मतितर्क आदि महान् दर्शन-प्रभावक ग्रन्थों का अध्ययन करना हो, चारित्र की रक्षा के लिए इधर-उधर सुदूर भू प्रदेश में क्षेत्र परिवर्तन करना हो, तब यदि गत्यन्तराभाव होने से अकल्पनीय आहारादि का सेवन कर लिया जाता है, तो वह शुद्ध ही माना जाता है, अशुद्ध नहीं। शुद्ध का अर्थ है, इस सम्बन्ध में साधक को कोई प्रायश्चित्त नहीं आता।*

कोई भी देख सकता है, जैन-धर्म आदर्शवादी होते हुए भी कितना यथार्थवादी धर्म है। उसके यहाँ बाह्य विधि-विधान हैं, और बहुत हैं, किन्तु वे सब किसी योग्य गृहपति के गृह की प्राचीर के समान हैं। साधक उनमें से अन्दर और बाहर यथेष्ट आ-जा सकता है। वे कोई कारागार की अनुल्लंघनीय प्राचीर नहीं है कि साधक उसके अन्दर बन्दी हो जाए, और कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, इधर-उधर अन्दर-बाहर आ-जा ही न सके।

जैन-धर्म भाव-प्रधान धर्म है। उसका अनुष्ठान, सर्वथा अपरिवर्तनीय जड़ अनुष्ठान नहीं, किन्तु क्रियाशील परिणामी चैतन्य अनुष्ठान है। मूल में जैन-परम्परा को बाह्य दृश्यमान विधि-विधानों का उतना आग्रह नहीं है, जितना कि अन्तरंग की शुद्ध भावनात्मक परिणति का आग्रह है। यही कारण है कि उसके दर्शनकक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बंधी-बँधाई नियत रूपरेखा नहीं है, इयत्ता नहीं है। जो भी संसार के हेतु हैं, वे सब सत्यनिष्ठ साधक के लिए मोक्ष

---

२५. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम-फाइनिमित्तं, देहपरिपालणा इट्ठा ॥४७॥—ओघनिर्युक्ति

२६. णिक्कारणे अकप्पणिज्जं न किं चि अणुण्णायं, अववायकारणे उप्पण्णे अकप्पणिज्जं ण किं चि पडिसिद्धं। निच्छयववहारतो एस तित्थकराणं।.....कज्जंति अववादकारणं, तेण जति पडिसेवति तहा वि सच्चा भवति, सच्चो ति संजमो॥ -निशीथचूर्णि, ५२४८

२७. कज्जं णाणादीयं उस्सग्गववायओ भवे सच्चं।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्वं पि॥—निशीथभाष्य, ५२४६

२८. दंसणपभावगाणं, सट्ठाणट्ठाए सेवती जं तु।
णाणे सुत्तत्थाणं, चरणेसण-इत्थिदोसा वा॥४८६॥

* दंसणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवति, जयणाए तत्थ सो सुद्धो अपायच्छित्ती भवतीत्यर्थः।
णाणेति णाणणिमित्तं सुत्तं अत्थं वा गेण्हमाणो, तत्थ वि अकप्पियं असंथरे पडिसेवंतो सुद्धो।
चरणे त्ति जत्थ खेत्ते एसणादोसा इत्थिदोसा वा ततो खेत्तातो चारित्तार्थिना निर्गन्तव्यं, ततो निग्गच्छमाणो जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सुद्धो। —निशीथ चूर्णि, ४८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के हेतु हो जाते हैं। और, जो मोक्ष के हेतु हैं, वे सब संसाराभिनन्दी के लिए संसार के हेतु हो जाते है।[२९] इसका अर्थ यह है कि त्रिभुवनोदरविवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने-आप में न मोक्ष के कारण हैं और न संसार के कारण। साधक की अपनी अन्तःस्थिति ही उन्हें अच्छे या बुरे का रूप देती है। साधक के अन्तर्तम में यदि शुद्ध भाव है, तो अंदर-बाहर सब शुद्ध हैं। और यदि, अशुद्ध भाव है, तो सब अशुद्ध हैं। अतः कर्म-बन्ध और कर्म-निर्जरा का मूल्यांकन बाहर से नहीं, अपितु अंदर से किया जाना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि बाहर कुछ नहीं है, जो कुछ है, अंदर ही है। मेरा कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि बाहर में सब-कुछ कर करा कर भी अन्ततः अंदर में ही अन्तिम मुहर लगती है। सावधान! बाहर के भावाभाव में कहीं अंदर के भावाभाव को न भूल जाएँ!

हाँ तो, अपवाद में व्रतभंग नहीं होता, संयम नष्ट नहीं होता, इसका एक मात्र कारण यह है कि अपवाद भी उत्सर्ग के समान ही अन्तर्तम की शुद्ध भावना पर आधारित है। बाहर में भले ही उत्सर्ग-जैसा उज्ज्वल रूप न हो, व्रत-भंग का मालिन्य ही हो, किन्तु अंदर में यदि साधक निर्मल रहा है, सावधान रहा है, ज्ञानादि सद्गुणों की साधना के शुद्ध साध्य पर सुस्थित रहा है, तो वह शुद्ध ही है।

उत्सर्ग और अपवाद का तुल्यत्व :

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! उत्सर्ग अधिक हैं, या अपवाद अधिक हैं?"

प्रस्तुत प्रश्न का बृहत्कल्प भाष्य में समाधान किया गया है कि "जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही उनके अपवाद भी होते हैं। और, जितने अपवाद होते हैं, उतने ही उनके उत्सर्ग भी होते हैं।"[३०]

उक्त कथन से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि साधना के उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही अपरिहार्य अंग हैं। जिस प्रकार उन्नत से निम्न की और निम्न से उन्नत की प्रसिद्धि है, उसी प्रकार उत्सर्ग से अपवाद और अपवाद से उत्सर्ग प्रसिद्ध है, अर्थात् दोनों अन्योन्य प्रतिबद्ध हैं।[३१] एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। अस्तु, ऐसा कोई उत्सर्ग नहीं, जिसका अपवाद न हो, और ऐसा कोई अपवाद भी नहीं, जिसका उत्सर्ग न हो। दोनों की कोई इयत्ता नहीं है, अर्थात अपने आप पर आधारित कोई स्वतंत्र संख्या नहीं है। दोनों तुल्य हैं, एक-दूसरे पर आधारित हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का बलाबल

शिष्य पृच्छा करता है—"भंते! उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में कौन श्रेय है और कौन अश्रेय? तथा, कौन सबल है और कौन निर्बल?"

इसका समाधान, बृहत्कल्प भाष्य में, इस प्रकार दिया गया है—

"उत्सर्ग अपने स्थान पर श्रेय एवं सबल है। और, अपवाद अपने स्थान पर श्रेय एवं

---

२९. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।—आचा० १, ४, २, १२०

यएवाश्रवाः कर्मबन्धस्थानानि, त एव परिश्रवाः कर्मनिर्जरास्पदानि।—आचार्य शीलाङ्क

जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।
गणणाईआ लोगा, दुण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला ॥५३॥—ओघनिर्युक्ति

सर्व एव त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनो भावा रागद्वेषमोहात्मनां पुंसां संसारहेतवो भवन्ति, त एव रागादिरहितानां श्रद्धामतामज्ञानपरिहारेण मोक्षहेतवो भवन्तीति। —द्रोणाचार्य, ओघनिर्युक्ति टीका

३०. जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ॥३२२॥

३१. उन्नयमविक्ख निन्नस्स पसिद्धी उन्नयस्स निन्नाओ।
इय अन्नोन्नपसिद्धा, उस्सग्गऽववायओ तुल्ला ॥३२१॥—बृहत्कल्प भाष्य-पीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबल है। इसके विपरीत उत्सर्ग के स्थान पर अपवाद अश्रेय एवं निर्बल है, और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग अश्रेय एवं निर्बल है।"[३२]

प्रत्येक जीवन क्षेत्र में स्व-स्थान का बड़ा महत्त्व है। स्व-स्थान में जो गुरुत्व है, वह पर-स्थान में कहाँ? मगर, जल में जितना शक्तिशाली है, क्या उतना स्थल भूमि में भी है? नहीं, मगर का श्रेय और बल दोनों ही स्व-स्थान जल में है। उसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद का श्रेय और बल भी अपेक्षाकृत है। उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग और अपवाद के स्थान में अपवाद का प्रयोग ही जीवन के लिए हितकर है। यदि अज्ञानता अथवा दुराग्रह के कारण इनका विपरीत प्रयोग किया जाए, तो दोनों ही अहितकर हो जाते हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का स्व-स्थान और पर-स्थान :

शिष्य जिज्ञासा प्रस्तुत करता है—"भंते! उत्सर्ग और अपवाद में साधक के लिए स्व-स्थान कौन-सा है? और, पर-स्थान कौन-सा है?"

इस जिज्ञासा का सुन्दर समाधान बृहत्कल्प भाष्य में इस प्रकार दिया गया है—

"जो साधक स्वस्थ और समर्थ है, उसके लिए उत्सर्ग स्व-स्थान है, और अपवाद पर-स्थान है। किन्तु, जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है, उसके लिए अपवाद स्व-स्थान है, और उत्सर्ग पर-स्थान है।"[३३]

देश, काल और परिस्थिति-वशात उत्सर्ग और अपवाद के स्थानों में यथाक्रम स्व-परत्व होता रहता है। इस पर से स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है, कि साधक जीवन में उत्सर्ग और अपवाद का समान भाव से यथा परिस्थिति आदान एवं अनादान करते रहना चाहिए।

परिणामी, अतिपरिणामी और अपरिणामी साधक :

जैन-धर्म की साधना न अति परिणामवाद को लेकर चलती है, और न अपरिणामवाद को लेकर ही चलती है। जो साधक परिणामी है, वही उत्सर्ग और अपवाद का मार्ग भली-भाँति समझ सकता है, और देशकालानुसार उनका उचित उपयोग भी कर सकता है। किन्तु, अति परिणामी और अपरिणामी साधक उत्सर्ग एवं अपवाद को समझने में असमर्थ रहते हैं, फलतः समय पर उनका पूर्ण औचित्य के साथ उपयोग न होने के कारण साधना-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में व्यवहार भाष्य और उसकी वृत्ति में एक बड़ा ही सुन्दर रूपक आया है—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। अपने आचार्यत्व का गुरुतर पद-भार किसको दिया जाये? अस्तु तीनों की परीक्षा के विचार से आचार्य ने एक-एक को पृथक-पृथक बुलाकर कहा—"मुझे आम्र ला कर दो।"

अतिपरिणामी, साथ में और भी बहुत-सी अकल्प्य वस्तु लाने की बात करता है।

अपरिणामी कहता है—"आम्र, साधु को कल्पता नहीं है। भला, मैं कैसे ला कर दूँ?"

परिणामी कहता है—"भंते! आम्र कितने ही प्रकार के होते हैं। क्या कारण है, और तदर्थ कौन-सा प्रकार अभीष्ट है, मुझे स्पष्ट प्रतिपत्ति चाहिए। और, यह भी बताएँ कि कितने लाऊँ? मात्रा का ज्ञान मेरे लिए आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि मैं गलती कर जाऊँ।"

आचार्य की परीक्षा में परिणामवादी उत्तीर्ण हो जाता है। क्योंकि वह उत्सर्ग और अपवाद की मर्यादा को भलीभाँति जानता है। वह अपरिणामी के समान गुरु की अवहेलना

---

३२. सट्ठाणे सट्ठाणे, सेया बलिणो य हुंति खलु एए।
सट्ठाण-परट्ठाणा, य हुंति वत्थूतो निप्फन्ना।।३२३।।
—बृहत्कल्प भाष्य पीठिका

३३. संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थु-विणा किंचि।।३२४।।—बृहत्कल्प भाष्य पीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी नहीं करता, और अतिपरिणामी की तरह कारणवश एक अकल्प्य वस्तु माँगने पर अन्य अनेक अकल्प्य वस्तु लाने को भी नहीं कहता। परिणामवादी ही जैन-साधकों का समुज्ज्वल प्रतिनिधि चित्र है। क्योंकि वह समय पर देश, काल आदि की परिस्थिति के अनुरूप अपने को ढाल सकता है। उसमें जहाँ संयम का जोश रहता है, वहाँ विवेक का होश भी रहता है।

अपरिणामी, उत्सर्ग से ही चिपटा रहेगा। और अतिपरिणामी अपवाद का भी दुरुपयोग करता रहेगा। किस समय पर और कितना परिवर्तन करना, यह उसे भान ही नहीं रहेगा। अपरिणामी, सर्वथा अपरिवर्तित क्रिया-जड़ होकर रहेगा, तो अतिपरिणामी, परिवर्तन के प्रवाह में बहता ही जाएगा, कहीं विराम ही न पा सकेगा। धर्म के रहस्य को, साधना के महत्त्व को परिणामी साधक ही सम्यक् प्रकार से जान सकता है, और तदनुरूप अपने जीवन को पवित्र एवं समुज्ज्वल बनाने का नित्य-निरंतर प्रयत्न कर सकता है।

अहिंसा का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है, कि वह मनसा, वाचा, कायेन किसी भी प्रकार के स्थूल एवं सूक्ष्म जीवों की हिंसा न करे। क्यों नहीं करे? इसके समाधान में दशवैकालिक सूत्र में भगवान ने कहा है—"जगती तल के समग्र जीव-जन्तु जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। क्योंकि सब को अपना जीवन प्रिय है। प्राणि वध घोर पाप है। इसलिए निर्ग्रन्थ भिक्षु, इस घोर पाप का परित्याग करते हैं।"[३४]

उपर्युक्त कथन, जैन-साधना-पथ में प्रथम अहिंसा महाव्रत का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, कुछ परिस्थितियों में इसका अपवाद भी होता है। वैसे तो अहिंसा के अपवादों की कोई इयत्ता नहीं है। तथापि वस्तु-स्थिति के यत्किंचित परिबोध के लिए प्राचीन आगमों तथा टीकाग्रन्थों में से कुछ उद्धरण उपस्थित किए जा रहे हैं।

भिक्षु के लिए हरित वनस्पति का परिभोग निषिद्ध है। यहाँ तक कि वह हरित वनस्पति का स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, इसका अपवाद मार्ग भी है। आचारांग सूत्र में कहा गया है, कि "एक भिक्षु, जो कि अन्य मार्ग के न होने पर किसी पर्वतादि के विषम-पथ से जा रहा है। यदि कदाचित् वह स्खलित होने लगे, गिरने लगे, तो अपने आप को गिरने से बचाने के लिए तरु को, गुच्छ को, गुल्म को, लता को, वल्ली को तथा तृण हरित आदि को पकड़ कर सँभलने का प्रयत्न करे।"[३५]

भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग तो यह है, कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे। परन्तु, हरित वनस्पति को पकड़कर चढ़ने या उतरने में हिंसा होती है, यह अपवाद है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए, तो यह हिंसा भी हिंसा के लिए नहीं होती है, अपितु अहिंसा के लिए ही होती है। गिर जाने पर अंग-भंग हो सकता है, फिर आर्त-रौद्र दुर्ध्यान का संकल्प-विकल्प आ सकता है, दूसरे जीवों को भी गिरता हुआ हानि पहुँचा सकता है। अतः भविष्य की इस प्रकार स्व-पर हिंसा की लंबी शृंखला को ध्यान में रख कर यह अहिंसा का अपवाद है, जो मूल में अहिंसा के लिए ही है।

वर्षा बरसते समय भिक्षु अपने उपाश्रय से बाहर नहीं निकलता। क्योंकि जलीय जीवों की विराधना होती है, हिंसा होती है। पूर्ण अहिंसक भिक्षु के लिए सचित्त जल का स्पर्शमात्र भी निषिद्ध है। भिक्षु का यह मार्ग उत्सर्ग मार्ग है।

परन्तु, साथ में इसका यह अपवाद भी है, कि चाहे वर्षा बरस रही हो, तो भी भिक्षु

---

३४. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं।।—दशवैकालिक ६, ११

३५. से तत्थ पयलमाणे वा रुक्खाणि वा, गुच्छाणि वा, गुम्माणि वा, लयाओ वा, वल्लीओ वा, तणाणि वा, हरियाणि वा, अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा.....।
—आचारांग, २ श्रुत० ईर्याध्ययन, उद्देश २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चार (शौच) और प्रस्रवण (मूत्र) करने के लिए बाहर जा सकता है।[३६] मलमूत्र का बलात निरोध करना, स्वास्थ्य और संयम दोनों ही दृष्टि से वर्जित है। मलमूत्र के निरोध में आकुलता रहती है, और जहाँ आकुलता है, वहाँ न स्वास्थ्य है, और न संयम।

वर्षा में बाहर-गमन के लिए केवल मलमूत्र का निरोध ही अपवादहेतु नहीं है, अपितु बाल, वृद्ध और ग्लानादि के लिए भिक्षार्थ जाना अत्यावश्यक हो, तब भी उचित यतना के साथ वर्षा में गमनागमन किया जा सकता है। योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख किया है।[३७]

यही बात मार्ग में नदी-संतरण[३८] तथा दुर्भिक्ष आदि में प्रलम्ब-ग्रहण सम्बन्धी[३९] अपवादों के सम्बन्ध में भी है। ये सब अपवाद भी अहिंसा महाव्रत के हैं। जीवन, आखिर जीवन है, वह संयम की साधना में एक प्रमुख भाग रखता है। और, जीवन सचमुच वही है, जो शान्त हो, समाधिमय हो, निराकुल हो। अस्तु, उत्सर्ग में रहते यदि जीवन में समाधिभाव रहता हो, तो वह ठीक है। यदि किसी विशेष कारणवशात उत्सर्ग में समाधिभाव न रहता हो, अपवाद में ही रहता हो, तो अमुक सीमा तक वह भी ठीक है। अपने आप में उत्सर्ग और अपवाद मुख्य नहीं, समाधि मुख्य है। मार्ग कोई भी हो, अन्ततः समाधिरूप लक्ष्य की पूर्ति होनी चाहिए।

सत्य का उत्सर्ग और अपवाद :

सत्य भाषण, यह भिक्षु का उत्सर्ग-मार्ग है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"मृषावाद—असत्य भाषण लोक में सर्वत्र समस्त महापुरुषों द्वारा निन्दित है। असत्य भाषण अविश्वास की भूमि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मृषावाद का सर्वथा त्याग करते हैं।"[४०]

परन्तु, साथ में इसका अपवाद भी है। आचारांग सूत्र में वर्णन आता है, कि एक भिक्षु मार्ग में जा रहा है। सामने से व्याध आदि कोई व्यक्ति आए और पूछे कि—"आयुष्मन् श्रमण! क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर से आते-जाते देखा है?" इस प्रकार के प्रसंग पर प्रथम तो भिक्षु उसके वचनों की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि मौन न रहने-जैसी स्थिति हो, या मौन रहने का फलितार्थ स्वीकृति-सूचक जैसा हो, तो "जानता हुआ भी यह कह दे, कि मैं नहीं जानता।"[४१]

यहाँ पर असत्य बोलने का स्पष्ट उल्लेख है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है। इस प्रकार के प्रसंग पर असत्य भाषण भी पापरूप नहीं है। निशीथचूर्णि में भी आचारांग सूत्र का उपर्युक्त कथन समुद्धृत है।[४२]

---

३६. इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्।—आचारांग वृत्ति २, १, १, ३, २०
वच्चा-मुत्तं न धारए।—दशवैकालिक अ० ५, गा० १६
उच्चार-प्रश्रवणादिपीडितानां कम्बलावृतदेहानां गच्छतामपि न तथाविधा विराधना।
—योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, ३ प्रकाश, ८७ श्लोक

३७. बाल-वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थं निःसरतां कम्बलावृतदेहानां न तथाविधाप्काय विराधना। —योगशास्त्र, स्वोपज्ञ वृत्ति ३, ८७

३८. तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। —आचारांग २, १, ३, २, १२२

३९. एवं अद्धाणादिसु, पलंबगहणं कया वि होज्जाहि।—निशीथ भाष्य, गा० ४८७९

४०. मुसावाओ य लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥—दशवैकालिक, ६ गा० १३

४१. "तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा नो जाणंति वएज्जा।"—आचारांग २, १, ३, ३, १२९
भिक्षोर्गच्छतः कश्चित् संमुखीन एतद् ब्रूयात्-आयुष्मन् श्रमण! भवता पथ्यागच्छता कश्चिद् मनुष्यादिरुपलब्धः? तं चैवं पृच्छन्तं तूष्णीभावेनोपेक्षेत, यदि वा जानन्नपि नाहं जानामि, इत्येवं वदेत्।
—आचार्य शीलांक की टीका

४२. "संजमहेउं ति" जइ केइ लुद्धगादी पुच्छंति—'कतो एत्थ भगवं दिट्ठा मिगादी?'.....ताहे दिट्ठेसु वि वत्तव्वं—ण वि "पासे" त्ति दिट्ठ त्ति वत्तं भवति। —निशीथ चूर्णि, भाष्यगाथा ३२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र में भी यही अपवाद आया है। वहाँ कहा गया है—

"जो मृषावाद मायापूर्वक दूसरों को ठगने के लिए बोला जाता है, वह हेय है, त्याज्य है।"[४३]

आचार्य शीलांक ने उक्त सूत्र का फलितार्थ निकालते हुए स्पष्ट कहा है—"जो परवञ्चना की बुद्धि से रहित मात्र संयम-गुप्ति के लिए कल्याण भावना से बोला जाता है, वह असत्य दोषरूप नहीं है, पाप-रूप नहीं है।"[४४]

अस्तेय का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग मार्ग में भिक्षु के लिए घास का एक तिनका भी अग्राह्य है, यदि वह स्वामी-द्वारा अदत्त हो तो। कितना कठोर व्रत है। अदत्तादान न स्वयं ग्रहण करना, न दूसरों से ग्रहण करवाना और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन ही करना।"[४५]

परन्तु, परिस्थिति विकट है, अच्छे-से-अच्छे साधक को भी आखिर कभी झुक जाना पड़ता ही है। कल्पना कीजिए, भिक्षु-संघ लंबा विहार कर किसी अज्ञात गाँव में पहुंचता है, स्थान नहीं मिल रहा है, बाहर वृक्षों के नीचे ठहरते हैं, तो भयंकर शीत है, अथवा जंगली हिंसक पशुओं का उपद्रव है। ऐसी स्थिति में शास्त्राज्ञा है कि "बिना आज्ञा लिए ही योग्य स्थान पर ठहर जाएँ और ठहरने के पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करें।"[४६]

ब्रह्मचर्य का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है, कि वह अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए एक दिन की नवजात कन्या का भी स्पर्श नहीं करता।

परन्तु, अपवाद रूप में वह नदी में डूबती हुई अथवा क्षिप्तचित्त आदि भिक्षुणी को पकड़ भी सकता है।[४७]

इसी प्रकार यदि रात्रि आदि में सर्पदंश की स्थिति हो, और अन्य कोई उपचार का मार्ग न हो, तो साधु स्त्री से और साध्वी पुरुष से अवमार्जन आदि स्पर्श-सम्बन्धित चिकित्सा कराए, तो वह कल्प्य है। उक्त अपवाद में कोई प्रायश्चित्त नहीं है—**'परिहारं च से न पाउणइ।'**[४८]

साधु या साध्वी के पैर में काँटा लग जाए, अन्य किसी भी तरह निकालने की स्थिति न हो, तो परस्पर एक-दूसरे से निकलवा सकते हैं।[४९]

कथित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि साधक-जीवन में जितना महत्त्व उत्सर्ग का है, अपवाद का भी उतना ही महत्त्व है। उत्सर्ग और अपवाद में से किसी का भी एकान्ततः न ग्रहण है, न परित्याग। दोनों ही यथाकाल धर्म हैं, ग्राह्य हैं। दोनों के

---

४३. "सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ।"—सूत्र कृतांग, १, ८, १९

४४. यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिहीयते।
यस्तु संयमगुप्त्यर्थं "न मया मृगा उपलब्धा" इत्यादिकः स न दोषाय।
—सूत्रकृतांग वृत्ति १, ८, १९

४५. चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया॥—दशवैकालिक, ६, १४

४६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए। अह पुण जाणेज्जा—इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए त्ति कट्टु एवं णं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए। 'मा वहउ अज्जो', वइ-अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया।
—व्यवहारसूत्र ८, ११।

४७. बृहत्कल्प सूत्र उ० ६ सू० ७-१२ और स्थानांग सूत्र, षष्ठ स्थान

४८. व्यवहार सूत्र उ० ५ सू० २१

४९. बृहत्कल्प सूत्र उ० ६ सू० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुमेल से जीवन स्थिर बनता है। एक समर्थ आचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है, कि "किसी एक देश और काल में एक वस्तु अधर्म है, तो वही तदभिन्न देश और काल में धर्म भी हो सकती है।"[५०]

अपरिग्रह का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग स्थिति में साधु के लिए पात्र आदि धर्मोपकरण, जिनकी संख्या १४ बताई है,[५१] ग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सब परिग्रह हैं। और, परिग्रह भिक्षु के लिए सर्वथा वर्ज्य है।[५२]

परन्तु अपवादीय स्थिति की गंभीरता भी कुछ कम नहीं है। जब कोई भिक्षु स्थविर-भूमि-प्राप्त स्थविर हो जाता है, तो वह छत्रक, चर्मछेदनक आदि अतिरिक्त उपधि भी आवश्यकतानुसार रख सकता है।[५३]

आचारांग सूत्र में समर्थ तथा तरुण भिक्षु को एक पात्र ही रखने की आज्ञा है,[५४] अतएव प्राचीन काल का मात्रक, तथैव आज कल के तीन या चार पात्र अपवाद ही हैं।

निशीथ चूर्णिकार ने ग्लानादि कारण से ऋतुबद्ध एवं वर्षाकाल के उपरान्त एक स्थान पर अधिक ठहरे रहने को भी परिग्रह का कालकृत अपवाद ही माना है।[५५]

यदि कोई भिक्षु विषग्रस्त हो जाए, तो विष निवारण के लिए, सुवर्ण घिसकर उसका पानी विष-रोगी को देने का भी वर्णन है। यह सुवर्ण-ग्रहण भी अपरिग्रह का अपवाद है।[५६]

भिक्षु को यथाशास्त्र निर्दिष्ट पात्र ही रखने चाहिएँ, यदि अधिक रखता है, तो वह परिग्रह है। परन्तु दूसरों के लिए सेवाभाव की दृष्टि से अतिरिक्त पात्र रख भी सकता है।[५७]

पुस्तक, शास्त्र वष्टन, लेखनी, कागज, मसि, आदि भी परिग्रह ही है, क्योंकि ये सब भिक्षु के धर्मोपकरण में परिगणित नहीं हैं। परन्तु, चिरकाल से ज्ञान के साधन रूप में अपरिग्रह का अपवाद मान कर इनका ग्रहण होता रहा है और हो रहा है।

गृह-निषद्या का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु, गृहस्थ के घर पर नहीं बैठ सकता, यह उत्सर्ग-मार्ग है। प्रत्येक भिक्षु को इस नियम का कठोरता के साथ पालन करना होता है।[५८]

परन्तु जो भिक्षु जराभिभूत वृद्ध है, रोगी है, अथवा तपस्वी है, वह गृहस्थ के घर बैठ सकता है।[५९] वह गृहनिषद्या के दोष का भागी नहीं होता।

---

५०. यस्मिन् देशे काल, यो धर्मो भवति। स एव निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव।।

५१. प्रश्न व्याकरण, संवर द्वार, अपरिग्रह निरूपण

५२. दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन, पंचम महाव्रत

५३. व्यवहार सूत्र ८, ५

५४. तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धरेज्जा, नो बिइयं
—आचा० २, १, ६, १, १

५५. गिलाणो सो विहरिउमसमत्थो, उउबद्धं वासियं वा अइरित्तं वसेज्जा।
गिलाणपडियरगा वा ग्लानप्रतिबद्धत्वात् अतिरित्तं वसेज्जा।—निशीथ चूर्णि, भाष्य ४०४

५६. विषग्रस्तस्य सुवर्णं कनकं तं घेत्तु घसिऊण विषविणिग्घायणट्ठा तस्स पाणं दिज्जति,
अतो गिलाणट्ठा ओरालियग्रहणं भवेज्ज। —निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा ३९४

५७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइरेगपडिग्गहं अन्नमन्नस्स अट्ठाए धारेत्तए,
परिग्गहित्तए वा.....
—व्यवहार सूत्र ८, १५

५८. गिहन्तरनिसेज्जा य..... —दश० ३, ४। दश० ८, ८

५९. तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो।।—दशवैकालिक ६, ६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधाकर्म आहार का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मिक आहार भिक्षु के लिए अभक्ष्य कहा गया है।[६०] वह भिक्षु की कल्प-मर्यादा में नहीं है। परन्तु, कारणवशात अपवाद मार्ग में वह आधाकर्म आहार भी अभक्ष्य नहीं रहता।

सूत्रकृतांग सूत्र का अभिप्राय है, कि पुष्टालंबन की स्थिति में आधाकर्मिक आहार ग्रहण करने वाले भिक्षु को एकान्त पापी कहना भूल है। उसे एकान्त पापी नहीं कहा जा सकता।[६१]

आचार्य शीलांक, उक्त सूत्र पर विवेचण करते हुए स्पष्ट लिखते हैं कि—

"अपवाद दशा में श्रुतोपदेशानुसार आधा-कर्म आहार का सेवन करता हुआ भी साधक शुद्ध है, कर्म से लिप्त नहीं होता है। अतः एकान्त रूप में यह कहना कि आधा-कर्म से कर्म-बन्ध होता ही है, ठीक नहीं है।"[६२]

निशीथ भाष्य में भी दुर्भिक्ष आदि विशेष अपवाद के प्रसंग पर आधाकर्म आहार ग्राह्य बताया गया है।"[६३]

संथारे में आहार ग्रहण का अपवाद :

किसी भिक्षु ने भक्त प्रत्याख्यान (संथारा) कर लिया है अर्थात आहार-ग्रहण का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है। शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! कदाचित उस भिक्षु को क्षुधा सहन न कर सकने के कारण उत्कट असमाधिभाव हो जाए, और वह भक्त-पान मांगने लगे, तो उसे देना चाहिए, कि नहीं?"

व्यवहार भाष्य वृत्ति में इस का सुन्दर समाधान दिया गया है। आचार्य मलयगिरि कहते हैं—"भिक्षु को असमाधि भाव हो आने पर यदि वह स्थिरचित्त न रहे और भक्त-पान मांगने लगे, तो उसे भक्त-पान अवश्य दे देना चाहिए। क्योंकि उसके प्राणों की रक्षा के लिए आहार कवच है।"[६४]

शिष्य पूछता है, कि—"त्याग कर देने पर भी भक्त-पान क्यों देना चाहिए?"[६५] आचार्य कहते हैं—

"भिक्षु की साधना का लक्ष्य है, कि वह परीषह की सेना को मनःशक्ति से, वचः शक्ति से और काय-शक्ति से जीते। परीषह सेना के साथ युद्ध वह तभी कर सकता है, जब कि समाधि-भाव रहे। और भक्त-पान के बिना समाधि भाव नहीं रह सकता है। अतः उसे कवच-भूत आहार देना चाहिए।"[६६]

---

६०. जे भिक्खू आहाकम्मं भुंजइ, भुजंतं वा सातिज्जइ।—निशीथ सूत्र १०, ६

६१. अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्ते ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो।।८।।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए।।९।। —सूत्रकृतांग, २, ५

६२. आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते। तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यकर्मबन्धो भवति, इत्येवं नो वदेत्।

६३. असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।—टीका
अद्धाण रोहए वा, धिति पडुच्चा व आहारे।।—निशीथ भाष्य, गाथा २६८४

६४. अशने पानके च याचिते, तस्य भक्तपानात्मकः कवचभूत आहारो दातव्यः।
—व्यवहार भाष्य वृत्ति उ० १० गा० ५३३

६५. अथ किं कारणं, प्रत्याख्याय पुनराहारो दीयते?

६६. हंदि परीसहचमू, जोहेयव्वा मणेण काएण।
तो मरण-देसकाले कवयभूओ उ आहारो।।—व्यवहार भाष्य, उ०, १० गा० ५३४
परीषह सेना मनसा कायेन (वाचा च) योधेन जेतव्या। तस्याः पराजयनिमित्तं मरण देशकाले (मरण समये) योधस्य कवचभूत आहारो दीयते।—व्यवहार भाष्य वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते ! संथारा करने वाले भिक्षु के द्वारा भक्त-पान ग्रहण कर लेने पर यदि कोई आग्रही निन्दा करे, तो क्या होता है ?"

आचार्य कहते हैं—"जो उसकी निन्दा करता है, जो उसकी भर्त्सना करता है, उसको चार मास का गुरु प्रायश्चित्त आता है।"[६७]

पशुओं के बन्धन-मोचन का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु आत्म-साधना में एक धारा से सतत निरत रहनेवाला साधक है। वह गृहस्थ के संसारी कार्यों में किसी प्रकार का भी न भाग लेता है, और न उसे ठीक ही समझता है। वह गृहस्थ के घर पर रहकर भी जल में कमल के समान सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अतएव भिक्षु को गृहस्थ के यहाँ बछड़े आदि पशुओं को न बाँधना चाहिए और न खोलना चाहिए। यह उत्सर्ग मार्ग है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भिक्षु की साधना एक चेतना-शून्य जड़ साधना है। अतः कैसी भी दुर्घटना हो, वह अनुकम्पाहीन पत्थर की मूरत बन कर बैठा रहेगा। कल्पना कीजिए—आग लग जाए, बाढ़ का पानी चढ़ आए, वृकादि हिंसक पशु आक्रमण करने वाले हों, अथवा अन्य कोई विषम स्थिति हो, तो क्या किया जाए ? क्या इस स्थिति में भी पशुओं को सुरक्षित एकान्त स्थान में न बाँधे, उन्हें यों ही अनियंत्रित घूमने दे और मरने दे ? नहीं, निशीथ-भाष्यकार के शब्दों में शास्त्राज्ञा है कि उक्त अपवादपरक स्थितियों में पशुओं को सुरक्षा के लिए बाँधा जा सकता है।[६८]

जो दृष्टि बाँधने के सम्बन्ध में है, वही खोलने के सम्बन्ध में भी है। गृहस्थ के प्रति चापलूसी का दीन भाव रख कर कि वह मुझ पर प्रसन्न रहेगा, फलस्वरूप मन लगा कर सेवा करेगा, गृहस्थ का कोई भी संसारी कार्य न करे। परन्तु, यदि पशु आग लगने पर जलने जैसी स्थिति में हों, गाढ़ बन्धन के कारण छटपटा रहे हों, तो सुरक्षा के लिए पशुओं को खोल भी सकता है।[६९] यह अपवाद-मार्ग है, जो अनुकम्पा-भाव से विशेष परिस्थिति में अपनाया जा सकता है।

अतिचार और अपवाद का अन्तर :

अतिचार और अपवाद का अन्तर समझने जैसा है। बाह्य रूप में अपवाद भी अतिचार ही प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार अतिचार में दोष-सेवन होता है, वैसा ही अपवाद में भी होता है, अतः बहिरंग में नहीं पता चलता कि अतिचार और अपवाद में ऐसा क्या अन्तर है कि एक त्याज्य है, तो दूसरा ग्राह्य है।

अतिचार और अपवाद का बाहर में भले ही एक-जैसा रूप हो, परन्तु दोनों की पृष्ठ-भूमि में बहुत बड़ा अन्तर है। अतिचार कुमार्ग है, तो अपवाद सुमार्ग है। अतिचार अधर्म है, तो अपवाद धर्म है। अतिचार संसार का हेतु है, तो अपवाद मोक्ष का हेतु है।

---

६७. यस्तु तं भक्तपरिज्ञाव्याघातवन्तं खिंसति। (भक्तप्रत्याख्यान प्रतिभग्न एष इति) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुकाः।—व्यवहार भाष्य वृत्ति १० उद्देश, गा० ५५१

६८. बितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणप्फगादीसु जाणमवि ।।३६८३।। —निशीथ भाष्य

विसमा अगड अगणि आऊसु मरिज्जिहिति त्ति, वृगादिसणप्फएण वा मा खिज्जिहि त्ति, एवं जाणगो वि बंधइ।—निशीथचूर्णि

६९. बितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, बलिपासग-अगणिमादीसु ।।३६८४।।—निशीथ भाष्य

बलिपासगो त्ति बंधणो, तेण अईव गाढं बद्धो मूढो वा तडप्फडेइ, मरइ वा जया, तया मुंचई। अगणि त्ति पलीवणगे बद्धं मुंचेइ, मा डज्झिहिति।—निशीथ चूर्णि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल बात यह है कि अतिचार के मूल में दर्प रहता है, मोहोदय का भाव रहता है।[७०] क्रोधादि कषायभाव से, वासना से, संसार सुख की कामना से बिना किसी पुष्टालम्बन के, उत्सर्ग संयम का परित्याग कर जो विपरीत आचरण किया जाता है, वह अतिचार है। अतिचार से संयम दूषित होता है, अतः वह त्याज्य है। यदि मोहोदय के कारण कभी अतिचार का सेवन हो भी जाता है, तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि करनी होती है। अन्यथा, भिक्षु विराधक हो जाता है, और पथभ्रष्ट होकर संसार-कान्तार में भटक जाता है।

अब रहा अपवाद। इसके सम्बन्ध में पहले भी काफी प्रकाश डाला जा चुका है। "यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा, तो मेरे ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि न होगी"—इस विचार से ज्ञानादि के योग्य सन्धान के लिए जो प्रतिसेवना की जाती है, वह सालम्ब सेवना है।[७१] और यही अपवाद का प्राण है। अपवाद के मूल में ज्ञानादि सद्गुणों के अर्जन तथा संरक्षण की पवित्र भावना ही प्रमुख है।

निशीथ भाष्यकार ने ज्ञानादि-साधना के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अंध गर्त में पड़ा हुआ मनुष्य लताओं का अवलम्बन कर बाहर तट पर आ जाता है, अपनी रक्षा कर लेता है, उसी प्रकार संसार गर्त में पड़ा हुआ साधक भी ज्ञानादि का अवलम्बन कर मोक्ष तट पर चढ़ आता है, सदा के लिए जन्म-मरण के कष्टों से निजात्मा की रक्षा कर लेता है।[७२]

अतः उत्सर्ग के समान अपवाद भी संयम है, अतिचार नहीं। कषाय-भाव से प्रेरित प्रवृत्ति अतिचार है, तो संयम-भाव से प्रेरित वही प्रवृत्ति अपवाद है। अतएव अतिचार कर्म-बन्ध का जनक है, तो अपवाद कर्म-क्षय का कारण है।[७३] बाहर में स्थूल दृष्टि से एकरूपता होते हुए भी, अन्दर में अन्तर है, आकाश-पाताल जैसा महान् अन्तर है। एक भगवान् की आज्ञा में है, तो दूसरा भगवान् की आज्ञा से बाहर है। पुष्टालम्बन वह अद्भुत् रसायन है, जो अकल्प को भी कल्प बना देती है, अतिचार को भी आचार का सुरूप दे देती है।

उपसंहार :

उत्सर्ग और अपवाद छेद सूत्रों का मर्मस्थल है। अतएव भाष्यों, चूर्णियों तथा तत्सम्बन्धित अन्य आचार ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय पर इतना अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है कि यह क्षुद्र निबन्ध समुद्र में की एक नन्हीं बूंद जैसा लगता है, वस्तुतः बूंद भी नहीं।

---

७०. प्रतिसेवना के दो रूप हैं—दर्पिका और कल्पिका। बिना पुष्टालम्बनरूप कारण के की जाने वाली प्रतिसेवना दर्पिका है, और वह अतिचार है। तथा विशेष कारण की स्थिति में की जाने वाली प्रतिसेवना कल्पिका है, जो अपवाद है और वह भिक्षु का कल्प है—आचार है।

या कारणमन्तरेण प्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका, या पुनः कारणे सा कल्पिका।
—व्यवहार भाष्य वृत्ति उ० १० गा० ३८

७१. णाणादी परिवुड्ढी, ण भविस्सति मे असेवते बितियं,
तेसिं पसंधणट्ठा, सालंबणिसेवणा एसा ॥४६६॥—निशीथ भाष्य

७२. संसार गड्ड-पडितो, णाणादवलंबितुं समारुहति।
मोक्खतडं जध पुरिसो, बल्लिवितारणेण विसमा उ ॥४६५॥
—निशीथ भाष्य

७३. अण्णा वि हु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएण जा जयता।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजय कम्मजणणी उ॥—व्यवहार भाष्य, उ० १, ४२
या कारणे यतमानस्य यतनया प्रवर्तमानस्य प्रतिसेवना,
सा कर्मक्षयकरणी। सूत्रोक्तनीत्या कारणे यतनया
यतमानस्य ततस्तद्राज्ञाराधनात्।
—व्यवहार भाष्य—वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी यथा मति, यथा गति कुछ लिखा गया है, और वह जिज्ञासु की ज्ञान-पिपासा के लिए एक जल कण ही सही, किन्तु कुछ है तो सही।

प्रस्तुत निबन्ध का अक्षर-शरीर कुछ पुरानी और कुछ नयी विचार सामग्री के आधार पर निर्मित हुआ है, और वह भी चिन्तन के एक आसन पर नहीं। बीच-बीच में विक्षेप-पर-विक्षेप आते रहे, शरीर-सम्बन्धी और समाज-सम्बन्धी भी। अतः लखन में यत्र-तत्र पुनरुक्ति की झलक आती है। परन्तु, वह जहाँ दूषण है, वहाँ भूषण भी है। उत्सर्ग और अपवाद जैसे गहनातिगहन विषय की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए पुनरुक्तता का भी अपने में एक उपयोग है, और वह कभी-कभी आवश्यक हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७

महाव्रतों का भंग-दर्शन

जैन-धर्म एवं दर्शन की आधार शिला मुख्य रूप से दो अर्थ-गंभीर शब्दों पर स्थित है। 'द्रव्य' और 'भाव'—ये दो महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द हैं, जिनकी परिक्रमा चिर-काल से जैनत्व की चिन्तनिका करती आ रही है। लौकिक और लोकोत्तर, दोनों ही पक्षों पर योग्य निर्णय, इन दो शब्दों के आधार पर किए जाते रहे हैं। साधना-पक्ष के तो ये दो शब्द वस्तुतः अन्तःप्राण ही हैं। इनके बिना धर्म-साधना की गति एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती।

जैन-दर्शन में चतुर्भंगी का बहुत अधिक महत्त्व है। स्थानांग आदि आगम तथा आगमोत्तर साहित्य में अधिकतर चतुर्भंगी के द्वारा ही वस्तु-तत्त्व की यथार्थ दृष्टि व्याख्यायित है। मौलिक चिन्तन की दृष्टि से चतुर्भंगी, धर्म और दर्शन के यथार्थ सत्य को उजागर करने के लिए, वस्तुतः एक दिव्य ज्ञान-ज्योति है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में द्रव्य और भाव की भी चतुर्भंगी प्ररूपित की गई है।

दो विभिन्न पक्षों को लेकर जब चिन्तन अग्रसर होता है, तो उनके अस्तित्व तथा नास्तित्व आदि के रूप में चार 'भंग' अर्थात विकल्प बन जाते हैं। यही चतुर्भंगी है—

'चतुर्णां भंगानां समाहार चतुर्भंगी'

अन्यत्र न जाकर प्रस्तावित द्रव्य और भाव पर ही प्रस्तुत में चतुर्भंगी घटित की जाती है :

१. 'द्रव्य है, परन्तु भाव नहीं है'—यह एक भंग अर्थात विकल्प है।
२. 'भाव है, परन्तु द्रव्य नहीं है'—यह दूसरा विकल्प है।
३. 'द्रव्य भी है, भाव भी है'—दोनों का सह-अस्तित्व रूप तीसरा विकल्प है।
४. 'द्रव्य भी नहीं, भाव भी नहीं'—दोनों का एक साथ नास्तित्व रूप चतुर्थ विकल्प है।

जैन-दर्शन में कर्म-बन्ध से पूर्व कर्मों के आश्रव की चर्चा है। आश्रव कारण है, और बन्ध उसका कार्य है। साधना का मुख्य अंग आश्रव-निरोध है, जिसे संवर नाम से अभिहित किया गया है—**'आश्रव निरोधः संवरः'** तत्त्वार्थसूत्र, ६, १। स्पष्ट है, कारण का निरोध होने पर कार्य का निरोध स्वतः ही हो जाता है—**'कारणाभावे कार्याभावः।'**

प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—स्तेय अर्थात चौर्य, मैथुन—अब्रह्मचर्य और परिग्रह—ये पाँच आश्रव हैं, जो कर्म-बन्ध के हेतु हैं। इनके प्रतिपक्ष प्राणातिपातविरमण—अहिंसा, मृषावादविरमण—सत्य, अदत्तादान-विरमण—अस्तेय, मैथुन-विरमण—ब्रह्मचर्य और परिग्रहविरमण-अपरिग्रह—ये पाँच संवर हैं, जो आश्रव-निरोध रूप हैं।

जैन-दर्शन में हिंसा आदि पाँच आश्रवों की निवृत्तिरूप अहिंसा आदि संवर ही मुख्यत्वेन धर्म-साधना है, जिसे व्रत नाम से अभिहित किया गया है। **'हिंसाऽनृत-स्तेयाऽब्रह्म-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्'—तत्त्वार्थसूत्र, ७, १। श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी की साधना के रूप में, ये ही क्रमशः अणुव्रत तथा महाव्रत के रूप में प्रसिद्ध हैं। अपनी जीवन भूमिका के अनुरूप श्रावक के लिए, हिंसा आदि की अमुक अंश में मर्यादाबद्ध आंशिक निवृत्तिरूप अहिंसा आदि अणुव्रत हैं और सर्वथा सर्वांश में हिंसा आदि की निवृत्ति रूप अहिंसा आदि साधु के लिए महाव्रत हैं। इन्हीं का देश-विरत तथा सर्व-विरत के रूप में भी उल्लेख है।

यद्यपि साधु के लिए मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमोदित रूप में हिंसा आदि की महाव्रती-प्रतिज्ञासूत्र में सर्वविरतिता वर्णित है, परन्तु जीवन-यात्रा में ऐसी सर्वथा विरति घटित होती नहीं है, यह प्रत्यक्ष में परिलक्षित है। उक्त विरोधाभास का समाधान भाव-पक्ष में है। सर्वथा निवृत्ति की भावना है, तदर्थ यत्नशीलता भी है, फिर भी परिस्थिति विशेष में यथाप्रसंग अतिक्रमण हो ही जाता है, तो उसकी प्रतिक्रमण आदि के द्वारा शुद्धि कर ली जाती है। अतः सर्वविरति का स्वरूप जागृत यत्नशीलता में है, और भाव में है। और, उक्त स्थिति को यथायोग्य समझने के लिए प्रस्तुत में द्रव्य और भाव की चतुर्भंगी का स्पष्ट बोध अपेक्षित है।

अहिंसा आदि की साधना के लिए सर्व प्रथम हिंसा आदि को स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि हिंसा की निवृत्ति आदि ही तो अहिंसा आदि है। अतः जिनकी निवृत्ति करनी है, जिनसे अपनी आत्म-चेतना को मुक्त रखना है, मुक्त रखने की यत्नशीलता—साधना करना है, उनका यदि सम्यक्-बोध नहीं है, तो फिर अज्ञानता की अन्ध-स्थिति में निवृत्ति का क्या अर्थ रह पाता है? इसलिए दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में भगवद् वचन है—**अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय-पावगं।**"

जीवन के दो पक्ष हैं—अन्तरंग और बहिरंग। हिंसा आदि कब, किस स्थिति में, किस रूप में आश्रव रूप होते हैं, और कब आश्रव रूप न होकर अनाश्रव अर्थात संवर रूप होते हैं, यह व्यक्ति के अन्तरंग और बहिरंग स्थिति पर आधारित है। अन्तरंग भाव पक्ष है, और बहिरंग द्रव्य पक्ष। हिंसा और अहिंसा आदि मूल में व्यक्ति का अपना एक भाव, एक विचार, एक संकल्प होता है। और, उसी के आधार पर आश्रव एवं बन्ध की तथा संवर और निर्जरा की स्थिति है। बहिरंग रूप अकेले द्रव्य का उक्त स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह आश्रव, बन्ध का हेतु है और न संवर, निर्जरा का—**'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे।'**

तत्त्वद्रष्टा आगम मर्मज्ञ जैनाचार्यों ने प्रस्तुत सन्दर्भ में द्रव्य और भाव की जो चतुर्भंगी प्ररूपित की है, उस पर से हिंसा-अहिंसा आदि के स्वरूप का स्पष्टतः परिबोध हो जाता है। और इस परिबोध के आधार पर अहिंसा आदि व्रतों के साधना-पक्ष की अनेक गूढ़ ग्रन्थियों तथा भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है।

प्रतिपाद्य की भूमिका लंबी न करें। आइए, चर्चित बोध के लिए महान् आचार सूत्र दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, दीपिका आदि के प्रकाश में चिन्तन-यात्रा शुरू करें।

दशवैकालिक सूत्र पर चतुर्दशपूर्ववित्, पंचम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु की प्राकृत-गाथाबद्ध निर्युक्ति है, जो उक्त सूत्र की पहली व्याख्या है। यह श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के १७० वर्ष के आस-पास शब्दबद्ध हुई है। आचार्य भद्रबाहु की गरिमा जैन-परम्परा के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी पक्षों में आदृत है। उनकी प्रामाणिकता सन्देह से परे है। दशवैकालिक की अपनी निर्युक्ति में, जिसमें निर्युक्ति पर का भाष्य भी अन्तर्गभित है, अहिंसा के द्रव्य-भाव से सम्बन्धित चार रूप निर्धारित किए हैं, इसी के आधार पर उत्तरकालीन जिनदास आदि आचार्यों ने सत्य, अस्तेय आदि पर भी द्रव्य-भाव की चतुर्भंगी घटित की है।

आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति का द्रव्य-भाव से सम्बधित संकेतपरक पाठ इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ।
दव्वे भावे अ तहा, अहिंसाऽजीवाइ वा उ त्ति ।।४५।।"

—हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। और, वह द्रव्य और भाव से चार प्रकार की होती है। अहिंसा और अजीवातिपात, मूलतः एकार्थक हैं।

उपर्युक्त निर्युक्ति के द्वारा निरूपित द्रव्य-भाव के चतुर्विधत्व का, महान् श्रुतधर आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र ने, उदाहरणों के द्वारा बहुत स्पष्टता से वर्णन किया है। और, यही वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी, कहीं विस्तार से, तो कहीं संक्षेप से, उल्लिखित होता रहा है।

श्री जिनदास महत्तर द्वारा रचित दशवैकालिक चूर्णि अभी मेरे समक्ष नहीं है, अतः श्री हरिभद्र सूरीश्वर की दशवैकालकीय बृहदवृत्ति से ही हिंसा आदि से सम्बन्धित द्रव्य-भाव की चर्चित चतुर्भंगी का बोध-पाठ दिया जा रहा है। बृहदवृत्ति में प्रस्तुत चर्चा का अधिकांश भाग जिनदासीय चूर्णि से ही उद्धृत है और अपने में यह अच्छा ही है कि इस तरह सहज ही प्रस्तुत प्रतिपाद्य पर दो बहुविश्रुत एवं बहुश्रुत आचार्यों की विचार-मुद्रा अंकित हो जाती है।

चूर्णि एवं बृहद वृत्ति का अहिंसा के प्रसंग में भंग-क्रम एक होते हुए भी मेरे लेखन से कुछ भिन्न है। दोनों में द्रव्य और भाव का सह अस्तित्वरूप सम्मिलित भंग 'द्रव्य-भाव' पहले दिया गया है, शेष भंग बाद में हैं। मैंने यहाँ स्पष्ट बोध के लिए सर्वप्रथम द्रव्य, तत्पश्चात भाव और तदनन्तर सह अस्तित्वरूप संयुक्त द्रव्यभाव और अन्त में 'नो द्रव्य नो भाव'—यह क्रम दिया है। केवल क्रम में ही सहज रूप से सर्वसाधारण के अर्थ-बोधार्थ आवश्यक परिवर्तन है, जो सुरुचिशील पाठकों द्वारा क्षन्तव्य है। एतदतिरिक्त शब्द और भाव ज्यों के त्यों हैं, उनमें मेरी ओर से कुछ नहीं किया गया है। आगे जाकर चतुर्थ अध्ययन में सत्यादि की विवेचना के प्रसंग में आचार्य द्वय ने भी चतुर्भंगी का मदुक्त क्रम ही अपनाया है।

हिंसा—अहिंसा से सम्बन्धित चतुर्भंगी :

१. 'द्रव्यतो न भावतः।' सा खलु ईर्यादि-समितस्य साधोः कारणे गच्छत इति। उक्तं च —

उच्चालियं मि पाए,
इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज ।। १ ।।
न य तस्स तन्निमित्तो,
बन्धो सुहमो वि देसिओ समए।
जम्हा सो अप्पमत्तो
सा उ पमाओ त्ति निद्दिट्ठो ।। २ ।।—ओघनिर्युक्ति, ७४८-४९

'द्रव्य से हिंसा है, किन्तु भाव से नहीं'—यह प्रथम भंग है। यथाप्रसंग ईर्यादि समिति से गमनागमन करते हुए मुनि के द्वारा भी कदाचित् जो हिंसा हो जाती है, वह स्थूल द्रव्य-रूप में बाह्य द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु मुनि के अन्तरंग भाव में हिंसा नहीं है, हिंसा की कोई परिणति नहीं है। अतः यह द्रव्य-हिंसा कर्मबन्ध की हेतु नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु का एक परंपरागत प्राचीन कथन है —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—ईर्या समिति से गमन करते हुए मुनि के पैर के नीचे भी कभी कभार कीट आदि क्षुद्र-प्राणी दब कर मर जाते हैं, उनकी हिंसा हो जाती है।

—परन्तु उक्त द्रव्य हिंसा से उस मुनि को सिद्धान्त में सूक्ष्म मात्र भी कर्म-बन्ध नहीं बताया गया है, क्योंकि मुनि अप्रमत्त है, अन्तरंग में जागृत है, और सिद्धान्त में हिंसा तो प्रमादरूप में निर्दिष्ट है।

२. 'या पुनर्भावतो न द्रव्यतः' सेयम्—जहा के वि पुरिसे मंद-मंदप्पगासप्पदेसे संठियं ईसिवलियकायं रज्जुं पासित्ता, एस अहि त्ति तव्वहपरिणामए णिकड्ढियासिपत्ते दुण्हं दुण्हं छिंदिज्जा। एसा भावओ हिंसा, न दव्वओ।

'भाव से हिंसा है, किन्तु द्रव्य से नहीं है'—यह द्वितीय भंग है। जैसे कि कोई व्यक्ति कुछ अधिक मन्द प्रकाश वाले प्रदेश में वक्र रूप से आडी-तिरछी पड़ी हुई रस्सी को भ्रम से सर्प समझ लेता है और तलवार लेकर सहसा उसके दो खण्ड (टुकड़े) कर डालता है। स्पष्ट ही यहाँ सर्परूप प्राणी की हिंसा तो नहीं हुई है, किन्तु सर्प मारने का भाव होने से भाव-हिंसा है। अतः प्रस्तुत भंग में प्राणातिपात रूप हिंसा का दोष होने से कर्म-बन्ध है।

३. द्रव्यतो भावतश्चेति।' जहा केई पुरिसे मियवह-परिणाम-परिणए, मियं पासिता आयण्णाइट्ठियकोदंडजीवे सरं णिसिरिज्जा। से य मिए तेण सरेण विद्धे मए सिया। एसा दव्वओ हिंसा, भावओ वि।

'द्रव्य से भी हिंसा और भाव से भी'—यह तृतीय भंग है। द्रव्य और भाव, दोनों से हिंसा होने की स्थिति संकल्पपूर्वक किसी प्राणी की हिंसा कर देने में है। जैसे कि कोई शिकारी मृग को मारने के भाव से कान तक धनुष की प्रत्यंचा को जोर से खींच कर लक्ष्य—सन्धानपूर्वक बाण से मृग को बींधता है, और मृग मर भी जाता है। यहाँ मारने के भाव से मृग को मारा गया है, अतः यह द्रव्य हिंसा भी है, और भाव-हिंसा भी। प्रस्तुत उभयमुखी हिंसा भी कर्म-बन्ध की हेतु है। क्योंकि इसमें द्रव्य के साथ हिंसा का भाव स्पष्टतः संलग्न है, जो **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम्'** के अनुसार कर्म-बन्ध हेतुक हिंसा की परिभाषा में आता है।

४. 'चरमभंगस्तु शून्यः'—

चतुर्थ भंग शब्दोल्लेख रूप में है—'न द्रव्य से हिंसा और न भाव से हिंसा।' यह भंग शून्य है। क्योंकि इस रूप में हिंसा की क्रियात्मक एवं भावात्मक कहीं कोई स्थिति ही नहीं होती है। हिंसा के मूल में दो ही रूप हैं—द्रव्य और भाव। तीसरा भंग दोनों के मिलन का है। अतः दोनों के निषेध में हिंसा का कोई रूप ही नहीं बनता। अतः चतुर्थ भंग अर्थशून्य है, केवल शब्द मात्र है।

असत्य-सत्य से सम्बन्धित चतुर्भंगी :

१. तत्थ को वि कंहि वि हिंससुज्जुओ भणइ—'दूओ तए पसुमिगाइणो दिट्ठ' त्ति। सो दयाए दिट्ठा वि भणइ—'ण दिट्ठ' त्ति। एस दव्वओ मुसावाओ, नो भावओ।

कोई व्यक्ति वन-प्रदेश आदि में स्थित मुनि से पूछता है कि 'इधर से मृग आदि पशु गए हैं क्या?' मुनि ने देखे हैं, फिर भी प्राणिरक्षारूप दया के भाव से कहता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'नहीं, मैंने नहीं देखे हैं।' यह द्रव्य रूप से शाब्दिक मृषावाद अर्थात असत्य है, किन्तु भाव से नहीं है। क्योंकि मुनि अपने किसी वैयक्तिक स्वार्थ आदि की दृष्टि से असत्य के लिए असत्य नहीं बोल रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में प्राणि दया की दृष्टि से केवल शब्द रूप में ही असत्य है, भाव में नहीं। अतः यह द्रव्य असत्य है, भाव असत्य नहीं। भाव असत्य न होने से यह बाह्य असत्य होते हुए भी अन्तरंग में हित होने से सत्य की कोटि में आता है। इसके फलस्वरूप मुनि का मृषावाद—विरमणरूप सत्य महाव्रत खण्डित नहीं होता है।

आचारांग सूत्र के द्वितीय स्कन्ध में प्रस्तुत सन्दर्भ से ही सम्बन्धित "जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा" का जो भाव-बोध है, वही आगम-मर्मज्ञ चूर्णिकार तथा टीकाकार आचार्यों के शब्दों में मुखरित हुआ है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट कथन है कि मुनि प्राणि-दया के हेतु मृगादि को जानता हुआ भी कह दे कि 'नो जानं'—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम, मैंने नहीं देखे।

जैन-धर्म भाव-प्रधान धर्म है। यहाँ बन्ध और मोक्ष व्यक्ति की भावधारा पर ही आधारित हैं। अतः आचारांग आदि के व्रत-साधना सम्बन्धी उक्त विश्लेषण भावना की गुणवत्ता के स्पष्टतः उद्घोषक हैं। आगमों के भावों को साम्प्रदायिक मोह से मुक्त हो कर ही देखना, परखना, समझना एवं समझाना चाहिए। अस्तु, साम्प्रदायिक मान्यताओं एवं त्याग-वैराग्य की उत्कृष्टता के अहम् में उलझे महानुभावों से नम्र निवेदन है कि कृपया आचारांग के उक्त मूल पाठ का अर्थविपर्यास न करें, जैसा कि प्रायः वे आजकल कर रहे हैं। विद्वानों की दृष्टि में उनकी यह व्यर्थ की उपहासास्पद चेष्टा है। उन्हें पता होना चाहिए, इस प्रकार के शास्त्र एवं परम्परा के विरुद्ध अनर्गल एवं असत्य अर्थ-विपर्यास आगम-भक्त प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों के प्रति स्पष्ट ही अवहेलना की निकृष्टतर अपभ्राजना के द्योतक हैं।

नायाधम्म कहाओ—ज्ञातासूत्र आदि में श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा भव्य जीवों के प्रतिबोध के हेतु अनेक कल्पित कथाएँ कहीं गई हैं, वे भी यथार्थ में घटित न होने के कारण शब्द रूप में तो द्रव्य असत्य हैं, किन्तु आध्यात्मिक भाव की प्रतिबोधकता में हेतु होने से भाव सत्य हैं। उत्तरकालीन आचार्यों के भी इसी प्रकार के अनेक कल्पित बोध-वचन सत्य से सम्बन्धित उक्त प्रथम भंग की कोटि में आते हैं।

२. अवरो 'मुसं भणीहामि' त्ति परिणओ, सहसा सच्चं भणइ। एस भावओ न दव्वओ।

एक व्यक्ति अपने स्वार्थ आदि की पूर्ति के हेतु दूसरे को धोखा देने के लिए असत्य बोलने का विचार करता है, किन्तु हड़बड़ी में उसके मुख से सहसा सच्ची बात बोल दी जाती है। अतः यह भाव से असत्य है, द्रव्य से नहीं। यह द्वितीय भंग कर्म-बन्ध का हेतु है। क्योंकि मुख से शब्द रूप में भले ही सत्य बोला गया हो, किन्तु मन में तो असत्य बोलने के, धोखा देने के भाव हैं, अतः कर्म-बन्ध का होना सुनिश्चित है।

३. अवरो मुसं भणीहामि त्ति परिणओ मुसं चेव भणइ। एस दव्वओ वि भावओ वि।

तृतीय भंग द्रव्य और भाव का मिश्रित भंग है। एक व्यक्ति असत्य बोलने का विचार करता है, और तदनुसार असत्य बोल भी देता है, यह द्रव्य और भाव अर्थात् मन और वाणी दोनों से असत्य है। उक्त भंग में असत्य का भाव होने से यह भी असत्य आश्रव-जन्य कर्म-बन्ध का हेतु है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. चउत्थो भंगो पुण सुन्नो।

चतुर्थ भंग है—न द्रव्य से असत्य, और न भाव से असत्य। यह भंग हिंसा के पूर्वोक्त चतुर्थ भंग के समान शून्य भंग है। क्योंकि इस प्रकार के उभयनिषेधात्मक असत्य की जीवन में कोई स्थिति ही नहीं होती है।

स्तेय-अस्तेय से सम्बन्धित चतुर्भंगी :

१. अरत्त-दुट्ठस्स साहुणो कहिं वि अणणुण्णवेऊण तणाइ गेण्हओ दव्वओ अदिन्नदाणं, णो भावओ।

राग-द्वेष के भाव से मुक्त मुनि, किसी प्रयोजन विशेष से कहीं पर, बिना किसी की आज्ञा के जो तृणादि वस्तु ग्रहण कर लेता है, वह द्रव्य से तो अदत्तादान अर्थात स्तेय है, किन्तु भाव से नहीं, क्योंकि यहाँ शान्तचेत्ता मुनि के अन्तर्मन में चौर्य-वृत्ति-जैसा कोई भाव नहीं है।

व्यवहार सूत्र में यही बात, परिस्थिति-विशेष में अदत्त-वसत्ति के ग्रहण-प्रसंग में भी निर्दिष्ट है।

श्वास-उच्छ्वास आदि की सहज क्रियाओं में वायुकाय आदि को ग्रहण करते समय भी यही प्रथम भंग, सर्वारंभ परित्यागी मुनि को हिंसा और अदत्तादान के दोष से मुक्त रखता है।

२. हरामि त्ति अब्भुज्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ, न दव्वओ।

चोरी करने के भाव से कोई किसी की वस्तु चुराने को उद्यत अर्थात तैयार तो है, परन्तु किसी कारण से चुरा नहीं पाता है, यह भाव से अदत्तादान है, किन्तु द्रव्य से नहीं। भले ही चोरी न की हो, पर मन में चोरी की वृत्ति होने से अदत्तादान का यह भावरूप द्वितीय भंग कर्म-बन्ध का हेतु है।

३. एवं चेव संपत्तीए भावओ दव्वओ वि।

अदत्तादान का तीसरा भंग है—'द्रव्य से भी अदत्तादान और भाव से भी।' व्यक्ति चोरी करने का विचार भी रखता है, और भावानुसार चोरी कर भी लेता है। यह तृतीय भंग अदत्तादान सम्बन्धी कर्म-बन्ध का हेतु है।

४. चरिमभंगो पुण सुन्नो।

चतुर्थ भंग का रूप है—'न द्रव्य से अदत्तादान और न भाव से।' यह पूर्वोक्त चतुर्थ भंगों के समान शून्य है। ऐसा कौन-सा अदत्तादान है, जो न द्रव्य से हो और न भाव से? कोई भी नहीं।

अब्रह्म-ब्रह्म से सम्बन्धित चतुर्भंगी :

१. अरत्त-दुट्ठाए इत्थियाए बला परिभुंजमाणीए दव्वओ मेहुणं नो भावओ।

शीलवती किसी स्त्री का, यदि कोई दुष्ट अत्याचारी बलात्कार के द्वारा, शील-भंग करता है, तो यह नारी का केवल द्रव्य से मैथुन—अब्रह्मचर्य है, भाव से नहीं। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भंग बाहर में द्रव्यतः शील-भंग होने पर भी भाव न होने से शील-भंग की कोटि में नहीं आता। अतः उक्त द्रव्य भंग से किसी भी प्रकार के पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। पूर्व में अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि भावहीनता की स्थिति में केवल जड़ शरीर की क्रिया से अच्छा या बुरा कुछ भी शुभाशुभ नहीं होता।

यदि कोई नारी या नर साधु-मर्यादा न जानने के कारण भावनावश सहसा विरक्त साधु या साध्वी के चरण-स्पर्श कर लेते हैं, तो इसमें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से न नर और नारी दूषित होते हैं और न साधु-साध्वी। क्योंकि दोनों के ही अन्तरंग में अब्रह्मचर्य का कोई भाव नहीं है।

आगमों में साधु द्वारा नदी में डूबती साध्वी को निकालने, रोग विशेष की स्थिति में परिचर्या करने का विधान है। उक्त स्थिति में साधु द्वारा साध्वी का जो संघट किया जाता है, वह भी दोष कोटि में नहीं आता है, अपितु सेवा-वृति होने से यह संवर-निर्जरा का हेतु अन्तरंग तप माना गया है। स्पष्ट है, जैन-दर्शन व्यवहार को मानता हुआ भी अन्ततः भाव पक्ष पर ही अवलम्बित है। वह भाव को ही प्रधानता देता है।

वर्तमान में जो नारी जाति पर बलात्कार की दुर्घटनाएँ होती हैं, उन्हें इसी प्रथम भंग के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। बलात्कारियों के उपद्रव से शीलवती नारी की पवित्रता नष्ट नहीं होती, अतः उसे दूषित न मानना चाहिए, व्यर्थ के अपवित्रता के नाम पर किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। ऐसा करना स्वयं एक हिंसा है, असत्य है, अतः पापाचार है।

२. मेहुणसन्ना परिणयस्स तदसंपत्तीए भावओ न दव्वओ।

मन में मैथुन की, विषय वासना की वृत्ति है, किन्तु बाहर में परिस्थिति विशेष से अवसर न मिलने के कारण, उसकी पूर्ति न हो पाती है, यह भाव से मैथुन है, द्रव्य से नहीं। इस द्वितीय भंग में मैथुन का भाव होने से तन्मूलक कर्म-बन्ध होता है।

३. एवं चेव संपत्तीए दव्वओ वि, भावओ वि।

मैथुन की मन में वृति भी है, और बाहर में तदनुरूप पूर्ति भी कर ली जाती है, तो यह द्रव्य और भाव दोनों से मैथुन-सेवन है। यह तृतीय भंग भी भावमूलक होने से कर्म-बन्ध का हेतु है।

४. चरिम-भंगो पुण सुन्नो।

चतुर्थ भंग है—'न द्रव्य से मैथुन है और न भाव से।' यह भंग केवल शाब्दिक विकल्प मात्र है, अतः पूर्वोक्त चतुर्थ भंग के समान अर्थ से शून्य है, जीवन में उभयाभावापेक्षी चतुर्थ भंग की कोई स्थिति ही नहीं होती।

परिग्रह-अपरिग्रह सम्बन्धी चतुर्भंगी :

१. अरत्त-दुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो, नो भावओ।

वीतराग-चर्या में अनुरत साधु एवं साध्वी के धर्मोपकरण द्रव्य से परिग्रह हैं, भाव से नहीं। क्योंकि धर्मचर्या में उपकारी अर्थात् साधक होने से अमुक उपकरण विशेष धर्मोपकरण कहलाते हैं। मुनि अपने विहित धर्मोपकरणों का उपयोग, जीवदया आदि के हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से संयमपोषक के रूप में करता है, मूर्च्छा अर्थात राग-भाव से, भोगासक्ति से नहीं करता है। अतः उक्त भंग शुद्ध है, इसमें परिग्रहमूलक कर्म-बन्धता नहीं है।

२. मुच्छियस्स तदसंपत्तीय भावओ, न दव्वओ।

किसी अभीष्ट वस्तु के प्रति मूर्च्छा है, आसक्ति है, किन्तु वह प्राप्त नहीं है। यहाँ भाव से परिग्रह है, द्रव्य से नहीं। यह द्वितीय भंग परिग्रह से सम्बन्धित वस्तु के न होने पर भी परिग्रह है, फलतः परिग्रहमूलक कर्म-बन्ध का हेतु है।

परिग्रह से सम्बन्धित प्रथम और द्वितीय भंग अतीव अर्थ-गंभीर हैं, अतः पूर्वाग्रहों से मुक्त तटस्थ चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं। साधक व्यक्ति के पास किसी उपयोगी वस्तु का होना या न होना, परिग्रह की दृष्टि से मुख्य नहीं है। मुख्य है, वस्तु के प्रति व्यक्ति की भावना और दृष्टि। अमुक वस्तु यदि किसी विशिष्ट उपयोगिता की दृष्टि से साधन-रूप में रखी जाती है, एकमात्र आवश्यक शुद्ध उपयोगिता का ही भाव है, मूर्च्छा नहीं है, राग-भाव नहीं है, तो वह वस्तु बाहर में परिग्रह की गणना में होते हुए भी अन्तरंग भाव में परिग्रह नहीं है। यह बात सिद्धान्त से प्रमाणित है, दशवैकालिक सूत्र (६, २१) में परिग्रह की परिभाषा करते हुए कहा है—**'मुच्छा परिग्गहो।'** वस्तु नहीं, वस्तु की मूर्च्छा ही परिग्रह है। जैन-धर्म की सभी परंपराओं को मान्य मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (७, १७) में पूर्ववित बहु-श्रुत शिरोमणि आचार्य उमास्वाति ने भी दशवैकालिक के प्राकृत पाठ को संस्कृत में रूपान्तरित करते हुए शब्दशः यही कहा है—**'मूर्च्छा परिग्रहः।'** अर्थात मूर्च्छा परिग्रह है। परिग्रह चित्त की एक रागात्मक वृत्ति है। यदि वह है, तो वस्तु के न होते हुए भी परिग्रह है, और यदि वह रागात्मक वृत्ति नहीं है, तो वस्तु के होते हुए भी परिग्रह नहीं। वस्तु, मात्र वस्तु है, न वह परिग्रह है और न अपरिग्रह। साधना के लिए उपयोगी वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोछन आदि को इसीलिए परिग्रह की कोटि से अलग करते हुए दशवैकालिक (६, २२) में कहा है—**'न सो परिग्गहो।'** अर्थात् ये साधनोपयोगी सभी वस्तुएँ परिग्रह नहीं हैं।

उपर्युक्त परिग्रह और अपरिग्रह की व्याख्या के आधार पर ही देवाधिदेव तीर्थंकरों की छत्र, चामर, सिंहासन तथा समवसरण आदि की अनेक विभूतियाँ अपरिग्रह की कोटि में आती हैं। बाहर में स्वर्ग के इन्द्र तथा भूमण्डल के चक्रवर्ती आदि के परिग्रह से भी महान् परिग्रह हैं तीर्थंकर देवों का, परन्तु उनकी पूर्णतः निसंगता एवं वीतरागता ही उक्त द्रव्य परिग्रह को अन्तरंग में भाव परिग्रह की भूमिका तक पहुंचने नहीं देती है।

जहाँ तक रागादि भाव रूप परिग्रह का प्रश्न है, वह तो यदि देह में भी आसक्ति है, जीवन का मोह है, यश आदि की इच्छा है, यहाँ तक कि मुक्ति की भी कामना है, तो ये सब भी परिग्रह की सीमा में आ जाते हैं। आसक्ति मात्र परिग्रह है, बन्ध का हेतु है, फिर भले वह वस्तु कोई भी हो, किसी भी रूप में हो, प्राप्त हो या प्राप्त न भी हो।

३. एवं चेव संपत्तीय दव्वओ वि भावओ वि।

किसी वस्तु की आसक्ति है, और वह प्राप्त भी है, तो यह परिग्रह का तीसरा भंग है—"द्रव्य से भी परिग्रह और भाव से भी परिग्रह।" यह भंग स्पष्ट ही सामान्य साधक की बुद्धि में भी परिग्रह है, अतः विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता।

४. चरम भंगो पुण सुन्नो

चतुर्थ भंग है—'न द्रव्य से परिग्रह और न भाव से।' यह भंग पूर्वोक्त चतुर्थ भंगों के समान केवल शब्द मात्र है, अर्थ से शून्य है। जीवन में परिग्रह की ऐसी कोई वस्तु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति ही नहीं होती, जो न द्रव्य से परिग्रह हो, न भाव से। क्योंकि परिग्रह आदि के मूल में दो ही तो रूप हैं, द्रव्य और भाव। इन्हीं के भावाभाव से अन्य भंग बनते हैं।

जैन-दर्शन मूलतः भाव-प्रधान अनेकान्त-दर्शन है। अतः यहाँ साधना-पद्धति के बाह्याचार से सम्बन्धित विधि-निषेध भी एकान्त नहीं हैं। जैन-धर्म में बाह्याचार की विस्तार से स्थापना होते हुए भी अन्ततः भावपक्ष को ही प्रधानता प्राप्त है। साधक की आन्तरिक परिणाम-धारा में ही बन्ध और मोक्ष है। अन्तरंग चेतना का शुद्धत्व, अशुद्धत्व ही क्रम से व्यक्ति के उत्थान तथा पतन का मूल हेतु है। उपर्युक्त हिंसा-अहिंसा आदि से सम्बन्धित चतुर्भंगी की मीमांसा भी इसी अनेकान्त बोध पर आधारित है।

शुद्ध अनेकान्त दृष्टि से मर्मज्ञ सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पात्र-केशरी ने भी, देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए, प्रस्तुत सन्दर्भ से ही सम्बन्धित जो महत्त्वपूर्ण विवेचना की है, वह प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु को लक्ष्य में रखने जैसी है। आचार्य देव का स्पष्ट उद्घोष है—

"न चाऽसुपरिपीडनं नियमतोऽशुभायष्यते,
त्वया न च शुभाय वा न हि च सर्वथा सत्यवाक्।
न चाऽपि दम—दानयोः कुशल हेतुतैकान्ततो,
विचित्र नय—भंग जालगहनं त्वदीयं मतम्॥"
—पात्र केशरी स्तोत्रम्॥ ३६॥

—भगवन्! आपके द्वारा, प्राणि परिपीडन अर्थात हिंसा एकान्तरूप से न तो शुभ-हेतुता के रूप में मान्य है और न अशुभ हेतुता के रूप में। इसी प्रकार वचन की सत्यता और असत्यता का शुभाऽशुभत्व भी सर्वथा एकांत नहीं है। दम अर्थात इन्द्रियादि निग्रह रूप संयम और दान आदि के सम्बन्ध में भी यही बात है। इनकी कुशल हेतुता भी एकान्त नहीं है। भगवन्! आपका दर्शन विभिन्न नय-दृष्टियों के विचित्र भंगजाल से अतीव गहन, गूढ़ है।

आचार्य पात्रकेशरी, जिन्हें अन्यत्र निखिलतार्किक चूड़ामणि श्री विद्यानन्दि स्वामी के नाम से भी सम्बोधित किया है, कितना महान स्पष्ट प्रवक्ता आचार्य है। जिनकी दिव्य वाणी स्पष्टतः समुदघोषित करती है कि जिनेन्द्र देव की धर्मदेशना के गूढ़ रहस्य को अनेकान्त दृष्टि से ही समझा जा सकता है। आशा है प्रबुद्ध पाठक, बहुश्रुतशिरोमणि आचार्य जिनदास तथा आचार्य श्री हरिभद्र के स्यादवादी प्रवचनों पर आधारित प्रस्तुत लेख को भी मान्यताओं के एकान्तवादी आग्रह से मुक्त हो कर अनेकान्त दृष्टि से ही समझने का सत्यानुलक्षी प्रयत्न करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य क्रिया केवल बाहर में,
अच्छी और बुरी होती है।
पर, अन्तर का मूल्यांकन तो,
सही भावना ही करती है।

० ० ०

बाह्य नृत तो कोई भी जन,
कैसा भी हो, कर सकता है।
पर, अन्तर तो अन्तर ही है,
वहाँ न दिखावा चल सकता है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८

जीवन की अर्थवत्ता : अहिंसा में

जैन-संस्कृति की मानव-संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं; जैन-संस्कृति का प्राण है। जैन-धर्म का मूल आधार है।

दुःख का उद्भावक : मनुष्य :

जैन-संस्कृति का महान् संदेश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के संगी-साथियों को भी उठने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता; तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाएँ और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, या जिनको देना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जबतक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य-मनुष्य में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास ही अशान्ति और विनाश का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो बहुत ही साधारण है। यदि अन्तर्निरीक्षण किया जाए, तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःख के कारणों को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

सुख का साधन 'स्व' की सीमा :

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया। उनका उपदेश है कि मनुष्य 'स्व' की सीमा में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का अर्थ है, दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

जब तक नदी अपनी धारा में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को अनेक प्रकार के लाभ मिलते रहते हैं। हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमा लेती है, बाढ़ का रूप धारण कर लेती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब के सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशान्ति नहीं है। अशान्ति और विग्रह का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में कितने बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रहव्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार तथा उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए, अपनी मर्यादा में रहते हुए, उचित साधनों का ही प्रयोग करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी माना जाता है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके, मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूंढ़े जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह-वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

युद्ध और अहिंसा :

आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैन-धर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून तथा संविधान के द्वारा लिया जा रहा है, उन दिनों वह उपदेश द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले आवश्यक शस्त्रों से अधिक शस्त्र-संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड और बेलगाम बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कभी-न-कभी किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध का उन्मुक्त समर्थन करते आये हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आये हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आये हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और दृढ़ रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो वहाँ बहुत-कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त था? 'औपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है! परन्तु वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत कूणिक के प्रश्न पर उसे अगले जन्म में नरक का अधिकारी बताकर उसके क्रूर-कर्मों को स्पष्ट ही धिक्कारा है। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला, अहिंसा के अवतार उसके रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा निष्क्रिय नहीं है :

जैन तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है। वह विधेयात्मक है। जीवन के भावात्मक रूप—प्रेम, परोपकार एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। जैन-धर्म की अहिंसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत है। उसका आदर्श, स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने-दो, यहीं तक सीमित नहीं है। उसका आदर्श है—दूसरों के जीने में सहयोगी बनो। और अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एकमात्र भक्ति-वाद के अर्थ-शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता है।

भगवान् महावीर ने एक बार अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुःखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मेरे भक्त वे नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं। किन्तु मेरे सच्चे भक्त वे हैं, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—**"प्राणिमात्र की आत्मा को सुख, सन्तोष और आनन्द पहुँचाओ।"**

भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है, इसका सूक्ष्म बीज 'उत्तराध्यन-सूत्र' की सर्वार्थ-सिद्धि-वृत्ति में आज भी हम देख सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति और अहिंसा :

अहिंसा के महान् सन्देशवाहक भगवान् महावीर थे। आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय संस्कृति के इतिहास में, एक प्रगाढ़ अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, माँसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एवं क्या, अनेक रूपों में हिंसा की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही थीं, समूची मानव जाति उससे संत्रस्त हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर ने संसार को अहिंसा का अमृत सन्देश दिया। हिंसा का विषाक्त प्रभाव धीरे-धीरे शान्त हुआ और मनुष्य के हृदय में मनुष्य क्या, पशुओं के प्रति भी दया, प्रेम और करुणा की अमृत-गंगा बह उठी। संसार में स्नेह, सद्भाव और मानवोचित अधिकारों का विस्तार हुआ। संसार की मातृ-जाति नारी को फिर से योग्य सम्मान मिला। शूद्रों को भी मानवीय ढंग से जीने का अधिकार प्राप्त हुआ। और मूक पशुओं ने भी मनुष्य के क्रूर-हाथों से अभय-दान पाकर जीवन का अमोघ वरदान पा लिया।

अहिंसा एवं विभिन्न मत :

अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और समस्त दर्शन समवेत हो जाते हैं, यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। हमारे यहाँ के चिन्तन में, समस्त धर्म-सम्प्रदायों में अहिंसा के सम्बन्ध में, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं, भले ही उसकी सीमाएँ कुछ भिन्न-भिन्न हों। कोई भी धर्म यह कहने के लिए तैयार नहीं कि हत्या करने में धर्म है। झूठ बोलने में धर्म है, चोरी करने में धर्म है, या अब्रह्मचर्य—व्यभिचार सेवन करने में धर्म है। जब इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता, तो हिंसा को कैसे धर्म कहा जा सकता है? हिंसा को हिंसा के नाम से कोई स्वीकार नहीं करता। अतः किसी भी धर्मशास्त्र में हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म नहीं कहा गया है। सभी धर्मों ने अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-धर्म में अहिंसा भावना :

आज से पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अहिंसा की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए, हिंसा के विरोध में प्रतिक्रांति की। अहिंसा और धर्म के नाम पर हिंसा का जो नग्न नृत्य हो रहा था, जनमानस भ्रान्त किया जा रहा था, वह भगवान् महावीर से देखा नहीं गया। उन्होंने हिंसा पर लगे धर्म के मुखौटों को उतार फेंका, और सामान्य जनमानस को उद्‌बुद्ध करते हुए कहा—'हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती। विश्व के सभी प्राणी, वे चाहे छोटे हों या बड़े, पशु हों या मानव सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[1] सबको सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2] जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता। जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते हैं। यही जिन-शासन के उपदेशों का सार है, जो कि एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[3] किसी के प्राणों की हत्या करना, धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप यही वास्तविक धर्म है।[4] इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनकी हिंसा न जान में करो, न अनजान में करो और न दूसरों से ही किसी की हिंसा कराओ।[5] क्योंकि सब के भीतर एक-सी आत्मा है, हमारी तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा मानकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और दूसरों की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढ़ाता है।[6] अतः अन्य सब प्राणियों के प्रति वैसा ही भाव रखो, जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो।[7] सभी जीवों के प्रति अहिंसक होकर रहना चाहिए। सच्चा संयमी वही है, जो मन, वचन और शरीर से किसी की हिंसा नहीं करता। यह है—भगवान् महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि, जो अहिंसा में ओत-प्रोत होकर विराट् विश्व के सम्मुख आत्मानुभूति का एक महान् गौरव प्रस्तुत कर रही है।

जैन-दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं। 'नहीं मारना'—यह अहिंसा का एक पहलू है, उसका दूसरा पहलू है—'मैत्री, करुणा और सेवा।' यदि हम सिर्फ अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही सोचें, तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित विचार करना होगा। जैन आगमों में जहाँ अहिंसा

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
—दशवैकालिक सूत्र, ६।११

२. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला।
—आचारांग सूत्र १।२।३

३. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियमितं जिणसासणयं॥
—बृहत्कल्प भाष्य, ४५८४

४. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
—दशवैकालिक, १।१

५. जावन्ति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे नो वि घायए॥
—दशवैकालिक

६. सयंअतिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढई अप्पणो॥
—सूत्र कृताङ्ग, १।१।१।३

७. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियाउए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥
—उत्तराध्ययन, ८।१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साठ एकार्थक नाम दिए गए हैं, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है।[1]

अनुकम्पा दान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप हैं जो प्रवृत्ति-प्रधान हैं। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती, तो जैन आचार्य इस प्रकार का कथन कथमपि नहीं करते। 'अहिंसा' शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि से निषेध-वाचक है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति इस भ्रम में फँस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक है। उसमें प्रवृत्ति जैसी कोई चीज नहीं। किन्तु गहन चिन्तन करने के पश्चात यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू हैं, उसके अनेक अंग हैं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है, प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक कार्य में जहाँ प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ दूसरे कार्य से निवृत्ति भी होती है। ये दोनों पहलू अहिंसा के साथ भी जुड़े हैं। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है, वह अहिंसा की आत्मा को परख ही नहीं सकता। वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता। जैन श्रमण के उत्तर गुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति की मर्यादाएँ प्रवृत्ति-परक हैं और गुप्ति की मर्यादाएँ निवृत्ति-परक हैं। इससे भी स्पष्ट है कि अहिंसा प्रवृत्तिमूलक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनों अहिंसारूप सिक्के के दो पहलू हैं। एक-दूसरे के अभाव में अहिंसा अपूर्ण है। यदि अहिंसा के इन दोनों पहलुओं को न समझ सके, तो अहिंसा की वास्तविकता से हम बहुत दूर भटक जाएँगे। असद्-आचरण से निवृत्त बनो और सद्-आचरण में प्रवृत्ति करो, यही निवृत्ति-प्रवृत्ति का सुन्दर एवं पूर्ण विवेचन है।

अहिंसक प्रवृत्ति के बिना समाज का काम नहीं चल सकता, चूंकि प्रवृत्ति-शून्य अहिंसा समाज में जड़ता पैदा कर देती है। मानव एक शुद्ध सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जन्म लेता है और समाज में रहकर ही अपना सांस्कृतिक विकास एवं अभ्युदय करता है; उस उपकार के बदले में वह समाज को कुछ देता भी है। यदि कोई इस कर्तव्य की राह से विलग हो जाता है, तो वह एक प्रकार से उसकी असामाजिकता ही होगी। अतः प्रवृत्ति-रूप धर्म के द्वारा समाज की सेवा करना—मानव का प्रथम कर्तव्य है, और इस कर्तव्य की पूर्ति में ही मानव का अपना तथा समाज का कल्याण निहित है।

बौद्ध-धर्म में अहिंसा-भावना :

'आर्य' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—"प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं कहलाता, बल्कि जो प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसी को आर्य कहा जाता है।[2] सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। मानव दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[3] जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न किसी अन्य से जीतवाता है। वह सर्वप्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।[4] जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये हैं, तथा जैसे ये हैं, वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार आत्मसदृश मानकर

---

१. प्रश्न व्याकरण सूत्र (संवर द्वार)
(क) दया देहि-रक्षा —प्रश्नव्याकरण वृत्ति

२. न तेन आरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, आरियो ति पवुच्चति॥
—धम्मपद १९।१५

३. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥—धम्मपद १०।१

४. यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापये।
मित्तं सो सब्बभूतेसु, वेरं तस्स न केनची॥—इतिवुत्तक, पृ० २०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न किसी का घात करे, न कराए।[1] सभी प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मानव अगल जन्म में सुख को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार तथागत बुद्ध ने भी हिंसा का निषेध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है।

तथागत बुद्ध का जीवन 'महाकारुणिक जीवन' कहलाता है। दीन-दुःखियों के प्रति उनके मन में अत्यन्त करुणा भरी थी। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उन्होंने तीर्थंकर महावीर की भाँति अनेक प्रसंगों पर अहिंसात्मक प्रतिकार के उदाहरण रखे। उनकी अहिंसात्मक और शान्तिप्रिय वाणी से अनेक बार घात-प्रतिघात में, शौर्य प्रदर्शन में युद्ध-रत क्षत्रियों का खून बहता-बहता रुका है।

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध भी श्रमण-संस्कृति के एक महान् प्रतिनिधि थे। उन्होंने भी सामाजिक व राजनीतिक कारणों से होने वाली हिंसा की आग को प्रेम और शान्ति के जल से शान्त करने के सफल प्रयोग किए, और इस आस्था को सुदृढ़ बनाया कि समस्या का प्रतीकार सिर्फ तलवार ही नहीं, प्रेम और सद्भाव भी है। यही अहिंसा का मार्ग वस्तुतः शान्ति और समृद्धि का मार्ग है।

वैदिक-धर्म में अहिंसा-भावना :

वदिक धर्म में भी अहिंसा की प्रधानता है। **"अहिंसा परमो धर्मः"** के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रखकर उसने भी अहिंसा की विवचना की है। अहिंसा ही सब से उत्तम पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[3] जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी न करो।[4] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुँचाओ, बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[5] जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए बुद्धिमान और पुण्यशाली जो लोग हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।[6]

इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं हैं। इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दया-भाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरों पर भी दया करे।[7] दयालु आत्मा[8]

---

१. यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ।।—सुत्तनिपात, ३।३।७।२७

२. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं ।।—उदान, पृ० १२

३. अहिंसा परमो धर्मः, सर्वप्राणभृतां वरः।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्यान्मानुषः क्वचित् ।।—महाभारत, आदि पर्व ११।१३

४. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।—मनुस्मृति

५. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।—महाभारत, शान्ति पर्व, २७८।५

६. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः ।।
—महाभारत—अनुशासन पर्व; ११५।१९

७. नहि प्राणात् प्रियतर लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे ।।—महाभारत, अनुशासन पर्व, ११६।८

८. अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ।।—महाभारत, अनुशासन पर्व, ११६।१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही सभी प्राणियों को अभयदान देता है, उसे भी सभी अभयदान देते हैं। अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है। हिंसा, धर्म और तप का नाश करने वाली है।[1] अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक-धर्म भी अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करता है। इन वचनों पर से स्पष्ट है कि वैदिक-परम्परा में यज्ञ आदि में हिंसा का, जो प्रचलन हुआ, वह बहुत बाद में मानव की स्वार्थ-परक मनोवृत्ति के कारण ही हुआ। मूलतः ऐसा नहीं था।

इस्लाम धर्म में अहिंसा भावना :

इस्लाम-धर्म की अट्टालिका भी मूलतः अहिंसा की नींव पर ही टिकी हुई है। इस्लाम-धर्म में कहा जाता है—"खुदा सारे जगत (खल्क) का पिता (खालिक) है। जगत में जितने प्राणी हैं, वे सभी खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं।" कुरान शरीफ की शुरूआत में ही अल्लाहताला 'खुदा' का विशेषण दिया है—**"बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम"**—इस प्रकार का मंगलाचरण देकर यह बताया गया है कि सब जीवों पर रहम करो।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने कहा है—"हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना" अर्थात पशु-पक्षियों को मार कर उनको अपना भोजन मत बना। इसी प्रकार 'दीनइलाही' के प्रवर्त्तक मुगल सम्राट अकबर ने कहा है—"मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानों सारे इन्सानों को जिन्दगी बख्शी।[2]

उपर्युक्त उदाहरणों से यही प्रतिभासित होता है कि इस्लाम-धर्म भी अपने साथ अहिंसा की दृष्टि को लेकर चला है। बाद में उसमें जो हिंसा का स्वर गूंजने लगा, उसका प्रमुख कारण स्वार्थी व रसलोलुप व्यक्ति ही हैं। उन्होंने हिंसा का समावेश करके इस्लाम-धर्म को बदनाम कर दिया है, वरना उसके धर्मग्रन्थों में हिंसा का कोई महत्व नहीं है।

ईसाई धर्म में अहिंसा भावना :

महात्मा ईसा ने कहा है कि—"तू अपनी तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किए जाएँगे"[3] अन्यत्र भी बतलाया है—"किसी भी जीव की हिंसा मत करो। तुमसे कभी कहा गया था कि तुम अपने पड़ोसी से प्रम करो और अपने दुश्मन से घृणा। पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो लोग तुम्हें सताते हैं, उनके लिए प्रार्थना करो। तभी तुम स्वर्ग में रहने वाले अपने पिता की संतान ठहरोगे क्योंकि वह भले और बुरे—दोनों पर अपना सूर्य उदय करता है। धर्मियों और अधर्मियों—दोनों पर मेह बरसाता है। यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुम से प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन मार्के की बात की?"[4] इतना ही नहीं, वरन अहिंसा का वह पैगाम तो काफी गहरी उड़ान भर बैठा है—"अपने शत्रु से प्रेम रखो। जो तुम से वैर करें, उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हें शाप दें, उन्हें भी आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए भी प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी तरफ दूसरा भी गाल कर दो। जो तुम्हारी चादर छीन ले, उसे अपना कुरता भी दे दो।"[5]

ईसाई धर्म में भी प्रेम, करुणा और सेवा की अत्यन्त सुन्दर भावना व्यक्त की गई हैं। यह बात दूसरी है कि स्वार्थी और अहंवादी व्यक्तियों ने धर्म के नाम पर लाखों-करोड़ों

---

१. अहिंसा सकलो धर्मः।—महाभारत, शान्ति पर्व

२. व मन् अहया हा फकअन्नमा अह्याअास जमीअनः।—कुरान शरीफ ५।३५

३. मत्ती।—२।५१-५२

४. मत्ती।—५।४५-४६

५. लूका, ६।२७-३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहूदियों का खून बहाया, धर्मयुद्ध रचाए और करुणा की जगह तलवार तथा प्रेम की जगह घृणा का प्रचार करने लगे।

यहूदी धर्म में अहिंसा भावना :

यहूदी मत में कहा गया है कि—"किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना, उतना ही बड़ा पाप है, जितना उसका खून कर देना।"[1]

"यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हें मारने को आए और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो उसे खाना दो, पानी दो।"[2]

"यदि कोई आदमी संकट में है, डूब रहा है, उस पर दस्यु—डाकू या हिंसक शेर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान करते हुए यह बतलाया गया है कि—अपने मन में किसी के प्रति वैर का, दुश्मनी का दुर्भाव मत रखो।"[3]

इस प्रकार यहूदी-धर्म के प्रवर्त्तकों की दृष्टि भी अहिंसा पर ही आधारित प्रतीत होती है।

पारसी और ताओ धर्म में अहिंसा भावना :

पारसी-धर्म के महान् प्रवर्त्तक महात्मा जरथ्रुस्त ने कहा है कि—"जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की खुश-खुशाल सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।[4] अतः अपने मन में किसी से बदला लेने की भावना मत रखो। सोचो कि तुम अपने दुश्मन से बदला लोगे तो तुम्हें किस प्रकार की हानि, किस प्रकार की चोट और किस प्रकार का सर्वनाश भुगतना पड़ सकता है, और किस प्रकार बदले की भावना तुम्हें लगातार सताती रहेगी? अतः दुश्मन से भी बदला मत लो। बदले की भावना से अभिप्रेरित होकर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन में सदा-सर्वदा सुन्दर विचारों के दीपक सँजोए रखो।"

ताओ-धर्म के महान प्रणेता—'लाओत्से' ने अहिंसात्मक विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—"जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं, उनके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ। जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं भी करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।"[5]

कनफ्यूशस-धर्म के प्रवर्त्तक कांगफ्यूत्सी ने कहा है कि—"तुम्हें जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

इस प्रकार विविध धर्मों में अहिंसा को उच्च स्थान दिया गया है। वस्तुतः अहिंसा और दया की भावना से शून्य होकर कोई भी धर्म, धर्म की संज्ञा पाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

●

---

१. ता० बाबा मेतलिया—५८(ब)।
२. नीति, २५।२१ परमिदारास
३. तोरा—लव्य व्यवस्था १६।१७
४. गाथा।—हा० ३४, ३
५. लाओ तेह किंग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६

अहिंसा : विश्व-शान्ति की आधार-भूमि

भगवान् महावीर का अहिंसा-धर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानव जीवन को अन्दर और बाहर—दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को, अहिंसा भगवती, बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्तःप्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान ही समझे, उनके प्रति बिना किसी भेद-भाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख प्रिय एवं अभीष्ट है—यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा 'स्व' और 'पर' की, 'अपने' और 'पराए' की, घृणा एवं वैर के आधार पर खड़ी की गई भेदरेखा को तोड़ देती है।

अहिंसा का धरातल :

अहिंसा विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर खड़ा कर देती है। अहिंसा समग्र जीवन में एकता देखती है, सब प्राणियों में समानता पाती है। इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—**'एगे आया'**—आत्मा एक है, एक रूप है, एक समान है। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री, पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, वे सब आरोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तों के द्वारा परिकल्पित किए गए मिथ्या भेद हैं। आत्माओं के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है। और, जब भेद नहीं है, तो फिर मानव जाति में यह कलह एवं विग्रह कैसा? त्रास एवं संघर्ष कैसा? घृणा एवं वैर कैसा? यह सब भेदबुद्धि की देन हैं। और अहिंसा में भेदबुद्धि के लिये कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और भेदबुद्धि में न कभी समन्वय हुआ है और न कभी होगा। आज जो विश्व नागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ान ले रही है, 'जय जगत' का उद्घोष कुछ समर्थ चिन्तकों की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, उसको मूर्तरूप अहिंसा के द्वारा ही मिलना सम्भव है। दूसरा कोई ऐसा आधार ही नहीं है, जो विभिन्न परिकल्पनाओं के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानव-जाति को एकरूपता दे सके। प्रत्येक मानव के अपने सृजनात्मक स्वातंत्र्य एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारण्टी, जो विश्वनागरिकता तथा जय-जगत का मूलाधार है—उसे अहिंसा ही दे सकती है, अन्य कोई नहीं। अहिंसा विश्वास की जननी है। और, विश्वास परिवार, समाज और राष्ट्र के पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग का मूलाधार है। अहिंसा, अविश्वास के कारण इधर-उधर बेतरतीब बिखरे हुए मानव-मन को विश्वास के मंगल सूत्र में जोड़ती है, एक करती है। अहिंसा **'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्'** की ध्वनि को जन-जन में अनुगुंजित करती है, जिसका अर्थ है—साथ चलो, साथ बोलो। मानव-जाति की एकसूत्रता के लिए यह 'एक साथ' का मन्त्र सबसे बड़ा मन्त्र है। यह 'एक साथ' का महामन्त्र मानव-जाति को व्यष्टि की क्षुद्र भावना से समष्टि की व्यापक भावना की दिशा में अग्रसर करता है। अहिंसा का उपदेश है, संदेश है, आदेश है कि व्यक्तिगत अच्छाई, प्रेम और त्याग से, आपसी सद्भावनापूर्ण पावन परामर्श से, केवल साधारण स्तर की सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं को ही नहीं, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति और राष्ट्रों की विषम-से-विषम उलझनों को भी सुलझाया जा सकता है। और, यह सुलझाव ही भेद में अभेद का, अनेकता में एकता का विधायक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा-भावना का विकास :

मानव अपने विकास के आदिकाल में अकेला था, वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा में घिरा हुआ, एक जंगली जानवर की तरह। उस युग में न कोई पिता था, न कोई माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहिन थी। पति और पत्नी भी नहीं थे। देह-सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे, फिर भी सामाजिक नहीं थे। इसलिए कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन और पति-पत्नी आदि के रूप में तब कोई भी परस्पर भावनात्मक स्थिति नहीं थी। एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था, जैसा कि पशुओं में होता है। सुख-दुःख के क्षणों में एक-दूसरे के प्रति लगाव का, सहयोग का जो दायित्व होता है, वह उस युग में नहीं था। इसलिए नहीं था कि तब मानवचेतना ने विराट् रूप ग्रहण नहीं किया था। वह एक क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ की तटबन्दी में अवरुद्ध थी। एक दिन वह भी आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला, केवल अपने सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु दूसरों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। उसके अन्तर्मन में सहृदयता, सद्भावना की ज्योति जगी और वह सहयोग के आधार पर परस्पर के दायित्वों को प्रसन्न मन से वहन करने को तैयार हो गया। और, जब वह तैयार हो गया, तो परिवार बन गया; परिवार बन गया, तो माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन और पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धों का आविर्भाव हो गया। और, जैसे-जैसे मानव मन भावनाशील हो कर व्यापक होता गया, वैसे-वैसे पारिवारिक भावना के मूल मानव-जाति में गहरे उतरते गए। फिर तो परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र आदि के विभिन्न क्षेत्र भी व्यापक एवं विस्तृत होते चले गए। यह सब भावनात्मक विकास की प्रक्रिया, एक प्रकार से, अहिंसा का ही एक सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और यह संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्भव एवं विकास का मूल है। यह ठीक है कि उक्त विकास-प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर इससे क्या होता है? आखिर तो, यह मानवचेतना की ही एक मानव प्रक्रिया है, और यह अहिंसा है। अहिंसा भगवती के अनन्त रूपों में से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मंगल-क्षेत्र से बाहर धकेल कर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नहीं रख सकता।

अहिंसा की प्रक्रिया :

अहिंसा मानव-जाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-डाह, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं, सब हिंसा के ही रूप हैं। मानव मन हिंसा के उक्त विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारों के प्रतिकार के लिए भी कम प्रयत्नशील नहीं रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने में लगा रहा कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया।' बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा, अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा, और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी, जैसी कि आग को आग से बुझाना, रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढ़ता है, घटता नहीं है। घृणा से घृणा बढ़ती है, घटती नहीं है। यह उक्त प्रतिकार ही था, जिसमें से युद्ध का जन्म हुआ, सूली और फांसी का आविर्भाव हुआ। लाखों ही नहीं, करोड़ों मनुष्य भयंकर-से-भयंकर उत्पीड़न के शिकार हुए, निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिए गए, परन्तु समस्या ज्यों-की-त्यों सामने खड़ी रही। मानव को कोई भी ठीक समाधान नहीं मिला। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होना चाहिए था, घृणा का प्रतिकार घृणा से नहीं; प्रेम से होना चाहिए था। आग का प्रतिकार आग नहीं, जल है। जल ही जलते दावानल को बुझा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने कहा था—**'क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दंभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष से जीतो, उदारता से जीतो।'**[1] इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहिए और विजय की यह सात्विक प्रक्रिया ही अहिंसा है। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर, अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है।

अहिंसा की दृष्टि :

भगवान् महावीर कहते थे—वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो—कुछ भी हो, अंततः सब लौट कर कर्ता के ही पास आते हैं। यह मत समझो कि बुराई वहीं रह जाएगी, तुम्हारे पास लौट कर नहीं आएगी। वह आएगी, अवश्य आएगी, कृत कर्म निष्फल नहीं जाता है। कुएँ में की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापस लौटती है। और भगवान् महावीर तो यह भी कहते थे कि वह और तू कोई दो नहीं ह। चैतन्य चैतन्य एक है। जिसे तू पीड़ा देता है, वह और कोई नहीं, तू ही तो है। भले आदमी! यदि तू दूसरे को सताता है, तो वह दूसरे को नहीं, अपने को ही सताता है। इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में आज भी उनका एक प्रवचन उपलब्ध है—

"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।"

—आचारांग, १, ५, ५

यह भगवान् महावीर की अद्वैत दृष्टि है, जो अहिंसा का मूलाधार है। जब तक किसी के प्रति पराएपन का भाव रहता है, तब तक मनुष्य परपीड़न से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। सर्वत्र 'स्व' की अभेद दृष्टि ही मानव को अन्याय से, अत्याचार से बचा सकती है। उक्त अभेद एवं अद्वैत दृष्टि के आधार पर ही भगवान् महावीर ने परस्पर के आघात-प्रत्याघातों से त्रस्त मानव-जाति को अहिंसा के स्वर में शान्ति और सुख का सन्देश दिया था कि "**किसी भी प्राणी को · · · किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उस पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उसको एक दास (गुलाम) की तरह पराधीन बनाना चाहिए—उसको स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करना चाहिए, न उसे परिताप देना चाहिए और न उसके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव ही करना चाहिए।**[2] यह अहिंसा का वह महान् उद्घोष है, जो हृदय और शरीर के बीच, बाह्य प्रवृत्तिचक्र और अन्तरात्मा के बीच, स्वयं और आस-पास के साथियों के बीच एक सद्भावनापूर्ण व्यावहारिक सामंजस्य पैदा कर संकता है। मानव मानव के बीच बन्धुता की मधुर रसधारा बहा सकता है। मानव ही क्यों, अहिंसा के विकास पथ पर निरन्तर प्रगति करते-करते एक दिन अखिल प्राणि जगत के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। अहिंसा क्या है? समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य स्थापित करना ही तो अहिंसा है। अहिंसा में तुच्छ-से-तुच्छ जीव के लिए भी बन्धुत्व का स्थान है। महावीर ने कहा था—जो व्यक्ति सर्वात्मभूत है, सब प्राणियों को अपने हृदय में बसाकर विश्वात्मा बन गया है, उसे विश्व का कोई भी पाप कभी स्पर्श नहीं कर सकता। दशवैकालिक सूत्र में आज भी यह अमर वाणी सुरक्षित है—**'सव्वभूयप्पभूयस्स · · · पावकम्मं न बंधई।'**

---

१. दशवैकालिक सूत्र, ८, ३९

१. आचारांग, १, ४, २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंड और अहिंसा :

अहिंसा के उपर्युक्त संदर्भ में एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—'दण्ड' का। एक व्यक्ति अपराधी है, समाज की नीतिमूलक वैधानिक स्थापनाओं को तोड़ता है और उच्छृङ्खल भाव से अपने अनैतिक स्वार्थ की पूर्ति करता है। प्रश्न है—उसे दण्ड दिया जाए या नहीं? यदि दण्ड दिया जाता है, तो यह परिताप है, परिताड़न है, अतः हिंसा है। और, यदि दण्ड नहीं दिया जाता है, तो समाज में अन्याय-अत्याचार का प्रसार होता है। अहिंसा-दर्शन इस सम्बन्ध में क्या कहता है?

अहिंसा-दर्शन हृदय परिवर्तन का दर्शन है। वह मारने का नहीं, सुधारने का दर्शन है। वह संहार का नहीं, उद्धार का एवं निर्माण का दर्शन है। अहिंसा-दर्शन ऐसे प्रयत्नों का पक्षधर है, जिनके द्वारा मानव के अन्तर में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सके, अपराध की भावनाओं को ही मिटाया जा सके। क्योंकि अपराध एक मानसिक बीमारी है, जिसका उपचार (इलाज) प्रेम, स्नेह एवं सद्भाव के माध्यम से ही होना चाहिए।

महावीर के अहिंसा दर्शन का सन्देश है कि पापी-से-पापी व्यक्ति से भी घृणा न करो। बुरे आदमी और बुराई के बीच अन्तर करना चाहिए। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसंग भला हो सकता है। मूल में कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्य, के बीच में भी सत्य, अन्धकार के बीच में भी प्रकाश छिपा हुआ है। विष भी अपने अन्दर में अमृत को सुरक्षित रखे हुए है। अच्छे-बुरे सब में ईश्वरीय ज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्ति में भी वह ज्योति है, किन्तु दबी हुई है। हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि वह ज्योति बाहर आए, ताकि समाज में से अपराध-मनोवृत्ति का अन्धकार दूर हो।

अपराधी को कारागार की निर्मम यंत्रणाओं से भी नहीं सुधारा जा सकता। अधिकतर ऐसा होता है कि कारागार से अपराधी गलत काम करने की अधिक तीव्र भावना ले कर लौटता है। वह जरूरत से ज्यादा कड़वा हो जाता है, एक प्रकार से समाज का उद्दण्ड, विद्रोही, बेलगाम बागी। फाँसी आदि के रूप में दिया जाने वाला प्राणदण्ड एक कानूनी हत्या ही है, और क्या? प्राणदण्ड का दण्ड तो सर्वथा अनुपयुक्त दण्ड है। न्यायाधीश भी एक साधारण मानव है। वह कोई सर्वज्ञ नहीं है कि उससे कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती। कभी-कभी भ्रान्तिवश निरपराध भी दण्डित हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने एक प्रवचन में नमि राजर्षि के वचन को प्रमाणित किया है कि कभी-कभी मिथ्या दण्ड भी दे दिया जाता है। मूल अपराधी साफ बच जाता है और बेचारा निरपराध व्यक्ति मारा जाता है—**'अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारगो जणो।'** कल्पना कीजिए, इस स्थिति में यदि कभी निरपराध को प्राणदण्ड दे दिया जाए तो क्या होगा? वह तो दुनिया से चला जाएगा, और उसके पीछे यदि कभी कहीं सही स्थिति प्रमाणित हुई, तो न्याय के नाम पर निरपराध व्यक्ति के खून के धब्बे ही तो शेष रहेंगे? रोगी को रोगमुक्त करने के लिए रोगी को ही नष्ट कर देना, कहाँ का बौद्धिक चमत्कार है? अहिंसा-दर्शन इस प्रकार के दण्ड विधान का विरोधी है। उसका कहना है कि दण्ड देते समय अपराधी के प्रति भी अहिंसा का दृष्टिकोण रहना चाहिए। अपराधी को मानसिक रोगी मान कर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए, ताकि समय पर वह एक सभ्य एवं सुसंस्कृत अच्छा नागरिक बन सके। समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके। ध्वंस महान् नहीं है, निर्माण महान् है। अपराधियों की पाशविक भावनाओं को बदलने के स्थान पर कुचलने में ज्यादा विश्वास रखना, मानव की पवित्र मानवता के प्रति अपना विश्वास खो देना है। कुचलने का दृष्टिकोण मूल में ही अमानवीय है, अनुचित है। इससे तो अपराधियों के चरित्र का अच्छा पक्ष भी दब जाता है। परिणामतः सुन्दर परिवर्तन की आशा के अभाव में एक बार अपराध करने वाला व्यक्ति सदा के लिए अपराधी हो जाता है। अपराधी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से-अपराधी व्यक्ति के पास भी एक उज्ज्वल चरित्र होता है, जो कुछ सामाजिक परिस्थितियों के कारण या तो दब जाता है, या अविकसित रह जाता है। अतः न्यायासन के बौद्धिक वर्ग को अहिंसा के प्रकाश में दण्ड के ऐसे उन्नत, सभ्य, सुसंस्कृत मनोवैज्ञानिक तरीके खोजने चाहिए, जिनसे अपराधियों का सुप्त उज्ज्वल चरित्र सजग हो कर वह समाज के लिए उपयोगी साबित हो सके।

अहिंसा का सही मार्ग :

हो सकता है, कुछ अपराधी बहुत ही निम्न स्तर के हों, उन पर मनोविज्ञान से सम्बन्धित भद्र प्रयोग कारगर न हो सकें, फलतः उनको शारीरिक दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। इस अनिवार्य स्थिति में भी अहिंसा-दर्शन कहता है कि जहाँ तक हो सके, करुणा से काम लो। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष होना चाहिए, मर्यादित होना चाहिए, निरपेक्ष एवं अमर्यादित नहीं। शान्त-से-शान्त माता भी कभी-कभी अपनी उद्धत सन्तान को चाँटा मारने के लिए विवश हो जाती है, क्रुद्ध भी हो जाती है, किन्तु अन्तर् में उसका मातृत्व क्रूर नहीं होता, कोमल ही रहता है। माता के द्वारा दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड में भी हितबुद्धि रहती है, विवेक रहता है, एक उचित मर्यादा रहती है। भगवान् महावीर का अहिंसा-दर्शन अन्त तक इसी भावना को ले कर चलता है। वह मानव-चेतना के परिष्कार एवं संस्कार में आखिर तक अपना विश्वास बनाए रखता है। उनका आदर्श है—अहिंसा से काम लो। यह न हो सके, तो अल्प से अल्पतर हिंसा का, कम-से-कम हिंसा का पथ चुनो, वह भी हिंसा के लिए नहीं, अपितु भविष्य की बड़ी हिंसा के प्रवाह को रोकने के लिए। इस प्रकार हिंसा में भी अहिंसा की दिव्य चेतना सुरक्षित रहनी चाहिए।

अहिंसा : आज के परिप्रेक्ष्य में :

अन्यायपूर्ण स्थिति को सहते रहना, अन्याय एवं अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह दब्बूपन का मार्ग अहिंसा का मार्ग नहीं है। कायरता, कायरता है, अहिंसा नहीं है। अहिंसा मानव से अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का न्यायोचित अधिकार नहीं छीनती है। वह कहती है, प्रतिकार करो, परन्तु प्रतिकार के आवेश में मुझे मत भूल जाना। प्रतिकार के मूल में विरोधी के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए, बुरी भावना नहीं। प्रेम, सद्भाव, नम्रता, आत्मत्याग-अपने में एक बहुत बड़ी शक्ति है। कैसा भी प्रतिकार हो, इस शक्ति का चमत्कार एक दिन अवश्य होता है. इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भगवान् महावीर की अहिंसा दृष्टि :

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल आदर्श के रूप में ही उपस्थित नहीं किया, अपितु अपने जीवन में उतार कर उसकी शत-प्रतिशत यथार्थता भी प्रमाणित की। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखा दिया। उनका जीवन उनके अहिंसा योग के महान् आदर्श का ही एक जीता-जागता मूर्तिमान रूप था। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके मन में कोई घृणा नहीं थी, कोई द्वेष नहीं था। वे उत्पीड़क एवं घातक विरोधी के प्रति भी मंगल कल्याण की पवित्र भावना ही रखते रहे। संगम जैसे भयंकर उपसर्ग देने वाले व्यक्ति के लिए भी उनकी आँखें करुणा से गीली हो आई थीं। वस्तुतः उनका कोई विरोधी था ही नहीं। उनका कहना था—विश्व के सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के भी साथ कुछ भी वैर नहीं है—**'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई।'**

भगवान् महावीर का यह मैत्रीभावमूलक अहिंसा भाव इस चरम कोटि पर पहुँच गया था कि उनके श्रीचरणों में सिंह और मृग, नकुल और सर्प—जैसे प्राणी भी अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मजात बैर भुला कर सहोदर बन्धु की तरह एक साथ बैठे रहते थे। न सबल में क्रूरता की हिंस्रवृत्ति रहती थी, और न निर्बल में भय, भय की आशंका। दोनों ओर एक जैसा स्नेह का सद्व्यवहार। इसी सन्दर्भ में प्राचीन कथाकार कहता है कि भगवान् के समवसरण में सिंहिनी का दूध मृगशिशु पीता रहता और हिरनी का सिंहशिशु—**'दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति।'** भारत के आध्यात्मिक जगत् का वह महान् एवं चिरंतन सत्य, भगवान् महावीर के जीवन में साक्षात् साकार रूप में प्रकट हुआ था। उन्होंने स्पष्टतः सूचित किया, कि साधक के अन्तर्जीवन में भी जब अहिंसा की प्रतिष्ठा—पूर्ण जागृति होती है, तो उसके समक्ष जन्मजात वैरवृत्ति के प्राणी भी अपना वैर त्याग देते हैं, प्रेम की निर्मल धारा में अवगाहन करने लगते हैं—**"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०

भगवत्ता : महावीर की दृष्टि में

हमारे जीवन में सत्य का बड़ा महत्त्व है। लेकिन, साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा पर से यदि हम सत्य का आन्तरिक प्रकाश ग्रहण करना चाहें, तो सत्य का वह महान् प्रकाश हमें नहीं मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए तो हमें अपने अन्तरतम की गहराई में दूर तक झाँकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैन-धर्म ने सत्य के विराट् रूप को स्वीकारते हुए ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है।

हमारे जो दूसरे साथी हैं, दर्शन हैं, और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमें ईश्वर को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बनाकर चलती हैं। उनके अनुसार साधना में यदि ईश्वर को स्थान नहीं रहा, तो साधना का जीवन में कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु, जैन-धर्म ने इस प्रकार एक व्यक्ति रूप में सर्व-सत्ताधीश ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना।

सत्य ही भगवान् है :

तो फिर प्रश्न यह है कि जैन-धर्म की साधना का केन्द्र क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दों के अनुसार यह है—

"तं सच्चं खु भगवं।"[1]

मनुष्य ईश्वर के रूप में एक अलौकिक दैवी व्यक्ति के चारों ओर घूम रहा था। उसके ध्यान में ईश्वर विश्व का कर्ता-धर्ता-संहरता एक विराट् प्रभु व्यक्ति था और उसी की पूजा एवं उपासना में ही वह अपनी सारी शक्ति और समय व्यय कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी गलत और कभी सही रास्ते पर भटका और अन्धे की तरह धक्के खाता फिरा! जिस किसी भी विधि से उसको प्रसन्न करना, उसके जीवन का प्रधान और एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार हजारों भ्रान्तियाँ साधना के नाम पर मानव-समाज में पैदा हो गई थीं। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर आगे आए और उन्होंने एक ही बात बहुत थोड़े-से शब्दों में कहकर समस्त भ्रान्तियाँ दूर कर दीं। भगवान् कौन है? महाश्रमण भगवान् महावीर ने बतलाया कि वह भगवान् सत्य है। सत्य ही आपका भगवान् है। अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रख कर ही करो। अर्थात् सत्य होगा, तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना सम्भव नहीं है।

सच्ची उपासना :

अस्तु, हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण में गहरा उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोड़कर केवल ईश्वर की पूजा में लगा और उसी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील हुआ, तो ठोकरें खाता फिरा, भटकता रहा।

आज हजारों मन्दिर हैं, जहाँ ईश्वर के रूप में कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है, किन्तु वहाँ भगवान् सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। चाहे

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र, २, २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई जैन हो या जैनेतर हो, मूर्ति-पूजा करने वाला हो या न हो, अधिकांशतः वह अपनी शक्ति का उपयोग एकमात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है, उसमें वह न न्याय को देखता है, न अन्याय को। हम देखते हैं और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर में जाकर ईश्वर को अशर्फी चढ़ाएँगे और हजारों-लाखों के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे, किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो जाएगी? मन्दिर के बाहर द्वार पर, गरीब लोग पैसे-पैसे के लिए सिर झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामदें करते हैं, धक्का-मुक्की होती है; परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ और उन दरिद्रों पर घृणा एवं तिरस्कार बरसाता हुआ, अपने घर का रास्ता पकड़ता है। इस प्रकार जो पिता है—उसके लिए तो लाखों के मुकुट अर्पण किए जाते हैं, किन्तु उसके लाखों बेटों के लिए, जो पैसे-पैसे के लिए दर-दर भटकते फिरते हैं, कुछ भी नहीं किया जाता। उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नहीं दिखलाई जाती।

जन-साधारण के जीवन में यह विसंगति आखिर क्यों है? कहाँ से आई है? आप विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि इस विसंगति के मूल में सत्य को स्थान न देना ही है। क्या जैन और क्या जैनेतर, सभी आज बाहर की चीजों में उलझ गए हैं। परिणाम स्वरूप पूजा की धूमधाम मचती है, क्रिया-काण्ड का आडम्बर किया जाता है, आराध्य को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को, तो कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने में हजारों-लाखों की संपत्ति स्वाहा हो जाती है। लेकिन आपका कोई साधारण सजातीय या अन्य जातीय भाई है, वह जीवन के कर्तव्य पथ पर जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोड़ी-सी भी सहायता मिल जाए, तो वह जीवन के लक्ष्य पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का यथोचित निर्माण कर सकता है. किन्तु खेद है, उसके लिए आप कुछ भी नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि जब तक सत्य को जीवन में नहीं उतारा जाएगा, सही समाधान नहीं मिल सकेगा, जीवन में व्याप्त अनेक असंगतियाँ दूर नहीं की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्राप्त नहीं किया जा सकेगा।

सत्य का सही मंदिर : अन्तर्मन :

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते-फिरते थे और देवी-देवताओं के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं करते थे। भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान् है। भगवान् का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य को खोजने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा थी। सत्य अपने अन्दर ही छिपा है। उसे कहीं बाहर ढूंढ़ने के बजाय भीतर ही खोजना है। जब तक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा और अन्दर के सत्य की झाँकी नहीं होगी, भीतर का देवता तुम्हारे भीतर प्रकाश नहीं फैलाएगा, तब तक तुम तीन काल और तीन लोक में भी, कभी भी, कहीं पर भी, ईश्वर के दर्शन नहीं पा सकोगे।

कोई धनवान है, तो उसको भी बतलाया गया कि साधना अन्दर करो और जिसके पास एक पैसा भी नहीं, चढाने के लिए एक चावल भी नहीं, उससे भी कहा गया कि तुम्हारा भगवान् भीतर ही है। भीतर के उस भगवान् को चढ़ाने के लिए चावल का एक भी दाना नहीं, तो न सही। इसके लिए चिन्तित होने की कोई जरूरत नहीं है। उसे चांदी-सोने की भूख नहीं है। उसे मुकुट और हार पहनने की भी लालसा नहीं है। उसे नैवेद्य की कोई अपेक्षा नहीं है। एकमात्र अपनी सद्भावना के स्वच्छ और सुन्दर सुमन उसे चढाओ और हृदय की सत्यानुभूति से उसकी पूजा करो। यही उस देवता की पूजा की सर्वोत्तम सामग्री है, यही उसके लिए अनुपम अर्घ्य है। इसी से अन्दर का देवता प्रसन्न होगा। इसके विपरीत यदि बाहर की ओर देखोगे, तो वह तुम्हारा अज्ञान होगा। भीतर देखने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें आत्मा की परमात्मा के रूप में बदलती हुई शक्ल दिखलाई देगी ! आपके अन्दर के राक्षस—क्रोध, मान माया, लोभ आदि, जो अनादि-काल से अनन्त रूपों में तुम्हें तबाह करते आ रहे हैं, सहसा अन्तर्धान हो जाएँगे। अन्दर का देवता रोशनी देगा, तो अन्धकार में प्रकाश हो जाएगा।

इस प्रकार वास्तव में अन्दर में ही भगवान् मौजूद है। बाहर में देखने पर कुछ भी हाथ नहीं लगने वाला है। एक साधक ने कहा है—

"ढूंढन चाल्यो ब्रह्म को, ढूंढ फिर्यो सब ढूंढ।
जो तू चाहे ढूंढनों, इसी ढूंढ में ढूंढ।।"

तू ब्रह्म को, ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए चला है और इस खोज में दुनिया भर की जगह तलाश कर चुका है, इधर-उधर खूब भटकता फिरा है। कभी नदियों के पानी में और कभी पहाड़ों की चोटी पर, ईश्वर की तलाश करता रहा है। किन्तु वह कहाँ है, कुछ पता है, सुना है, सोचा-समझा है? यदि तुझे ढूँढ़ना है, वास्तव में तलाश करनी है और सत्य की झाँकी अपने जीवन में उतारनी है, तो सबसे बड़ा मन्दिर तेरा शरीर ही है, और उसी में ईश्वर विराजमान है। शरीर में जो आत्मा निवसित है, वही सबसे बड़ा देवता है। यदि उसको तलाश कर लिया, तो फिर अन्यत्र कहीं तलाश करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तुझे अवश्य ही भगवान् के दर्शन हो जाएँगे। संत कबीर ने कितना सही कथन किया है—

"मन मथुरा, तन द्वारिका, काया काशी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामें पीव पिछान।।"

यदि तूने अपने-आपको राक्षस बनाए रखा, हैवान बनाए रखा और ईश्वर को तलाश करने चला, तो तुझे कुछ भी नहीं मिलना है।

संसार बाहर के देवी-देवताओं की उपासना के मार्ग पर चला जा रहा है। उसके सामने भगवान् महावीर की साधना किस रूप में आई? यदि हम जैन-धर्म के साहित्य का भली-भाँति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओं की ओर जाने के लिए है, या देवताओं को अपनी ओर लाने के लिए है? वह देवताओं को साधक के चरणों में झुकाने के लिए है, साधक को देवताओं के चरणों में झुकाने के लिए नहीं। सम्यक्-श्रुत के रूप में प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ में ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म संयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामंगल धर्म है। जिसके जीवन में इस धर्म की रोशनी पहुँची, उसके श्रीचरणों में देवता भी प्रणत हो जाते हैं।"[1]

सत्य का बल :

इसका अभिप्राय यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर ने एक बहुत बड़ी बात संसार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हें मिली हुई हैं, उन्हें अगर तुम देवताओं के चरणों में अर्पित करने चले हो, तो उन्हें निर्माल्य बना रहे हो। लाखों-करोड़ों रुपए देवी-देवताओं को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हें ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप में है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दुःखी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

---

१. "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।"—दशवैकालिक १।१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप में अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर में सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनों को तोड़ देगा। कोई दूसरा बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओं के बन्धनों को नहीं तोड़ सकता। वस्तुतः अन्तरंग के बन्धनों को तोड़ने की शक्ति अन्तरंग आत्मा में ही है।

हम अतीत में पुराने इतिहास की ओर और वर्त्तमान में अपने आसपास की घटनाओं को देखते हैं, तो मालूम होता है कि संसार की बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है, समय पर अक्षम और निकम्मी साबित होती है। किसी में रूप-सौन्दर्य है। जहाँ बैठता है हजारों आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी में या सभा-सोसायटी में उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु, क्या वह रूप सदा रहने वाला है? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण-भर में विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी में मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नहीं है।

इसके बाद, धन का बल आता है, जिस पर मनुष्य को सर्वाधिक गर्व है। वह समझता है कि सोने की शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि उसके बल पर वह सभी कुछ कर सकता है। पर वास्तव में देखा जाए, तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी? जरासंध के पास सोने की क्या कमी थी? दुनिया के लोग बड़े-बड़े सोने के महल खड़े करते आए और संसार को खरीदने का दावा करते रहे; संसार को ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे; किन्तु सोने-चाँदी के सिक्कों का वह बल कब तक रहा? उनके जीवन में ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लंका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन एक शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नहीं आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एवं परिवार-बल पर चिंतन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ़ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारों वीरों की सभा के बीच द्रौपदी बेसहारा खड़ी है। उसे नंगा किया जा रहा है, उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। संसार के सबसे बड़े शक्तिशाली वीर पुरुष और नातेदार बैठे हैं; किन्तु सब-के-सब जड़ बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचों पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति बने बैठे हैं। उनमें से कोई भी काम नहीं आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई? ऐसा विकट एवं दारुण प्रसंग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खड़ा होना पड़ता है।

मनुष्य दूसरों के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि ये वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव में कोई काम नहीं आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप में मिले असाधरण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढ़ा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने में समर्थ हो सका। यही बात सीता के सम्बन्ध में भी है।

उक्त घटनाओं के प्रकाश में हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के दर्शनकारों और चिन्तकों ने कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ हैं और सत्य का बल एक तरफ है।

निराश्रय का आश्रय : सत्य :

संसार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक ही साथ देती हैं, किन्तु उससे आगे जवाब दे जाती हैं। उस समय सत्य का ही बल हमारा आश्रय बनता है, और वही एक मात्र काम आता है।

जब मनुष्य मृत्यु की आखिरी घड़ियों में पहुँच जाता है, तब उसे न धन बचा पाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, न ऊँचा पद तथा न परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सब-के-सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु, कोई-कोई महान् व्यक्ति उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नहीं जानता है! अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ संसार से विदा होता है। तो बताएँ उसे कौन रोशनी देता है? संसार के सारे सम्बन्ध टूट रहे हैं, एक कौड़ी भी साथ नहीं जा रही है और शरीर की हड्डी का एक टुकड़ा भी साथ नहीं जा रहा है, बुद्धि-बल भी वहीं समाप्त हो जाता है, फिर भी वह संसार से हँसता हुआ विदा होता है! इससे स्वतः स्पष्ट है कि यहाँ सत्य का अलौकिक बल ही उसे अपराजित बल प्रदान करता है।

विश्व का विधायक तत्त्व : सत्य :

सत्य धर्म का प्रकाश अगर हमारे जीवन में जगमगा रहा है, तो हम दूसरे की रक्षा करने के लिए अपने अमूल्य जीवन को भेंट देकर और मृत्यु का आलिंगन करके भी संसार से मुस्कराते हुए विदा होते हैं। यह प्रेरणा और यह प्रकाश सत्य धर्म के सिवा और कोई देने वाला नहीं है। सत्य जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी प्रेरणा प्रदान करता है। हमारे आचार्यों ने कहा है—

"सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥"

कहने को तो लोग कुछ भी कह देते हैं। कोई कहते हैं कि जगत् साँप के फन पर टिका है, और किसी की राय में बैल के सींग पर। किन्तु, ये सब कल्पनाएँ हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है। तथ्य तो यह है कि इतना बड़ा विराट् संसार पृथ्वी पर टिका हुआ है। और पृथ्वी अपने-आप में सत्य पर टिकी हुई है।

सूर्य समय पर ही उदित और अस्त होता है और उसी से सम्बन्धित संसार की यह अनोखी काल की घड़ी निरन्तर चलती रहती है। इसकी चाल में जरा भी गड़बड़ हो जाए, तो संसार की सारी व्यवस्थाएँ बिगड़ जाएँ। किन्तु, प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर ही होता है।

इसी प्रकार यह वायु भी केवल सत्य के बल पर ही चल रही है। जीवन की जितनी भी साधनाएँ हैं, वे चाहे प्रकृति की हों या चैतन्य की हों, सब की सब अपने आप में अपने-अपने सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार क्या जड़ प्रकृति और क्या चेतन, सभी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। चेतन जब तक अपने चैतन्य शक्ति की सीमा में है, तब तक कोई गड़-बड़ नहीं होने पाती। और, जड़-प्रकृति भी जब तक अपनी सत्य की धुरी पर चल रही है, सब कुछ व्यवस्थित चलता है। जब प्रकृति में तनिक-सा भी व्यतिक्रम होता है, तो भीषण संहार हो जाता है। एक छोटा-सा भूकम्प ही प्रलय की कल्पना को प्रत्यक्ष बना देता है। अतः यह कथन सत्य है कि संसार-भर के नियम और विधान सब सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं।

सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण :

भगवान महावीर के दर्शन में, सबसे बड़ी क्रान्ति, सत्य के विषय में यह रही है कि वे वाणी के सत्य को तो महत्त्व देते ही हैं, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन के सत्य को, विचार या मनन करने के सत्य को देते हैं। जब तक मन में सत्य नहीं आता, मन में पवित्र विचार और संकल्प जागृत नहीं होते और मन सत्य के प्रति आग्रहशील नहीं बनता; बल्कि मन में झूठ, कपट और छल भरा होता है, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नहीं माना जा सकता। सत्य की पहली कड़ी मानसिक पावनता है और दूसरी कड़ी है, वचन की पवित्रता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य के विघातक तत्त्व :

आज लोगों के जीवन में जो संघर्ष और गड़बड़ दिखाई देती है, चारों ओर जो बेचैनी फैली हुई है, उसके मूल कारण की ओर दृष्टिपात किया जाए, तो यह पता लगेगा कि मन के सत्य का अभाव ही इस विषम परिस्थिति का प्रधान कारण है। जब तक मन के सत्य की भली-भाँति उपासना नहीं की जाती, तब तक घृणा-द्वेष आदि बुराइयाँ, जो आज सर्वत्र अपना अड्डा जमाए बैठी हैं, समाप्त नहीं हो सकतीं।

असत्य भाषण का एक कारण क्रोध है। जब क्रोध उभरता है, तो मनुष्य अपने आपे में नहीं रहता है। क्रोध की आग प्रज्वलित होने पर मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है, विवेक भस्म हो जाता है और वह असत्य भाषण करने लग जाता है। आपा भुला देने वाले उस क्रोध की स्थिति में बोला गया असत्य तो असत्य है ही, किन्तु सत्य भी असत्य हो जाता है। अतः सत्य की उपासना के लिए क्षमा की शक्ति अतीव आवश्यक है।

इसी प्रकार जब मन में अभिमान भरा होता है और अहंकार की वाणी चेतना को ठोकरें मार रही होती है, तो ऐसी स्थिति में असत्य, तो असत्य रहता ही है, यदि वाणी से सत्य भी बोल दिया जाए, तो वह भी जैन-धर्म की भाषा में, असत्य ही हो जाता है।

मन में माया है, छल-कपट है, धोखा है, उस स्थिति में अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्य कोई अट-पटा-सा शाब्दिक सत्य तैयार कर लेता है, जिसका प्रसंग से भिन्न दूसरा अभिप्राय भी निकाला जा सकता है, तो वह सत्य भी असत्य की श्रेणी में है।

मनुष्य, जब लोभ-लालच में फंस जाता है, वासना के विष से मूर्च्छित हो जाता है, अपने जीवन के महत्त्व को भूल जाता है, जीवन की पवित्रता का उसे स्मरण नहीं रहता है, तब उसे यह विवेक भी नहीं रहता कि वह साधु है या गृहस्थ है? वह नहीं सोच पाता, कि अगर मैं गृहस्थ हूँ, तो एक सद्-गृहस्थ की भूमिका भी संसार को लूटने की नहीं है, संसार में डाका डालने के लिए ही मेरा जन्म नहीं हुआ है। मानव, संसार में लेने-ही-लेने के लिए नहीं जन्मा है, किन्तु उसका जन्म संसार को कुछ देने के लिए भी हुआ है, संसार की सेवा के लिए भी हुआ है। अतः जो कुछ मैंने पाया है, उसमें से जितना मेरा अधिकार है, उतना ही समाज एवं देश का भी अधिकार है। मैं अपने प्राप्त धन को अच्छी तरह संभाल कर रख रहा हूँ और जब देश को, समाज को जरूरत होगी, तो कर्तव्य समझ कर प्रसन्नता से समर्पित कर दूंगा।

मनुष्य की यह उदार मनोवृत्ति उसके मन को विराट् एवं विशाल बना देती है। जिसके मन में उदार भावना रहती है, उसके मन में ईश्वरीय प्रकाश चमकता रहता है और ऐसा सत्य-निष्ठ व्यक्ति, जिस परिवार में रहता है, वह परिवार सुखी एवं समृद्ध रहता है। जिस समाज में ऐसे उदारमना मनुष्य विद्यमान रहते हैं, वह समाज जीता-जागता समाज है। जिस देश में ऐसे मनुष्य जन्म लेते हैं, उस देश की सुख-समृद्धि सदा फूलती-फलती रहती है।

सत्य का आचरण :

जब तक मनुष्य के मन में उदारता एवं उदात्त भावना बनी रहती है, उसे लोभ नहीं घेरता है। यदि कभी मन में लोभ उत्पन्न होने लगता है, तो उससे टकराता है, जम कर संघर्ष करता है और लोभ के जहर को अन्दर नहीं आने देता है। जब तक मनुष्य सच्चाई के साथ उदारता की पूजा करता है, तभी तक उसकी उदारता सत्य है। निर्लोभता सत्य का महत्त्वपूर्ण रूप है।

सेवा करना भी सत्य का आचरण करना है। मन में निरभिमानता और सेवा की भावना है अर्थात् जब कोई सेवा का आदर्श लिए नम्र सेवक के रूप में पहुँचता है, तो उसकी विनम्रता भी सत्य है। जो जन-सेवा के लिए विनम्र बन कर चल रहा है, वह सत्य का ही आचरण कर रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार, जो सरलता के मार्ग की ओर जीवन को लगा देता है, जिसका जीवन खुली पुस्तक है, स्पष्ट है कि वह सत्य का महान् उपासक है। चाहे कोई दिन में देख ले या रात में, चाहे कोई एकान्त में परखे या हजार आदमियों में। उसका जीवन सत्य-निष्ठ वह जीवन है, जो अकेले में रह रहा हो, तब भी वही रूप है, वही काम है और हजारों के बीच में रह रहा है, तब भी वही रूप है, वही काम है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"तू कहीं अकेला है और वहाँ कोई तुझे देखने वाला, पहचानने वाला नहीं है, तुझ पर कोई अंगुली उठाने वाला नहीं है, तो तू क्यों सोचता है कि ऐसा या वैसा क्यों न कर लूं, यहाँ कौन देखने बैठा है? सत्य तेरे आचरण के लिए है, तेरे मन में उभरने वाली विकृति को दूर करने के लिए है। अतः तू अकेला बैठा है, तब भी उस सत्य की पूजा कर और हजारों की सभा में बैठा है, तब भी उसी सत्य का अनुसरण कर। यदि लाखों-करोड़ों की संख्या में जनता बैठी है, तो उसे देख कर तुझे अपनी राह नहीं बदलनी है। यह क्या, जनता की आँखें तुझे घूरने लगे, तो तू राह बदल दे? सत्य का मार्ग बदल दे। नहीं, तुझे सत्य की ही ओर चलना है और हर स्थिति में सत्य ही तेरा उपास्य होना है।"[१]

सत्य की चरम परिणति :

जब मनुष्य सर्वज्ञता की भूमिका पर पहुँचता है, तभी उसका ज्ञान पूर्ण होता है, तभी उसे अनन्त उज्ज्वल प्रकाश मिलता है, तभी उसे परिपूर्ण यथार्थ सत्य का पता लगता है। किन्तु, उससे नीचे की जो भूमिकाएँ हैं, वहाँ क्या होता है? जहाँ तक विचार-शक्ति साथ देती है, साधक को निष्ठा के साथ सत्य का आचरण करना है। फिर भी संभव है, सोचते-सोचते, विचार करते-करते ऐसी धारणाएँ बन जाए, जो सत्य के विपरीत हों। किन्तु, जब कभी यथार्थ सत्य का पता चले और भूल मालूम होने लगे, यह समझ में आ जाए कि यह बात गलत है, तो उसे एक क्षण भी मत रखो, तत्क्षण सत्य को ग्रहण कर लो। गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर लो—यह सत्य की दृष्टि है, सम्यक्-दृष्टि की भूमिका है।

सत्य की भूमिका :

छट्ठे गुणस्थान में सत्य विराट् होकर महाव्रत होता है, किन्तु वहाँ पर भी गलतियाँ और भूलें हो जाती है। पर, गलती या भूल हो जाना एक बात है और उसके लिए आग्रह-दुराग्रह होना दूसरी बात। सम्यक्-दृष्टि भूल करता हुआ भी उसके लिए आग्रहशील नहीं होता, उसका आग्रह तो सत्य के लिए होता है। वह असत्य को असत्य जान कर कदापि आग्रहशील न होगा। जब उसे सत्य का पता लगेगा, तब वह अपनी प्रतिष्ठा को खतरे में डाल कर भी स्पष्ट शब्दों में कहेगा—"पहले मैंने भ्रान्तिवश ऐसा कहा था, इस बात का समर्थन किया था। किन्तु, अब यह सत्य सामने आ गया है, अतः इसे कैसे अस्वीकार करूँ?" इस प्रकार वह तत्क्षण भूल का परित्याग कर, सत्य को स्वीकार करने हेतु उद्यत हो जाएगा। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पक्ष-मुक्त सम्यक्-दृष्टि है, वहाँ सत्य है।

जीवन-यात्रा के पथ में कहीं सत्य का और कहीं असत्य का ढेर नहीं लगा होता है कि कोई उसे बटोर कर ले आए। सत्य और असत्य, तो मनुष्य की अपनी दृष्टि में रहता है। इसी बात को श्रुतधर देववाचक आचार्य ने शास्त्रों के सत्यासत्य की चर्चा करते हुए नन्दी सूत्र में कहा है—

---

१. दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा,
सुते वा, जागरमाणे वा।

—दशवैकालिक सूत्र, अध्य० ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"एआणि मिच्छादिट्ठिस्स, मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।
एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स, सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।।"

कौन शास्त्र सच्चा है और कौन झूठा है, जब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, तो एक बड़ा सत्य हमारे सामने आया। इस सम्बन्ध में बड़ी गंभीरता के साथ विचार करने की अपेक्षा है।

हम बोल-चाल की भाषा में जिसे सत्य कहते हैं, सिद्धान्त की भाषा में वह कभी असत्य भी हो जाता है और जिसे हम असत्य कहते हैं, वह सत्य बन जाता है। अतः सत्य और असत्य की दृष्टि ही प्रधान वस्तु है। जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह वास्तव में सत्य का आराधक है। सत्य की दृष्टि कहो या मन का सत्य कहो, एक ही बात है। मन के सत्य के अभाव में वाणी का सत्य मूल्यहीन ही नहीं, वरन् कभी-कभी धूर्तता का रूप भी ले लेता है। अतः जिसे सत्य की सही आराधना करनी है, उसे मन को सत्यमय बनाना होगा, सत्य के विवेक को जागृत करना होगा।

आज तक जो महापुरुष हुए हैं और जिन्होंने मनुष्य को उदात्त प्रेरणाएँ दी हैं, यह न समझिए कि उन्होंने जीवन में बाहर से कहीं कोई प्रेरणाएँ डाली हैं। यह एक दार्शनिक प्रश्न है, मनुष्य में जो प्रेरणा है, जो हमारे भीतर अहिंसा, सत्य, करुणा, दया का रस है और जो अहं के क्षुद्र-दायरे से मुक्त होकर विराट् विश्व में, जगत् में भलाई करने की प्रेरणा है, क्या वह बाहर की वस्तु है? नहीं, वह बाहर की नहीं, मानव के अपने अन्दर का ही परम-तत्त्व है। जो बाहर से डाला जाता है, वह तो बाहर की ही वस्तु होती है। अतः वह विजातीय पदार्थ है। विजातीय पदार्थ कितना ही घुल-मिल जाए, आखिर उस विजातीय का अस्तित्व अलग ही रहने वाला होता है। वह हमारे जीवन का अंग कदापि नहीं बन सकता।

मिश्री डाल देने से पानी मीठा हो जाता है। मिश्री की मीठास पानी में एकमेक हुई-सी मालूम होती है और पीने वाले को आनन्द देती है, किन्तु क्या कभी वह पानी का स्वरूप बन सकती है? आप पानी और मिश्री को अलग नहीं एक रूप समझते हैं, किन्तु वैज्ञानिक बन्धु कहते हैं—मिश्री, मिश्री की जगह है और पानी, पानी की जगह है। दोनों मिल अवश्य गए हैं और एक-रस भी प्रतीत होते हैं। किन्तु, वैज्ञानिक पद्धति एवं प्रक्रिया से विश्लेषण करने से दोनों ही अलग-अलग भी किए जा सकते हैं।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि हमारे जीवन में एक अद्भुत माधुर्य उत्पन्न कर देते हैं, जीवनगत कर्तव्यों के लिए महान् प्रेरणा को जागृत करते हैं और यदि यह सब पानी और मिश्री की तरह विजातीय है, मनुष्य की अपनी स्वाभाविकता नहीं है, जातिगत विशेषता नहीं है, तो वे जीवन का स्वरूप नहीं बन सकते। हमारे जीवन में एक रस-नहीं हो सकते। सम्भव है, कुछ समय के लिए वे एकरूप प्रतीत हों, फिर भी समय पाकर उनका अलग हो जाना अनिवार्य होगा।

निश्चित है कि हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण भाव बाह्य तत्त्वों की मिलावट से नहीं है। एक वस्तु, दूसरी को परिपूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। विजातीय वस्तु, किसी भी वस्तु में बोझ बन कर रह सकती है, उसकी असलियत को विकृत कर सकती है, उसमें अशुद्धि उत्पन्न कर सकती है। कथमपि उसे स्वाभाविक विकास और पूर्णता एवं विशुद्धि नहीं दे सकती।

इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन ने काफी स्पष्ट चिन्तन किया है। भगवान् महावीर ने बतलाया है कि धर्म के रूप में जो प्रेरणाएँ दी जा रही हैं, उन्हें हम बाहर से नहीं डाल रहे हैं। वे तो मनुष्य की अपनी ही विशेषताएँ हैं, अपना ही स्वभाव है, निज रूप है। हम उनके होने की केवल सूचना मात्र देते हैं।

"वत्थुसहावो धम्मो"—वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका अपना धर्म होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः धर्म, और कुछ नहीं, आत्मा का ही अपना स्वभाव है। धर्मशास्त्र की वाणी मनुष्य की सुप्त शक्तियों को जगाती है। किसी सोए हुए व्यक्ति को जगाया जाता है, तो यह जगाना बाहर से नहीं डाला जाता। जागने का भाव बाहर पैदा नहीं किया जाता। जागना अन्दर से होता है। शास्त्रीय, दार्शनिक दृष्टि से जगाने के लिए आवाज देने का अर्थ है—सोई हुई चेतना को उद्‌बुद्ध कर देना। सुप्त-चेतना का उद्‌बोधन ही जागृति है।

यह जागृति क्या है? कान में डाले गए शब्दों की भाँति जागृति भी क्या बाहर से डाली गई है? नहीं। जागृति बाहर से नहीं डाली गई, जागने की शक्ति तो अन्दर में ही है। जब मनुष्य सोया होता है, तब भी वह छिपे तौर पर उसमें विद्यमान रहती है। स्वप्न में भी मनुष्य के भीतर निरन्तर चेतना दौड़ती रहती है, और सूक्ष्म चेतना के रूप में अपना काम करती रहती है। इस प्रकार जब जागृति सदैव विद्यमान रहती है, तो समझ लेना होगा कि जागने का भाव बाहर से भीतर नहीं डाला गया है। सुषुप्ति भी पर्दे की तरह जागृति को आच्छादित कर लेती है। वह पर्दा हटा कि मनुष्य जाग उठा।

हमारे आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से कहा है कि मनुष्य अपने-आप में एक प्रेरणा है। मनुष्य की विशेषताएँ अपने-आप में अपना अस्तित्व रखती हैं। शास्त्र का या उपदेश का सहारा लेकर हम जीवन का सन्देश बाहर से प्राप्त नहीं करते, वरन् वासनाओं और दुर्बलताओं के कारण हमारी जो चेतना अन्दर सुप्त है, उसी को जागृत करते हैं।

मनुष्य की महत्ता का आधार :

मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है? क्या सप्त धातुओं के बने शरीर के कारण है? मिट्टी के इस ढेर के कारण है? नहीं, मनुष्य का शरीर तो हमें कितनी ही बार मिल चुका है और बहुत सुन्दर मिल चुका है, किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर भी मानवता का जीवन नहीं पाया, तो क्या पाया? और, जिसने मानव-तन के साथ मानवता को भी पाया, वह यथार्थ में कृतार्थ हो गया।

हम पहली बार ही मनुष्य बने हैं, यह कल्पना करना दार्शनिक दृष्टि से भयंकर भूल है। इससे बढ़कर और कोई भूल नहीं हो सकती। जैन-धर्म ने कहा है कि—आत्मा अनन्त-अनन्त बार मनुष्य बन चुकी है और इससे भी अधिक सुन्दर तन पा चुकी है, किन्तु मनुष्य का तन पा लेने से ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक आत्मा नहीं जागती है, तब तक मनुष्य-शरीर पा लेने का भी कोई मूल्य नहीं है।

यदि मनुष्य के रूप में तुमने मानवोचित आचरण नहीं किया, तो यह शरीर तो मिट्टी का पुतला ही है! यह कितनी ही बार लिया गया है और कितनी ही बार छोड़ा गया है! भगवान् महावीर ने कहा है—"मनुष्य होना उतनी बड़ी चीज नहीं, बड़ी चीज है, मनुष्यता का होना। मनुष्य होकर जो मनुष्यता प्राप्त करते हैं, उन्हीं का जीवन वरदान-रूप है।"[1] नर का आकार तो अमुक अंश में बन्दरों को भी प्राप्त है। इसीलिए बन्दरों को संस्कृत भाषा में वानर कहते हैं।

हमारे यहाँ एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारक गृहस्थ श्रावक को भी द्विज कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी द्विज कहते हैं। पक्षी पहले अण्डे के रूप में जन्म लेता है। अण्डा प्रायः लुढ़कने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। यदि वह नष्ट न हुआ और सुरक्षित भी बना रहा, तब भी वह उड़ नहीं सकता। अंडे के पक्षी में उड़ने की कला का विकास नहीं हुआ है। यदि भाग्य से अण्डा सुरक्षित बना रहता है और अपने विकास का समय पूरा कर लेता है, तब अण्डे का खोल

---

१. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।—उत्तराध्ययन ३।१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टूटता है और उसे तोड़ कर पक्षी बाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप में होता है, और दूसरा जन्म खोल तोड़ने के बाद पक्षी के रूप में होता है। पक्षी अपने पहले अंडे के जन्म में कोई काम नहीं कर सकता—ऊँची उड़ान नहीं भर सकता। विकसित पक्षी के रूप में दूसरा जन्म प्राप्त करने के पश्चात् ही वह लम्बी और ऊँची उड़ान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन कर्म-संस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी बदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात्, वह राम बनेगा या रावण, उस चोले में शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा देवता—यह नहीं कहा जा सकता। उसका वह रूप साधारण है, दोनों के जन्म की सम्भावनाएँ उसमें निहित हैं। आगे चलकर जब वह विशिष्ट बोध प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र में आता है, अपने जीवन का स्वयं निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की चेतना को जगाता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है।

जब मनुष्यता जाग उठती है, तो उदात्त कर्तव्यों का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उड़ान लता है। ऐसा 'मनुष्य' जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र में जन्म लेता है, वहीं अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयों को प्राप्त करता है।

अगर तुम अपने तन के मनुष्य-जीवन में मनुष्य के निर्मल मन को जगा लोगे, अपने भीतर की पवित्र मानवीय वृत्तियों को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के कल्याण-कारी सौरभ को संसार में फैलाना शुरू कर दोगे, तब तुम्हारा दूसरा जन्म होगा। उस समय तुम मानव 'द्विज' बन सकोगे। जीवन का यही एक महान् सन्देश है।

जब भगवान् महावीर का पावापुरी में निर्वाण हो रहा था और हजारों-लाखों लोग उनके दर्शन के लिए चले आ रहे थे, तब उन्होंने अपने अन्तिम प्रवचन में एक बड़ा हृदय-ग्राही, करुणा से परिपूर्ण सन्देश दिया—**"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।"**—निस्संदेह, मनुष्य-जीवन बड़ा ही दुर्लभ है।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर लिए हुए तो लाखों, करोड़ों, अर्बों की संख्या सामने है, सब अपने को मनुष्य समझ रहे हैं, किन्तु केवल मनुष्य-तन पा लेना ही मनुष्य-जीवन को पा लेना नहीं है, वास्तविक मनुष्यता पा लेने पर ही कोई मनुष्य कहला सकता है।

यह जीवन की कला इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सारा-का-सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति में लग जाता है। मानव का क्षुद्र जीवन ज्यों-ज्यों विशाल और विराट् बनता जाता है और उसमें सत्य, अहिंसा और दया का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों अन्दर में सोया हुआ मनुष्य का भाव जागृत होता जाता है। अतएव शास्त्रीय शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व के भाव का जागृत होना ही सच्चा मनुष्य होना है।

मनुष्य जीवन में मनुष्यत्व होने की प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चार बातें भगवान् महावीर ने बतलाई है। उनमें सर्वप्रथम 'प्रकृतिभद्रता' है। मनुष्य को अपने-आप से प्रश्न करना चाहिए कि तू प्रकृति से भद्र है अथवा नहीं? तेरे मन में या जीवन में कोई अभद्रता की रुग्णता तो नहीं है? तू अपने में सहज-भाव से परिवार को और समाज को स्थान देता है या नहीं? आस-पास के लोगों में समरसता लेकर चलता है या नहीं? ऐसा तो नहीं है कि तू अकेला होता है, तो कुछ और करता है, परिवार में रहता है, तो कुछ और ही करता है और समाज में जाकर कुछ और ही करने लगता है? इस प्रकार अपने को तूने कहीं बहुरूपिया तो नहीं बना रखा है?

स्मरण रखें, जहाँ जीवन में एकरूपता नहीं है, वहाँ जीवन का विकास नहीं है। मैं समझता हूँ, अगर आप गृहस्थ हैं, तब भी आपको इस कला की बहुत बड़ी आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, और यदि साधु बन गए हैं, तब तो उससे भी बड़ी आवश्यकता है। जिसे छोटा-सा परिवार मिला है, उसे भी आवश्यकता है। और, जो बड़ा ऊँचा नेता या पदाधिकारी बना है, जिसके कन्धों पर समाज एवं देश का महान् उत्तरदायित्व है, उसको भी इस कला की आवश्यकता है। जीवन में एक ऐसा सहज-भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, एकरूप होकर रहे। यही एकरूपता, भद्रता एवं सरलता कहलाती है और यह जीवन के हर पहलू में रहनी चाहिए। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य सुनसान जंगल में जिस भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर रहा है, उसी भाव से वह समाज में भी करे और जिस भाव से समाज में कर रहा है, उसी भाव से एकान्त में भी करे। प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य, कर्तव्य-भाव से, स्वतः ही पूर्ण करना चाहिए। किसी की आँखें हमारी ओर घूर रही हैं या नहीं, यह देखने की उसे आवश्यकता ही क्या है?

भगवान् महावीर का पवित्र सन्देश है कि मनुष्य अपने-आप में सरल बन जाए और द्वैत-भाव अर्थात् मन, वचन, काया की वक्रता न रखे। हर प्रसंग पर दूसरों की आँखों से अपने कर्तव्य को नापने की कोशिश न करे। जो निर्दम्भ, निर्भय हो सहज स्वभाव से काम नहीं कर रहा है और केवल भय से प्रेरित होकर हाथ-पाँव हिला रहा है, वह आतंक में काम कर रहा है, ऐसे काम करने वाले के कार्य में सुन्दरता नहीं पैदा हो सकती, महत्त्वपूर्ण प्रेरणा नहीं जग सकती।

एक महान् उदात्त वचन है—**"यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्।"**—सारा भूमण्डल एक घोंसला है तथा हम सब उसमें पक्षी के रूप में हैं। फिर कौन भूमि है कि जो हमारी न हो, जहाँ हम न जाएँ? समस्त भूमण्डल मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कहीं भी जाए या रहे, सब के साथ घुल-मिल कर एकरूप हो कर रहे। उसके लिए कोई पराया न हो। जो इस प्रकार की भावना को अपने जीवन में स्थान देगा, वह अपने जीवन-पुष्प को सौरभमय बनाएगा। गुलाब का फूल टहनी पर है, तब भी महकता है और टूटकर अन्यत्र जाएगा, तब भी महकता रहेगा। महक ही उसका जीवन है, उसका प्राण है।

सहज-भाव से अपने कर्तव्य को निभाने वाला मनुष्य सिर्फ अपने-आपको, अपने कर्तव्य के औचित्य को देखता है। उसकी दृष्टि दूसरों की ओर नहीं जाती। कौन व्यक्ति मेरे सामने है अथवा किस समाज के भीतर मैं हूँ, यह देखकर वह काम नहीं करता। सूने पहाड़ में जब वनगुलाब खिलता है, महकता है, तो क्या उसके विकास को देखने वाला और महक को सूंघने वाला आस-पास में कोई होता है? परन्तु, गुलाब को इसकी कोई परवाह नहीं कि कोई उसे आदर देने वाला है या नहीं, भ्रमर है या नहीं। गुलाब जब विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है, तो अपने-आप खिल उठता है। उससे कोई पूछे—तेरा उपयोग करने वाला यहाँ कोई नहीं है, फिर तू क्यों वृथा खिल रहा है? क्यों अपनी महक लुटा रहा है? गुलाब जवाब देगा—कोई है या नहीं, इसकी मुझको चिन्ता नहीं। मेरे भीतर उल्लास आ गया है, विकास आ गया है और मैंने महकना शुरू कर दिया है। यह मेरे बस की बात नहीं है। इसके बिना मेरे जीवन की और कोई गति ही नहीं है। यही तो मेरा जीवन है।

बस, यही भाव मनुष्य में जागृत होना चाहिए। वह सहज भाव से अपना कर्तव्य पूरा करे और इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझे।

इसके विपरीत, जब मनुष्य स्वतः समुद्भूत उल्लास के भाव से अपने कर्तव्य और दायित्व को नहीं निभाता, तो चारों ओर से उसे दबाया और कुचला जाता है। इस प्रकार एक तरह की गंदगी और बदबू फैलती है। आज दुर्भाग्य से समाज और देश में सर्वत्र गन्दगी और बदबू ही नजर आ रही है और इसीलिए आज के मनुष्य का जीवन अत्यन्त पामर जीवन बना रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य की अन्तर् में अनुभूति ही सच्ची अनुभूति :

भारतीय-धर्म और दर्शन मानव-जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि मानव, तू अन्दर में क्या है ? तू अन्तरतम में विराजमान महाप्रभु के प्रति सच्चा है, या नहीं। वहाँ सच्चा है, तो संसार के प्रति भी सच्चा है और यदि वहाँ सच्चा नहीं, तो संसार के प्रति भी सच्चा नहीं है। अन्तःप्रेरणा और अन्तःस्फूर्ति से, बिना दबाव या भय के, जब अपना कर्तव्य निभाया जाएगा, तो जीवन एकरूप होकर कल्याणमय बन जाएगा।

दूसरी बात है—मनुष्य के हृदय में दया और करुणा की लहर पैदा होना। हमारे भीतर, हृदय के रूप में, माँस का एक टुकड़ा है। निस्सन्देह, वह माँस का टुकड़ा ही है और माँस के पिण्ड के रूप में ही हरकत कर रहा है। हमें जिन्दा रखने के लिए साँस छोड़ रहा है और ले रहा है। पर उस हृदय का मूल्य अपने-आप में कुछ नहीं है। जिस हृदय में महान् करुणा की दिव्य लहर पैदा नहीं होती, उस हृदय की कोई कीमत नहीं है।

जब हमारे जीवन में समग्र विश्व के प्रति दया और करुणा का भाव जागृत होगा, तभी प्रकृति-भद्रता उत्पन्न हो सकेगी। तभी हमारा जीवन भगवत्-स्वरूप हो सकेगा। प्रकृति-भद्रता अर्थात् दम्भ-मुक्त सत्य, सत्य का ही व्यक्त रूप है।

सत्य का विराट् रूप :

इस प्रकार समग्र समाज के प्रति सच्चाई के साथ कर्तव्य-बुद्धि उत्पन्न हो जाना, विश्व-चेतना का विकास हो जाना सत्य का विकास है और उसी सत्य को जैन-धर्म ने भगवान् के रूप में अभिहित किया है। यही मानव की भगवत्ता है, प्रकृति धर्म है।

धर्म का मूल रूप सत्य है। सत्य, मानवता है और यह मानवता ज्यों-ज्यों विराट् रूप ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों उसका सत् भगवान् भी विराट् बनता चला जाता है। इस विराट्ता में जैन, वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि का कोई भेद नहीं रहता। यही सत्य का स्वरूप है, और इसकी उपलब्धि मानव की विराट् चेतना में ही होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१

अस्तेय-व्रत : आदर्श प्रामाणिकता

आचार्य शय्यंभव जैसे महान् श्रुतधर शास्त्रकारों ने कहा है—

"चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंत-सोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ।।"

अजीव वस्तु हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, पर मालिक की आज्ञा के बिना कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। दाँत कुरेदने का तिनका भी बिना आज्ञा के नहीं लिया जा सकता है। जब अस्तेय-व्रत पर सम्यक् रूप से विचार करेंगे, तो यह प्रतीत होगा कि इस व्रत का पालक ही अहिंसा और सत्य व्रत का पालक बन सकता है।

अपनी वस्तु को छोड़कर दूसरे की किसी भी वस्तु को गलत इरादे से हाथ लगाना चोरी है। दूसरे की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के अपने उपयोग में लाना अदत्तादान है। इस अदत्तादान का त्याग ही अस्तेय व्रत है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि मार्ग में पड़ी हुई दूसरे की वस्तु को अपनी बना लेना भी चोरी है। मन, वचन और काय से चोरी करना, कराना, और अन्ततः अनुमोदन करना भी चोरी है।

किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा लेने का नियम इस व्रत में बताया गया है। जिस वस्तु की हमको आवश्यकता न हो, वह वस्तु दूसरों के पास से लेना भी चोरी है। फिर भले ही वह वस्तु दूसरों की आज्ञा से ही क्यों न ली गई हो, पर बिना जरूरत के वस्तु लेना भी चोरी ही है। अमुक मधुर सुस्वादु फल आदि खाने की मनुष्य को कोई खास आवश्यकता नहीं है, फिर भी यदि वह उन्हें खाने लग जाए तो वह भी चोरी ही है। मनुष्य अपनी गरिमा को समझता नहीं है, इसी से उस भुक्खड़ व्यक्ति से ऐसी चोरी हो जाती है। इस व्रत के आराधक को इस प्रकार अचौर्य का व्यापक अर्थ घटाना चाहिए। जैसे-जैसे वह इस व्रत का विशाल रूप में पालन करता जाएगा, वैसे-वैसे इस व्रत की महत्ता और उसका रहस्य भी समझता जाएगा।

अस्तेय का इससे भी गहरा अर्थ यह है कि पेट भरने और शरीर टिकाने के लिए जरूरत से अधिक संग्रह करना भी चोरी ही है। एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक रखने लग जाए, तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरे जरूरतमन्दों को आवश्यकता पूर्ति के लिए भी कुछ नहीं मिल सकेगा। दो जोड़ी कपड़ों के बजाय यदि कोई मनुष्य बीस जोड़ी कपड़े रखे, तो इससे स्पष्ट ही दूसरे पाँच-सात गरीब आदमियों को वस्त्र-हीन होना पड़ सकता है। अतः किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह करना चोरी है।

जो वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली है, उसका वैसा उपयोग नहीं करना भी चोरी है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, शक्ति आदि की प्राप्ति जन-सेवा तथा आत्म-आराधना के लिए हुई है, उनका उपयोग जन-सेवा तथा आत्माराधना में न कर, एकान्तरूप से भोगोपभोग में करना भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। शरीरादि का उपयोग परमार्थ के लिए न करते हुए, स्वार्थ के लिए करना भी एक तरह की चोरी ही है।

उपनिषद् में अश्वपति राजा अपने राज्य की महत्ता कोव ताते हुए एक वाक्य कहता है—'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः'—चोर और कृपण को वह एक ही श्रेणी में रखता है। गहरा विचार करेंगे, तो प्रतीत होगा कि कृपण ही चोर के जनक होते हैं। अतः समाज

१. दशवैकालिक सूत्र, ६, १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए कृपणों को अपनी कृपणता त्याग देनी चाहिए और इसके बदले में उदारता प्रकट करनी चाहिए।

चोरी के प्रमुख चार प्रकार होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य से चोरी करना यानि वस्तुओं की चोरी। सजीव और निर्जीव—दोनों प्रकार की चोरी द्रव्य चोरी कही जाती है। किसी के पशु चुरा लेना या किसी की स्त्री का अपहरण कर लेना, किसी का बालक चुरा लेना या किसी के फलफूल तोड़ना, यह सजीव चोरी है। सोना-चाँदी हीरा, माणिक, मोती आदि की चोरी, निर्जीव चोरी है। कर की चोरी का भी निर्जीव चोरी में समावेश होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मार्ग में पड़ी हुई ऐसी कोई निर्जीव वस्तु, जिसका कोई मालिक न हो, उठा कर ले लेना भी चोरी है।

किसी के घर या खेत पर अनुचित रीति से अपना अधिकार कर लेना, यह क्षेत्र की चोरी है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लेता है या उसके साधनों को, आर्थिक स्रोतों को हड़प लेता है—यह भी क्षेत्र-चोरी के अन्तर्गत है।

वेतन, किराया, ब्याज आदि देने-लेने के समय नियत समय की न्यूनाधिकता करना काल की चोरी है। जो समय, जिस कर्तव्य के अनुष्ठान का है, उसे निश्चित समय पर न करना, काल की चोरी है। इसका अर्थ है—आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा आदि किसी-न-किसी रूप में चोरी है।

किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को, विचारों को लेकर अपने नाम से लिखना, प्रकाशित करना भाव-चोरी है। चोरी का विचार करना भी भाव-चोरी है। भाव-चौर्य-कर्म का क्षेत्र व्यापक है।

एक लेखक ने लिखा है—"He who purposely cheats his friends, would cheat his God". अर्थात् जो व्यक्ति अपने मित्र को धोखा देता है, ठगता है, वह एक दिन ईश्वर को भी ठगेगा। दूसरे एक लेखक ने लिखा है—"Dishonesty is a for Saking of permanent for temporary advantages" अर्थात् अप्रामाणिकता या चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत श्रेय को गुम कर देने जैसा है।

अपने हक के अतिरिक्त की वस्तु, चाहे जिस किसी प्रकार से ले लेना चोरी है। कोई सरकारी नौकर-आफीसर किसी का कोई काम करके रिश्वत या इनाम ले तो यह भी चोरी है। जबकि उनकी नौकरी उसी काम के लिए है, तो फिर निर्धारित वेतन के अतिरिक्त रिश्वत आदि लेना चोरी ही है। अपने असाध्य रोग की खबर हो, फिर भी बीमा कराना, यह भी एक तरह की चोरी है। यह स्पष्ट ही अनैतिक कर्म है, बीमा कम्पनी को ठगना है।

आये दिनों चोरियों की प्रकारता बढ़ती जा रही है। चोरी का पाप चोरी करने वाले को तो लगता ही है, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं, तो परोक्ष रूप में वे व्यक्ति भी इस पाप-कर्म के कम भागीदार नहीं होते, जो समाज की परिस्थिति की तरफ ध्यान नहीं देते। आँख-मूंद कर निरन्तर अनावश्यक संग्रह में ही लगे रहते हैं। आज एक ओर कारखाने अधिकाधिक माल पैदा कर रहे हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिम अभाव की स्थिति पैदा कर उद्योगपति और श्रीमन्तों की शोषण-नीति और संग्रह-वृत्ति प्रतिदिन चोरी के नय-नये तरीके पैदा कर रही है।

चोरी का अन्तरंग कारण :

यदि चोरी का अन्तरंग कारण खोजेंगे, तो प्रतीत होगा कि उसका मूल मानव की बेलगाम बढ़ती हुई अर्थ-लोलुपता में ही स्थित है। जिसके पास आज सौ रुपये है, वह हजार कमाने की धुन में है। हजार रुपये वाला, दस हजार और दस हजार वाला उसे लाख करने की लालसा में फंसा हुआ है। पैसों की इस दौड़-धूप में मनुष्य नीति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाणिकता को भी भूल गया है। येन-केन-प्रकारेण धन-संचय करने की ओर ही लगा हुआ है। इस प्रकार 'अर्थ-लोलुपता' चोरी का अन्तरंग कारण है।

१. **बेकारी :** चोरी के बहुत कारण हैं, जिनमें चार कारण मुख्य हैं। बेकारी, इनमें प्रथम कारण है। काम-धन्धा नहीं मिलने से, बेकार हो जाने से, फलतः अपनी आजीविका ठीक तरह नहीं चला सकने के कारण कितने ही दुर्बल मनोवृत्ति के अज्ञानी व्यक्ति चोरी करना सीखते हैं। जो प्रबुद्ध और प्रामाणिक होते हैं, वे तो मरण पसन्द करते हैं, पर चोरी करना नहीं चाहते हैं। परन्तु, ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। अधिकांश वर्ग तो बेकारी से घबरा कर काम-धन्धा नहीं मिलने से आखिरकार पेट का खड्डा भरने के लिए चोरी का मार्ग पकड़ लेता है।

२. **अपव्यय :** चोरी का दूसरा कारण—अपव्यय है। अपव्यय करना भी चोरी सीखाता है। अधिकांशतः श्रीमंताई के अहंकार या भोग-वृत्ति के कारण मनुष्य फिजूल-खर्ची बन जाता है। एक बार हाथ के खुल जाने पर, फिर उसे काबू में रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययी के पास पैसा टिकता नहीं है और जब वह निर्धन हो जाता है, तब वह अपनी फिजूल खर्ची की आदत से इधर-उधर किसी-न-किसी रूप में चोरी करने लग जाता है। अनेक व्यक्ति विवाह आदि प्रसंग में कर्ज लेकर खर्च करते हैं, परन्तु बाद में जब उसे चुकाना पड़ता है और कोई आमदनी का जरिया नहीं होता है, तब वे चोरी का मार्ग ग्रहण करते हैं। इस प्रकार किसी भी प्रकार की फिजूल खर्ची या निरर्थक खर्च मनुष्य को अनैतिक मार्ग पर खींच ले जाता है। आज के मनुष्य दुनिया की नजरों में, जो खुली चोरी कही जाती है उससे भले ही दूर रहें, पर शोषण-अनीति की गुप्त चोरी की तरफ वे झुकते ही हैं।

३. **मान-प्रतिष्ठा :** चोरी का तीसरा कारण मान-प्रतिष्ठा है। मनुष्य बड़ा बनने के लिए विवाह आदि प्रसंगों में अपनी शक्ति से बढ़कर खर्च करता है। पश्चात् इस क्षति की पूर्ति कैसे करता है? अनीति और शोषण द्वारा ही तो यह पूर्ति होती है न?

४. **आदत :** चोरी का चौथा कारण है—मन की आदत। अशिक्षा और कुसंगति से कितने ही व्यक्तियों की आदत चोरी करने की हो जाती है। ये लोग चोरी करते हैं, क्यों करते हैं? इसका कोई उत्तर नहीं? बस, एक आदत है, कहीं से चुपके से जो मिल जाए, उठा लेना।

कुछ भी हो, किसी भी रूप में हो, चोरी का आन्तरिक कारण अर्थ-लोलुपता है, जो कि संतोष-वृत्ति प्राप्त करने से दूर हो सकती है। और, वह संतोष-वृत्ति धर्माचरण से ही प्राप्त की जा सकती है।

अस्तेय के अतिचार :

अस्तेय व्रत के पाँच अतिचार हैं। इस संदर्भ में तत्त्वार्थ का यह सूत्र द्रष्टव्य है—"स्तेन-प्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहारा।

१. **स्तेन-प्रयोग :** किसी को चोरी करने की प्रेरणा देना तथा उसके काम से सहमत होना, यह प्रथम अतिचार-दोष है। काला-बाजार (Black Market) से चोरी का अनाज ले कर किसी ने जीमनवार (प्रीति भोज) किया हो, उसमें भोजन करने के लिए जाना भी चोरी के काम में सहमत होने जैसा ही है। कुछ 'धन्ना सेठ' कहे जाने वाले लोग तस्कर-व्यापार से अर्जित पैसे के बल पर विवाह आदि प्रसंगों में परम्परा-गत रूढ़ियों एवं बड़े घरों के बड़े रीति-रिवाज आदि के वश में हो लम्बे-चौड़े जीमनवार करते हैं और अज्ञानी मानवों की वाने-वाही लूटते हैं। काल-बाजार की वस्तु खरीदने वाला स्वयं तो पाप का भागीदार बनता ही है, पर साथ में काला-बाजार करने वाले को उत्तेजन भी देता है। चोरी किसी एक व्यक्ति ने की हो, फिर भी उस काम में किसी भी तरह से भाग लेने वाला भी दोषी माना गया है। इस प्रकार शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के चोर कहे हैं। काला-बाजार से वस्तुओं को बेचने वाले, खरीदने वाले, रसोई करने-वाले, भोजन करने वाले, इस कार्य के प्रशंसक आदि, ये सभी कम-ज्यादा अंश में चोरी के पाप के भागीदार कहे जाते हैं।

२. **तदाहृतादान :** चोर द्वारा चुराई हुई वस्तुएँ लेना, तदाहृतादान है। चोरी की हुई वस्तु सदा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल ललचाता है, और वह खुश हो कर खरीद लेता है। कोई शक्कर, चावल आदि राशन की वस्तुएँ चोरी करके लाया हो और आप उन्हें खरीदते हैं, तो उससे भी यह अतिचार लगता है।

३. **विरुद्ध-राज्यातिक्रम :** प्रजा के हितार्थ सरकार ने जो नीति-नियम बनाये हों, उनका भंग करना 'विरुद्ध-राज्यातिक्रम' अतिचार है। यदि प्रजा इस अतिचार-दोष से मुक्त रहे, तो सरकार को प्रजा-हित के कार्य करना सरल बन जाए।

४. **हीनाधिक-मानोन्मान :** कम-ज्यादा तोलना-मापना, न्यूनाधिक लेना-देना, इस अतिचार में आता है। आपकी दुकान पर समझदार या नासमझ, वृद्ध या बालक या स्त्री चाहे कोई भी व्यक्ति वस्तु खरीदने आए, तो आपको सबके साथ एक जैसा प्रामाणिक व्यवहार ही रखना चाहिए। अप्रामाणिकता भी मूल में चोरी है। अनजान ग्रामीण से अधिक मूल्य लेना साहूकारी ठगाई है, दिन की चोरी है। चोरी, चाहे दिन की हो, या रात की, चोरी ही कही जाती है।

५. **प्रतिरूपक-व्यवहार :** मूल्यवान वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर या असली के स्थान पर नकली वस्तु बनाकर बेचना 'प्रतिरूपक-व्यवहार' अतिचार-दोष है। आज प्रायः हर चीज में मिलावट देखी जाती है।

घी के व्यापारी शुद्ध घी में वनस्पति घी या चर्बी आदि मिलाते हैं। आजकल वनस्पति घी में भी चर्बी मिलायी जाने लगी है। दूधवाले दूध में पानी मिलाते हैं। शक्कर में आटा, कपड़े धोने के सोढ़े में चना, जीरा और अजवाइन के उसी रंग के मिट्टी-कंकर, मिलाये जाते हैं। जीरा में किस प्रकार मिलावट की जाती है, इस सम्बन्ध में कुछ वर्ष पहले 'हरिजन सेवक' में एक लेख प्रकाशित हुआ था। घास को जीरा के आकार में काटने के कई कारखाने चलते हैं। पहले जीरा के आकार में घास के टुकड़े किए जाते हैं, फिर उन पर गुड़ का पानी छिड़का जाता है। इस प्रकार नकली जीरा तैयार करके थैली में भर कर असली जीरे के नाम से बेचा जाता है। खाने के तेल में शुद्ध किया हुआ गंध रहित घासलेट तैल या चर्बी को मिलाया जाता है। खाद्य पदार्थों में इस प्रकार जहरीली वस्तुओं का संमिश्रण करना कितना भयंकर काम है? क्या यह नैतिक-पतन की पराकाष्ठा नहीं है? काली मिर्च के भाव बहुत बढ़ जाने से व्यापारी लोग उसमें पपीते के बीजों का सम्मिश्रण करने लग गए हैं। गेहूँ, चावल, चना आदि में भी उसी रंग के कंकरों का मिश्रण किया जाता है। इस प्रकार, जो भारतीय नागरिक नैतिक-दृष्टि से विदेशों में ऊँचा समझा जाता था, वही आज सब से नीचा समझा जाने लगा है। दवाएँ भी नकली बनने लग गई हैं। नैतिक-पतन की कोई सीमा ही नहीं रह गई है। बीमार मनुष्यों के उपयोग में आने वाली दवाओं में भी—जो उनके स्वास्थ्य एवं जीवन-रक्षा के लिए हैं, जहाँ इस तरह मिलावट की जाती हो, गलत एवं हानिप्रद दवाएँ बेची जाती हों, तो कहिए भारत जैसे धर्म-प्रधान देश के लिए यह कितनी लज्जास्पद बात है।

पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन के द्वारा बेची जाने वाली अपनी साधारण वस्तुओं का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन करना भी, इस अतिचार में आता है।

इन अतिचारों का यदि सर्व-साधारण-जन त्याग कर दें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतारा जा सकता है। स्पष्ट है, इन सभी अतिचारों से मुक्त होने में ही मानव-समाज का श्रेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२

ब्रह्मचर्य : साधना का सर्वोच्च शिखर

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मन, वचन एवं काय से समस्त इन्द्रियों का संयम करना। जब तक अपने विचारों पर इतना अधिकार न हो जाए कि अपनी धारणा एवं भावना के विरुद्ध एक भी विचार न आए, तब तक वह पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। पाइथागोरस कहता है—No man is free, who cannot command himself, जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। और, अपने आप पर शासन करने की शक्ति, बिना ब्रह्मचर्य के नहीं आ सकती। भारतीय-संस्कृति में शील को परम भूषण कहा गया है। आत्म-संयम मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट सद्गुण है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—स्त्री-पुरुष के संयोग एवं संस्पर्श से बचने तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः आत्मा को अशुद्ध करने वाले विषय-विकारों एवं समस्त वासनाओं से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य का मौलिक अर्थ है। आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्मा की निर्धूम ज्योति है। अतः मन, वचन एवं कर्म से वासना का उन्मूलन करना ही ब्रह्मचर्य है।[1]

बाह्यरूप में स्त्री-संस्पर्श एवं सहवास का परित्याग ब्रह्मचर्य के अर्थ को पूर्णतःस्पष्ट नहीं करता। एक व्यक्ति स्त्री का स्पर्श नहीं करता और उसके साथ सहवास भी नहीं करता, परन्तु विकारों से ग्रस्त है। रात-दिन मानसिक विषय-वासना के बीहड़ जंगल में मारा-मारा फिरता है, तो उसे हम ब्रह्मचारी नहीं कह सकते। और, किसी विशेष परिस्थिति में निर्विकार-भाव से स्त्री को छू लेने मात्र से ब्रह्म-साधना नष्ट हो जाती है, ऐसा कहना भी भूल होगी। गाँधीजी ने एक जगह लिखा है—"ब्रह्मचारी रहने का यह अर्थ नहीं है कि मैं किसी स्त्री का स्पर्श न करूँ, अपनी बहन का स्पर्श भी न करूँ। ब्रह्मचारी होने का अर्थ है कि स्त्री का स्पर्श करने से मेरे मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नहीं होता।" अन्तर्मन की निर्विकार दशा को ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य कहा गया है।

जैनागमों में भी साधु-साध्वी को आपत्ति के समय आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे का स्पर्श करने का आदेश दिया गया है। साधु नदी के प्रवाह में प्रवहमान साध्वी को अपनी बाहुओं में उठाकर बाहर ला सकता है। असाध्य बीमारी के समय, यदि अन्य साधु-साध्वी सेवा करने योग्य न हों, तो साधु भ्रातृ-भाव से साध्वी की और साध्वी भगिनी-भाव से साधु की परिचर्या कर सकती है। आवश्यक होने पर एक-दूसरे को उठा-बैठा भी सकते हैं। फिर भी उनका ब्रह्मचर्य-व्रत भंग नहीं होता। परन्तु, यदि परस्पर सेवा करते समय भ्रातृत्व एवं भगिनी-भाव की निर्विकार सीमा का उल्लंघन हो जाता है, मन-मस्तिष्क के किसी भी कोने में वासना का बीज अंकुरित हो उठता है, तो उनकी ब्रह्म-साधना अवश्य दूषित हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे प्रायश्चित के अधिकारी बताए गए हैं। विकार की स्थिति में ब्रह्मचर्य की विशुद्ध साधना कथमपि सम्भवित नहीं रहती।

इससे स्पष्ट होता है कि आगम में साधु-साध्वी को उच्छृंखल रूप से परस्पर या अन्य स्त्री-पुरुष का स्पर्श करने का निषेध है। क्योंकि उच्छृंखल भाव से सुषुप्त वासना

---

[1] To attain to perfect purity one has to become absolutely passionfree in thought, speech and action.

—*Gandhi (My Experiment with Truth)*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के जागृत होने की सम्भावना है, और वासना का उदय होना साधना का दोष है। अतः वासना का त्याग एवं वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनों का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। वासना, विकार एवं विषयेच्छा आत्मा के शुद्ध भावों की विनाशक है। अतः जिस समय आत्मा के परिणामों में मलिनता आती है, उस समय ब्रह्म-ज्योति स्वतः ही धूमिल पड़ जाती है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द भी इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। ब्रह्मचर्य शब्द का निर्माण—'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दों के संयोग से हुआ है। 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् ब्रह्म की, पवित्रता की शोध में चर्या अर्थात् प्रवृत्ति, आचरण। ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा का शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है—चलना, गति करना या आचरण करना। शुद्ध-भाव कहिए, या परमात्व-भाव कहिए, या सत्य कहिए—बात एक ही है। सब का ध्येय यही है, कि आत्मा को विकारी भावों से हटाकर शुद्ध परिणति में केन्द्रित करना। आत्मा की शुद्ध परिणति ही परमात्म-ज्योति है, परब्रह्म है, अनन्त सत्य की सिद्धि है, और इसे प्राप्त करने की साधना का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना, सत्य की साधना है, परमात्व-स्वरूप की साधना है। ब्रह्म-व्रत की साधना, वासना के अन्धकार को मूलतः विनष्ट करने की साधना है।

भारत के प्राचीन योगी, ऋषि एवं मुनियों ने ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि आठ प्रकार के मैथुन से विरत होना ही ब्रह्मचर्य है। वे आठ मैथुन इस प्रकार हैं[1]—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्य-भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और सम्भोग। इन आठ प्रकार के मैथुन-भाव का परित्याग ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य शब्द का मौलिक अर्थ है। भारत के विभिन्न धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को चेतावनी देते हुए कहा गया है कि वत्स! इन आठ प्रकार के मैथुन में से किसी एक का भी सेवन करना ब्रह्मचर्य–साधक के लिए वर्जित है। काम का जन्म पहले मन में होता है, फिर वह शरीर में पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। स्मरण से लेकर सम्भोग तक मैथुन के, जो आठ भेद बतलाए हैं, उनमें मानसिक, वाचिक एवं कायिक सभी प्रकार का अब्रह्मचर्य आ जाता है। इस अब्रह्मचर्य से, अपनी वीर्य शक्ति के संरक्षण करने का आदेश और उपदेश समय-समय पर शास्त्रकारों ने दिया है। मनुष्य के मन को विकार और वासना की ओर ले जाने वाले, उसके मनोवेग और इन्द्रियाँ है। मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा ही प्रायः वह बोलता है और जैसा बोलता है, वैसा ही वह आचरण भी करता है। अतः विचार, वाणी और आचार पर उसे संयम रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य के उपदेश में एक-एक इन्द्रिय को वश में करने पर विशेष बल दिया गया है। इन्द्रियों के निग्रह को ब्रह्मचर्य कहा गया है।

ब्रह्मचर्य के लिए भारतीय साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है—"उपस्थ-संयम, वस्ति-निरोध, मैथुन-विरमण, शील और वासना-जय।" योग-सम्बन्धी ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-संयम किया गया है। अथर्व वेद में वेद को भी ब्रह्म कहा गया है। अतः वेद के अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ परमात्व-भाव किया जाता है। उस परमात्म भाव के लिए जो अनुष्ठान एवं साधना की जाती है, वह ब्रह्मचर्य है। बौद्ध पिटको में ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय के 'महापरिनिब्बाण सुत्त' में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग—बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ में हुआ है। दीघनिकाय के पोट्ठपाद में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—बौद्ध धर्म में निवास। विसुद्धिमग्गो के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य का अर्थ वह धर्म है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य-भाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया-निर्वृत्तिरेव च॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दृष्टि में ब्रह्मचर्य :

जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य शब्द के लिए मैथुन-विरमण और शील शब्द का प्रयोग विशेष रूप से उपलब्ध होता है। 'सूत्रकृतांग सूत्र' की आचार्य शीलांक कृत संस्कृत टीका में, ब्रह्मचर्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया और इन्द्रिय निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।" वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ सूत्र' ९-६ भाष्य में गुरुकुल-वास को ब्रह्मचर्य कहा गया है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य बताया है, व्रत-परिपालन, ज्ञानवृद्धि और कषाय-जय। भाष्य में मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन का कर्म मैथुन है।

गीता में कहा गया है कि जो साधक परमात्व-भाव को अधिगत करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। बिना इसके परमात्व-भाव की साधना नहीं की जा सकती। क्योंकि विषयासक्त मनुष्य का मन बाहर में इन्द्रियजन्य भोगों के जंगल में ही भटकता रहता है, वह अन्दर की ओर नहीं जाता। अन्तर्मुख मन ही ब्रह्मचर्य का साधक हो सकता है। विषयोन्मुख मन सदा चञ्चल बना रहता है।

ब्रह्मचर्य की परिधि :

भारतीय धर्म और संस्कृति में, साधना के अनेक मार्ग विहित किए गए हैं, किन्तु सर्वाधिक श्रेष्ठ और सबसे अधिक प्रखर साधना का मार्ग, ब्रह्मचर्य की साधना है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में जो शक्ति, जो बल, और जो पराक्रम निहित है, वह भाषाशास्त्र के किसी अन्य शब्द में नहीं है। वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य का एक स्थूल रूप है। ब्रह्मचर्य, वीर्य-रक्षा से भी अधिक कहीं गम्भीर एवं व्यापक है। भारतीय धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य के तीन भेद किए गए हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। इन तीनों प्रकारों में मुख्यता मानसिक ब्रह्मचर्य की है। यदि मन में ब्रह्मचर्य नहीं है, तो वह वचन में एवं शरीर में कहाँ से आएगा। जो व्यक्ति अपने मन को संयमित नहीं रख सकता, वह कभी भी ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना एक वह साधना है, जो अन्तर्मन में अल्प विकार के आने पर भी खण्डित हो जाती है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योग-शास्त्र' में ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए बताया है कि, **"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः"**। इसका अर्थ है कि जब साधक के मन में, वचन में और तन में, ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हो जाता है, स्थिर हो जाता है, तब उसे वीर्य का लाभ मिलता है, शक्ति की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य की महिमा प्रदर्शित करने वाले उपर्युक्त योग-सूत्र में प्रयुक्त वीर्य शब्द की व्याख्या करते हुए, टीकाकारों एवं भाष्यकारों ने वीर्य का अर्थ शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सभी तरह की शक्ति एवं बल किया है। यह ब्रह्मचर्य का तेजस्वी तत्त्व है।

भोजन और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए साधक को अपने भोजन पर विचार करना चाहिए। भोजन का और ब्रह्मचर्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार यह कहा गया है कि मनुष्य के विचारों पर उसके भोजन का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, उसी के अनुसार विचार बनते हैं और जैसे उसके विचार होते हैं, उसी के अनुसार उसका आचरण होता है। लोक में भी कहावत है कि—'जैसा आहार, वैसा विचार और जैसा अन्न वैसा मन।' इन कहावतों में जीवन का गहरा तथ्य छुपा हुआ है। मनुष्य जो कुछ और जैसा भोजन करता है, उसका मन वैसा ही अच्छा या बुरा बनता है। क्योंकि भुक्त-भोजन से जीवन के मूलतत्त्व रुधिर की उत्पत्ति होती है और इसमें वे ही गुण आते हैं, जो गुण भोजन में होते हैं। भोजन हमारे मन और बुद्धि के अच्छे और बुरे होने में निमित्त बनता है। इसी आधार पर भारतीय-संस्कृति में यह कहा गया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि सात्विक गुणों की साधना करने वाले के लिए सात्विक भोजन की नितान्त आवश्यकता है। सात्विक भोजन हमारी साधना का मूल आधार है।

मनुष्य के जीवन की उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूप से मिलने वाले भोजन से अपने आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति, शान्ति और इनके विपरीत उग्रता, क्रोध, कपट एवं घृणा आदि सब मानव-प्रकृति के गुण-दोष प्रायः भोजन पर ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे संयम से किस तरह रह सकते हैं? राजसी और तामसी आहार करने वाला व्यक्ति यह भूल जाता है कि राजस और तामस उसकी साधना में प्रतिकूलता ही उत्पन्न करते हैं, क्योंकि भोजन का तथा हमारे विचारों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे संस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हमारे विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्विक है, तो मन में उत्पन्न होने वाले विचार सात्विक एवं पवित्र होंगे। इनके विपरीत, राजस और तामस भोजन करने वालों के विचार अशुद्ध और विलासमय होंगे।

सात्विक भोजन :

जो ताजा, रसयुक्त, हलका, सुपाच्य, पौष्टिक और मधुर हो, जिससे जीवन-शक्ति, सत्य, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती हो, उसे सात्विक भोजन कहा जाता है। सात्विक भोजन से चित्त की और मन की निर्मलता एवं एकाग्रता की प्राप्ति होती है।

राजसिक भोजन :

कड़वा, खट्टा, अधिक नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, एवं जलन पैदा करने वाला, साथ ही दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाला भोजन राजसिक होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव मन तथा इन्द्रियों पर पड़ता है।

तामसिक भोजन :

मांस, मछली, अण्डे और मदिरा तथा अन्य नशीले पदार्थ तामसिक भोजन में परिगणित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधपका, दुष्पक्व, दुर्गन्धयुक्त और बासी भोजन भी तामसिक में है। तामसिक भोजन से मनुष्य की विचार-शक्ति मन्द हो जाती है। तामसिक भोजन करने वाला व्यक्ति दिन-रात आलस्य में पड़ा रहता है। इन तीन प्रकार के भोजनों का वर्णन 'गीता' के सतरहवें अध्याय में विस्तार से किया गया है।

इन तीनों प्रकार के भोजनों में ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के लिए सात्विक भोजन ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है कि आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि होती है। सत्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल बनती है। स्मृति ताजा बनी रहती है। सात्विक भोजन से चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धि में स्फूर्ति रहती है।

ब्रह्मचर्य के भेद :

मानव मन की वासना, इच्छा या कामना आध्यात्मिक नहीं, भौतिक शक्ति है। वह स्वतंत्र नहीं है, उसका नियंत्रण मनुष्य के हाथ में है। यदि मनुष्य उसे अपने नियंत्रण से बाहर नहीं जाने देता है, तो वह इन्सान का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। आँखों का काम देखना है और अन्य इन्द्रियों के भी अपने-अपने काम हैं। ब्रह्मचारी की इन्द्रियाँ भी देखने, सुनने, सूंघने, चखने आदि के काम तो करती ही हैं, परन्तु वे उसके नियंत्रण से बाहर नहीं हैं, इसलिए वासना की आग उसका जरा भी बाल बाँका नहीं कर सकती। परन्तु जब मनुष्य का वासना पर से नियंत्रण हट जाता है, वह बिना किसी रोक-टोक के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन और इन्द्रियों को खुला छोड़ देता है, तो वे अनियंत्रित एवं उच्छृङ्खल वासनाएँ उस को तबाह कर देती हैं, पतन के अन्ध गर्त में गिरा देती हैं।

वस्तुतः शक्ति, शक्ति ही है। निर्माण या ध्वंस की ओर मुड़ते उसे देर नहीं लगती। इसलिए यह अनुशासक (Controller) के हाथ में है कि वह उसका विवेक के साथ उपयोग करे। वह अपनी शक्ति को नियंत्रण से बाहर न होने दे। आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का उपयोग हो सकता है, परन्तु विवेक के साथ। विवेकशील का काम एक कुशल इंजीनियर (expert engineer) की भाँति है। उसे अपने काम में सदा सावधान रहना पड़ता है और समय एवं परिस्थितियों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

मान लो, एक इंजीनियर पानी के प्रवाह को रोककर उसकी ताकत का मानव-जाति के हित में उपयोग करना चाहता है। इसके लिए वह तीनों ओर से मजबूत पहाड़ियों से आवृत्त स्थल की ओर एक दीवार बनाकर बाँध (dam) का रूप देता है। साथ ही वह उसमें कई द्वार भी बनाता है, ताकि उनके द्वारा अनावश्यक पानी को निकालकर बाँध की सुरक्षा की जा सके। बाँध में जितने पानी को रखने की क्षमता है, उतने पानी के भरने तक तो बाँध को कोई खतरा नहीं होता। परन्तु, जब उसमें उसकी क्षमता से अधिक पानी भर जाता है, उस समय भी यदि इंजीनियर उसके द्वार को खोलकर फालतू पानी को बाहर नहीं निकालता है, तो वह पानी का प्रबल स्रोत इधर-उधर कहीं भी बाँध की दीवार को तोड़ देता है और लक्ष्यहीन बहने वाला उद्दाम जल-प्रवाह मानव-जाति के लिए विनाश-कारी प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है। अतः कोई भी कुशल इंजीनियर इतनी बड़ी भूल नहीं करता कि जो देश के लिए खतरा पैदा कर दे।

यही स्थिति हमारे मन के बाँध की है, वासनाओं के प्रवाह को पूर्णतः नियंत्रण में रखना, यह साधक का परम कर्त्तव्य है। परन्तु उसे यह अवश्य देखना चाहिए कि उसकी क्षमता कितनी है। यदि वह उन पर पूर्णतः नियंत्रण कर सकता है और समुद्र-पायी पौराणिक अगस्त्य ऋषि की भाँति, वासना के समुद्र को पीकर पचा सके, तो यह आत्म-विकास के लिए स्वर्ण अवसर है। परन्तु यदि वह वासनाओं पर पूरा नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, फिर भी वह उस प्रचण्ड प्रवाह को बाँधे रखने का असफल प्रयत्न करता है, तो यह उसके जीवन के लिए खतरनाक भी बन सकता है।

भगवान् महावीर ने साधना के दो रूप बताए हैं—१. वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण और २. वासनाओं का केन्द्रीकरण। या यों कहिए—पूर्ण ब्रह्मचर्य और आंशिक ब्रह्मचर्य। जो साधक पूर्ण रूप से वासनाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, वह यदि यथावसर वासना के स्रोत को निर्धारित दिशा में बहने के लिए उसका द्वार खोल देता है, तो कोई भयंकर पाप नहीं करता है। वह उच्छृङ्खल रूप से प्रवहमान वासना के प्रवाह को केन्द्रित करके अपने को भयंकर अधःपतन से बचा लेता है।

जैन-धर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। नीतिहीन पाशविक जीवन से मुक्त होकर, नीतियुक्त मानवीय जीवन को स्वीकार करने का साधन है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने का कदम है, अतः जैन-धर्म में विवाह के लिए स्थान है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह अनियंत्रित रूप से भटकने के लिए कोई स्थान नहीं है। वेश्यागमन और परदार सेवन के लिए कोई छूट नहीं है। जैन-धर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात को स्वीकार करता है और साधक की शक्ति एवं अशक्ति को देखते हुए विवाह को अमुक अंशों में उपयुक्त भी मानता है। परन्तु वह वासनाओं को उच्छृङ्खल रूप देने की बात को बिल्कुल उपयुक्त नहीं मानता। वासना का अनियंत्रित रूप, जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है।

वासना को केन्द्रित करने के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष (गृहस्थ) के लिए यह आवश्यक है कि वह जिसके साथ विवाह बन्धन में बँध चुका है या बँध रहा है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वासना की दृष्टि से नहीं, भ्रातृत्व एवं भगिनीत्व की दृष्टि से देखे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भले ही वह स्त्री या पुरुष किसी के द्वारा गृहीत हो या अगृहीत हो, अर्थात् वह विवाहित हो या अविवाहित, विवाहानन्तर परित्यक्त हो या परित्यक्ता, श्रावक एवं श्राविका का उसके साथ पवित्र सम्बन्ध रहता है। वह कभी भी उसे अपवित्र दृष्टि से नहीं देखता।

श्रावक-श्राविका के लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य वासना पर ही नहीं, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रखे। उन्हें ऐसे पदार्थों को नहीं खाना चाहिए, जो वासना की आग को प्रज्वलित करने वाले हैं। उनका खाना स्वाद के लिए नहीं, बल्कि साधना के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के हेतु है। इसलिए उन्हें खाना खाते समय सदा मादक वस्तुओं से, अधिक मिर्च मसालेदार पदार्थों से, तामस पदार्थों से एवं प्रकाम भोजन से बचना चाहिए। उनकी खुराक नियमित होनी चाहिए और उन्हें पशु-पक्षी की तरह जब चाहा तब नहीं, प्रत्युत नियत समय का ध्यान रखना चाहिए। इससे स्वास्थ्य भी नहीं बिगड़ता और विकार भी कम जागृत होते हैं।

खाने की तरह सुनने, देखने एवं बोलने पर भी संयम रखना आवश्यक है। उन्हें ऐसे शृङ्गारिक एवं अश्लील गीत न गाना चाहिए और न सुनना चाहिए, जिससे सुषुप्त वासना जागृत होती हो। उन्हें अश्लील एवं असभ्य हंसी-मजाक से भी बचना चाहिए। उन्हें न तो अश्लील सिनेमा एवं नाटक देखना चाहिए और न ऐसे भद्दे एवं गन्दे उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ने में समय बर्बाद करना चाहिए।

अश्लील गीत, असभ्य हंसी-मजाक, शृङ्गारिक सिने-चित्र और गन्दे उपन्यास देश, समाज एवं धर्म के भावी कर्णधार बनने वाले युवक-युवतियों के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं, कुलीनता और शिष्टता के लिए खुली चुनौती हैं और समग्र सामाजिक वायुमण्डल को विषाक्त बनाने वाले हैं। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ का यह परम कर्तव्य है कि वह इस संक्रामक रोग से अवश्य ही बच कर रहे।

विवाह और ब्रह्मचर्य :

विवाह वासना को नियंत्रित करने का एक साधन है। यह एक मलहम (Ointment) है। और मलहम का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग पर जख्म हो गया हो। परन्तु घाव के भरने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति शरीर पर मलहम लगाकर पट्टी नहीं बाँधता, क्योंकि मलहम सुख का साधन नहीं, बल्कि रोग को शान्त करने का उपाय है। इसी तरह विवाह वासना के उद्दाम वेग को रोकने के लिए है, विकारों के रोग को क्षणिक-उपशान्त करने को है, न कि उसे बढ़ाने के लिए। अतः दाम्पत्य जीवन भी असर्यादित नहीं, मर्यादित होना चाहिए। उन्हें सदा भोगों में आसक्त नहीं रहना चाहिए। अस्तु दाम्पत्य जीवन में भी परस्पर ऐसी मर्यादाहीन क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए, जिससे वासना को भड़कने का प्रोत्साहन मिलता हो। अतः श्रावक को भगवत् स्मरण करते हुए नियत समय पर सोना चाहिए, नियत समय पर ही उठना चाहिए और विवेक को नहीं भूलना चाहिए।

विवाह शब्द का क्या अर्थ है? यह संस्कृत भाषा का शब्द है। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से और 'वाह' का अर्थ है—वहन करना या ढोना। अतः विशेष रूप से एक-दूसरे के उत्तरदायित्व को वहन करना, उसकी रक्षा करना, विवाह कहलाता है। स्त्री, पुरुष के जीवन के सुख-दुःख एवं दायित्व को वहन करे और पुरुष, स्त्री के सुख-दुःख को एवं जवाब-देही को वहन करने का यथोचित ध्यान रखे।

केवल वहन करना ही नहीं है, किन्तु विशेष रूप से वहन करना है, उठाना है, निभाना है और अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना है। इतना ही नहीं, अपने जीवन की आहुति देकर भी उसे वहन करना है।

जैन-धर्म की दृष्टि में विवाह जीवन का केन्द्रीकरण है, असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है, पूर्ण संयम की ओर अग्रसर होने का कदम है और पाशविक जीवन से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकल कर नीतिपूर्ण मर्यादित मानव-जीवन को अंगीकार करने का साधन है। जैन-धर्म में विवाह के लिए जगह है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह भटकने के लिए जगह नहीं है। वेश्यागमन और पर-दार-सेवन के लिए कोई जगह नहीं है और इस रूप में जैन-धर्म जन-चेतना के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

ब्रह्मचर्य की साधना :

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है, अमरत्व की साधना है। महापुरुषों ने कहा है—ब्रह्मचर्य जीवन है, वासना मृत्यु है। ब्रह्मचर्य अमृत है, वासना विष है। ब्रह्मचर्य अनन्त शान्ति है, अनुपम सुख है। वासना अशांति एवं दुःख का अथाह सागर है। ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना कालिमा। ब्रह्मचर्य ज्ञान-विज्ञान है, वासना भ्रान्ति एवं अज्ञान। ब्रह्मचर्य अजेय शक्ति है, अनन्त बल है, वासना जीवन की दुर्बलता, कायरता एवं नपुंसकता।

ब्रह्मचर्य, जीवन की मूल शक्ति है। जीवन का ओज है। जीवन का तेज है। ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम शरीर को सशक्त बनाता है। वह हमारे मन को मजबूत एवं स्थिर बनाता है। हमारे जीवन को सहिष्णु एवं सक्षम बनाता है। क्योंकि आध्यात्मिक साधना के लिए शरीर का सक्षम एवं स्वस्थ होना आवश्यक है। वस्तुतः मानसिक एवं शारीरिक क्षमता आध्यात्मिक साधना की पूर्व भूमिका है। जिस व्यक्ति के मन में अपने आपको एकाग्र करने की, विचारों को स्थिर करने की तथा शरीर में कष्टों एवं परीषहों को सहने की क्षमता नहीं है, आपत्तियों की संतप्त दुपहरी में हँसते हुए आगे बढ़ने का साहस नहीं है, वह आत्मा की शुद्ध ज्योति का साक्षात्कार नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि—"जिस शरीर में बल नहीं है, शक्ति नहीं है, क्षमता नहीं है, उसे आत्मा का दर्शन नहीं होता।"[1] सबल शरीर में ही सबल आत्मा का निवास होता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि परीषहों की आँधी में भी मेरु के समान स्थिर रहने वाला सहिष्णु व्यक्ति ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचान सकता है। परन्तु कष्टों से डर कर पथ-भ्रष्ट होने वाला कायर व्यक्ति आत्म-दर्शन नहीं कर सकता।

ब्रह्मचर्य के आधार-बिन्दु :

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए और उसकी परिपूर्णता के लिए शास्त्रकारों ने कुछ साधन एवं उपायों का वर्णन किया है, जिनके अभ्यास से साधारण-से-साधारण साधक भी ब्रह्मचर्य का पालन आसानी से कर सकता है। उचित अभ्यास एवं सावधानी के अभाव में कभी-कभी ब्रह्मचर्य की साधना में बड़े-बड़े योगी, ध्यानी और तपस्वी भी विचलित हो जाते हैं। इस प्रकार के एक नहीं, अनेक उदाहरण शास्त्रों में आज भी उपलब्ध होते हैं। फिर भी साधक को हताश और निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जो मनुष्य भूल कर सकता है, वह अपना सुधार भी कर सकता है। जो मनुष्य पतन के मार्ग पर चला है, वह उत्थान के मार्ग की ओर भी चल सकता है। जो मनुष्य आज दुर्बल है, कल वह सबल भी हो सकता है। मनुष्य के जीवन का पतन तभी होता है, जब वह अपने अन्दर के आध्यात्म भाव को भूलकर, बाहर के लुभावने एवं क्षणिक भोग-विलास में फँस जाता है। विषयासक्त मनुष्य किसी भी प्रकार की अध्यात्म-साधना करने में सफल नहीं होता, क्योंकि उसके मानस में वासनाओं, कामनाओं और विभिन्न विकल्पनाओं का ताण्डव नृत्य होता रहता है। जो व्यक्ति नाना प्रकार के विकल्प और विकारों में फँसा रहता है, वह ब्रह्मचर्य तो क्या, किसी भी साधना में सफल नहीं हो सकता।

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि : नव बाड़ :

ब्रह्मचर्य की साधना की सफलता के लिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के रक्षात्मक नव साधनों का, गुप्तियों का उपदेश दिया है, जिनका आचरण करके ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाला साधक अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जिन उपायों एवं साधनों को परम प्रभु भगवान् महावीर ने समाधि और गुप्ति कहा है, लोक-भाषा में उन्हीं को बाड़ कहा जाता है। जिस प्रकार किसान अपने खेत की रक्षा के लिए अथवा बागवान अपने बाग के नन्हे-नन्हे पौधों की रक्षा के लिए उनके चारों ओर काँटों की बाड़ लगा देता है, जिससे कि कोई पशु खेत और पौधों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। साधना के क्षेत्र में भी प्रारम्भिक ब्रह्मचर्य रूप बाल-पौधे की रक्षा के लिए, बाड़ की नितान्त आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने 'स्थानांग सूत्र' में समाधि, गुप्ति और बाड़ों का कथन किया है। उत्तरकालीन आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के इन उपायों का विविध प्रकार से उल्लेख किया है, जिसे पालन कर साधक ब्रह्मचर्य की साधना में सफल हो सकता है, और अपने मन के विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

स्थानांग सूत्र :

१. ब्रह्मचारी स्त्री[1] से विविक्त शयन एवं आसन का सेवन करने वाला हो। स्त्री, पशु एवं नपुंसक से संसक्त स्थान में न रहे।
२. स्त्री-कथा न करे।
३. किसी भी स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे।
४. स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन न करे।
५. नित्यप्रति सरस भोजन न करे।
६. अति मात्रा में भोजन न करे।
७. पूर्व-सेवित काम-क्रीड़ा का स्मरण न करे।
८. शब्दानुपाती और रूपानुपाती न बने।
९. साता और सुख में प्रतिबद्ध न हो।

उत्तराध्ययन सूत्र :

१. ब्रह्मचारी स्त्री, पशु एवं नपुंसक-सहित मकान का सेवन न करे।
२. स्त्री-कथा न करे।
३. स्त्री के आसन एवं शय्या पर न बैठे।
४. स्त्री के अंग एवं उपांगों का अवलोकन न करे।
५. स्त्री के हास्य एवं विलास के शब्दों को न सुने।
६. पूर्व-सेवित काम-क्रीड़ा का स्मरण न करे।
७. नित्य प्रति सरस भोजन न करे।
८. अति मात्रा में भोजन न करे।
९. विभूषा एवं शृंगार न करे।
१०. शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का अनुपाती न हो।

---

१. ब्रह्मचर्य के प्रसंग में यहाँ एवं अन्यत्र जहाँ कहीं पुरुष ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग का निषेध किया है, वहाँ स्त्री ब्रह्मचारियों के लिए पुरुष-संसर्ग का भी निषेध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनगार धर्मामृत :

१. ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के वैषयिक रसों का पान करने की इच्छा न करे।

२. ब्रह्मचारी वह कार्य न करे, जिससे किसी भी प्रकार के लैंगिक विकार होने की सम्भावना हो।

३. कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।

४. स्त्री से सेवित शयन एवं आसन का उपयोग न करे।

५. स्त्रियों के अंगों को न देखे।

६. स्त्री का सत्कार न करे।

७. शरीर का संस्कार (शृंगार) न करे।

८. पूर्वसेवित काम का स्मरण न करे।

९. भविष्य में काम-क्रीड़ा करने की बात न सोचे।

१०. इष्ट रूप आदि विषयों में मन को संसक्त न करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल आगम और आगमकाल के बाद होने वाले श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों ने अपने-अपने समय में, गुप्ति और बाड़ों का विविध प्रकार से संक्षेप एवं विस्तार में, मूल आगमों का आधार लेकर वर्णन किया है। समाधि का अर्थ है—मन की शान्ति। गुप्ति का अर्थ है—विषयों की ओर जाते हुए मन का गोपन करना, मन का निरोध करना। समाधि और गुप्ति के अर्थ में ही मध्यकाल के अपभ्रंश साहित्यकारों ने बाड़ शब्द का प्रयोग किया है। अतः तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है कि वह उपाय एवं साधन, जिससे ब्रह्मचर्य की रक्षा भलीभाँति हो सके।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारों ने कुछ अन्य उपाय भी बतलाए हैं, जिनका सम्यक् परिपालन करने से ब्रह्मचर्य की साधना दुष्कर नहीं रहती। इन साधनों का अवलम्बन एवं सहारा लेकर साधक सरलता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। यद्यपि समाधि, गुप्ति एवं बाड़ों के नियमों में सभी प्रकार के उपायों का समावेश हो जाता है, तथापि एक अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य को स्थिर बनाने के लिए उपदेश दिया गया है, जिसे भावना कहा जाता है। यह भावनायोग द्वादश प्रकार का है। उस द्वादश प्रकार के भावना-योग में ब्रह्मचर्य से सविशेष रूप से सम्बन्धित अशुचि भावना का वर्णन मूल आगम में, उसके बाद आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' में, आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' में और स्वामी कार्तिकेय विरचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' में विस्तार के साथ किया गया है। मनुष्य के मन में जो विचार उठता है, उसी को भावना एवं अनुप्रेक्षा कहा जाता है। परन्तु प्रस्तुत में पारिभाषिक भावना एवं अनुप्रेक्षा का अर्थ है—किसी विषय पर पुनः पुनः चिन्तन करना, मनन करना, विचार करना। 'पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं भावना'। आगम में शरीर की अशुचि का विचार इसलिए किया गया है, कि मनुष्य के मन में अपने या अन्य के सुन्दर रूप और सौन्दर्य पर आसक्ति-भाव न हो। क्योंकि शरीर ही ममता एवं आसक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है। मनुष्य जब किसी सुन्दर नारी के मोहक रूप एवं सौन्दर्य को देखता है, तब वह मुग्ध होकर अपने अध्यात्म-भाव को भूल जाता है। इसी प्रकार नारी भी किसी पुरुष के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध बन जाती है। फलतः दोनों के मन में काम-राग की उत्पत्ति हो जाती है। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य का परिपालन कैसे किया जा सकता है? अस्तु, अपने एवं दूसरों के शरीर की आसक्ति एवं व्यामोह को दूर करने के लिए ही शास्त्रकारों ने अशुचि भावना का उपदेश दिया है।

द्वादशानुप्रेक्षा :

स्वामी कार्तिकेय ने अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—हे साधक!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तू देह पर आसक्ति क्यों करता है? जरा इस शरीर के अन्दर के रूप को तो देख, इसमें क्या कुछ भरा हुआ है। इसमें मल-मूत्र, हाड़-माँस और दुर्गन्ध के अतिरिक्त रखा भी क्या है? चर्म का पर्दा हटते ही इसकी वास्तविकता तेरे सामने आ जाएगी। इस शरीर पर चन्दन एवं कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य लगाने से वे स्वयं भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। जो कुछ सरस एवं मधुर पदार्थ मनुष्य खाता है, वह सब कुछ शरीर के अन्दर पहुँचकर मलरूप में परिणत हो जाता है। और तो क्या, इस शरीर पर पहना जाने वाला वस्त्र भी इसके संयोग से मलिन हो जाता है। हे भव्य! जो शरीर इस प्रकार अपवित्र एवं अशुचिपूर्ण है, उस पर तू मोह क्यों करता है, आसक्ति क्यों करता है? तू अपने अज्ञान के कारण ही इस शरीर से स्नेह और प्रेम करता है। यदि इसके अन्दर का सच्चा रूप तेरे सामने आ जाए, तो एक क्षण भी तू इसके पास बैठ नहीं सकेगा। खेद की बात है कि मनुष्य अपने पवित्र आत्म-भाव को भूलकर, इस अशुचिपूर्ण शरीर पर मोह करता है। यह शरीर तो अशुचि, अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त है। इस प्रकार अशुचि भावना के चिन्तन से साधक के मानस में त्याग और वैराग्य की भावना प्रबल होती है। इससे रूप की आसक्ति मन्द होती है। जिससे ब्रह्मचर्य के पालन में सहयोग मिलता है।

योग-शास्त्र :

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' के चतुर्थ प्रकाश में द्वादश भावनाओं का बड़ा सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। उसमें छठी अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—यह शरीर, जिसके रूप और सौन्दर्य पर मनुष्य अहंकार एवं आसक्ति करते हैं, वह वास्तव में क्या है? यह शरीर रस, रक्त, माँस, मेद (चर्बी), अस्थि (हाड़), मज्जा, वीर्य, आँत एवं मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों से परिपूर्ण है। चर्म के पर्दे को हटाकर देखा जाए, तो यही सब कुछ उसमें देखने को मिलेगा। अतः यह शरीर किस प्रकार पवित्र हो सकता है? यह तो अशुचि एवं मलिन है। इस देह के नव द्वारों से सदा दुर्गन्धित रस झरता रहता है और इस रस से यह शरीर सदा लिप्त रहता है। इस अशुचि शरीर में और अपवित्र देह में सुन्दरता और पवित्रता की कल्पना करना, ममता और मोह की विडम्बना मात्र है। इस प्रकार निरन्तर शरीर की अशुचि का चिन्तन करते रहने से मनुष्य के मन में वैराग्य-भावना तीव्र होती है और काम-ज्वर उपशान्त हो जाता है।

ज्ञानार्णव :

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' में, जिसका दूसरा नाम 'योग-प्रदीप' है, कहा है कि—इस संसार में विविध प्रकार के जीवों को जो शरीर मिला है, वह स्वभाव से ही गलन और सड़न-धर्मी है। अनेक धातु और उपधातुओं से निर्मित है। शुक्र और शोणित से इसकी उत्पत्ति होती है। यह शरीर अस्थि-पंजर है। हाड़, माँस और चर्बी की दुर्गन्ध इसमें से सदा आती रहती है। भला जिस शरीर में मल-मूत्र भरा हो, कौन बुद्धिमान उस पर अनुराग करेगा? इस भौतिक शरीर में एक भी तो पदार्थ पवित्र और सुन्दर नहीं, जिस पर अनुराग किया जा सके। यह शरीर इतना अपवित्र और अशुचि है कि क्षीर-सागर के पवित्र जल से भी यदि इसे धोया जाए तो उसे भी यह अपवित्र बना देता है। इस भौतिक तन की वास्तविक स्थिति पर जरा विचार तो कीजिए, यदि इस शरीर के बाहरी चर्म को हटा दिया जाए, तो मक्खी, कृमि, काग और गिद्धों से इसकी रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। यह शरीर अपवित्र ही नहीं है, बल्कि हजारों-हजार प्रकार के भयंकर रोगों का घर भी है। इस शरीर में भयंकर रोग भरे पड़े हैं, इसीलिए तो शरीर को व्याधि का मन्दिर कहा जाता है। बुद्धिमान मनुष्य वह है, जो अशुचि भावना के चिन्तन और मनन से शरीर की गर्हित एवं निन्दनीय स्थिति को देखकर एवं जानकर, इसे भोग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासना में न लगाकर, परमार्थ-भाव की साधना में लगाता है। विवेकशील मनुष्य विचार करता है कि इस अपवित्र शरीर की उपलब्धि के प्रारम्भ में भी दुःख था, अन्त में भी दुःख होगा और मध्य में भी यह दुःख रूप ही है। भला जो स्वयं दुःख रूप है, वह सुख रूप कैसे हो सकता है? इस अपवित्र तन से सुख की आशा रखना मृग-मरीचिका के तुल्य है। इस अशुचि भावना के चिन्तन का फल यह है कि मनुष्य के मानस में त्याग और वैराग्य के विचार तरंगित होने लगते हैं और वह अपनी वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वार्थ-भाष्य :

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र के 'स्वोपज्ञ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाले साधक के लिए आवश्यक है कि वह अनुदिन ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाओं का चिन्तन और मनन करे। जो साधक प्रतिदिन इन पाँच भावनाओं का चिन्तन और मनन करता है, उसकी वासना धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—

१. जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। जिस आसन एवं शय्या पर स्त्री बैठी हो अथवा पुरुष बैठा हो, तो दोनों को एक-दूसरे के शय्या एवं आसन पर नहीं बैठना चाहिए।

२. राग-भाव से पुरुष को स्त्री-कथा और स्त्री को पुरुष की कथा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इससे राग-भाव बढ़ता है।

३. स्त्रियों के मनोहर अंग एवं उपांगों का तथा कटाक्ष और विलासों का अवलोकन नहीं करना चाहिए। राग-भाव के वशीभूत होकर बार-बार पुरुषों को स्त्रियों की ओर तथा स्त्रियों को पुरुषों की ओर नहीं देखना चाहिए।

४. पूर्व-सेवित रति-सम्भोग आदि का स्मरण नहीं करना चाहिए और भविष्य के लिए भी इनकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

५. ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाले को, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, प्रणीत (गरिष्ठ), कामोत्तेजक सरस एवं मधुर भोजन प्रतिदिन नहीं करना चाहिए। यह पाँच ब्रह्मचर्य-व्रत की भावनाएँ हैं। इनका निरंतर चिन्तन करते रहने से ब्रह्मचर्य स्थिर होता है।

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' के नवम अध्याय में द्वादश भावनाओं का भी अति सुन्दर वर्णन किया है। अशुचि भावना का वर्णन करते हुए कहा है कि—यह शरीर अशुचि एवं अपवित्र है। क्योंकि यह शुक्र और शोणित से बना है, जो अपने आप में स्वयं ही अपवित्र है। इस शरीर का दूसरा आधार आहार है। आहार भी शरीर के अन्दर पहुँच कर रस एवं खल आदि भागों में परिणत होता है। खल भाग से मल एवं मूत्र बनते हैं और रस भाग से रक्त, माँस, मज्जा एवं वीर्य आदि बनते हैं। इस अशुचिता के कारण शरीर पवित्र कैसे हो सकता है? शरीर में जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, यह शरीर उन सबका आधार है। कान का मल, आँख का मल, दांत का मल और पसीना ये सब शरीर के अन्दर से पैदा होते हैं और बाहर निकलकर भी शरीर को अपवित्र ही करते हैं। जो शरीर अन्दर और बाहर दोनों ओर से अशुचि एवं अपवित्र है, उसके क्षणिक रूप और सौन्दर्य पर मुग्ध होना एक प्रकार की विचार-मूढ़ता ही है। इस शरीर का सब-कुछ क्षणभंगुर है। क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाला है। कम-से-कम इस शरीर की चार अवस्थाएँ शास्त्रकारों ने मानी हैं—शैशव, यौवन, प्रौढ़ और वृद्धत्वभाव। इन चार अवस्थाओं में कोई-सी भी अवस्था स्थायी नहीं है। ऋतुकाल में पिता के वीर्य-बिन्दुओं के और माता के रजकणों के आधान से लेकर, यह शरीर क्रम से अनेक अवस्थाओं में अनुबद्ध हुआ करता है, जिसका वर्णन शरीर-शास्त्र में विस्तार के साथ किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की इन विभिन्न अवस्थाओं के देखने और जानने से विचार आता है कि मनुष्य इतने अपवित्र शरीर पर भी आसक्ति और ममता क्यों करता है? अशुचि भावना का चिन्तन मनुष्य को राग से विराग की ओर ले जाता है।

संवेग और वैराग्य :

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन को सदा संवेग और वैराग्य में संलग्न रखे। किन्तु, प्रश्न होता है कि मनुष्य के मानस में संवेग और वैराग्य की भावना को स्थिर कैसे किया जाए? इसके समाधान में आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' के सातवें अध्याय में वर्णन किया है कि—संवेग और वैराग्य को स्थिर करने के लिए ब्रह्मचर्य के साधक को अपने मानस में शरीर और जगत् के स्वभाव का चिन्तन करते रहना चाहिए। जगत् अर्थात् संसार का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए कि यह संसार षड्द्रव्यों का समूह रूप है। द्रव्यों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव—उत्पाद और विनाश निरन्तर होता रहता है। संसार का स्वभाव है—बनना और बिगड़ना। संसार के नाना रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से किसको सत्य मानें! संसार का जो रूप कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। यह विश्व द्रव्य रूप में स्थिर होते हुए भी पूर्व पर्याय के विनाश और उत्तर पर्याय के उत्पाद से नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है। इस संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो क्षण-भंगुर और परिवर्तनशील न हो। जब संसार का एक भी पदार्थ स्थिर और शाश्वत नहीं है, तब भौतिक तत्त्वों से निर्मित यह देह और उसका रूप स्थिर और शाश्वत कैसे हो सकता है? बाल अवस्था में जो शरीर सुन्दर लगता है, यौवनकाल में जो कमनीय लगता है, वही तन वृद्धावस्था में पहुँचकर अरुचिकर, असुन्दर और घृणित बन जाता है। फिर इस तन पर ममता करने से लाभ भी क्या है? तन की इस ममता से ही वासना का जन्म होता है, जो ब्रह्मचर्य को स्थिर नहीं रहने देती। अतः तन की ममता को दूर करने के लिए साधक को शरीर और संसार के स्वभाव का चिन्तन करते रहना चाहिए।

दुःख-भावना :

आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए दुःख-भावना का वर्णन भी किया है। कहा गया है—"मैथुन-सेवन से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे खुजली होने पर मनुष्य उसे खुजलाता है, खुजलाते समय कुछ काल के लिए उसे सुखानुभूति अवश्य होती है, किन्तु फिर चिरकाल के लिए उसे दुःख उठाना पड़ता है। खुजलाने से खाज में रक्त बहने लगता है और फिर पीड़ा भी भयंकर होने लगती है। इसी प्रकार विषय-सुख के सेवन से क्षण भर के लिए स्पर्शजन्य सुख भले ही प्राप्त हो जाए, किन्तु उस सुख की अपेक्षा व्यभिचार करने से मनुष्य को दुःख ही अधिक उठाना पड़ता है। यदि परस्त्री गमन रूप अपराध करता हुआ पकड़ा जाता है, तो समाज और राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड देने का विधान करता है। लोक में उसका अपवाद और अपयश फैल जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के अपराधी के हाथ, पैर, कान और प्रजनन इन्द्रिय आदि अवयव का छेदन भी करा दिया जाता है। अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले ये दुःख तो इसी लोक के हैं, किन्तु परलोक में तो इनसे भी कहीं अधिक भयंकर दुःख-पीड़ा और संत्रास प्राप्त होते हैं। मैथुन व्यभिचार और अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले इन दुःखों का चिन्तन करने से मनुष्य मैथुन से विरत हो जाता है, व्यभिचार का परित्याग कर देता है।" आचार्य उमास्वाति ने इसीलिए कहा है कि निरन्तर दोषों का चिन्तन करो। उससे प्राप्त होने वाले दुःख और क्लेशों का विचार करो। इस प्रकार के विचार से और मैथुन के रोग-दर्शन से वासना शान्त हो जाती है और ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मशास्त्र और ब्रह्मचर्य :

भारतीय संस्कृति में धर्म को परम मंगल कहा गया है—**'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'**। धर्म को परम मंगल कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म, मानव जीवन को पतन से उत्थान की ओर ले जाता है। ह्रास से विकास की ओर ले जाता है। भारतीय संस्कृति के मूल में धर्म इतना रूढ़ हो चुका है कि भारत का एक साधारण से साधारण नागरिक भी धर्म-हीन समाज और धर्महीन संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकता। भारतीय धर्मों की किसी भी परम्परा को लें, उनके समस्त सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय के भवनों की आधार-शिला धर्म ही है। भारतीय ही नहीं, ग्रीक का महान् दार्शनिक तथा सुकरात का योग्यतम शिष्य प्लेटो भी, धर्म को Highest Virtue परम मंगल एवं परम सद्गुण मानता है। इसका अर्थ यही है कि धर्म से बढ़कर आत्म-विकास एवं आत्म-कल्याण के लिए अन्य कोई साधन मानव-संस्कृति में स्वीकृत नहीं किया गया है। श्रमण-संस्कृति के शान्तिदूत, करुणावतार जन-जन की चेतना के अधिनायक, अहिंसा और अनेकान्त का दिव्य प्रकाश प्रदान करने वाले भगवान् महावीर ने धर्म के सम्बन्ध में कहा है कि जिस मनुष्य के हृदय में धर्म का आवास है, उस मनुष्य के चरणों में स्वर्ग के देवता भी नमस्कार करते हैं। **'देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो'**[1]—धर्मशील आत्मा के दिव्य अनुभाव की सत्ता को मानने से इन्कार करने की शक्ति, जगतीतल के किसी भी चेतनाशील प्राणी में नहीं है। विश्व के विचारकों ने आज तक जो चिन्तन एवं अनुभव किया है, उसका निष्कर्ष उन्होंने यही पाया कि जगत् के इस अभेद में भेद की, और भेद में अभेद की स्थापना करने वाला तत्व धर्म से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। परन्तु प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या है? एक जिज्ञासु सहज भाव से यह प्रश्न कर सकता है कि **"कोऽयं धर्मः कुतो धर्मः"** अर्थात् वह धर्म क्या है, जिसकी सत्ता और शक्ति से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता? मानव-जीवन के इस दिव्य प्रयोजन से इन्कार करने का अर्थ आत्मघात ही होता है। तथाभूत-धर्म के स्वरूप को समझने के लिए प्रत्येक चेतनाशील व्यक्ति के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। मानव-मन की उक्त जिज्ञासा के समाधान में परम प्रभु भगवान् महावीर ने धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि जन-जन में प्रेम-बुद्धि रखना, जीवन की प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी सहिष्णुता का परित्याग न करना तथा अपने मन की उद्दाम वृत्तियों पर अंकुश रखना, यही सबसे बड़ा धर्म है। इस परम पावन धर्म की अभिव्यक्ति उन्होंने तीन शब्दों में की—अहिंसा, संयम और तप। **"अहिंसा संजमो तवो।"** जहाँ जीवन में स्वार्थ का ताण्डव नृत्य हो रहा है, वहाँ अहिंसा के दिव्यदीप को स्थिर रखने के लिए, संयम आवश्यक है और संयम को विशुद्ध रखने के लिए तप की आवश्यकता है। जीवन में जब अहिंसा, संयम और तपरूप ब्रह्मचर्य का संयोग मिल जाता है, तब जीवन पावन और पवित्र बन जाता है। अतः ब्रह्मचर्य धर्म मानव-जीवन का एक दिव्य प्रयोजन है।

दर्शन-शास्त्र और ब्रह्मचर्य :

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग और संयम। संयम में जो सौन्दर्य है, वह भौतिक भोग-विलास में कहाँ है। भारतीय-धर्म और दर्शन के अनुसार सच्चा सौन्दर्य तप और त्याग में ही है। संयम ही यहाँ का जीवन है। **'संयमः खलु जीवनम्।'** संयम में से आध्यात्मिक संगीत प्रकट होता है। संयम का अर्थ है—अध्यात्म-शक्ति। संयम एक सार्वभौम भाव है। पूर्व और पश्चिम उभय संस्कृतियों में इसका आदर एवं सत्कार है। संयम, शील और सदाचार ये जीवन के पवित्र प्रतीक हैं। संयम एवं शील क्या है? जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही तो संयम एवं शील है। असंयम की दवा संयम ही हो सकती है। विष की चिकित्सा अमृत ही हो सकती है। भारतीय

१. दशवैकालिक सूत्र। १-१,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति में कहा गया है कि—**"सागरे सर्वतीर्थानि"** संसार के समस्त तीर्थ जिस प्रकार समुद्र में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनिया भर के संयम, सदाचार एवं शील ब्रह्मचर्य में अन्तर्निहित हो जाते हैं। एक गुरु अपने शिष्य से कहता है—**"यथेच्छसि तथा कुरु"** यदि तेरे जीवन में त्याग, संयम और वैराग्य है, तो फिर तू भले ही कुछ भी कर, कहीं भी जा, कहीं पर भी रह, तुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। आचार्य मनु कहते हैं कि—**"मनःपूतं समाचरेत्"** यदि मन पवित्र है, तो फिर जीवन का पतन हो नहीं सकता। इसलिए जो कुछ भी साधना करनी हो, वह पवित्र मन से करो। यही ब्रह्मचर्य की साधना है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू, जो अपने युग के महान् दार्शनिक, विचारक और समाज के समालोचक एवं संशोधक थे, अपनी ग्रीक-संस्कृति का सारतत्त्व बतलाते हुए उन्होंने भी यही कहा है कि संयम और शील के बिना मानव-जीवन निस्तेज एवं निष्प्रभ है। मनुष्य यदि अपने जीवन में सदाचारी नहीं हो सकता, तो वह कुछ भी नहीं हो सकता। संयम और सदाचार ही मानव-जीवन के विकास के आधारभूत तत्त्व हैं। प्लेटो ने लिखा है कि मनुष्य-जीवन के तीन विभाग हैं—Thought (विचार), Desires (इच्छाएँ) और Feelings (भावनाएँ)। मनुष्य अपने मस्तिष्क में जो कुछ सोचता है, अपने मन में वह वैसी ही इच्छा करता है और उसकी इच्छाओं के अनुसार ही उसकी भावना बनती है। मनुष्य व्यवहार में वही करता है, जो कुछ उसके हृदय के अन्दर भावनाएँ उठती हैं। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार से मनुष्य का विचार भी प्रभावित होता है।

अध्यात्म दृष्टि :

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। यहाँ प्रत्येक व्रत, तप, जप और संयम को भौतिक दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से आँका जाता है। साधक जब भोग-वाद के दल-दल में फँस जाता है, तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वह भूल जाता है। इसलिए भारतीय विचारक, तत्त्व-चिन्तक और सुधारक साधक को बार-बार चेतावनी देते हैं कि आसक्ति, मोह, तृष्णा और वासना के कुचक्रों से बचो। जो व्यक्ति वासना के झंझावात से अपने शील की रक्षा नहीं कर पाता, वह कथमपि अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। न जाने कब वासना की तरंग मन में उठ खड़ी हो। वासना की इस दूषित तरंग के प्रभाव से बचने के लिए सतत् जागरुक और सावधान रहने की आवश्यकता है।

अध्यात्म और ब्रह्मचर्य :

कवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमार संभव' में परमयोगी शंकर के जिस तप का उग्र वर्णन किया है, वह पाठक और श्रोता को निश्चय ही चकित कर देने वाला है। परन्तु अन्त में महाकवि कालिदास ने यह दिखलाया कि उस योगी का वह योग, और उस तपस्वी का वह तप, गौरी को वरण करके इति को प्राप्त हुआ। इस जीवन-गाथा से यह आभास मिलता है और पाठक यह निर्णय निकाल लेता है कि ब्रह्मचर्य की साधना असम्भव है। मनुष्य इसकी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

परन्तु महाकवि भारवी ने अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में अर्जुन के तप और योग का जो विशद् वर्णन किया है, वह पाठक को चकित और स्तब्ध कर देने वाला है। महाभारत के युद्ध से पूर्व, शिव का वरदान पाने के लिए अर्जुन जब योग-साधना में लीन हो जाता है, तब उसकी योग-साधना की परीक्षा के लिए अथवा उसे साधना से भ्रष्ट करने के लिए, इन्द्र अनेक सुन्दर अप्सराओं को भेजता है और वे मिलकर, अपने मधुर-संगीत, सुन्दर नृत्य और मादक हाव-भाव से अर्जुन के साधना-लीन चित्त को विचलित करने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा प्रयत्न करती हैं, किन्तु उन्हें अपने उस कार्य में तनिक भी सफलता प्राप्त नहीं होती। वीर अर्जुन के जीवन की यह घटना ब्रह्मचर्य के साधकों के लिए एक दिव्य आलोक बन गई है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रह्मचर्य की साधना करने वालों ने उसे जो असम्भव समझ लिया है, वह असम्भव तो नहीं, पर कठिनतर एवं दुष्कर अवश्य है। ब्रह्मचर्य की साधना को हमारे प्राचीन शास्त्रों में जो कठिनतर कहा गया है, उसका अर्थ केवल इतना ही है कि ब्रह्मचर्य की साधना प्रारम्भ करते समय, चित्त को विशुद्ध रखने का सतर्कता के साथ पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि कभी चित्त में जरा भी मलिनता का प्रवेश हो जाता है, असावधानता की कुज्झटिका से ज्ञानदीप का प्रकाश धुंधला हो जाता है, तब यह साधना कठिनतम ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाती है। अतः ब्रह्मचर्य की साधना के मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए यह संकेत दिया गया कि वह अपने मन और मस्तिष्क को सदा पवित्र रखे।

बौद्ध-शास्त्रों में भी ब्रह्मचर्य की साधना के सम्बन्ध में, अनेक प्रकार के रूपक एवं आख्यान उपलब्ध होते हैं, जिनके अध्ययन एवं परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध साधक ब्रह्मचर्य की साधना को कितना महत्त्व देते थे और अपनी साधना की सफलता के लिए कितना सत्यप्रयत्न करते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के जीवन की वह घटना हमें कितनी पवित्र प्रेरणा देती है, जिसमें यह बतलाया गया है कि जब बुद्ध साधना कर रहे थे, बोधि प्राप्त करने के लिए तप कर रहे थे, उस समय मार (काम) उन्हें साधना से विचलित करने के लिए मादक तथा रंगीन वातावरण उनके सामने प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में महाकवि अश्वघोष ने अपने 'बुद्ध-चरित' में वर्णन किया है कि मार ने सुन्दर से सुन्दर अप्सराएँ भेजकर, उनके संगीत-नृत्य और विविध प्रकार के हाव-भावों से बुद्ध के साधना-लीन चित्त को विचलित करने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु बुद्ध अपनी साधना में एक स्थिर योद्धा की भाँति अजेय रहे, अकम्प और अडोल रहे। महाकवि अश्वघोष ने अन्त में यह भी लिखा कि वासना के इस भयंकर युद्ध में, मार पराजित हुआ और बुद्ध विजेता बने। बौद्ध संस्कृति में यह बतलाया गया है कि जब तक साधक अपने मन के मार पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक वह बुद्ध बनने के योग्य नहीं है, बुद्ध बनने के लिए मार अर्थात् काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

श्रमण-संस्कृति के ज्योतिर्धर इतिहास में तो एक नहीं, अनेक हृदयस्पर्शी जीवन-गाथाओं का अंकन किया गया है, जिनमें ब्रह्मचर्य की साधना के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मनुष्य जीवन के लिए प्रेरणाप्रद एवं दिशा-दर्शक रूपक आख्यानों से ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधकों के लिए पवित्र प्रेरणा और बल प्राप्त होता है। मूल आगमों में 'राजीमती' और 'रथनेमि' का वर्णन आज भी उपलब्ध हैं। रथनेमि, जो अपने युग का कठोर साधक था, रैवताचल की गुफा के एकान्त स्थान में राजीमती के अद्भुत सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो जाता है, वह अपनी साधना को भूल जाता है और वासना का दास बनकर राजीमती से प्रणय की याचना करने लगता है। परन्तु उस ज्योतिर्मयी नारी ने उसकी इस संयम-भ्रष्टता की भर्त्सना की और कहा कि कोई भी साधक अपनी साधना में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने मन के विकल्पों को न जीत ले। रूप को देख कर भी जिसके मन में रूप के प्रति आसक्ति उत्पन्न न हो, वह वस्तुतः सच्चा साधक है। काम और वासना पर बिना विजय प्राप्त किए, कोई भी अपनी साधना के अभीष्ट फल को अधिगत नहीं कर सकता। और तो क्या, भ्रष्ट जीवन की अपेक्षा तो मरण ही श्रेयस्कर है। राजीमती के दिव्य उपदेश को सुनकर रथनेमि पुनः संयम में स्थिर हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' में एक महान् साधक के जीवन का बड़ा ही सुन्दर एवं भव्य चित्र अंकित किया है। वे महान् साधक थे 'स्थूल भद्र' जिन्होंने अपने जीवन की ज्योति से ब्रह्मचर्य की साधना को सदा के लिए ज्योतिर्मय बना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया। दो हजार वर्ष जितना लम्बा एवं दीर्घ समय व्यतीत हो जाने पर भी आज तक के साधक, ब्रह्मचर्य व्रत के अमर साधक स्थूलभद्र को भूल नहीं सके हैं। स्थूलभद्र के जीवन के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि वे योगियों में श्रेष्ठ योगी, ध्यानियों में श्रेष्ठ ध्यानी और तपस्वियों में श्रेष्ठ तपस्वी थे। पूर्व स्नेहानुरक्त अप्रतिम सुन्दरी कोशा वेश्या के यहाँ चार महीने रह कर भी, वे वैसे ही निर्विकार सर्वथा शुद्ध बाहर आए, जैसे सघन बादलों में से चन्द्रमा। स्थूलभद्र की इस यशो-गाथा को सुनने के बाद सुनने वाले के दिमाग में यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर वह क्या साधना थी? कैसे की गई थी? उन्होंने इस बात के लिए दृढ़ शब्दों में कहा था कि—"मेरी साधना में जो एक विघ्न था, वह भी स्वतः ही दूर हो गया। जब मैं एक बार बन्धन-मुक्त हो गया हूँ, तब फिर दुबारा बन्धन में क्यों फँसूं?" निश्चय ही उनका जीवन सरस, शान्त, शीतल एवं प्रकाशमय था। उनके जीवन के इस संयम के कारण ही, उनकी धारणा-शक्ति अपूर्व बन सकी थी। किसी भी शास्त्र में उनकी बुद्धि रुकती नहीं थी। यह बौद्धिक बल उन्हें ब्रह्म-चर्य से प्राप्त हुआ था।

स्वामी विवेकानन्द का नाम कौन नहीं जानता? विवेकानन्द के जीवन में जो एकाग्रता, एकनिष्ठता और तन्मयता थी, वह किसी दूसरे पुरुष में देखने को नहीं मिलती। उनकी प्रतिभा एवं मेधा-शक्ति के चमत्कार के विषय में कहा जाता है कि वे जब किसी ग्रन्थ का अध्ययन करने बैठते थे, तब एक आसन पर एक साथ ही अध्याय के अध्याय पढ़ लेते थे और किसी के पूछने पर वे उन्हें ज्यों का त्यों सुना भी देते थे। उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। कोई भी विषय ऐसा नहीं था, जिसे वे आसानी से न समझ सकते हों। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि ब्रह्मचर्य के बल से सारी बातें साधी जा सकती हैं।

आधुनिक युग के अध्यात्म योगी साधक श्रीमद् राजचन्द्र से सभी परिचित हैं। उनमें शताधिक अवधान करने की क्षमता एवं योग्यता थी। जिस भाषा का उन्होंने अध्ययन नहीं किया था, उस भाषा के कठिन से कठिन शब्दों को भी वे आसानी से हृदयंगम कर लेते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य योग की साधना का ही शुभ परिणाम है। उन्होंने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अपने एक ग्रन्थ में कहा है—

"निरखी ने नव यौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठ नी पूतली, ते भगवंत समान॥

ब्रह्मचर्य की इससे अधिक परिभाषा एवं व्याख्या नहीं की जा सकती, जो ब्रह्म-चर्य-योगी श्रीमद् राजचन्द्र ने अपने इस एक दोहे में कर दी है।

ब्रह्मचर्य का प्रभाव :

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति होते हुए भी बाह्य पदार्थों में परिवर्तन कर देने की अद्भुत क्षमता रखता है। वह प्रकृति के भयंकर से भयंकर पदार्थों की भयंकरता को नष्ट कर उनको आनन्दमय एवं मंगलमय बना देता है।

ब्रह्मचर्य की साधना, जीवन की एक कला है। अपने आचार-विचार और व्यवहार को बदलने की साधना है। कला वस्तु को सुन्दर बनाती है, उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि करती है। और आचार भी यही काम करता है। वह जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है। जीवन में शारीरिक सौन्दर्य से, आचरण का सौन्दर्य हजारों-हजार गुणा अच्छा है। श्रेष्ठ आचरण मूर्ति, चित्र एवं अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदाता है।[1] वह केवल अपने जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य व्यक्तियों के लिए भी

1. A beautiful behaviorus is better than a beautiful form it gives a higher pleasure than statues and Pictures.—*Emerson.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्दप्रद होता है। आचरणहीन व्यक्ति सबके मन में काँटे की तरह खटकता है और आचार-संपन्न पुरुष सर्वत्र सम्मान पाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसके श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करता है। वह अन्य व्यक्तियों के लिए एक आदर्श स्थापित करता है।[1] अतः आचार की जीवन कला समस्त कलाओं में सुन्दरतम कला है।[2]

आचरण जीवन का एक दर्पण है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा-परखा जा सकता है।[3] आचरण, व्यक्ति की श्रेष्ठता और निकृष्टता का मापक यन्त्र (Thermometre) है। आचरण की श्रेष्ठता उसके जीवन की उच्चता एवं उसके उच्चतम रहन-सहन तथा व्यवहार को प्रकट करती है। इसके अन्दर कार्य करने वाली मानवता और दानवता का, मनुष्यता और पाशविकता का स्पष्ट परिचय मिलता है। मनुष्य के पास आचार, विचार एवं व्यवहार से बढ़कर कोई प्रमाण-पत्र नहीं है, जो उसके जीवन की सच्चाई एवं यथार्थ स्थिति को खोलकर रख सके। यह एक जीवित प्रमाण-पत्र है, जिसे दुनिया की कोई भी शक्ति झुठला नहीं सकती।

आचरण की गिरावट, जीवन की गिरावट है, जीवन का पतन है। रूढ़िवाद के द्वारा माने जाने वाले किसी नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति पतित एवं अपवित्र नहीं हो जाता है। वस्तुतः पतित वह है, जिसका आचार-विचार निकृष्ट है। उसके भाव, भाषा और कर्म निम्न कोटि के हैं, जो रात-दिन भोगवासना में डूबा रहता है, वह उच्च कुल में पैदा होने पर भी नीच है, पामर है। यथार्थ में चाण्डाल वह है, जो सज्जनों को उत्पीड़ित करता है, व्यभिचार में डूबा रहता है और अनैतिक व्यवसाय करता है या उसे चलाने में सहयोग देता है।[4]

देश के प्रत्येक युवक और युवती का कर्तव्य है कि वह अपने आचार की श्रेष्ठता के लिए "Simple living and high thinking."—सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श अपनाएँ। वस्तुतः सादगी ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ अलंकार है। क्योंकि स्वाभाविक सुन्दरता (Natural beauty) ही महत्त्वपूर्ण है और उसे प्रकट करने के लिए किसी तरह की बाह्य सजावट (Make-up) की आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर की सफाई एवं स्वस्थता के लिए योग्य साधनों का प्रयोग ही न किया जाए। यहाँ शरीर की शुद्धि के लिए इन्कार नहीं है, परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि वास्तविक सौन्दर्य को दबाकर कृत्रिमता को उभारने के लिए विलासी प्रसाधनों का उपयोग करना निषिद्ध है। इससे जीवन में विलासिता बढ़ती है और काम-वासना को उद्दीप्त होने का अवसर मिलता है। अतः सामाजिक व्यक्ति को अपने यथाप्राप्त रूप को कुरूप करके वास्तविक सौन्दर्य को छिपाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसे कृत्रिम बनाने का प्रयत्न न करे। उसे कृत्रिम साधनों से चमकाने के लिए समय एवं शक्ति की बर्बादी करना मूर्खता है। हमारा बाहरी जीवन सादा और आन्तरिक जीवन सद्गुणों एवं सद्विचारों से सम्पन्न होना चाहिए।[5]

सौन्दर्य आत्मा का गुण है। उसे चमकाने के लिए आत्म-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। अपने आप पर नियन्त्रण रखना सीखें। वासनाओं के प्रवाह में न बह कर, उन्हें नियन्त्रित करने की कला सीखें। यही कला जीवन को बनाने की कला है। और

---

१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।—गीता।

2. Behavious is the finest of five art.—*Emerson.*

3. Behavious is Mirror in which everyone display his image.—*Goethe*

४. जे ग्रहिभवन्ति साहुँ, ते पावा ते ग्र चण्डाला।—मृच्छकटिक, १०, २२।

5. Let our life be Simple in its outer aspect and rich in its inner gain.—*Rabindra Nath Tagore*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी का नाम आचार है, चरित्र (Character) है और नैतिक शक्ति (Moral Power) है। इसका विकास आत्मा का विकास है, जीवन का विकास है।

ब्रह्मचर्य की महिमा का गान, देखिए, किस उदात्त एवं गंभीर स्वर से किया है।

"देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति तं।।"

—उत्तराध्ययन सूत्र, १६, १६.

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणों में सिर झुका देती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणों में सभक्तिभाव नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य संयम का मूल है। परब्रह्म—मोक्ष का एकमात्र कारण है। ब्रह्मचर्य पालन करने वाला, पूज्यों का भी पूज्य है। सुर, असुर एवं नर—सभी का वह पूज्य होता है, जो विशुद्ध मन से ब्रह्मचर्य की साधना करता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न रहता है। ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य का जीवन तेजस्वी और ओजस्वी बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३

अपरिग्रह : अनासक्ति योग

जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मनुष्य की आत्मा दब जाती है और उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अतः आत्म-विकास के लिए अपरिग्रह की विशेष आवश्यकता होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के चौथे अध्ययन में भगवान् महावीर ने कहा है कि—"हे प्रमादी जीव! इस लोक या परलोक में धन शरण देने वाला नहीं है। अन्धकार में जैसे दीपक बुझ जाए, तो देखा हुआ मार्ग भी बिन देखे जैसा हो जाता है, वैसे ही पौद्गलिक वस्तुओं के मोहांधकार में न्याय-मार्ग का देखना और न देखना, दोनों ही समान हो जाते हैं। ममत्ववृत्ति के त्याग से ही धर्म-मार्ग का आचरण किया जा सकता है।"[1]

संग्रहखोरी, संचयवृत्ति या पूंजीवाद आज के सभी पापों के जनक हैं। अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप रंक से लेकर राजा तक सभी संग्रह करने में ही मग्न हैं। मनुष्य चाहे जितने छोटे-बड़े व्रत-नियम करें, पर संग्रह वृत्ति पर नियन्त्रण न रखें, तो वे सच्चे अर्थ में अपना विकास नहीं कर सकेंगे।

शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि **'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्।'** अर्थ सचमुच अनर्थ ही है। शास्त्रकारों ने 'अर्थ' के इतने अधिक अनर्थ बताए हैं, फिर भी इस अर्थप्रधान युग में अर्थ को ही प्राण समझा जा रहा है। अपना कोई प्रियजन मर जाए, तो उसका दुःख कुछ महीने बाद भुला भी दिया जाता है, परन्तु धन का नुकसान होता है, तो उसका दुःख सारी जिन्दगी तक मनुष्य भूलता नहीं है। मनुष्य की आज धन के लिए जितनी प्रबल आकांक्षा है, उतनी अन्य किसी के लिए प्रतीत नहीं होती है।

सन्त तुकाराम ने अपरिग्रह के सम्बन्ध में कहा है—

"तुका म्हणे धन आम्हां गोमांसा समान।"

अर्थात्—धन का आवश्यकता से अधिक स्नेह करना, गोमांस की तरह त्याज्य होना चाहिए।

बिनोबा भावे ने कहा है कि 'जिस पैसे की तुम परमेश्वर की तरह पूजा करते हो, वह पैसा परमेश्वर नहीं, पिशाच है, जिसका भूत तुम पर सवार हो गया है। जो रात-दिन तुमको सताता रहता है और तनिक भी आराम नहीं लेने देता है। पैसा रूपी पिशाच को तुम देवतुल्य समझ कर कब तक पूजते रहोगे और नमस्कार कर उसके आगे कब तक अपनी नाक रगड़ते रहोगे।'

यह परिग्रह काम, क्रोध, मान, माया और लोभ का जनक है। धर्मरूपी कल्पवृक्ष को जला देने वाला है। न्याय, क्षमा, सन्तोष, नम्रता आदि सद्गुणों को खा जाने वाला विषैला कीड़ा है। परिग्रह बोधबीज का यानि समकित का विनाशक है और संयम, संवर तथा ब्रह्मचर्य का घातक है। यह जन्म, जरा और मरण के भय को पैदा करने वाला है। मोक्षमार्ग में विघ्न खड़ा करने वाला और विषाक्त किंपाक फलों को देने वाला है। चिन्ता और शोक रूप सागर को बढ़ाने वाला, तृष्णा रूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, कूड़-कपट का भण्डार और क्लेश का घर है।

---

१. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्थे।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥

—उत्तराध्ययन, ४,५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा तो ले लेते हैं, पर उसमें छूट बहुत रख लेते हैं। ऐसा करने से व्रत का आशय सिद्ध नहीं होता है। सचमुच देखा जाए तो यह व्रत परिग्रह को घटाने के लिए है। हमारे पास जितना हो, उसमें से भी धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिए। परिग्रह कम करते जाने पर ही परिग्रह परिमाण व्रत तेजस्वी बन सकता है। मानव समाज को सुखी बनाने के लिए और विविध संघर्षणों से मुक्त करने के लिए इस व्रत की नितान्त आवश्यकता है।

अपरिग्रह के अतिचार :

"क्षेत्र-वस्तु-हिरण्य-सुवर्ण धन-धान्य-दासीदास, कुप्यप्रमाणातिक्रमाः"

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। खेत, घर, धन-धान्य, दास-दासी, सोना-चांदी आदि की बंधी हुई मर्यादा का उल्लंघन करना, इस व्रत के अतिचार हैं। इन अतिचारों से बचते हुए क्रमशः परिग्रह को कम करते जाना ही आत्म-शान्ति को पाने का और विकास करने का राजमार्ग है।

बारह व्रतों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पाँच व्रत मूल व्रत हैं। धर्मरूपी वृक्ष के ये मूल हैं? सामायिक, पौषध, तप आदि नियमों को उत्तर व्रत के रूप में माना गया है। धर्मरूपी वृक्ष के ये पत्ते हैं। मूल व्रतों के साथ ही इनका पालन करना लाभदायी होता है। उनके अभाव में इनका पालन करना, मूल को छोड़कर पत्तों को पानी पिलाने का प्रयत्न करने जैसा है। अतः मनुष्य को मूल व्रतों की तरफ पहले ध्यान देना चाहिए।

अपरिग्रह के महान् संदेशवाहक श्रमण भगवान् महावीर ने सहज-भाव से उपयोग में आनेवाले वस्त्र आदि कुछ स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है—"मुच्छा परिग्गहो।"

पूर्ण-संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना, तो और भी कठिन बात है।

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम में लाते हैं। इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते। सच्चे अर्थ में अपरिग्रह की यही बहुत बड़ी मर्यादा है।

अपरिग्रह के संदर्भ में यह बात खास ध्यान देने योग्य है। दर्शन-शास्त्र के आचार्यों से पूछा कि परिग्रह क्या है? तो उन्होंने बताया—""**मूर्च्छा परिग्रहः**" मन की ममता, आसक्ति ही परिग्रह है। वस्तु का त्याग अपरिग्रह नहीं हो सकता, मोह या आसक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है।

प्रश्न हो सकता है कि वस्तु का छोड़ना क्या है? आप कहते हैं, मैंने कपड़े का त्याग कर दिया, धन का त्याग कर दिया, मकान का त्याग कर दिया, किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या वह कपड़ा आपका था? वह धन और मकान आपका था? आप चैतन्य हैं, वह वस्तु जड़ है, जड़ और चैतन्य का क्या सम्बन्ध? गधे और घोड़े का क्या रिश्ता, क्या नातेदारी? जड़ पर चेतन का कोई अधिकार नहीं, और चेतन पर जड़ का कोई अधिकार नहीं, फिर यह त्याग किसका?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपका अपना क्या है ? ज्ञानमय आत्मा अपना है, अखण्ड चैतन्य अपना है। इसका त्याग हो नहीं सकता। और, वस्तु का तो त्याग, वास्तव में त्याग है ही नहीं। तो प्रश्न यह है कि फिर त्याग का, अपरिग्रह का क्या मतलब हुआ ? इसका अर्थ है कि वस्तु के प्रति जो ममता बुद्धि है, राग है, मूर्च्छा है, उसका त्याग कर सकते हैं और वही वास्तव में त्याग है, अपरिग्रह है। ममता हट जाने पर, राग बुद्धि मिट जाने पर शरीर रहते हुए भी अपरिग्रही अवस्था है, देह होते हुए भी देहातीत अवस्था है, श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में—**"देह छतां जेहनी दशा, वरतै देहातीत। ते ज्ञानीना चरणमां, वन्दन हो अगणीत।।"** देह के होते हुए भी इसके प्रति निष्काम और निर्विकल्प अवस्था जब प्राप्त हो जाती है, तब सम्पूर्ण अपरिग्रह की साधना होती है।

मूलतः मूर्च्छा अर्थात् ममत्व एवं मोह परिग्रह है। किन्तु, साधारण साधक सहसा उक्त उच्च स्थिति पर पहुँच नहीं सकता। अतः उसे ममत्व-त्याग की यात्रा में अनावश्यक एवं अनुपयोगी वस्तुओं का भी पूर्णतः या क्रमिक त्याग करना होता है। बाह्य वस्तुएँ साधारण व्यक्ति के लिए मूर्च्छा की हेतु बन जाती हैं। अतः कार्य का कारण में उपचार करके वस्तुओं को भी परिग्रह के क्षेत्र में माना गया है। और, उनके त्याग का यथाशक्ति उपदेश दिया गया है। स्पष्ट है, वस्तु त्याग दे, फिर भी उसकी आसक्ति रखे, तो वह वस्तु के अभाव में भी परिग्रह की कोटि में आ जाता है। अतः परिग्रह का चिन्तन द्रव्य और भाव दोनों दृष्टि करना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्च्छा मूलक संग्रह ही है,
एक मात्र शोषण का मूल।
शोषण से ही पैदा होते,
जनता में विग्रह के शूल।।

* * *

मूर्च्छा अन्तर की बेहोशी,
परम ज्योति पर तम की धूल।
निज हित, पर हित दोनों से ही,
करती जन-जन को प्रतिकूल।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४

सर्व-धर्म समन्वय : अनाग्रह-दृष्टि

"धारणाद् धर्ममित्याहुः"—जो धारण करता है, वही धर्म है। यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है और इसकी प्रसिद्धि का कारण मात्र इसकी यथार्थता है, कुछ और नहीं। किसी वस्तु को धारण करने का अर्थ होता है, उसके अस्तित्व को कायम रखना। हर एक पदार्थ में, चाहे वह चल हो या अचल, चेतन हो या अचेतन, कोई न कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होता है, जिसके कारण उसका अस्तित्व बना रहता है। यदि उस तत्त्व को उस वस्तु में से हटा दिया जाए तो निश्चित ही वह विनष्ट हो जाएगी, उसकी सत्ता नाम की कोई भी चीज नहीं रह जाएगी। अपने मूल धर्म के कारण ही वह तत्त्व सदा एक-सा रहता है, वह कभी मिटता नहीं, भले ही उसके बाह्यरूप क्यों न बदल जाए। स्वर्ण से कभी हार बनता है, तो कभी अँगूठी, किन्तु स्वर्णत्व जो उसका वास्तविक गुण है, वह नहीं बदलता। मनुष्य के साथ भी यही बात है। उसकी आत्मा अमिट है, अपरिवर्तनशील है, पर उसका शरीर जिसे उसकी बाह्य रूपरेखा कहते हैं, हमेशा बदलता रहता है। जब-जब वह नया जन्म धारण करता है, तब-तब उसका रूप बदलता जाता है। यदि आत्मा न हो, तो शरीर चेतनाशून्य और उपयोगिता रहित हो जाता है।

इसी प्रकार धर्म का जो मौलिक तत्त्व है, वह उसकी आत्मा है और जो सम्प्रदाय है, वह उसका शरीर है। आत्मा की तरह किसी भी धर्म का जो मौलिक सिद्धान्त है, वह बदलता नहीं और उसकी व्यापकता किसी एक स्थान या एक काल तक ही सीमित नहीं होती। क्योंकि धर्म का जो वास्तविक रूप है, वह शाश्वत है, सर्वव्यापी है। यदि कोई सीमा इसमें दिखाई पड़ती है, तो वास्तव में उसका कारण हमारा दृष्टिगत वैविध्य है। ब्राह्मण कहते हैं, जो बातें श्रुति-स्मृतियों में कही गई हैं, वे ही सत्य हैं, इनमें जिन सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है वही धर्म है, शेष जो भी है, उसे धर्म की सीमा में स्थान प्राप्त नहीं होता। जैन कहते हैं कि मात्र आगम ही, जिनमें भगवान् महावीर की वाणी संकलित है, धर्म के स्रोत हैं। बौद्धों का कहना है कि त्रि-पिटक साहित्य (पिटकों) में वर्णित भगवान् बुद्ध के उपदेश के सिवा और कुछ धर्म नहीं कहला सकता। ईसाई मतानुयायी बाईबिल को ही सब-कुछ मानते हैं। यही बात इस्लाम-मतावलम्बियों के साथ है। ये कहते हैं कि कुरान ही धर्म का एकमात्र आधार है। किन्तु तटस्थ होकर सभी धर्मों या मतों को देखने से लगता है कि सब में वही तत्त्व प्राण की तरह काम कर रहा है, जो शाश्वत है, सदा एक-सा है।

प्रश्न उठता है कि शाश्वत धर्म आखिर है क्या? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही मौलिक अथवा शाश्वत धर्म हैं। क्योंकि धर्म या आचार के क्रियाकाण्ड सम्बन्धी जो भी अन्य नियम हैं, वे प्रायः इन्हें ही केन्द्र मानकर प्रचलित हैं। इन पाँच सिद्धान्तों के अलावा जो भी धर्म या आचार सम्बन्धी नियम हैं, वे अमौलिक हैं, ऐसा भी कहना कोई अनुचित न होगा। पर अमौलिक होते हुए भी ऐसे सिद्धान्त समाज पर अपना कम प्रभाव नहीं रखते, क्योंकि यही साम्प्रदायिकता को जन्म देने वाले होते हैं।

जब धर्म सिद्धान्त से व्यवहार की ओर आता है, तब उसे देश और काल की मर्यादा से सम्बन्धित होना पड़ता है और यहीं से सम्प्रदाय या संघ का प्रारम्भ होता है। सम्प्रदाय की मान्यता वहाँ तक सही है, जहाँ तक कि इसका उद्देश्य धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार या प्रसार करना है, लेकिन जब वह विभिन्न रूढ़ियों को जन्म दे देता है, तो परिणाम कुछ और ही निकल आता है। कारण, एक दिन वे ही रूढ़ियाँ इस तरह बलवती हो जाती हैं कि वे धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को उसी प्रकार ढक लेती हैं जैसे सूर्य को काले बादल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढक लेते हैं, तो निश्चय ही सम्प्रदाय एक गलत राह पर आ जाता है। सूर्य के बादलों से ढक जाने के बाद जो दशा भू-मण्डल की होती है, वही दशा शाश्वत धर्म के छुप जाने से समाज की होती है और ऐसी स्थिति किसी एक समाज के लिए ही क्या, बल्कि पूरे संसार के लिए बड़ी घातक होती है।

अब प्रश्न उठता है कि रूढ़िग्रस्त साम्प्रदायिकता को दूर करने का कौन-सा उपाय है? रूढ़ि पैदा होने के दो कारण हैं—अन्ध विश्वास और अपनी मान्यताओं को ही पूर्ण एवं सर्वमान्य समझने का अहंभाव। यदि प्राचीन काल में धर्माचार्यों ने परिस्थिति विशेष में कोई नियम बना दिए, तो आज भी हम उन अनुपयोगी हुए सारे नियमों को ढोते रहें, यह आवश्यक नहीं। ऐसा करने का अर्थ यह नहीं होता कि पूर्व-प्रतिपादित सभी आचारों को बदल कर हम पूर्णतः उन्हें एक नया रूप दें अथवा आचारों का विरोध करें। बल्कि जिन विधि-विधानों का वर्तमान से मेल नहीं हो रहा है, जिनका देश-काल से समुचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो रहा है, उन्हें देश-काल के अनुसार यथार्थ रूप देने का विवेकपूर्वक प्रयास अपेक्षित है, क्योंकि साम्प्रदायिक या अमौलिक नियमों के आधार देश और काल ही होते हैं।

जहाँ तक अपने आपको पूर्ण मानने का प्रश्न है, यह भी किसी धर्म या समाज के लिए हितकर नहीं होता। इसी गलती को दूर करने के लिए जैनाचार्यों ने अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जब तक व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो जाता, तब तक उसका यह घोषित करना कि हम पूर्णरूपेण सत्य हैं और दूसरा गलत, ऐसा कहना बिलकुल सही नहीं होता। क्योंकि अन्य सभी सिद्धान्त गलत हैं, ऐसा तो तभी कहा जा सकता है, जब सभी सिद्धान्तों को पूर्णतः जान लिया जाए। क्योंकि एक वस्तु के अनेक विधायक एवं निषेधात्मक रूप होते हैं, जिन्हें जानना सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव होता है। हाँ, जो सर्वज्ञ हैं, उनकी तो बात ही कुछ और है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि वह स्वयं पूर्णतः ठीक है और दूसरे गलत। अतः सीमित ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त बताता है कि यदि कोई व्यावहारिक सत्य है, तो वह किसी खास सीमा तक अथवा किसी खास सम्बन्ध तक ही व्यावहारिक रहता है।

"आज समय आ गया है कि हम एकता की भावना में इकट्ठे हों, ऐसी एकता को यह समृद्धि समेटती है, जिसमें दूसरे धार्मिक विश्वासों की धार्मिक यथार्थताएँ नष्ट न हों, बल्कि एक सत्य को मूल्यवान अभिव्यक्ति के रूप में संजोया जाए। हम उन यथार्थ और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्तियों को समझते हैं, जिन्होंने विभिन्न धार्मिक विश्वासों को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर जोर देते हैं, जो धार्मिक आस्थाओं के कृति-व्यक्तित्वों की कृतियों से भरी पड़ी हैं। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नहीं है। धर्म की तुलनात्मक जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त में एकान्त अर्ह नहीं रख सकता। हम जिस संसार में जीवन-यात्रा करते हैं, उसके साथ हमें एक संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि हम धर्मों की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम उस भिन्नता को नहीं खोना चाहते जो मूल्यवान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन में हो या राष्ट्रों के जीवन में या आध्यात्मिक जीवन में, यह भेदों को एक साथ मिलाती है, जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नहीं। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवों के लिए खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक संसार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।"[1]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सभी धर्मों के सिद्धान्तों को, उनकी आस्था को दृढ़ करना है। यह वह पृष्ठभूमि है, जहाँ पर हम विश्वधर्म के महान् धरातल पर

१. आधुनिक युग में धर्म। —डॉ० एस० राधाकृष्णन्, पृ० ९४–९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खड़े होते हैं। हमें आज, धर्म-ग्रन्थों में वर्णित साम्प्रदायिक क्रिया-काण्डों के एकान्त आग्रह को एक तरफ रखकर जीवन-व्यवहार्य धर्म की प्ररूपणा करनी है, उन्हें कार्यान्वित करना है और सबकी मूल आस्था को एक साथ संघबद्ध करके समन्वय का आदर्श परिचालित करना है। पारस्परिक सम्मान एवं प्रेम का उदात्त भाव, इस दशा में हमारा महान् सहयोगी बनकर कृष्ण-सरीखे सारथी का काम करेगा। वहीं से धर्म का एक विराट् रूप, सर्वधर्म समन्वय की भावना से उद्भूत हो सकता है।

इस प्रकार अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि हर धर्म समन्वय का स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाए। और, समन्वय का सिद्धान्त तभी सुदृढ़ बन सकता है, जबकि अपने आपको ही पूर्ण सत्य और दूसरों को सर्वांशतः गलत मानने की मनोवृत्ति दूर हो, यानि दूसरों के विचार को भी अमुक रूप में सही माना जाए। साथ ही देश और काल के साथ अपने को अभिनियोजित किया जाए, अर्थात् देश और काल के साथ भी समन्वय किया जाए।

आत्मा का मूल धर्म शुद्ध ज्ञानोपयोग रूप वीतराग-भाव है। जितना-जितना साधक के अन्तर्मन में से राग-द्वेष का भाव कम होगा, उतना-उतना वीतराग-धर्म ज्योतिर्मय होगा। अन्यत्र सर्वत्र विवाद हो सकते हैं, किन्तु वीतराग-धर्म में किसी का कोई विवाद नहीं है।

आत्म-चैतन्य की अशुद्ध-स्थिति अधर्म है और शुद्ध-स्थिति धर्म है। आत्म-चेतना पर राग-द्वेष एवं तज्जन्य हिंसादि विकारों का मल जम जाता है, तो वह अशुद्ध चेतना अधर्म है और यही संसार का अर्थात् बन्धन का मूल है। विकार ही तो संसार है और विकारों से मुक्त पूर्ण निर्विकार स्थिति मोक्ष है। धर्म मुक्ति का साधन है। अतः राग-द्वेष की क्रमिक क्षीणता होना और वीतरागभाव का क्रमिक विकास होना, साधक के लिए आवश्यक है। उक्त स्पष्टीकरण पर से सम्प्रदाय और धर्म का स्पष्ट अन्तर परिलक्षित हो जाता है। अतः वीतराग भावना से अनुप्राणित सम्प्रदाय ही उपादेय है। इसके विपरीत, जो सम्प्रदाय वीतराग भावना से शून्य है, वे सम्प्रदाय नहीं, एक प्रकार के सम्प्रदाह है, जो जन-जीवन को घृणा, विद्वेष आदि की आग में जलाते रहते हैं। आत्म-शान्ति के लिए सम्प्रदाहक संप्रदायों से मुक्त होना अत्यावश्यक है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त है सम्यक् - दर्शन,
मिथ्या-दर्शन है एकान्त।
अन्धाग्रह के कारागृह से,
मुक्त चेतना होती शान्त।।

* * *

धर्म एक है निश्चय नय से,
वह न कभी परिवर्तित होता।
क्रिया-काण्ड, व्यवहार सत्य है,
यथा-काल परिचालित होता।।

--उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५

पन्ना समिक्खए धम्मं

धर्म शब्द जितना अधिक व्यापक स्तर पर प्रचलित है और उसका उपयोग किया जा रहा है, उतनी ही उसकी सूक्ष्मतर विवेचना नहीं की जा रही है। इस दिशा में उचित प्रयत्न जो अपेक्षित हैं, वे नहीं के बराबर हैं। और जो कुछ हैं भी, वे मानव-चेतना को कभी-कभी धुंधलके में डाल देते हैं।

धर्म क्या है? इसका पत्ता हम प्रायः विभिन्न मत-पंथों, उनके प्रचारक गुरुओं एवं तत्तत् शास्त्रों से लगाते हैं। और, आप जानते हैं, मत-पंथों की राह एक नहीं है। अनेक प्रकार के एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध क्रिया-काण्डों के नियमोपनियमों में उलझे हुए हैं, ये सब। इस स्थिति में किसे ठीक माना जाए, और किसे गलत? धर्म गुरुओं एवं शास्त्रों की आवाजें भी अलग-अलग हैं। एक गुरु कुछ कहता है, तो दूसरा गुरु कुछ और ही कह देता है। एक शास्त्र, जिसका विधान करता है, दूसरा शास्त्र उसका निषेध कर देता है। इस स्थिति में विधि-निषेध के विचित्र चक्रवात में मानव-मस्तिष्क अपना होश खो बैठता है। वह निर्णय करे, तो क्या करे? यह स्थिति आज की ही नहीं, काफी पुरातन काल से चली आ रही है। महाभारतकार कहता है—श्रुति अर्थात् वेद भिन्न-भिन्न हैं। स्मृतियों की भी ध्वनि एक नहीं है। कोई एक मुनि भी ऐसा नहीं है, जिसे प्रमाण रूप में सब लोग मान्यता दे सकें। धर्म का तत्त्व एक तरह से अंधेरी गुफा में छिप गया है—

"श्रुतिर्विभिन्ना - स्मृत्यौर्विभिन्नाः,
नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।

विश्व जगत् में यत्र-तत्र अनेक उपद्रव, विरोध, संघर्ष, यहाँ तक कि नर-संहार भी अतीत के इतिहास में देखते हैं। आज भी इन्सान का खून बेदर्दी से बहाया जा रहा है। अतः धर्म-तत्त्व की समस्या का समाधान कहाँ है, इस पर कुछ-न-कुछ चिन्तन करना आवश्यक है।

मानव, धरती पर के प्राणियों में सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। उससे बढ़कर अन्य कौन श्रेष्ठतर प्राणी है? स्पष्ट है, कोई नहीं है। चिन्तन-मनन करके यथोचित निर्णय पर पहुँचने के लिए उसके पास जैसा मन-मस्तिष्क है, वैसा धरती पर के किसी अन्य प्राणी के पास नहीं है। मानव अपनी विकास-यात्रा में कितनी दूर तक और ऊँचाइयों तक पहुँच गया है, यह आज सबके सामने प्रत्यक्ष है। कोई स्वप्न या कहानी नहीं है। आज मानव ऊपर चन्द्रलोक पर विचरण कर रहा है और नीचे महासागरों के तल को छू रहा है। एक-एक परमाणु की खोज जारी है। यह सब किसी शास्त्र या गुरु के आधार पर नहीं हुआ है। इसका मूल मनुष्य के मन की चिन्तन-यात्रा में ही है। अतः धर्म-तत्त्व की खोज भी इधर-उधर से हट कर मानव-मस्तिष्क के अपने मुक्त चिन्तन पर ही आ खड़ी होती है।

यह मैं नई बात नहीं कह रहा हूँ। आज से अढ़ाई हजार वर्ष से भी कहीं अधिक पहले श्रावस्ती की महत्ती सभा में दो महान् ज्ञानी मुनियों का एक महत्त्वपूर्ण संवाद है। मुनि हैं—केशी और गौतम। मैं देखता हूँ कि उक्त संवाद में कहीं पर भी अपने-अपने शास्ता एवं शास्त्रों को निर्णय के हेतु बीच में नहीं लाया गया है। सब निर्णय प्रज्ञा के आधार पर हुआ है।

वहाँ स्पष्ट उल्लेख है, जो गौतम के द्वारा उपदिष्ट है कि प्रज्ञा के द्वारा ही धर्म की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समीक्षा होनी चाहिए। सूत्र है—"पन्ना समिक्खए धम्मम्"[1] अर्थात् प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा करने में समर्थ है। और, धर्म है भी क्या? तत्त्व का अर्थात् सत्यार्थ का विशिष्ट निश्चय ही धर्म है।[2] और यह विनिश्चय अन्ततः मानव की प्रज्ञा पर ही आधारित है। शास्त्र और गुरु संभवतः कुछ सीमा तक योग दे सकते हैं। किन्तु, सत्य की आखिर मंजिल पर पहुँचने के लिए तो अपनी प्रज्ञा ही साथ देती है। 'प्र' अर्थात् प्रकृष्ट, उत्तम, निर्मल और 'ज्ञा' अर्थात् ज्ञान।

जब मानव की चेतना पक्ष-मुक्त होकर इधर-उधर की प्रतिबद्धताओं से अलग होकर सत्याभिलक्षी चिन्तन करती है, तो उसे अवश्य ही, धर्म-तत्त्व की सही दृष्टि प्राप्त होती है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है। ऋत् अर्थात् सत्य को वहन करने वाली शुद्ध ज्ञान-चेतना। योग दर्शनकार पतञ्जलि ने इसी संदर्भ में एक सूत्र उपस्थित किया है—"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा", १, ४८. उक्त सूत्र की व्याख्या भोजवृत्ति में इस प्रकार है—

"ऋतं सत्यं बिभर्त्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सा ऋतंभरा प्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः।"

अर्थात् जो कभी भी विपर्यय से आच्छादित न हो, वह सत्य को धारणा करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा होती है।

माना कि साधारण मानव की प्रज्ञा की भी एक सीमा है। वह असीम और अनन्त नहीं है। फिर भी उसके बिना यथार्थ सत्य के निर्णय का अन्य कोई आधार भी तो नहीं है। अन्य जितने आधार हैं, वे तो सूने जंगल में भटकाने जैसे हैं और परस्पर टकराने वाले हैं। अतः जहाँ तक हो सके अपनी प्रज्ञा के बल पर ही निर्णय को आधारित रखना चाहिए। अन्तिम प्रकाश उसी से मिलेगा। शास्त्रों से भी निर्णय करेंगे, तब भी प्रज्ञा की अपेक्षा तो रहेगी ही। बिना प्रज्ञा के शास्त्र मूक हैं? वे स्वयं क्या करेंगे? इस सम्बन्ध में एक प्राचीन मनीषी ने कहा है—"जिस व्यक्ति को अपनी स्वयं की प्रज्ञा नहीं है, उसके लिए शास्त्र भी व्यर्थ है। शास्त्र उसका क्या मार्ग-दर्शन कर सकता है? अन्धा व्यक्ति यदि अच्छा-से-अच्छा दर्पण लेकर अपना मुख-मण्डल देखना चाहे, तो क्या वह देख सकता है"—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति॥"

शास्त्र के लिए प्राकृत में 'सुत्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके संस्कृत रूपान्तर अनेक प्रकार के हैं, उनमें सुत्त शब्द का एक संस्कृत रूपान्तर सुप्त भी होता है।[3] यह रूपान्तर अच्छी तरह विचारणीय है। सुत्तं अर्थात् सुप्त है, यानी सोया हुआ है। सोया हुआ कार्य-कारी नहीं होता है। उसके भाव को एवं परमार्थ को जगाना होता है। और, वह जागता है, चिन्तन एवं मनन से अर्थात् मानव की प्रज्ञा ही उस सुप्त शास्त्र को जगाती है। उसके अभाव में वह केवल शब्द है, और कुछ भी नहीं। अतः प्राचीन विचारकों ने शास्त्र के साथ भी तर्क को संयोजित किया है। संयोजित ही नहीं, तर्क को प्रधानता दी गई है। प्राचीन मनीषी कहते हैं कि, जो चिन्तक तर्क से अनुसंधान करता है, वही धर्म के तत्त्व को जान सकता है, अन्य नहीं। युक्ति-हीन विचार से तो धर्म की हानि ही होती है।

"यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्मं वेदनेत्तरः।
युक्तिहीन विचारे तु, धर्महानिः प्रजायते॥"

---

१. उत्तराध्ययन, २३, २५.

२. धम्मं तत्त विणिच्छयं।—उत्तराध्ययन, २३, २५.

३. सुत्तं तु सुतमेव उ।
—अर्थेन अबोधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तं।
—बृहत्कल्प भाष्य एवं टीका, ३०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत संदर्भ में मेरा भी एक श्लोक है, जिसका अभिप्राय है कि शास्त्रों को अच्छी तरह स्पष्टतया चिन्तन करके ही ग्रहण करना चाहिए। चिन्तन के द्वारा ही शास्त्र शिवत्व की उपलब्धि का हेतु होता है। चिन्तन के अभाव में केवल शब्द प्रधान शास्त्र शिव नहीं, शव ही रह जाता है। शव अर्थात् मृत, मुर्दा। मृत को चिपटाये रहने से अन्ततः जीवित भी मृत ही हो जाता है। मृत की उपासना में प्राणवान उर्जा कैसे प्राप्त हो सकती है?

"शास्त्रं सुचिन्तितं ग्राह्यं, चिन्तनाद्धि शिवायते।
अन्यथा केवलं शब्द-प्रधानं तु शवायते।।"

भारतीय-चिन्तन की चिन्तन-धारा में प्रज्ञावाद का नाद अनुगुंजित है। बौद्ध-साहित्य में तो प्रज्ञा-पारमिता का विस्तार से वर्णन है ही। जब तक प्रज्ञा-पारमिता को नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक वह बुद्धत्व को नहीं प्राप्त हो सकता। जैन-संस्कृति में भी प्रज्ञा पर ही अनेक स्थानों में महत्त्वपूर्ण बल दिया गया है। स्वयं भगवान् महावीर के लिए भी प्रज्ञा के विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। बहुत दूर न जाएँ, तो सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध का वीरथुई नामक अध्ययन हमारे समक्ष है। उसमें गणधर सुधर्मा कहते हैं—

से भूईपन्ने—वे महान् प्रज्ञावाले हैं।
कासव आसुपन्ने—महावीर साक्षात् सत्य के द्रष्टा आसुप्रज्ञावाले हैं।
से पन्नया अक्खय सागरे वा—वे प्रज्ञा से अक्षय सागर के समान हैं।

अन्यत्र भी आगम साहित्य में प्रज्ञा शब्द का प्रयोग निर्मल ज्ञान-चेतना के लिए प्रयुक्त है। यह प्रज्ञा किसी शास्त्र आदि के आधार पर निर्मित नहीं होती है। यह ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षमोपशम से अन्तःस्फुरित ज्ञान-ज्योति होती है।

वस्तुतः इसी के द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है। इसके अभाव में कैसा भी कोई गुरु हो, और कैसा भी कोई शास्त्र हो, कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए भारत का साधक निरन्तर—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के प्रार्थना सूत्र की रट लगाए रहता है। अज्ञान ही तमस् है और तमस् ही मृत्यु है। बुद्ध इसे प्रमाद शब्द के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। कहते हैं—प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है—

"अप्पमाओ अमतपदं, पमाओ मच्चुनो पदं।"—धम्मपद, २, १.

यह अप्रमाद क्या है? प्रमाद का अभाव होकर जब प्रज्ञा की ज्योति प्रज्वलित होती है, तब अप्रमाद की भूमिका प्राप्त होती है। और, इसी में साधक अमृतत्व की उपलब्धि करता है।

भारतीय धर्म और दर्शन में ऋषि शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। स्वयं भगवान् महावीर को भी परम महर्षि कहा गया है—

"अणुत्तरग्गं परमं महेसी।"—सूत्रकृतांग, १, ६, १७.

अन्यत्र भी अनेक प्रज्ञावान मुनियों के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है। हरिकेशबल मुनि की स्तुति करते हुए कहा गया—

"महप्पसाया इसिणो हवन्ति।"—उत्तराध्ययन, १२, ३१.

आप जानते हैं, ऋषि शब्द का क्या अर्थ है? ऋषि शब्द का अर्थ है—सत्य का साक्षात्-द्रष्टा। ऋषि सत्य का श्रोता कदापि नहीं होता, प्रत्युत् अपने अन्तःस्फूर्त प्रज्ञा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा सत्य का द्रष्टा होता है। कोष-साहित्य में ऋषि का अर्थ यही किया गया है। वह अन्तःस्फूर्त कवि, मुनि, मन्त्र-द्रष्टा और प्रकाश की किरण है। कवि शब्द का अर्थ काव्य का रचयिता ही नहीं, अपितु ईश्वर—भगवान् भी होता है। इस संबंध में ईशोपनिषद् कहता है—

"कविर्मनीषिपरिभूः स्वयंभू"

उक्त विवेचन का सार यही है कि सत्य की उपलब्धि के लिए मानव की अपनी स्वयं की प्रज्ञा ही हेतु है। प्रज्ञा के अभाव में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व धर्म आदि सब तमसाच्छन्न हो जाते हैं। और इसी तमसाच्छन्न स्थिति में से अन्ध-मान्यताएँ एवं अन्ध-विश्वास जन्म लेते हैं, जो अन्ततः मानव-जाति की सर्वोत्कृष्टता के सर्वस्व संहारक हो जाते हैं।

अतीत के इतिहास में जब हम पहुँचते हैं, तो देखते हैं कि प्रज्ञा के अभाव में मानव ने कितने भयंकर अनर्थ किए हैं। हजारों ही नहीं, लाखों महिलाएँ, पति की मृत्यु पर पतिव्रता एवं सतीत्व की गरिमा के नाम पर पति के शव के साथ जीवित जला दी गई हैं। आज के सुधारशील युग में यदा-कदा उक्त घटनाएँ समाचार पत्रों के पृष्ठों पर आ जाती हैं। यह कितना भयंकर हत्याकाण्ड है, जो धर्म एवं शास्त्रों के नाम पर होता आ रहा है।

देवी-देवताओं की प्रस्तर मूर्तियों के आगे मूक-पशुओं के बलिदान की प्रथा भी धार्मिक परम्पराओं के नाम पर चालू है। एक-एक दिन में देवी के आगे सात-सात हजार बकरे काट दिए जाते हैं। और हजारों नर-नारी, बच्चे, बुड्ढे, नौजवान हर्षोल्लास से नाचते-गाते हैं एवं देवी के नाम की जय-जयकार करते हैं। लगता है कि मानव के रूप में कोई दानवों का मेला लगा है। विचार-चर्चा करें और विरोध में स्वर उठाएँ, तो झटपट कोई शास्त्र लाकर सामने खड़ा कर दिया जाता है। और, पण्डे-पुरोहित धर्म-ध्वंस की दुहाई देने लगते हैं। पशु ही क्यों, सामूहिक नरबलि तक के इतिहास की ये काली घटनाएँ हमें भारतीय इतिहास में मिल जाती हैं और आज भी मासूम बच्चों के सिर काट कर देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि के रूप में अर्पित कर दिए जाते हैं।

अन्ध-विश्वासों की परम्परा की कथा बड़ी लम्बी है। कहीं ग्रामीण महिलाएँ सर्वथा नग्न होकर वर्षा के लिए खेतों में हल जोतने का अभिनय करती हैं। और, कहीं पर पशु-बलि एवं नरबलि तक इसके लिए दे दी जाती है।

प्रज्ञा-हीन धर्म के चक्कर में भ्रमित होकर लोगों ने आत्मपीडन का कष्ट भी कम नहीं उठाया है। वस्त्रहीन नग्न होकर हिमालय में रहते हैं। जेठ की भयंकर गर्मी में चारों ओर धूनी लगाते हैं। काँटे बिछाकर सोते हैं। जीवित ही मुक्ति के हेतु गंगा में कूद कर आत्महत्या कर लेते हैं। और, कुछ लोग तो जीवित ही भूमि में समाधि लेकर मृत्यु का वरण भी करते हैं। और, कुछ आत्म-दाह करने वाले भी कम नहीं हैं। लगता है, मनुष्य आँखों के होते हुए भी अंधा हो गया है।

धर्म-रक्षा के नाम पर वह कुछ भी कर सकता है या उससे कुछ भी कराया जा सकता है। धर्म और गुरुओं के नाम पर ऐसा भयंकर शहीदी जनून सवार होता है कि अपने से भिन्न धर्म-परम्परा के निरपराध लोगों की सामूहिक हत्या तक करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। यह सब उपद्रव देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता तथा शास्त्र-मूढ़ता के कारण होते हैं। प्रज्ञा ही, उक्त मूढ़ताओं को दूर कर सकती है। किन्तु, धर्म के भ्रम में उसने अपना या समाज का भला-बुरा सोचने से इन्कार कर दिया है।

अतः अपेक्षा है, प्रज्ञा की अन्तर्-ज्योति को प्रज्वलित करने की। बिना ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुए, यह भ्रम का सघन अन्धकार कथमपि दूर नहीं हो सकता। अतः अनेक भारत के प्रबुद्ध मनीषियों ने ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित करने के लिए प्रबल प्रेरणा दी है। श्री कृष्ण तो कहते हैं—ज्ञान से बढ़कर विश्व में अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है—

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान तमस् को नष्ट करने के लिए ज्ञान की अग्नि ही सक्षम है। श्री कृष्ण और भी बल देकर कहते हैं—"हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनः।
ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥"
—गीता, ४, ३७

उपनिषद्-साहित्य में सर्वप्रथम मौलिक स्थान ईशोपनिषद् का है। यह उपनिषद् यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। उसका एक सूत्र वचन है—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' अर्थात् विद्या से ही अमृत-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने भी ज्ञान-ज्योति पर ही अत्यधिक बल दिया है। मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने अन्य किसी बाह्य क्रियाकाण्ड विशेष की चर्चा न करके मुनित्व के लिए सम्यक्-ज्ञान की ही हेतुता को स्वीकृत किया है—

नाणेण य मुणी होइ।—उत्तराध्ययन, २५, ३२.

श्रमण आवश्यक सूत्र में एक पाठ है, जो हर भिक्षु को सुबह-सायं प्रतिक्रमण के समय उपयोग में लाना होता है। वह पाठ है—

"मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि।
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि।
अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि।"

पाठ लम्बा है। उसमें का कुछ अंश ही यहाँ उद्धृत किया गया है। इसका भावार्थ है—"मैं मिथ्यात्व का परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ। मैं अबोधि का त्याग करता हूँ और बोधि को स्वीकार करता हूँ। मैं अज्ञान का त्याग करता हूँ और सम्यक्-ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।"

कितने उदात्त वचन हैं ये। काश, यदि हम इन वचनों पर चलें, तो फिर धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों के भ्रम का अंधेरा मानव-मस्तिष्क को कैसे भ्रान्त कर सकता है? अपेक्षा है, आज प्रज्ञावाद के पुनः प्रतिष्ठा की। जन-चेतना में प्रज्ञा की ज्योति प्रज्वलित होते ही, जाति, पंथ तथा राष्ट्र के नाम पर आए दिन होने वाले उग्रवादी या आतंकवादी जैसे उपद्रवों के काले बादल सहसा छिन्न-भिन्न हो सकते हैं। और, मानव अपने को मानव के रूप में पुनः प्रतिष्ठित कर सकता है। मृत होती हुई मानवता को जीवित रखने के लिए स्वतन्त्र चिन्तन के रूप में प्रज्ञा की ऊर्जा ही काम दे सकती है—

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञावाद के उदात्त स्वर

अप्पणा सच्चमेसेज्जा।—उत्तराध्ययन, ६, २

—अपने द्वारा अर्थात् अपने चिन्तन-मनन के द्वारा सत्य की खोज करनी चाहिए।

संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।—दशवै. चूलिका २, १२.

—अपने से, अपने चिन्तन-मनन से अपने को, अपने योग्य कर्तव्य को देखो-परखो।

नाणेण जाणई भावे।—उत्तराध्ययन २८, ३५

—ज्ञान से ही तत्त्व-बोध होता है।

परीक्ष्य भिक्षवो! ग्राह्यं,
मत वच्चो न तु गौरवात्।—तत्त्व संग्रह

—भिक्षुओ! मेरी बात की भी परीक्षा करके ग्रहण करनी चाहिए। उसे इसलिए न ग्रहण करना कि बुद्ध ने कहा है, अतः तुम मेरे गौरव से ग्रहण कर लो।

सन्तः परीक्ष्यान्यन्तरद् भजन्ते,
मूढ़ परप्रतययनेय बुद्धि।

—कालिदास

—विशिष्ट सत्पुरुष सत्य और असत्य की एवं योग्य और अयोग्य की परीक्षा करके, जो सत्य और योग्य है उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ पुरुष ही आँख मूंदकर दूसरों के विश्वास पर चलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय खण्ड

सांस्कृतिक, सामाजिक

एवं

राजनैतिक-दृष्टिकोण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और संस्कार एक ही धातु से निष्पन्न शब्द हैं। संस्कृति का अर्थ है—संस्कार और संस्कार का अर्थ है—संस्कृति। संस्कृति शब्द की एकान्त आग्रह के रूप में कोई एक व्याख्या और एक परिभाषा नहीं की जा सकती। संस्कृति उस सुन्दर सरिता के समान है, जो अपने स्वतंत्र स्वभाव से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यदि सरिता के प्रवाह को बाँध दिया जाए, तो फिर सरिता, सरिता न रह जाएगी। इसी प्रकार संस्कृति को और उस संस्कृति को, जो जन-मन के जीवन में घुल-मिल चुकी है, शब्दों की सीमा में बाँधना, राष्ट्र की परिधि में बाँधना और समाज के बन्धनों में बाँधना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की सरिता को किसी भी प्रकार की सीमा में सीमित करना, मानव-मन की एक बड़ी भूल है। संस्कृति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—"विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है।"[1] महान् विचारक बोबी के कथनानुसार संस्कृति दो प्रकार की होती है—परिमित संस्कृति और अपरिमित संस्कृति। बोबी का कथन है—"परिमित संस्कृति शृंगार एवं विलासिता की ओर भावित होती है। जबकि अपरिमित संस्कृति सरलता एवं संयम की ओर प्रवाहित होती है।"[2] यहाँ पर संस्कृति के सन्दर्भ में एक बात और विचारणीय है। और वह यह है, कि क्या संस्कृति और सभ्यता दोनों एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न हैं? इस सम्बन्ध में श्रीप्रकाशजी ने बहुत सुन्दर कहा है—"सभ्यता शरीर है, और संस्कृति आत्मा। सभ्यता जानकारी और विभिन्न क्षेत्रों की महान् एवं विराट् खोज का परिणाम है, जबकि संस्कृति विशुद्ध ज्ञान का परिणाम है।"[3] इसके अतिरिक्त जिसे हम सच्ची संस्कृति कहते हैं, उसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है। इसके सम्बन्ध में महान् विचारक मार्डेन ने कहा है—"स्वभाव की गम्भीरता, मन की ममता, संस्कृति के अन्तिम पृष्ठों में से एक है और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली शक्ति में पूर्ण विश्वास से उत्पन्न होती है।"[4] इस कथन का अभिप्राय यह है, कि आत्मा की अजरता और अमरता में अटल विश्वास होना ही, वास्तविक संस्कृति है। संस्कृति के सम्बन्ध में भारत के महान् चिन्तक सानेगुरु का कथन है कि—"जो संस्कृति महान् होती है, वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा की गरिमा इसी में है कि दूसरे प्रवाहों को अपने में मिला लेती है और इसी कारण वह पवित्र, स्वच्छ एवं आदरणीय कही जा सकती है। लोक में वही संस्कृति आदर के योग्य है, जो विभिन्न धाराओं को साथ में लेकर अग्रसर होती रहती है।'

1. Culture is to now the best that has been said and thought in the world.
2. Partial Culture runs to the arnote. exterme culture to simplicity.
3. While civilization is the body, culture is the soul, while civilization is the result of knowledge and great painful researches in divers field, culture is the result of wisdom.
4. Serenity of spirit, poise of mind, is one of the last Lesson of culture and comes from a perfect trust in the all controlling force of univers.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति का सही अर्थ :

आज संसार में सर्वत्र संस्कृति की चर्चा है। सभा में, सम्मेलनों में और उत्सवों में सर्वत्र ही आज संस्कृति का बोलबाला है। सामान्य व्यक्ति से लेकर, विशिष्ट विद्वान् तक आज संस्कृति पर बोलते और लिखते हैं, परन्तु संस्कृति की परिभाषा एवं व्याख्या आज तक भी स्थिर नहीं हो सकी है। संस्कृति क्या है? विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों से इस पर विचार किया है। आज भी विचार चल ही रहा है। संस्कृति की सरिता के प्रवाह को शब्दों की सीमा रेखा में बाँधने का प्रयत्न तो बहुत किया गया है, पर उसमें सफलता नहीं मिल सकी है। भारत के प्राचीन साहित्य में धर्म, दर्शन और कला की जो चर्चा है वह संस्कृति की ही चर्चा है। आज के जन-जीवन में और आज के साहित्य में तो सर्वत्र संस्कृति ही मुखर हो रही है। उसने अपने आप में धर्म, दर्शन और कला तीनों को समेट लिया है। मैं पूछता हूँ आपसे कि संस्कृति में क्या नहीं है? उसमें आचार की पवित्रता है, विचार की गम्भीरता है और कला की प्रियता एवं सुन्दरता है। अपनी इसी अर्थव्यापकता के आधार पर संस्कृति ने धर्म, दर्शन और कला —तीनों को आत्मसात् कर लिया है। जहाँ संस्कृति है, वहाँ धर्म होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ दर्शन होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ कला होगी ही। भारत के अध्यात्म-साहित्य में संस्कृति से बढ़कर अन्य कोई शब्द व्यापक, विशाल और बहु अर्थ का अभिव्यंजक नहीं है। कुछ विद्वान् संस्कृति के पर्यायवाची रूप में परिष्कार और सुधार आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। वस्तुतः संस्कृति की पवित्रता को धारण करने की सामर्थ्य इन शब्दों में से किसी में भी नहीं है। अधिक से अधिक खींचातानी करके, परिष्कार एवं सुधार शब्द से आचार का ग्रहण तो कदाचित् किया भी जा सके, परन्तु विचार और कला की अभिव्यक्ति इन शब्दों से कथमपि नहीं हो सकती। एक संस्कृति शब्द से ही धर्म, दर्शन और कला—तीनों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

संस्कृति एवं सभ्यता :

संस्कृति एक बहती धारा है। जिस प्रकार सरिता का प्राण-तत्त्व है, उसका प्रवाह। ठीक उसी प्रकार संस्कृति का प्राणतत्त्व भी उसका सतत प्रवाह है। संस्कृति का अर्थ है निरन्तर विकास की ओर बढ़ना। संस्कृति विचार, आदर्श और भावना तथा संस्कार-प्रवाह का वह संगठित एवं सुस्थिर संस्थान है, जो मानव को अपने पूर्वजों से सहज ही अधिगत हो जाता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें भवन, वसन, वाहन एवं यन्त्र आदि वह समस्त भौतिक सामग्री आ जाती है, जिसका समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। कला का सम्बन्ध इसी भौतिक संस्कृति से है। आध्यात्मिक संस्कृति में आचार-विचार और विज्ञान का समावेश किया जाता है। संस्कृति का अर्थ संस्कार भी किया जाता है। संस्कार के दो प्रकार हैं—एक वैयक्तिक, जिसमें मनुष्य अपने गुण से एवं अपनी शिष्टता से चमकता है। दूसरा सामूहिक, जो समाज विरोधी दूषित आचार का प्रतिकार करता है। समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान पथ—ये सभी मिलकर संस्कृति को एकता प्रदान करते हैं।

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी-जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति आकाश में नहीं, इसी धरती पर रहती है। वह कल्पना मात्र नहीं है, जीवन का ठोस सत्य है एवं जीवन का प्राणभूत तत्त्व है। मानवीय जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। संस्कृति में विकास और परिवर्तन सदा होता आया है। जीवन के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का सर्जन एवं संमूर्तन मनुष्य के मन, प्राण और देह के प्रबल एवं दीर्घकालिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य-जीवन कभी गतिहीन नहीं होता, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह आगे बढ़ता रहता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला—ये सब मनुष्य जीवन के विकास के सुफल हैं। इस दृष्टि से संस्कृति मानवीय जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रयत्न की उपलब्धि है। संस्कृति में जब निष्ठा पक्की होती है, तब मन की परिधि भी विस्तृत हो जाती है, उदारता का भण्डार भी भर जाता है। अतः संस्कृति जीवन के लिए परमावश्यक है। संस्कृति, राजनीति और अर्थशास्त्र—दोनों को अपने में समन्वित कर विस्तृत एवं विराट् मनस्तत्त्व को जन्म देती है। इसी को भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम का सुन्दर समन्वय कहा गया है। संस्कृति जीवन-वृक्ष का सम्वर्द्धन करने वाला रस है। यदि राजनीति और अर्थशास्त्र जीवन पथ की साधना है, तो संस्कृति उस पथ का साध्य है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सम्वर्द्धन बिना संस्कृति के नहीं हो सकता।

संस्कृति : साधना की सर्वोत्तम परिणति :

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ परिणति कही जा सकती है। संस्कृति मानव-जीवन का एक अविनाभावी तत्त्व है। वह समस्त विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, योग-मूलक अनुभूति और अपनी तर्क-मूलक कल्पना-शक्ति से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक तथा परिपूर्ण स्वरूप को अधिगत करता है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। बावजूद इसके, मैं कहूँगा कि संस्कृति की सर्वसम्मत परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और विचार के अनुसार इसका अर्थ कर लेता है। संस्कृति का अर्थ है—मनुष्य की जय-यात्रा। मनुष्य अपनी साधना के बल पर विकृति से संस्कृति और संस्कृति से प्रकृति की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। जीवन में विकृति है, इसीलिए संस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु संस्कृति को पाकर ही मनुष्य की जययात्रा समाप्त नहीं हो जाती। उससे आगे बढ़कर प्रकृति को, अपने स्वभाव को प्राप्त करना होगा। यहाँ संस्कृति का अर्थ है—आत्मशोधन। संस्कृति के ये विविध रूप और नाना अर्थ आज के साहित्य में उपलब्ध होते हैं। संस्कृति एक विशाल महासागर है।

भारतीय संस्कृति की आत्मा : समन्वय :

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचार-पूत स्वतन्त्र चिन्तन में, सत्य की शोध में और उदार व्यवहार में रही है। युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी यहाँ के चिन्तकों ने शान्ति की सीख दी है। वैर के बदले प्रेम, क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा दी है। भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है—विरोध में भी अनुरोध, विविधता में भी समन्वय-बुद्धि तथा एक सामञ्जस्य दृष्टिकोण। भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारपूर्ण भावना और विमल परिज्ञान के योग से जीवन में सरसता और मधुरता बरसाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान का कर्म के साथ और कर्म का ज्ञान के साथ मेल बैठाकर संसार में मधुरता का प्रचार तथा सरसता का प्रसार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है—विश्वास, विचार और आचार की जीती-जागती महिमा। भारत की संस्कृति का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, सहकार और सह-अस्तित्व। इस संस्कृति का संलक्ष्य है—असत् से सत् की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना तथा कीचड़ से कमल की ओर जाना, असुन्दर से सुन्दर की ओर जाना और अविवेक से विवेक की ओर जाना। भारत की संस्कृति का अर्थ है—राम की पवित्र मर्यादा, कृष्ण का तेजस्वी कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा, त्याग एवं विरोधों की समन्वय-भूमि अनेकान्त, बुद्ध की मधुर करुणा एवं विवेक-युक्त वैराग्य और महात्मा गांधी की धर्मानुप्राणित राजनीति एवं सत्य का प्रयोग। अतः भारतीय संस्कृति के सूत्रधार हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी। यह भारतीय संस्कृति की सम्पूर्णता है।

भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी :

भारत की संस्कृति का मूल स्रोत है—"दयतां, दीयतां, दाम्यताम्" इस एक ही सूत्र में समग्र भारत की संस्कृति का सार आ गया है। जहाँ दया, दान और दमन है, वहीं पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत की संस्कृति की मूल आत्मा है। भारत के जन-जन की और भारत के मन-मन की संस्कृति का मूल आधार है—दया, दान और दमन। प्राण-प्राण के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान करो और अपने मन के विकल्पों का दमन करो। भारत के जन-जन के मन-मन में दया, दान एवं दमन का ऊर्जस्वी भाव भरा है। वेदों ने इसी को गाया, पिटकों ने इसी को ध्याया और आगमों ने इसी को जन-जीवन के कण-कण में रमाया। क्रूरता से मनुष्यता को सुख नहीं मिला, तब दया जागी। संग्रह में मनुष्य को शान्ति नहीं मिली, तब दान आया। भोग में मनुष्य को चैन नहीं मिला, तब दमन आया। विकृत जीवन को संस्कृत बनाने के लिए भारतीय संस्कृति के भण्डार में दया, दान और दमन से बढ़कर, अन्य कोई धरोहर नहीं है, अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। अपने मूल रूप में भारत की संस्कृति एक होकर भी धारा रूप में वह अनेक है। वेद-मार्ग से बहने वाली धारा वैदिक संस्कृति है। पिटक मार्ग से बहने वाली धारा बौद्ध संस्कृति है। आगम मार्ग से बहने वाली धारा जैन संस्कृति है। भारत की संस्कृति मूल में एक होकर भी वेद, जिन और बुद्ध रूप में वह त्रिधाराओं में प्रवाहित है। वेद दान का, बुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है। अपने मनोविकारों को दमित करने वाला विजेता ही जिन होता है और जिन-देव की संस्कृति ही वस्तुतः आत्म-विजेता की संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए और उसकी सम्पूर्ण सीमा का अंकन करने के लिए, उसे दो भागों में विभक्त करना होगा—ब्राह्मण की संस्कृति और श्रमण की संस्कृति। ब्राह्मण और श्रमण ने युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है और किसी न किसी रूप में वह आज भी करता है। ब्राह्मण विस्तार का प्रतीक है और श्रमण श्रम, श्रम और सम का प्रतीक माना जाता है। जो अपना विस्तार करता है, वह ब्राह्मण है और जो शान्ति, तपस्या तथा समत्वयोग का साधक है, वह श्रमण है। श्रम और साधना दोनों का एक ही अर्थ है। प्रत्येक साधना श्रम है और प्रत्येक श्रम साधना है—यदि उसमें मन का पवित्र रस उँड़ेल दिया गया हो। ब्राह्मण-संस्कृति विस्तारवादी संस्कृति है, वह सर्वत्र फैल जाना चाहती है, जब कि श्रमण-संस्कृति अपने को संयमित करती है। जहाँ विस्तार है, वहाँ भोग है। जहाँ सीमा है, वहाँ त्याग है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण-संस्कृति भोग पर आधारित है और श्रमण-संस्कृति त्याग पर। मेरे विचार में भारतीय समाज को यथोचित भोग और यथोचित त्याग दोनों की आवश्यकता है। क्योंकि शरीर के लिए भोग की आवश्यकता है और आत्मा के लिए त्याग की। भोग और योग का यथार्थ विकासमूलक संतुलन एवं सामञ्जस्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रूप है। भारत के ब्राह्मण ने ऊँचे स्वर में शरीर की आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्राह्मण-संस्कृति प्रवृत्तिवादी है और श्रमण-संस्कृति निवृत्तिवादी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मानवीय जीवन के दो समान पक्ष है। जबतक साधक, साधक अवस्था में है, तबतक उसे शुभ प्रवृत्ति की आवश्यकता रहती है, किन्तु जब साधक अपनी साधना के द्वारा साध्य की चरम कोटि को छू लेता है, तब उसके जीवन में निवृत्ति स्वतः ही आ जाती है। अशुभ से शुभ और अन्ततः शुभ से शुद्ध पर पहुँचना ही संस्कृति का चरम परिपाक है। मेरे विचार में भारतीय समाज को स्वस्थता प्रदान करने के लिए ब्राह्मण और श्रमण दोनों की आवश्यकता रही है और अनन्त भविष्य में भी दोनों की आवश्यकता रहेगी। आवश्यकता है, केवल दोनों के दृष्टिकोण में सन्तुलन स्थापित करने की और समन्वय साधने की।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप :

भारत के जन-जीवन की संस्कृति का रूप सामासिक एवं सामूहिक रहा है और उसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। इतिहास के कुछ विद्वान यह भी दावा करते हैं कि भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। किन्तु यह विचार समीचीन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिन्होंने 'हड़प्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की सभ्यता और संस्कृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अध्ययन किया है, वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि तथाकथित एवं तथा प्रचारित आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति बहुत ऊँची उठ चुकी थी। हाँ, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्यों के यहाँ आने के बाद और उनके यहाँ स्थापित हो जाने के बाद आर्यों और द्रविड़ों के मिलन, मिश्रण और समन्वय से जिस समवेत संस्कृति का जन्म हुआ था, वस्तुतः वही भारत की प्राचीनतम संस्कृति और कुछ अर्थ में मूल संस्कृति भी कही जा सकती है। यह स्मरणीय है कि हमारी राष्ट्रिय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया है, जिसमें भारत के मूल निवासी द्रविड़ों, आर्यों, शक एवं हूणों तथा मुसलमान और ईसाइयों का धीरे-धीरे योग-दान मिलता रहा है। यह बात तो सत्य है कि भारत की प्राचीन संस्कृति में समन्वय करने की तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्‌भुत योग्यता थी। जबतक इसका यह गुण सक्रिय रहा, तब तक यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही, लेकिन बाद में परिस्थिति ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि इसकी गतिशीलता स्थिरता में परिणत हो गई। स्थिरता भी आगे चलकर रूढ़िवादिता में परिणत हो गई। काफी लम्बे इतिहास के अन्तराल में भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा विशाल देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। क्योंकि महासागर और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। फिर भी जो कुछ लोग साहस करके यहाँ पर आए, वे यहीं के होकर रह गए। उदाहरण के लिए, सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत में आने वाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहाँ आकर राजपूत जाति की शाखाओं में घुल-मिल गए और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारत की सन्तान हैं। भारत की संस्कृति, जन-जन की संस्कृति रही है और इसीलिए वह सदा से उदार और सहिष्णु रही है। यहाँ पर सब का समादर होता रहा है।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न केवल द्रविड़ों का ही प्रयत्न है। बल्कि उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है और उसके अन्दर अनेक औषधियों का रस समाहित है। भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं, जो अनाज के कणों को एक स्थान पर एकत्रित कर देती हैं। इस प्रकार का समन्वय वास्तविक समन्वय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनेक अनाजों के अनगिनत दाने एक बर्तन में एकत्रित किए जाने पर भी अलग-अलग गिने और पहचाने जा सकते हैं। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्रित तो कर देती हैं, किन्तु उनका एक-दूसरे में विलय नहीं कर पातीं। भारतीय संस्कृति मधु-मक्खियों की प्रक्रिया जैसी रही है। मधुमक्खियाँ अनेक वर्णों के फूलों से विभिन्न प्रकार का रस एकत्रित करके मधु के रूप में उसे एक ऐसा स्वरूप देती हैं कि कोई भी फूल वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति, अनेक संस्कृतियों के योग से हुआ वह मधु है, जिसमें विभिन्न वर्णों के पुष्पों का योगदान रहा है, साथ ही सबका सामान्यीकरण भी होता रहा है।

भारत की सांस्कृतिक एकता :

भारत की यह सांस्कृतिक एकता, मुख्यतः दो कारणों पर आधारित है—पहला कारण तो भारत का भूगोल है, जिसने उत्तर और पूर्व की ओर पहाड़ों से तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रों से घेर कर भारत को स्वतन्त्र भू-भाग का रूप दे दिया है। दूसरा कारण, इस एकता का एक प्रमुख कारण भारतीय जनता का उदार दृष्टिकोण भी है, जो किसी भी विश्वास के लिए दुराग्रह नहीं करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संसार में बड़ा समर्थक रहा है। यही कारण है कि भारत के विशाल मैदानों में सभी प्रकार के धर्मों को पनपने का समान अवसर मिला है। यहाँ पर कट्टर ईश्वरवादी धर्म भी पनपा है और परम नास्तिक चार्वाक जैसा दर्शन भी पल्लवित हुआ है। भारत में साकार की उपासना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले भी रहे हैं और साथ ही निराकार के उपासक भी। धर्म के विकास के लिए और अपने-अपने विचार का प्रचार करने के लिए कुछ अपवादों को छोड़ कर भारत में कभी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहा है। यहाँ पर साधक एवं उपासक को इतनी स्वतन्त्रता रही है कि वह अपने आदर्श के अनुसार चाहे किसी एक देवता को माने, अथवा अनेक देवताओं को माने। भारत में वेद का समर्थन करने वाले भी हुए हैं और वेद का घोर विरोध करने वाले भी हुए हैं। भारत की धरती पर मन्दिर, मस्जिद और चर्च तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। मेरे विचार में इस एकता और समन्वय का कारण भारतीय दृष्टिकोण की उदारता एवं सहिष्णुता ही है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का रंग मिला हुआ है, अतः वह अधिक से अधिक विभिन्न धर्मों एवं जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

आज के नवीन विश्व को यदि भारत से कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। प्राचीन भारत के उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक आज भी इस राह भूली दुनिया को बहुत कुछ प्रकाश दे सकते हैं। आज के विश्व की पीड़ाओं का समाधान आध्यात्मिक भावना में है। अभिनव मनुष्य अतिभोगी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बांट कर नहीं खाना चाहता। उसे हर हालत में पूरी रोटी चाहिए, भले ही उसे भूख आधी रोटी की ही क्यों न हो। उक्त भोग-वृत्ति का शमन उदार त्याग-वृत्ति में है, जो भारतीय संस्कृति का मूल-प्राण है।

मेरा अपना विचार यह है कि भारतीय संस्कृति में जो रूढ़िवादिता आ गई है, यदि उसे दूर किया जाए, तो भारत के पास आज भी दूसरों को देने के लिए बहुत-कुछ शेष है। विश्व की भावी एकता की भूमिका, भारत की सामासिक संस्कृति ही हो सकती है। जिस प्रकार भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना, अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जिस प्रकार भारत ने किसी भी जाति की विशेषता नष्ट किए बिना, सभी जातियों को एक संस्कृति के सूत्र में आबद्ध किया, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के उदार विचार इतने विराट् एवं विशाल रहे हैं कि उसमें संसार के सभी विचारों का समाहित हो जाना असम्भव नहीं है। ऋषभदेव से लेकर राम तक और राम से लेकर वर्तमान में गांधी-युग तक भारतीय संस्कृति सतत गतिशील रही है। यह ठीक है कि बीच-बीच में उसमें कहीं रुकावटें भी अवश्य आती रही हैं, किन्तु वे रुकावटें उसके गन्तव्य पथ को बदल नहीं सकीं। रुकावट आ जाना एक अलग बात है और पथ को छोड़कर भटक जाना एक अलग बात है।

हजारों और लाखों वर्षों की इस भारत की प्राचीन संस्कृति में वह कौन तत्त्व है, जो इसे अनुप्राणित और अनुप्रेरित करता रहा है? मेरे विचार में, कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो युग-युग में विभिन्न धाराओं को मोड़ देकर उसकी एक विशाल और विराट् धारा बनाता रहा हो। प्रत्येक संस्कृति का और प्रत्येक सभ्यता का अपना एक प्राण-तत्त्व होता है, जिसके आधार पर वह संस्कृति और सभ्यता तन कर खड़ी रहती है और संसार के विनाशक तत्त्वों को चुनौती देती रहती है। रोम और मिश्र की संस्कृतियाँ धूलिसात् हो चुकी हैं, जबकि वे संस्कृतियाँ भी उतनी ही प्राचीन थीं, जितनी कि भारत की संस्कृति।

भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्त्व :

भारत की संस्कृति का मूल-तत्त्व अथवा प्राण-तत्त्व है---अहिंसा और अनेकान्त, समता और समन्वय। वस्तुतः विभिन्न संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा और अनेकान्त के बिना नहीं चल सकता। तलवार के बल पर हम मनुष्य को नष्ट तो कर सकते हैं, पर उसे जीत नहीं सकते। असल में मनुष्य को सही रूप में जीतना, उसके हृदय पर अधिकार पाना है; तो उसका शाश्वत उपाय समर-भूमि की रक्त-धारा से लाल कीचड़ नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश ही हो सकता है। आज से ही नहीं, अनन्तकाल से भारत अहिंसा और अनेकान्त की साधना में लीन रहा है। अहिंसा और अनेकान्त को समता और समन्वय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कहा जा सकता है। अहिंसा और अनेकान्त पर किसी सम्प्रदायविशेष का लेबिल नहीं लगाया जा सकता। ये दोनों तत्त्व भारतीय संस्कृति के कण-कण में रम चुके हैं और भारत के कोटिशः लोगों के अंतर्मन में प्रवेश पा चुके हैं। भले ही कुछ लोगों ने यह समझ लिया हो कि अहिंसा और अनेकान्त, जैन धर्म के सिद्धान्त हैं। बात वस्तुतः यह है कि सिद्धान्त सदा अमर होते हैं, न वे कभी जन्म लेते हैं और न वे कभी मरते हैं। अहिंसा और अनेकान्त को श्रमण भगवान् महावीर ने जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया एवं प्रकट किया, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जैन धर्म के ही सिद्धान्त हैं, बल्कि सत्य यह है कि वे भारत के और भारतीय संस्कृति के अमर सिद्धान्त हैं। क्योंकि भगवान् महावीर और जैन धर्म अभारतीय नहीं थे। यह बात अलग है कि भारत की अहिंसा-साधना जैन धर्म में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन धर्म के समन्वयात्मक विचार का उच्चतम शिखर—अनेकान्तवाद—अहिंसा का ही चरम विकास है। अनेकान्तवाद नाम यद्यपि जैनाचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किन्तु जिस स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त संकेत करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आदिकाल से ही विद्यमान था।

भारतीय संस्कृति में अहिंसा एवं अनेकान्त :

सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, समन्वयवाद, अहिंसा और समता—ये सब एक ही तत्त्व के अलग-अलग नाम हैं। अनेकान्तवादी वह है, जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है, जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने सिद्धान्तों को भी निष्पक्षता के साथ परखता है। अनेकान्तवादी वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नहीं मानता। सम्राट् अशोक, सम्राट् खारवेल और सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धिक दृष्टि से अहिंसावादी और अनेकान्तवादी ही थे, जिन्होंने एक सम्प्रदाय विशेष में रहकर भी सभी धर्मों की समान भाव से सेवा की। इसी प्रकार मध्ययुग में सम्राट् अकबर भी निष्पक्ष सत्यशोधक के नाते अनेकान्तवादी था, क्योंकि परम सत्य के अनुसन्धान के लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया था। परमहंस रामकृष्ण सम्प्रदायातीत दृष्टि से अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी सत्य के अनुसन्धान के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की भी साधना की थी। और गान्धीजी का तो एक प्रकार से सारा जीवन ही अहिंसा और अनेकान्त के महापथ का यात्री रहा है। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि अहिंसा और अनेकान्त के बिना तथा समता और समन्वय के बिना भारतीय संस्कृति चिरकाल तक खड़ी नहीं रह सकती। जन-जन के जीवन को पावन बनाने के लिए, समता और समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। विरोधों का परिहार करना तथा विरोध में से भी विनोद निकाल लेना, इसी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय मात्र बौद्धिक सिद्धान्त नहीं है, वह तो मनुष्यों की इस जीवन भारती का जीता-जागता रचनात्मक सिद्धान्त है। समता का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव। भला, इस समता के बिना मानव-जाति कैसे सुखी और समृद्ध हो सकती है? परस्पर की कटुता और कठोरता को दूर करने के लिए, समता की बड़ी आवश्यकता है।

संस्कृति और सभ्यता : एक मौलिक विवेचन :

संस्कृति के स्वरूप तथा उसके मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब एक प्रश्न और है, जिस पर विचार करना आवश्यक है, और वह प्रश्न यह है कि क्या संस्कृति और सभ्यता एक है अथवा भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोण? संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् टाइलर का कथन है कि—सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। वह संस्कृति के लिए सभ्यता और परम्परा शब्द का प्रयोग भी करता है। इसके विपरीत प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता। उसने सभ्यता शब्द का प्रयोग ही पसन्द किया है। एक दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान् का कथन है कि—"सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी एक सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। यदि संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता।" संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं तथ्य-मूलक अनुसन्धान (anthropology) मानव-विज्ञान शास्त्र में हुआ है। संस्कृति की सबसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टायलर की है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में दी गई थी। टायलर की, संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है—"संस्कृति अथवा सभ्यता एक वह जटिल तत्त्व है, जिसमें ज्ञान, नीति, न्याय, विधान, परम्परा और दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।" मेरे विचार में, सभ्यता और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—एक भीतर का और दूसरा बाहर का। संस्कृति और सभ्यता बहुत कुछ उसी भावना को अभिव्यक्त करती हैं, जिसे विचार और आचार कहते हैं। जीवन का स्थूल रूप यदि सभ्यता है, तो उसका सूक्ष्म-आंतरिक रूप संस्कृति है।

संस्कृति का आधार :

मनुष्य की प्रतिष्ठा का मूल आधार, उसका अपना मनुष्यत्व ही माना गया है। चरित्र, त्याग, सेवा और प्रेम—इसी आधार पर मानव की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का महल खड़ा किया गया है। पर, आज लगता है—मनुष्य स्वयं इन आधारों पर विश्वास नहीं कर रहा है। अपनी प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाने के लिए, उसकी दृष्टि भौतिक साधनों पर जा रही है, वह धन, सत्ता और नाम के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा का नया प्रासाद खड़ा करना चाह रहा है। आज महत्ता के लिए एकमात्र भौतिक-विभूति को ही आधार मान लिया गया है।

आज समाज और राज्य ने प्रतिष्ठा का आधार बदल दिया है, मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज की संस्कृति और सभ्यता धन और सत्ता पर केन्द्रित हो गई है। इसलिए मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार भी धन और सत्ता बन गए हैं। धन और सत्ता बदलती रहती है, हस्तान्तरित होती रहती है, इसलिए प्रतिष्ठा भी बदलती रहती है। आज जिसके पास सोने का अम्बार लगा है, या कहना चाहिए, नोटों का ढेर लगा है, जिसके हाथ में सत्ता है, शासन है, वह यदि चारित्रहीन और दुराचारी भी होगा, तो भी उसे सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, समाज उसकी जय-जयकार करता रहेगा, सैकड़ों लोग उसकी कुर्सी की परिक्रमा करते रहेंगे। चूंकि सारी प्रतिष्ठा उसकी तिजोरी में बन्द हो गई है या कुर्सी के चारों पैरों के नीचे दुबकी बैठी है। संस्कृति के ये आधार न तो स्थायी हैं और न सही ही है।

धन और सत्ता के आधार पर प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा कभी स्थायी नहीं होती। वह इन्द्रधनुष की तरह एकबार अपनी रंगीन छटा से संसार को मुग्ध भले ही कर दे, किन्तु कुछ काल के बाद उसका कोई अस्तित्व आसमान और धरती के किसी कोने में नहीं मिल पाता। यदि धन को स्थायी प्रतिष्ठा मिली होती, तो आज संसार में धनकुबेरों के मन्दिर बने मिलते। उनकी पूजा होती रहती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और रावण जैसों की मालाएँ फेरी जाती, जरासन्ध और दुर्योधन को संसार आदर्श पुरुष मानता। जिनकी सोने की नगरी थी, जिनके पास अपार शक्ति थी, सत्ता थी, अपने युग में उन्हें प्रतिष्ठा भी मिली थी, ख्याति भी मिली थी। पर याद रखिए, प्रतिष्ठा और ख्याति मिलना दूसरी बात है—श्रद्धा मिलना कुछ और बात है। जनश्रद्धा उसे मिलती है जिसके पास यथार्थ सत्य एवं चारित्र होता है। ख्याति, प्रशंसा और प्रतिष्ठा क्रूरता से भी मिल सकती है, मिली भी है, पर युग के साथ उनकी ख्याति के बुलबुले समाप्त हो गए, उनकी प्रतिष्ठा आज खंडहरों में सोयी पड़ी है।

मनुष्य के मन की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह इस बाह्य प्रतिष्ठा के बहाव में अन्धा होकर बहता चला जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंहासन की होड़ :

मैं देखता हूँ, सिंहासनों की होड़ में मनुष्य अंधा होकर चला है। सम्राट् अजातशत्रु बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी सम्राट् हो गया है। युवावस्था में प्रवेश करते ही उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ सुरसा की भाँति विराट् रूप धारण कर लेती हैं। सोचता है—"बाप बूढ़ा हो गया है। चलता-चलता जीवन के किनारे पहुँच गया है। अभी तक तो सिंहासन मुझे कभी का मिल जाना चाहिए था। मैं अभी युवक हूं, भुजाओं में भी बल है। बुढ़ापे में साम्राज्य मिलेगा, तो क्या लाभ? कैसे राज्य विस्तार कर सकूँगा? कैसे राज्य का आनन्द उठा सकूँगा?" बस, वह राज्य के लिए बाप को मारने की योजना बनाता है। सिंहासन के सामने पिता के जीवन का कोई मूल्य नहीं रह जाता है।

मगध सम्राट् श्रेणिक बूढ़ा हो गया है, पर मरना तो किसी के हाथ की बात नहीं। संन्यास ले सकता था, किन्तु अन्त तक उसने गृहस्थाश्रम का त्याग किया नहीं। कभी-कभी सोचा करता हूँ कि भारत की यह पुरानी परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण थी कि बुढ़ापा आने लगा, शरीर अक्षम होने लगा, तो नई पीढ़ी के लिए मार्ग खोल दिया—"आओ! अब तुम इसे संभालो, हम जाते हैं।" और संसार त्याग कर के चल दिए। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए यही कहा है—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

रघुकुल के प्रबुद्ध राजा बचपन में विद्याओं का अभ्यास करते थे, शास्त्र-विद्या सीखते थे और शस्त्र-विद्या भी। यौवन की चहल-पहल हुई तो विवाह करते, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते, न्याय और नीति के आधार पर प्रजा का पालन करते। जब जवानी ढलने लगती, बुढ़ापे की छाया आने लगती, तो यह नहीं कि राज सिंहासन से चिपटे रहें, भोगों में फँसे रहे। राज सिंहासन अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और मुनिवृत्ति स्वीकार करके साधना पथ पर चल पड़े। गृह और राज्य से मुक्त होना मात्र उनका कोई ध्येय नहीं था। उस निवृत्ति में आत्म-रमणता और जन-कल्याण की सत्-प्रवृत्ति भी निहित थी।

त्याग की संस्कृति :

जिनके जीवन में प्रतिष्ठा और महत्ता का आधार त्याग, चारित्र एवं प्रेम रहा है, वे चाहे राजसिंहासन पर रहे या जंगल में रहे, जनता के दिलों में बसे रहे हैं, जनता उन्हें श्रद्धा से सिर झुकाती रही है। भारतीय संस्कृति में जनक का उदाहरण हमारे सामने है। जनक के जीवन का आधार साम्राज्य या वैभव नहीं रहा है, बल्कि त्याग, तप, न्यायनिष्ठा और जनता की सेवा रहा है, इसीलिए वे जनता के पूज्य बन पाए। जनता ने उनका नाम भी 'जनक' अर्थात् पिता रख दिया, जबकि वह उसका पारिवारिक नाम नहीं था। वे राजमहलों में रहे फिर भी उनका जीवन-दर्शन जनता के प्रेम में था, प्रजा की भलाई में था। वह वास्तव में ही प्रजा का जनक अर्थात् पिता था।

हमारी संस्कृति धन, ऐश्वर्य या सत्ता की प्रतिष्ठा में विश्वास नहीं करती है। हमारे यहाँ महल और बँगलों में रहने वाले महान् नहीं माने गए हैं। रेशमी और बहुमूल्य वस्त्र पहनने वालों का आदर नहीं हुआ है, बल्कि अकिंचन भिक्षुओं की प्रतिष्ठा रही है। झोंपड़ी और जंगल में रहने वालों की पूजा हुई है और बिल्कुल सादे, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनने वालों पर जनता उत्सर्ग होती रही है।

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में गए, तो एक साधारण संन्यासी की वेशभूषा में ही गए। लोगों ने उनसे कहा—"यह अमेरिका है, संसार की उच्च सभ्यता वाला देश है, आप जरा ठीक से कपड़े पहनिए।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकानन्द ने इसके उत्तर में कहा—"ठीक है, आपके यहाँ की संस्कृति दर्जियों की संस्कृति रही है, इसलिए आप उन्हीं के आधार पर वस्त्रों की काटछांट एवं बनावट के आधार पर ही सभ्यता का मूल्यांकन करते हैं। किन्तु जिस देश में मैंने जन्म लिया है, वहाँ की संस्कृति मनुष्य के निर्मल चारित्र एवं उच्च आदर्शों पर आधारित है। वहाँ जीवन में बाहरी तड़क-भड़क और दिखावे को प्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि सादगी और सच्चाई की प्रतिष्ठा है।"

उपनिषद् में एक कथा आती है—एक बार कुछ ऋषि एक देश की सीमा के बाहर-बाहर से कहीं दूर जा रहे थे। सम्राट को मालूम हुआ तो वह आया और पूछा—"आप मेरे जनपद को छोड़कर क्यों जा रहे हैं? मेरे देश में ऐसा क्या दोष है?

"न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यो न मद्यपः,
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः?"

मेरे देश में कोई चोर-उचक्के नहीं हैं, कोई दुष्ट या कृपण मनुष्य नहीं रहते हैं, शराबी, चारित्रहीन, मूर्ख-अनपढ़ भी मेरे देश में नहीं है, तो फिर क्या कारण है कि आप मेरे देश को यों ही छोड़कर आगे जा रहे हैं?"

मैं देखता हूँ, भारतीय राष्ट्र की यही सच्ची तस्वीर है, जो उस युग में प्रतिष्ठा और सम्मान के रूप में देखी जाती थी। जिस देश और राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता इतनी महान् होती है, उसी की प्रतिष्ठा और महत्ता के मानदंड संसार में सदा आदर्श उपस्थित करते हैं। यही संस्कृति वह संस्कृति है, जो गरीबी और अमीरी दोनों में सदा प्रकाश देती है। महलों और झोंपड़ियों में निरन्तर प्रसन्नता बाँटती रहती है, आनन्द उछालती रहती है। जिस जीवन में इस संस्कृति के अंकुर पल्लवित-पुष्पित होते हैं, होते रहे हैं, वह जीवन संसार का आदर्श जीवन है, महान् जीवन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२

मानव-संस्कृति में व्रतों का योगदान

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग में प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड़ के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नहीं था या यों कहें कि उसे अपने पुरुषार्थ का बोध नहीं था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथों पूरी होती थी। भूख-प्यास की समस्या से लेकर छोटी-बड़ी सभी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थीं। इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। तत्कालीन कल्पवृक्षों के निकट जाता और वह उनसे प्राप्त सामग्रियों के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह करता। इस प्रकार आदियुग का मानव प्रकृति के हाथों में खेलता था। उत्तर कालीन ग्रन्थों से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमें परस्पर एक-दूसरे का सहारा पाने की आकांक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नहीं थी। सभी अपनी अभिलाषाओं और अपनी आवश्यकताओं के सीमित दायरे में बंधे थे। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एवं सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओं से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था। कल्पवृक्षों के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इसलिए कोई भी उत्पादन-श्रम एवं जिम्मेदारी की भावना से बद्ध नहीं था। सभी अपने वैयक्तिक भोग में मस्त थे, लीन थे।

व्रत और रीति-रिवाज :

पुराने किसी युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित हो गया कि विवाह के समय बैल को तत्काल मार कर उसके ताजा खून से भरा लाल चमड़ा वर-वधू को ओढ़ाया जाता था। परन्तु जैनों को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था? इसका अनुकरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतों के सामने रीति-रिवाजों का क्या मूल्य है? तो जैन इस रिवाज के लिए क्या करें? वैदिक परम्परा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और सम्भव है उन्होंने इस बात को धर्म का भी रूप दिया हो। परन्तु, जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्होंने इसमें सम्यक्त्व और व्रत—दोनों की हानि देखी। अतएव जैन गृहस्थों और जैनाचार्यों ने उस हिंसापूर्ण परम्परा में संशोधन कर लिया। उन्होंने कहा रक्त से सना गीला चमड़ा न ओढ़ा जाए, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ़ लेना, अति उत्तम है। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जाएगा और सम्यक्त्व तथा व्रतों में दूषण भी न लगने पाएगा।

लाल कपड़ा प्रसन्नता का, अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार जैनों ने रक्त से लथपथ चमड़े के बदले लाल कपड़ा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरों पर वधु लाल कपड़े पहनती है। अतः जैनों ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बड़ी क्रान्ति की है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक देखना चाहें तो **'गोभिल्ल गृह्यसूत्र'** में विस्तार से देख सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी युग में एक और भी घृणित परम्परा भी थी। उत्सव के अवसर पर लोग हाथ में मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु, जब जैनधर्म का प्रचार बढ़ा, तो खोपड़ी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त कर दी गई। जैनधर्म ने उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित की। इस प्रकार जैनधर्म की बदौलत खोपड़ी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई। आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपड़ी की शक्ल का होता है, वह मानव-की-सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नरमुण्ड का प्रतीक है। उस समय के जैनों ने विचारा—खोपड़ी रखने से क्या लाभ? खोपड़ी तो अपावन और अशोभन वस्तु है और जंगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जाएगा और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जाएगी।

इस प्रकार उस समय के हिंसा-प्रधान जंगली रिवाजों को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि दी जाती थी, यहाँ तक कि मनुष्य की खोपड़ी भी चढ़ाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनों ने उन हिंसक परम्पराओं को खत्म करके और उनकी जगह इन नवीन अहिंसक परम्पराओं को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना की। जैनों ने नारियल के रूप में खोपड़ी का प्रतीक रखा, उसे अन्य धर्मावलम्बियों ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। इस प्रकार, जैनधर्म द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओं और परम्पराओं में सर्वत्र आप अहिंसा की ही स्फुरणा देखेंगे।

पौराणिक युग की परम्परा :

अकर्म-भूमि की उस अवस्था में मनुष्य असंख्य-काल तक चलता गया। मानव की पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ बढ़ती गईं। किन्तु फिर भी मानव जाति का विकास नहीं हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नहीं हुआ। उनके जीवन में संघर्ष कम थे, लालसाएँ और आकांक्षाएँ कम थीं। जीवन में भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मंद थीं, यद्यपि कषायभाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नहीं थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन में ज्ञान एवं विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे में बन्द थे। संयम, साधना तथा आदर्श का विवेक उस जीवन में नहीं था। यही कारण था कि उस काल में एक भी आत्मा मोक्ष में नहीं गई, अहंता-ममता की वासना के बन्धनों को नहीं तोड़ सकी। उनकी दृष्टि केवल 'मैं' और 'मेरे' तक ही सीमित थी। शरीर के अन्दर शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नहीं बढ़ा सका। जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ, तो मन में ऐसा भाव आता है कि मैं उस जीवन से बचा रहूँ। जिस जीवन में ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन में मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है? उस जीवन में यदि पतन नहीं है, तो उत्थान भी तो नहीं है। ऐसी निर्माल्य दशा का, इस त्रिशंकु जीवन का कोई भी महत्त्व नहीं है। कुछ ऐसी ही क्रान्ति और प्रगतिविहीन सामान्य दशा में वह अकर्म-युग सुदीर्घ काल तक चलता रहा।

नवयुग का नया सन्देश :

धीरे-धीरे कल्पवृक्षों का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पड़ने लगे, उधर उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थितियों में प्रायः विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है, तब परस्पर संघर्षों का होना अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर उस युग में भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह टूट कर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढ़ने लगे, संघर्ष की चिनगारियाँ छिटकने लग गईं। समाज में सब ओर कलह, घृणा, द्वन्द्व का सृजन होने लगा।

मानव जाति की उन संकटमयी घड़ियों में, संक्रमणशील परिस्थितियों में प्रथम तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्‌बोधन किया। उन्होंने मनुष्य जाति को समझाया कि—अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम नहीं चलने का। अपने हाथों का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नहीं, प्रत्युत कमाने, उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि—युग बदल गया है, अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) में प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका हुआ था। किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नहीं है। अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों ही पुरुष में अपेक्षित है। पुरुष ही कर्त्ता है और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओं में बल है, तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान् आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्‌घोष अब भी ऋग्वेद १०।६०।१२ में प्रतिध्वनित होता दिखाई पड़ता है—

"अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥"

—मेरा हाथ ही भगवान् है, भगवान् से भी बढ़कर है। यह मेरा हाथ विश्व के लिए भेषज है, इसके स्पर्श मात्र से सबका कल्याण होता है।

पुरुषार्थ जागरण की उस वेला में भगवान् ऋषभदेव ने युग को नया मोड़ दिया। मानवजाति को, जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी, पराधीनता के फन्दे में फँसकर तड़पने लगी थी, उसे उत्पादन का मन्त्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया। फलतः मानव समाज में फिर से नया उल्लास, आनन्द बरसने लगा। सुख-चैन की मुरली बजने लगी।

मनुष्य के जीवन में जब-भी कभी ऐसी क्रान्तिशील घड़ियाँ आती हैं, तो आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लग जाती है, वह नाचने लगता है। सबके साथ बैठकर आनन्द और उत्सव मनाता है। और बस वे ही घड़ियाँ, वे ही तिथियाँ जीवन में व्रत एवं पर्व का रूप ल लेती हैं और इतिहास की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार उस नये युग का नया सन्देश जन-जीवन में नई चेतना फूँककर उल्लास का त्योहार बन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन में आनन्द-उल्लास की घड़ियों को त्यौहार के रूप में प्रकट करके सबको सम्यक्-आनन्द का अवसर देती है।

भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग में आया और उसने अपने उत्तरदायित्वों को समझा। परिणाम यह हुआ कि सुख-समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख-समृद्धि एवं उल्लास आया, तो फिर व्रतों में से व्रत निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्योहार मनाने लगा और फिर सामाजिक जीवन में पर्वों, त्योहारों की लड़ियाँ बन गईं। समाज और राष्ट्र में त्योहारों की शृंखला बनी। जीवन-चक्र जो अबतक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अब व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनन्द, समाज की खुशी और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए व्रत, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनन्द और नया जीवन समाज की नसों में दौड़ने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय में पर्व, त्योहार जीवन के आवश्यक अंग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जबकि समाज में पर्व, त्योहार व उत्सव का कोई आयोजन न हो। इतना ही नहीं, बल्कि एक-एक दिन में पाँच-पाँच, दस-दस और उससे भी अधिक पर्वों का सिल-सिला चल निकला। सामाजिक जीवन में बच्चों के पर्व अलग, औरतों के पर्व अलग, और वृद्धों के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन नित्यप्रति बहुत ही उल्लसित—आनन्दित रहा करता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रतों का सन्देश :

हमारे पर्वों एवं व्रतों की वह लड़ी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप में आज भी हमें महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है, यह थोड़ा विचारणीय है। इन व्रतों के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि उसके प्रकाश में वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए व्रतों की खुशी के साथ-साथ हमें अपने नव-जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला :

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है; बन्धन नहीं, मोक्ष है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखें मूंद ली है। हम इस संसार में रहते हैं, तो हमें संसार के ढंग से ही जीना होगा, हमें जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नहीं आती है, तबतक जीना वास्तव में आनन्ददायक नहीं होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एवं जैन विचार हमें जीने की कला सिखाते हैं, हमारे जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह यह नहीं कहता कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के कर्तव्यों की शृंखला को तोड़ डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने माता-पिता को माता-पिता न माने, पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन-भाई आपस में एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें। जीवन की यात्रा में चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का भार उतार फेंके। इस प्रकार तो जीवन में एक भयंकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ़ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक में चले जाएँगे। जैनधर्म का सन्देश है कि हम जहाँ भी रहें, अपने स्वरूप को समझकर रहें, शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के बीच बँधे हुए भी उनमें कैद न हों। परस्पर एक-दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्त्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें। जीवन में यथावसर कुछ करना ही पड़ता है, किन्तु वह आसक्त होकर नहीं, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियों के बीच में रहकर भी उसके दास नहीं, अपितु स्वामी बन कर रहें। भोग में रहते हुए भी योग को भूल न जाएँ। महलों में रहकर भी उनके दास बनकर नहीं, किन्तु उन्हें अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिंहासन पर या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर भी उसके गुलाम न बनें, बल्कि उसे अपना गुलाम बनाए रखें। जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरों के नीचे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं, परन्तु जब ये सर पर सवार हो जाते हैं, तो एक अच्छे इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण :

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे हैं, किन्तु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन में नहीं फँसे। जब तक इच्छा हुई उपयोग किया और जब चाहा तब छोड़कर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगों ने यही विचार दिया कि जब हम इस जगत् में आए थे तो कुछ लेकर नहीं आए थे, जन्म के समय तो मक्खी-मच्छर तक को शरीर से दूर हटाने की शक्ति नहीं थी। शास्त्रों में उस स्थिति को 'उत्तानशायी' कहा गया है। जब उसमें करवट बदलने की भी क्षमता नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद में इतना शक्तिशाली बना कि आश्चर्य है उसकी क्षमता पर। इसका आधार है—"अपने शुभ कर्मों का संचय एवं उसके आधार पर प्राप्त होने वाले माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग।"

यह निश्चित है कि जिन् महान् पुरुषों ने हमें समाज की इतनी ऊँचाइयों पर लाकर खड़ा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, जिसे वह लेते समय हर्ष के साथ लेता है, तो फिर उसको चुकाते समय वह कुलबुलाता क्यों है? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ समाज की ही देन हैं। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए वापस दे नहीं तो वह समाज के अंग में विकार पैदा कर देता है। वह इस धन-ऐश्वर्य का दास बनकर क्यों रहे, उसका स्वामी बनकर क्यों न उपयोग करे! उसे दो हाथ मिले हैं, एक हाथ से स्वयं खाए, तो दूसरे हाथ से औरों को भी खिलाए। वेद का एक मन्त्र है—

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।"

सौ हाथ से इकट्ठा करो, तो हजार हाथ से बाँटो। संग्रह करने वाला यदि विसर्जन नहीं करे, तो उसकी क्या दशा होती है? पेट में अन्न आदि इकट्ठे तो होते जाएँ, परन्तु न उनका रस बने, न शक्ति बने और न प्राप्त शक्ति का योग्य वितरण ही हो, तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य यदि समाज से कमाता है, तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है, तो दूसरों को खिलाना भी जरूरी है। हमारे अतीत-जीवन के उदाहरण बताते हैं कि अकेला खाने वाला राक्षस होता है और दूसरों को खिलाने वाला देवता।

एक पौराणिक कथा है कि देवताओं को भगवान् विष्णु की ओर से प्रीतिभोज का आमंत्रण दिया गया। सभी अतिथियों को दो पंक्तियों में आमने-सामने बिठलाकर भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। भगवान् विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुड़ता तक नहीं था। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएँ? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने हो, पेट में भूख हो और हाथ नहीं चलता हो, तो ऐसी स्थिति में आदमी झुँझला जाता है। सभी अतिथि भौचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओं ने एक तजवीज निकाली। जब देखा कि हाथ मुड़कर घूमता नहीं है, तो आमने-सामने वाले एक-दूसरे को खिलाने लग गए। दोनों पंक्ति वालों ने परस्पर एक-दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया सभी तृप्त हो उठे, पर कुछ ऐसे भी थे, जो यों ही देखते ही रह गए, उन्हें एक-दूसरे को खिलाने की नहीं सूझी, वे भूखे पेट ही उठ खड़े हुए। विष्णु ने कहा—जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाया वे देवता हैं और जिन्होंने किसी को नहीं खिलाया, सिर्फ स्वयं खाने की चिन्ता ही करते रहे, वे दैत्य हैं।

वास्तव में यह रूपक जीवन की एक ज्वलंत समस्या का हल करता है। देव और दैत्य-भावना के विभाजन का आधार, इसमें एक सामाजिक ऊँचाई पर खड़ा किया गया है। जो दूसरों को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नहीं रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वयं ही पेट भरने की चिंता में पड़ा रहने वाला, स्वयं भी भूखा रहता है और समाज में उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

व्रतों की सार्थकता :

हमारे व्रत जीवन के इसी महान् उद्देश्य को प्रकट करते हैं। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्ज्वल आदर्श हमारे व्रतों एवं त्योहारों की परम्परा में छिपे पड़े हैं। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते हैं। उनमें मानव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य संस्कृतियों में, मरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किन्तु भावना व आदर्श इसमें भी बड़े ऊँचे हैं। जिस प्रकार वर्तमान में अपने सामाजिक सहयोगियों के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार, अपने पूर्वजों के प्रति एक श्रद्धा एवं समर्पण की भावना इसमें सन्निहित है। जैन-धर्म व संस्कृति इसके धार्मिक-स्वरूप में विश्वास नहीं रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओं तक अपना श्राद्ध नहीं पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता सिद्ध होती है। पर्व की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन के दोनों ओर-छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे। पूर्वजों की स्मृति रखना, और उनका सम्मान करना, यही सच्चा श्राद्ध है।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमें जो कुछ करना है, वह इसी लोक में कर लिया जाए। हमारी जैन संस्कृति में अनेक पर्व चलते हैं। पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वों की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक-परलोक दोनों को आनन्दित करने वाले होते हैं। उनका संदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनन्द में मस्त होकर अपने को भूलो नहीं, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यहीं करलो। तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ में इहलोक के आनन्द है, तो दूसरे हाथ में परलोक के आनन्द रहने चाहिए। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज-मजा के त्योहार मनाते यों ही चले जाओ और आगे फाकाकशी करनी पड़े। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है, उसका उपयोग इस ढंग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो, उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ में रह सके। जैन पर्वों का यही अन्तरंग है कि वे आदमी को वर्तमान में भटकने नहीं देते, मस्ती में भी उसे होश में रखते हैं और बेचैनी में भी। समय-समय पर उसके लक्ष्य को, जो कभी प्रमाद की आँधियों से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं। उसको दिङ्मूढ़ होने से बचाते रहते ह और प्रकाश की किरण बिखेर कर अन्धकाराछन्न जीवन को आलोकित करते रहते हैं।

नया साम्राज्य :

बौद्ध-साहित्य में एक कथानक आता है कि भारत में एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओं पर भयंकर जंगल थे; जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओं की चीत्कारों और दहाड़ों से आस-पास के क्षेत्र आतंकित रहते थे। वहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओं के शासन की अवधि पाँच वर्ष की होती थी। शासनावधि की समाप्ति पर बड़े धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा को और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर स्थित उस भयंकर जंगल में छोड़ दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत में खड़ी रहती थी।

इसी परम्परा में एकबार एक राजा को जब गद्दी मिली, तो खूब जय-जयकार मनाए गए, बड़ी धूमधाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कंगूरों पर से उस जंगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस दुःस्थिति को सोच-सोचकर काँप उठता। राजा का खाया-पीया जलकर भस्म हो जाता और वह सूख-सूख कर काँटा होने लगा।

एक दिन एक प्रबुद्ध दार्शनिक राजा के पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा। जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीड़ा का भेद खोला—कि पाँच वर्ष बाद मुझे और मेरी रानी को उस सामने के भयंकर जंगल में जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, बस यही चिंता मुझे खाए जा रही है।

दार्शनिक ने राजा से पूछा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है न? तू जैसा चाहे वैसा कर तो सकता है न?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि में तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया—"तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यों नहीं करते ? समस्त जंगल को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल बनवालो, जनता के रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जंगल को शहर के रूप में आबाद करदो। जबकि तुम्हें पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुसार जब तुम्हें अवधि समाप्त होने पर जंगल में छोड़ा जाए, तो हिंस्र पशुओं की गर्जनाओं व आतंक की जगह नगरजनों का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीड़ा करता मिलेगा।"

राजा को यह बात जँच गई और तत्काल आदेश देकर जंगल को साफ करवा दिया। और उस भयावह स्थान को सुन्दर-सुन्दर भवन, उद्यान आदि से खूब सजा दिया गया, और एक नए नगर का निर्माण कर दिया गया। अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता, तो पुलकित हो उठता। पाँच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते-बिलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नये साम्राज्य में, जो कभी भयंकर जंगल था, जाने लगा तो नगर के हजारों नर-नारी उसके पीछे हो लिए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस संसार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रही हैं और हम सोचते हैं कि आगे नरक में यह कष्ट देखना पड़ेगा। किन्तु यह नहीं सोचते कि उस नरक को बदलकर स्वर्ग क्यों न बना दिया जाए ? यह सच है कि यहाँ से एक कौड़ी भी हमारे साथ नहीं जाएगी। किन्तु इस जीवन में रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते हैं। इस जीवन के तो हम सम्राट् हैं, शाहंशाह हैं। यह ठीक है कि इस जीवन के बाद मौत की भयंकर घाटी है, नरक आदि की भीषण यंत्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा में रहती हैं किंतु, यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि में दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे, तो इस यात्रा में, इस जीवन में उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल बना सकता है, उसके दोनों जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

व्रतों की फलश्रुति :

इस प्रकार जितने भी पर्व-त्योहार आते हैं, उनका यही संदेश है कि तुम इस जीवन में आनन्दित रहो और अगले जीवन में भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जैसे यहाँ पर त्योहारों की खुशियों में भुजाएँ उछालते हो, वैसे अगले जीवन में भी उछालते रहो।

हमारे व्रतों का मानव के लिए यही आदर्श बोध है कि आज तुम्हें जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजारों-हजार साम्राज्य खड़े कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वयं विधाता हो, अपने सम्राट् स्वयं हो। तुम्हें अपनी शक्ति का भान होना चाहिए। मौत के भय से काँपते मत रहो, बल्कि ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का वह भयंकर जंगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण और उसके व्रतों की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठावान बनकर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन में अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हें यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पड़े, तो रोते-बिलखते नहीं, बल्कि हँसते हुए करो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले, तो भी हँसते हुए चले, पर्युषण का यह पावन-पर्व हम सबको अपना यही सन्देश सुना रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे सभी व्रत आत्म-साधना के सुन्दर प्रयास हैं। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने की साधना है। मानव शरीर नहीं है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं। शरीर से आत्मा में, और आत्मा से अन्त रहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा में पहुँचने का लोकोत्तर संदेश, ये व्रत देते हैं। इनका सन्देश है कि साधक कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, परन्तु अपने लक्ष्य को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्म-तत्त्व को न भूले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३

व्यक्ति और समाज

इस पृथ्वी पर मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित एवं प्रभावशाली प्राणी है। उसके विचार, चिन्तन एवं मनन का संसार के वातावरण पर बहुत महत्त्वपूर्ण असर होता रहा है। सृष्टि के विकास-ह्रास तथा उत्थान-पतन में उसके विचारों का बहुत बड़ा योग रहा है। कुछ गहराई में जाने से पता चलता है कि मनुष्य वैसे तो स्वयं में एक क्षुद्र इकाई है, एक सीमित सत्ता है, किन्तु सृष्टि के साथ वह शत-सहस्र रूपों में जुड़ा हुआ है। परिवार के रूप में, समाज एवं राष्ट्र के रूप में, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के रूप में, वह एक होकर भी 'अनेक रूप' होकर चल रहा है, यही उसकी विशेषता है।

पार्थिव शरीर की दृष्टि से देखा जाए, तो उसका 'अस्तित्व', उसका 'अपनत्व' एक मृत्पिण्ड तक ही सीमित रह जाता है। शरीर के वैयक्तिक सुख-दुःख के भोग में वह अवश्य अपने सीमित क्षेत्र में ही घूमता है, किन्तु सुख-दुःख का स्वतन्त्र-भोग करते हुए भी वह समाज एवं संसार से सर्वथा निरपेक्ष रह कर नहीं जी सकता। उसकी भावनाओं का, विचारों और प्रवृत्तियों का यदि ठीक से विश्लेषण करें, तो उसका एक व्यापक एवं विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। उसके अन्तस्तल में छिपे हुए स्नेह और प्रेम की व्याख्या करें, तो देखेंगे कि वह एक नहीं 'अनेक रूप' है। उसका घेरा सीमित नहीं, असीम है। उसका अन्तर्जगत् बहुत विराट् है, वह अपने आप में सृष्टि का विराट् रूप लिए हुए है।

समाज के विकास की भूमिका :

जब तक मनुष्य का चिन्तन अपने शरीर को ही देखता है, तब तक उसकी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ केवल इस 'पिण्ड' को लेकर ही चलती हैं। ऐसी स्थिति में जब कभी वह अपने सुख-दुःख का विचार करता है, तो स्वयं का, केवल स्वयं के पिण्ड का ही विचार करके रह जाता है, दृष्टि घूम-फिर कर अपने दायरे पर ही आकर केन्द्रित हो जाती है। तब शरीर के संकुचित घेरे में बँधा रहकर वह इतना संकुचित हो जाता है कि आस-पास में परिवार तथा समाज के भव्य चित्र, धर्म और संस्कृति की दिव्य परम्पराएँ, जो उसके अनन्त अतीत से जुड़ी चली आ रही हैं, उन्हें भी वह ठीक तरह देख नहीं पाता। मनुष्य के लिए विकास की जो लम्बी कहानी है, उसे वह पढ़ नहीं पाता और केवल अपने पिण्ड की क्षुद्र-दृष्टि को लेकर ही जीवन के सीमित कठघरे में बँध जाता है।

जब संकुचित दृष्टि का चश्मा हटता है, अपनी इच्छाओं और सद्भावनाओं को मानव विराट् एवं व्यापक रूप देता है, तो उसकी नजरों में अनन्त अतीत उतर आता है, साथ-साथ अनन्त भविष्य की कल्पनाएँ भी दौड़ पड़ती हैं। वह क्षुद्र से विराट् होता चला जाता है, सहयोग और स्नेह के सूत्र से सृष्टि को अपने साथ बाँधने लगता है। अध्यात्म की भाषा में वह जीव से ब्रह्म की ओर, आत्मा से परमात्मतत्त्व की ओर अग्रसर होता है। अग्नि की जो एक क्षुद्र चिनगारी थी, वह विराट् ज्योति के रूप में प्रकाशमान होने लगती है। यही व्यक्ति से समाज की ओर तथा जीव से ब्रह्म की ओर बढ़ना है। जो अपनी क्षुद्र दैहिक इच्छाओं और वासनाओं में सीमित रहता है, वह क्षुद्र-संसारी प्राणी की कोटि में आता है, किन्तु जब वही आगे बढ़कर अपने स्वार्थ को, इच्छा और भावना को विश्व के स्वार्थ (लाभ) में विलीन कर देता है, अनन्त के प्रति अपने आपको अर्पित कर देता है, हृदय के असीम स्नेह, करुणा एवं दया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अनन्त प्राणियों के प्रति अर्पित कर देता है, तब वह विराट् ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। व्यक्ति की भूमिका में विराट् समाज चेतना का दर्शन होने लगता है। 'स्व' के विस्तार का यह उपक्रम ही व्यक्ति को समाजरूप में और आत्मा को परमात्मरूपमें उपस्थित करता है।

भारत की महान् दार्शनिक परम्परा में ईश्वर को सर्व व्यापक माना गया है। यद्यपि दार्शनिक जगत् में ईश्वर की सर्वव्यापकता एक गुत्थी बनी हुई है, किन्तु यदि इस गुत्थी को इस रूप में सुलझाया जाए कि जब आत्मा में दया और करुणा की अनन्त-धाराएँ फूटती हैं और वह सृष्टि के अनन्त जीवों को अपनी करुणा में ओत-प्रोत देखने लग जाता है, तो चेतना सृष्टि में व्यापक हो जाती है, विराट् हो जाती है। उसके स्नेह और करुणा का अनन्त प्रवाह संसार में सब ओर तटस्थ भाव से बहने लगता है। सृष्टि के अनन्तानन्त प्राणियों में वह उसी चैतन्य को देखता है जो स्वयं उसमें भी विद्यमान है, सब में उसी सुख और आनन्द की कामना के दर्शन करता है, जो उसके हृदय में जग रही है। इस प्रकार वह विराट् और सर्वव्यापक रूप धारण कर लेती है। मेरे विचार में, और सिर्फ मेरे ही नहीं, बल्कि अध्यात्म-दर्शन के विचार में, ईश्वरत्व इसी भावात्मक रूप में सर्वव्यापक है। शब्दों का जोड़-तोड़ कुछ और भी हो सकता है। हम सर्वव्यापक की जगह सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा भी कहते हैं, चूँकि प्राणिमात्र में अपने समान चैतन्य देवता के दर्शन करना, उनकी सुख-दुःख की धारणाओं को आत्म-तुल्य समझना—यही तो हमारे ईश्वरत्व पाने वाले महामानवों का सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता-सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा अनन्त चैतन्य है।

मनुष्य का विकासक्रम, या यों कहें कि उसकी मनुष्यता का विकासक्रम यदि देखा जाए, तो ज्ञात होगा कि वह किस प्रकार क्षुद्र से विराट् स्थिति तक पहुँचा है। एक असहाय शरीर ने जन्म धारण किया, तो आसपास में जो अन्य सक्षम शरीरधारी थे, वे उसे सहयोग करने लगे, उसके सुख-दुःख में भाग बँटाने लगे। इस प्रकार, परस्पर में स्नेह एवं सद्भाव की कल्पना जगी और वह परिवार का एक रूप बन गया। परिवार जैसी व्यवस्था बहुत पुराने युग में नहीं थी, पर जब मनुष्य आस-पास के सुख-दुःख को अपना बनाने लगा और अपने सुख-दुःख को आस-पास के पड़ोसियों में बांटने लगा, तो धीरे-धीरे परिवार की धारणा खड़ी हो गई। सुख-दुःख में हिस्सा बँटाने वाले अपने 'निज' के हो गए और जो उससे दूर रहे, वे पराये बने रहे। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख का विनिमय शुरू हुआ। आगे चलकर उसके जीवन में जो भौतिक और आधिदैविक दुःख आते, उनसे भी सब सहयोग पूर्वक लड़ते, दुःखों को दूर करने का मिल-जुलकर प्रयत्न करते और जो सुख प्राप्त होता, उसे सद्भाव पूर्वक आपस में बाँट लेते, मिलकर उसका उपयोग या उपभोग करते—बस व्यक्ति के क्षुद्र जीवन के व्यापक होने की यह प्रक्रिया परिवार को जन्म देती चली गई, समाज का निर्माण करती चली गई। इसी वृत्ति ने धीरे-धीरे विराट् से विराट्तर रूप धारण किया, तो देश और राष्ट्र की सामूहिक भावनाएँ सामने आईं, अन्ततः धर्म और संस्कृति की सर्वतोमुखी व्यापक धारणाएँ भी प्रस्फुटित हुईं।

मनुष्य का चिन्तन जब अपने परिपार्श्व में विचरने वाले छोटे जीव-जन्तुओं पर गया, तो वह उनके साथ भी एक अज्ञात संवेदना तथा सहवेदना से जुड़ने लगा। वह पशु-पक्षी जगत् के सुख-दुःख को भी समझने लगा, उसके साथ भी उसकी सहानुभूति जागी, प्राणीदया की भावना ने उसके जीवन में धर्म और अध्यात्म की सृष्टि खड़ी कर दी, धर्म ने उसे विराट्तम रूप पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्म-तुल्य विचार की भूमिका ने उसे आत्मा से परमात्मा तक के चिन्तन पर पहुँचा दिया। यही मनुष्यता के विकास की कहानी है।

समाज का महत्त्व :

इधर-उधर अनियंत्रित रूप में बिखरी हुई इकाइयों को एकत्र कर, समाज या संघ के रूप में उपस्थित करने वाला पारस्परिक सहयोग ही मानवता का एक दिव्य तत्त्व है। यही समाज के निर्माण की आधार-भूमि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न यह है कि मनुष्य व्यष्टिरूप—इकाई में जीता है या समष्टिरूप समाज में? चिन्तन, मनन और अनुभव के बाद यह देखा गया कि मनुष्य अपने पिण्ड की क्षुद्र इकाई में बद्ध रह कर एक अच्छे जीने के ढंग से जी नहीं सकता, अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नहीं कर सकता, जीवन की सुख-समृद्धि का द्वार नहीं खोल सकता और न ही आध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहने में उसका दैहिक विकास भी भली-भाँति नहीं हो सकता, तो सांस्कृतिक विकास की कल्पना तो बहुत दूर की बात है।

जैन परम्परा में वर्तमान मानवीय सभ्यता का मूल-स्रोत यौगलिक परम्परा से माना गया है। यौगलिक परम्परा वह है, जहाँ मनुष्य एक इकाई के रूप में चलता है। यह ठीक है कि वहाँ मनुष्य अकेला तो नहीं है, वह स्वयं एक पुरुष है और एक स्त्री भी है उसके साथ। किन्तु, वह एक नारी है, पत्नी नहीं है। स्त्री के साथ एक पुरुष को भी हम देखते हैं, पर वह पुरुष मात्र है, पति नहीं है। जीवन की कितनी जटिल स्थिति है वहाँ? स्त्री-पुरुष साथ-साथ तो घूम रहे हैं, पर उनमें पति-पत्नी भाव नहीं है, स्त्री-पुरुष के रूप में सिर्फ दैहिक सम्बन्ध है। पति-पत्नी के रूप में पवित्र सामाजिक सम्बन्ध की उदार-चेतना वहाँ नहीं है। उस समय का चित्र आगम-साहित्य में जिस प्रकार अंकित किया गया है, उससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उस युग के स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप में नहीं थे, वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार नहीं थे। उन्हें एक-दूसरे के हितों की किसी को भी चिन्ता नहीं थी। पुरुष को भूख लगती थी, तो इधर-उधर चला जाता था और तत्कालीन कल्पवृक्षों के द्वारा वह अपनी क्षुधा को शान्त कर लेता था। स्त्री को भूख सताती थी, तो वह भी निकल पड़ती और पुरुष की ही तरह कल्पवृक्षों के द्वारा वह भी अपनी क्षुधा-पूर्ति कर लेती थी। न पति पत्नी के लिए भोजनादि का प्रबन्ध करता था और न पत्नी ही पति के लिए भोजनादि तैयार करने की जरूरत देखती थी। न प्यास के लिए कोई किसी को लाकर पानी पिलाता था और न अन्य किसी प्रकार की कोई व्यवस्था होती थी। जीवन का यह कितना विचित्र रूप है कि लाखों वर्षों तक के लम्बे काल-प्रवाह में स्त्री और पुरुष की दो इकाइयाँ साथ-साथ रहकर भी इतनी अलग-अलग रहीं कि वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार न बन सकीं। एक-दूसरे के लिए अर्पण होने की कल्पना नहीं कर सकीं? एक-दूसरे की समस्याओं में रस नहीं ले सकीं।

अकर्म भूमि के उस वैयक्तिक युग में कोई परिवार नहीं था। समाज की कोई कल्पना नहीं थी, राष्ट्र भी नहीं था। भूगोल तो था, राष्ट्र नहीं था। यदि आप अमुक भूगोल को ही राष्ट्र की सीमा मान लें, तब तो वहाँ सब कुछ थे, पहाड़ थे, नदियाँ थीं, नाले थे, जंगल थे, और वन थे। परन्तु सही अर्थों में यह भूगोल था, राष्ट्र नहीं था। मनुष्यों का समूह भी था, अलग-अलग इकाइयों में मानव समूह खड़ा था, यदि उसे ही समाज मान लें, तब तो वह समाज था। पर नहीं, केवल मनुष्यों के अनियन्त्रित एवं अव्यवस्थित समूह को समाज नहीं माना जा सकता। जब परस्पर में भावनात्मक एकसूत्रता होती है, एक-दूसरे के लिए सहयोग की भावना से हृदय ओत-प्रोत हो जाता है, तभी मनुष्यों का समूह परस्पर में नियन्त्रित एवं व्यवस्थित समाज का रूप लेता है, संघ का रूप लेता है।

सामूहिक साधना :

जैन धर्म की मूल परम्परा में आप देखेंगे कि वहाँ साधना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतन्त्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या संघ के साथ भी। एक ओर जिनकल्पी मुनि संघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर बढ़ते हैं, दूसरी ओर विराट् समूह, हजारों साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं का संघ सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म-साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूहभाव उसके नियमों के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। अहिंसा और सत्य की वैयक्तिक साधना भी संघीय रूप में सामूहिक-साधना की भूमिका पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया, करुणा और मैत्री की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना भी संघीय धरातल पर ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। जैन परम्परा का साधक अकेला नहीं चला है, बल्कि समूह के रूप में साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितों से भी सर्वोपरि संघ के हितों का महत्त्व मानकर चला है। जिनकल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चलकर भी अन्ततोगत्वा संघीय जीवन में ही अन्तिम समाधान कर पाया है।

जीवन में जब संघीय-चेतना का विकास होता है, तो निजी स्वार्थों और व्यक्तिगत हितों का बलिदान करना पड़ता है। मन के वासना-केन्द्रों को समाप्त करना होता है। एकता और संघ की पृष्ठभूमि त्याग पर ही खड़ी होती है। अपने हित, अपने स्वार्थ, अपने सुख से ऊपर संघ के स्वार्थ और सामूहिक हित को प्रधानता दी जाती है। संघीय जीवन में साधक अकेला नहीं रह सकता, सब के साथ चलता है। एक-दूसरे के हितों को समझकर, अपने व्यवहार पर संयम रखकर चलता है। परस्पर एक-दूसरे के कार्य में सहयोगी बनना, एक-दूसरे के दुःखों और पीड़ाओं में यथोचित साहस और धैर्य बंधाना, उनके प्रतिकार में यथोचित भाग लेना, यही संघीय जीवन की प्रथम भूमिका होती है। जीवन में जब अन्तर्द्वन्द्व खड़े हो जाएँ और व्यक्ति अकेला स्वयं उनका समाधान न कर सके, तो उस स्थिति में दूसरे साथी का कर्तव्य है, कि वह उसके अन्तर्द्वन्द्वों को सुलझाने में सस्नेह सहयोगी बने, अँधेरे में प्रकाश दिखाये और पराभव के क्षणों में विजय की ओर उसे अग्रसर करे। सामूहिक साधना की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि वहाँ किसी भी क्षण व्यक्ति अपने को एकाकी या असहाय अनुभव नहीं करता है, एक के लिए अनेक सहयोगी वहाँ उपस्थित रहते हैं। एक के सुख व हित के लिए, अनेक अपने सुख व हित का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते हैं।

जैसा कि मैंने बताया, बहुत पुराने युग में, व्यक्ति अपने को तथा दूसरों को अलग-अलग एक इकाई के रूप में सोचता रहा था, पर जब समूह और समाज का महत्त्व उसने समझा, संघ के रूप में ही उसे जीवन की अनेक समस्याएँ सही रूप में सुलझती हुई लगीं, तो सामाजिकता में, संघीय भावना में उसकी निष्ठा बढ़ती गई और जीवन में संघ और समाज का महत्त्व बढ़ता गया। साधना के क्षेत्र में भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकल कर सामूहिक-साधना की ओर आता गया।

जीवन की उन्नति और समृद्धि के लिए संघ का आरम्भ से ही अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए व्यक्ति से अधिक संघ को महत्त्व दिया गया है। साधना के क्षेत्र में यदि आप देखेंगे तो हमने साधना के कुछ अंगों को व्यक्तिगत रूप में उतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना समूह के साथ चलने वाली साधना को दिया है। जीवन में संघ का क्या महत्त्व है? इसे समझने के लिए यही एक बहुत बड़ा उदाहरण हमारे सामने है कि 'जिन-कल्पी' साधक से भी अधिक 'स्थविर-कल्पी' साधक का हमारी परम्परा में महत्त्व रहा है।

साधना के क्षेत्र में जिन-कल्पी मुनि साधना की कठोर और उस भूमिका पर चलता है। आगम ग्रन्थों में जब हम 'जिन-कल्पी' साधना का वर्णन पढ़ते हैं तो आश्चर्य-चकित रह जाते हैं—कितनी उग्र, कितनी कठोर साधना है! हृदय कँपा देने वाली उसकी मर्यादाएँ हैं! 'जिन-कल्पी' चला जा रहा है, सामने सिंह आ गया, तो वह नहीं हटेगा, सिंह भले ही हट जाए, न हटे तो उसका ग्रास भले बन जाए, पर जिन-कल्पी मुनि अपना मार्ग छोड़कर इधर-उधर नहीं जाएगा। मौत को सामने देखकर भी उसकी आत्मा भयभीत नहीं होती, निर्भयता की कितनी कठोर साधना है!

चम्पा के द्वार खोलने वाली सती सुभद्रा की कहानी आपने सुनी होगी। मुनि चले जा रहे हैं, मार्ग में काँटेदार झाड़ी का भार सिर पर लिए एक व्यक्ति जा रहा है और झाड़ी का एक काँटा मुनि की आँख में लग जाता है। आँख बिन्ध गई और खून आने लग गया। कल्पना कीजिए, आँख में एक मिट्टी का कण भी गिर जाने पर कितनी वेदना होती है, प्राण तड़पने लग जाते हैं और यहाँ काँटा आँख में चुभ गया, खून बहने लगा, आँख सूर्ख हो गई, पर वह कठोर साधक बिलकुल बेपरवाह हुआ चला जा रहा है, उसने काँटा हाथ से निकाल कर फेंका भी नहीं। सुभद्रा के घर पर जब मुनि भिक्षा के लिए जाते हैं और सुभद्रा ने मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आँख देखी, तो उसका हृदय चीख उठा। वेदना मुनि को हो रही थी, पर सुभद्रा देखते ही वेदना से तड़प उठी कि मुनि को कितना घोर कष्ट हो रहा होगा ? वह जिन-कल्पी मुनि के नियमों से परिचित थी, जिन-कल्पी मुनि अपने हाथ से काँटा नहीं निकालेंगे, यदि मैं इन्हें कहूँ कि काँटा निकाले देती हूँ तो भी मुनि ठहरने वाले नहीं हैं। निस्पृह और निरासक्त हैं ये ! सुभद्रा श्रद्धा-विह्वल हो गई और आहार देते-देते झटापटी में उसने अपनी जीभ से मुनि का काँटा निकाल दिया। परन्तु जल्दी में सुभद्रा का मस्तक मुनि के मस्तक से छू गया और उसके मस्तक पर की ताजा लगाई हुई बिन्दी मुनि के मस्तक पर भी लग गई। यह घटना-प्रवाह आगे विकृत रूप में बदल गया और इस पर जो विषाक्त वातावरण सुभद्रा के लिए तैयार किया गया, वह आपको ज्ञात ही है। किन्तु हमें यहाँ देखना है कि जिन-कल्पी साधक की कठोर साधना कैसी होती है ? काँटा लग गया, पाँव में नहीं, आँख में ! पाँव का काँटा भी चैन नहीं लेने देता, जिसमें यह तो आँख का काँटा ! आँख से रक्त बह रहा है, भयंकर दर्द हो रहा है। पर समभावी मुनि उसे निकालने की बात सोच भी नहीं रहे हैं। कोई कहे कि ठहरो, हम काँटा निकाल देते हैं, तो ठहरने को भी तैयार नहीं। कितनी हृदय-द्रावक साधना है ! प्रश्न है कि ऐसी उग्र साधना करने वाला 'जिन-कल्पी मुनि' उस अवस्था में केवलज्ञान पा सकता है कि नहीं ? जैन परम्परा का समाधान है कि नहीं, जिन-कल्पी अवस्था में केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

संघ की सर्वोच्चता :

मैं समझता हूँ, साधना के क्षेत्र में यह बहुत बड़ी बात कही गई है। जिनकल्पी अवस्था कठोर साधना की अवस्था है। उस स्थिति में तपस्या और कष्ट-सहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, फिर क्या रहस्य है इसका कि जिनकल्प-साधना में मुक्ति नहीं होती ?

मेरी बात आपके गले उतरे तो ठीक है, न उतरे तब भी कोई बात नहीं, मैं अपनी बात तो कहूँगा कि हम आजकल साधक की कठोर साधना को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, अनशन एवं कायक्लेश आदि उस उग्र तपश्चर्या को ही मुक्ति का एकमात्र सीधा मार्ग समझ बैठे हैं। परन्तु हमें इस प्रश्न की गहराई में जाना होगा कि जिनकल्पी मुनि जैसी कठोर साधना अन्य किसी अवस्था में नहीं हो सकती, किन्तु फिर भी, उस कठोर साधना काल में भी मुक्ति नहीं मिले, तो इसका क्या कारण है ? जिनकल्प की साधना से भी अधिक महत्त्व की कोई अन्य साधना भी है क्या ?

बात यह है कि जैन-परम्परा ने समूह को महत्त्व दिया है। व्यक्तिगत साधना से भी अधिक सामूहिक साधना का महत्त्व यहाँ माना गया है। सामूहिक साधना की परम्परा में 'स्थविरकल्प' की अपनी परम्परा है। यह वह परम्परा है, जिसमें परस्पर के सद्भाव और सहयोग का विकास हुआ है। सेवा और समर्पण का आदर्श विकसित हुआ है। स्थविरकल्प की साधना में सामाजिक भाव का उदय हुआ है, विकास हुआ है। परस्पर के अवलम्बन एवं प्रेरणा के मार्ग पर अग्रसर होती हुई चली गई है यह साधना। 'स्थविरकल्पी' साधक क्रमशः कल्पातीत भूमिका पर पहुँच कर साधना की सर्वोच्च निर्मलता प्राप्त करके कैवल्य पा सकता है। इस दृष्टि से 'जिनकल्प' से भी अधिक महत्त्व 'स्थविरकल्प' का माना गया है।

बात यह है कि व्यक्ति महान् है, पर उससे भी महान् संघ है। व्यक्ति से समाज बड़ा है। राजनीति और समाज नीति में ही नहीं, अध्यात्म नीति में भी उसकी महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि संघ या समाज नहीं है, तो व्यक्ति की ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि का कोई उपयोग नहीं। इसलिए संघ का व्यक्ति से भी अधिक महत्त्व है।

तीर्थंकर जैन-परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति हैं, महामानव हैं। आध्यात्मिक उपलब्धि के क्षेत्र में उनकी साधना अनन्यतम है। उनके जीवन प्रसंगों में आप देखेंगे कि जब समवसरण लगता है, तीर्थंकर सभा में विराजमान होते हैं, तब वे देशना प्रारम्भ करने से पहले तीर्थ को नमस्कार करते हैं, 'नमो तित्थस्स'। तीर्थ कहें या संघ, एक ही बात है। आप विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीजिए, कितनी बड़ी बात कही है जैन परम्परा ने। तीर्थंकर भी मंगलाचरण के रूप में तीर्थ को, संघ को नमस्कार करते हैं। जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, अतिशय-सम्पन्न हैं, जिनकी साधना सिद्धि के द्वार पर पहुँच चुकी है, वे उस संघ को नमस्कार करते हैं, जिस संघ में छोटे-बड़े सभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सम्मिलित हैं। उस धर्म-संघ की भगवान् वन्दना करते हैं।

बुद्ध के जीवन में भी संघ की महत्ता का एक रोचक प्रसंग आता है। वहाँ भी श्रमण-संघ को एक पवित्र धारा के रूप में माना गया है। श्रावस्ती का सम्राट् प्रसेनजित जब तथागत बुद्ध को वस्त्र दान करने के लिए आता है, तो बुद्ध उससे पूछते हैं—"सम्राट् ! तुम दान का पुण्य कम लेना चाहते हो या अधिक ?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—"भन्ते ! कोई भी कुशल व्यापारी अपने माल का अधिक-से-अधिक लाभ चाहेगा, कम नहीं। अतएव मैं भी अपने दान का अधिक-से-अधिक लाभ ही चाहता हूँ।"

सम्राट् के उत्तर पर तथागत बुद्ध ने एक बहुत बड़ी बात कह दी—"सम्राट् ! यदि अधिक-से-अधिक लाभ लेना चाहते हो, तो तुम्हारा यह दान (वस्त्र) मुझे अर्पण नहीं करके, संघ को अर्पण कर दो। मेरी अपेक्षा संघ को अर्पण करने में अधिक पुण्य होगा। संघ मुझ से भी अधिक महान् है।"

संघ के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाली इस प्रकार की घटनाएँ संघीय जीवन का सुन्दर दर्शन उपस्थित करती हैं। हजारों वर्ष के बाद आज भी हमारे जीवन में संघ की महत्ता और गौरव-गाथा, इन संस्मरणों के आधार पर सुरक्षित है। भले ही बीच के काल में कितनी ही राजनीतिक हलचलें हुईं, उथल-पुथल हुई, समाज के कई टुकड़े हो गए, संघ की शक्ति अलग-अलग खण्डों में विभक्त हो गई, पर टुकड़े-टुकड़े होकर भी हम जहाँ भी रहे, संघ बनकर रहे, समूह और समाज बनकर रहे। यही हमारी सांस्कृतिक परम्परा का इतिहास है। संघ की गौरव-गाथाओं ने आज भी हमारे जीवन में संघीय जीवन का आकर्षण भर रखा है, संघीय सद्भाव को सहारा देकर टिकाए रखा है।

संगठन की शक्तिमत्ता :

संघ एक धारा है, एक निर्मल प्रवाह है, जो इसके परिपार्श्व में खड़ा रहता है, निकट में आता है, उसे यह पवित्र धारा जीवन अर्पण करती चली जाती है। स्नेह, सद्भाव और सहयोग का जल-सिंचन कर उसकी जीवन-भूमि को हरा-भरा करके लहलहाती रहती है। जो धारा इस धारा से टूट कर दूर पड़ गई, वह धारा आगे चलती-चलती किसी अज्ञान, अन्ध-विश्वास तथा निहित स्वार्थ के गड्ढे में पड़कर संकुचित हो गई और उसका प्रवाह खत्म हो गया, उसका जीवन समाप्त हो गया। गंगा की विराट् धारा बहती है, उसमें स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता रहती है, किन्तु उसमें से कुछ बहता जल यदि कभी पृथक् धारा के रूप में अलग पड़ जाता है और किसी गड्ढे में अवरुद्ध हो जाता है, तो वह अपनी पवित्रता बनाए नहीं रख पाता, वह जीवनदायिनी धारा नहीं रह पाता, बल्कि जीवननाशिनी धारा बन जाता है। वह विछिन्नधारा सड़कर वातावरण में सड़ाँध पैदा करने लग जाती है और सड़-सड़कर चारों ओर मौत बाँटने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्ततोगत्वा जीवनदायी जल जीवन-घातक बन जाता है।

वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाएँ और छोटी-छोटी टहनियाँ हवा से झूमती, लचकती, एक प्रकार से नृत्य करती हुई-सी वृक्ष की विराटता और महानता की शोभा बढ़ाती हैं। फल-फूल उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करते रहते हैं। हरे-हरे असंख्य पत्तों से वृक्ष की काया लुभावनी लगती है। ये शाखाएँ, पत्ते, फल-फूल विराट् वृक्ष के सौन्दर्य बनकर रहते हैं। इसमें वृक्ष की भी सुन्दरता है और उन सबकी भी सुन्दरता एवं शोभा है। फल है, तो फल बनकर रस दे रहा है, फूल है, तो फूल बनकर महक रहा है। पत्र हैं, तो पत्र बन कर शीतल छाया दे रहे हैं। यदि वे पत्र और फल-फूल वृक्ष से अलग पड़ जाते हैं, टूट-टूटकर गिर जाते हैं, तो उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वे सूखकर समाप्त हो जाते हैं। वृक्ष के साथ उनका जो अस्तित्व और सौन्दर्य था, वह वृक्ष से टूटने पर विलुप्त हो जाता है।

वस्तुतः जीवन में जो प्रेम, सद्भाव और सहयोग का सहज रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल है, प्राण है। जब जीवन का वह रस सूखने लग जाता है, तो जीवन निष्प्राण कंकाल बन कर रह जाता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रह कर हल नहीं कर सकता, उसे समूह या संघ के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय और सजीव रखना होता है।

संगठन गणित की एक इकाई है। आपने गणित का अभ्यास तो किया ही है। बताइए, एक का अंक ऊपर लिखकर उसके नीचे फिर एक का अंक लिख दिया गया हो, ऊपर नीचे एक-एक बैठा हो, तो दोनों का योग करने पर क्या आएगा? १+१=२ एक-एक दो! दोनों एक आमने-सामने भी हैं, बहुत निकट भी है, किन्तु निकट होते हुए भी यदि उनके बीच में अन्तर है, उन्हें अलग-अलग रखने वाला एक चिन्ह बीच में है, तो जब तक यह चिन्ह है, तब तक संख्या-निर्धारण करते समय १+१=२ दो ही कहे जाएँगे। अब यदि उनके बीच से चिन्ह हटाकर उन्हें अगल-बगल में पास-पास रख दिया जाए, तो एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाएँगे। एक-एक ऊपर-नीचे दूर-दूर रहने पर दो से आगे नहीं बढ़ सकता, एक-एक ही रहता है। पर एक-एक यदि समान पंक्ति में, बिना कोई चिन्ह बीच में लगाए, पास-पास अंकित कर दिए गए, तो वे ग्यारह हो गए।

जीवन में गणित का यह सिद्धान्त लागू कीजिए। परिवार हो, समाज हो, धर्मसंघ हो अथवा राष्ट्र हो, समस्याएँ सर्वत्र हैं। सर्वत्र मनुष्य में कुछ-न-कुछ मानवीय दुर्बलताएँ रहती हैं। हम दुर्बलता को बढ़ावा नहीं देते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं। परन्तु समाधान कैसे हो? इसके लिए एक-दूसरे से घृणा अपेक्षित नहीं है। शोरगुल करने से या संगठन को छिन्न-भिन्न करने से, दल परिवर्तन से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए सद्भाव चाहिए, सहिष्णुता और धैर्य चाहिए। मानव कहीं पर भी हो, वह अपने लिए कुछ सद्भाव चाहता है और कुछ समभाव (समान भाव) भी। सहयोग भी चाहता है और स्वाभिमान की रक्षा भी। जब एक चीज के लिए दूसरी का बलिदान करने का प्रसंग आता है, तो समस्या खड़ी हो जाती है। उलझनें और द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। उस समय हमें मानव मन की अन्तःस्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक-एक को अगल-बगल में अर्थात् समान पंक्ति में बैठा कर उसका बल बढ़ाना है अथवा ऊपर-नीचे या दूर-दूर रखकर उसे वैसे ही रखना है। संगठन, समाज और संघ की जो मर्यादा है, वह व्यक्ति को समान स्तर पर रखने की प्रक्रिया है। सब के हित और सब के सुख की समान भाव से रक्षा और अभिवृद्धि करना, यह समाज और संघ का प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए भारतीय संस्कृति का अन्तर्नाद यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को संघ में विलीन करदे और इस संघीय भावना में प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझे। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत हित, सुख और स्वार्थ को संघ या समाज के हित, सुख और स्वार्थ की दृष्टि से देखे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाए, विराट् बनाए। इसी में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है और संघीय जीवन की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा का उत्कर्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बूंद-बूंद मिल झरने बनते,
झरने मिल सरिता सुखकार।
सरिता मिल-मिल बने महोदधि,
ये है मिलने का विस्तार।।

★

व्यक्ति-व्यक्ति मिल कुल बन जाते,
कुल मिल-मिल कर बने समाज।
अणु से महान्, महत्तर होना,
यह है मात्र प्रगति का राज।

--उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४

अन्तर्यात्रा

आन्तरिक जीवन की शुद्धता, जीवन की समुचित तैयारी के लिए, परम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड और गंभीर विद्वत्ता व्यर्थ है। जैसे, एक आदि मूल संख्या के अभाव में हजारों शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार अन्तःशुद्धि के बिना बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं। जो क्रियाकाण्ड केवल शरीर से किया जाता है, अन्तरतम के भाव से नहीं किया जाता, उससे आत्मा पवित्र कदापि नहीं बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्म-स्पर्शी आचार की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है।

अंतःशुद्धि के निमित्त बाह्याचार :

जो बाह्य आचार अन्तःशुद्धि के फलस्वरूप स्वतःसमुद्भूत होता है, वस्तुतः मूल्य उसी का है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले बाह्य आडम्बरों से उद्देश्य की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। हम सैकड़ों को देखते हैं, जो बाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते हैं और करते-करते बूढ़े हो जाते हैं, किन्तु उनके जीवन में कोई शुभ परिवर्तन नहीं हो पाता, वह ज्यों-का-त्यों कलुषित ही बना रह जाता है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यांत्रिक है, उसमें आन्तरिकता का कतई समावेश नहीं है।

अंतःशुद्धिपूर्वक बाह्य आचार : कल्याण-पद का आधार :

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दंभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारकों की ऐसी धारणा बन गई है कि जो दंभी और पाखण्डी है, वह अपने दंभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का अधिक आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बहुत बड़ा धर्मात्मा है! ठीक है, उनकी यह धारणा एकदम निराधार भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्भाग्य से अनेक लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से कलुषित करते हैं और उन्हें देख-देख कर बहुत से लोग उस अनुष्ठान से घृणा भी करने लग जाते हैं। फिर भी समाज में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते हैं, भले ही उनके क्रियाकाण्ड में आन्तरिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव ही उनका कल्याण कर देता है। और, कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक ही बाह्य क्रियाएँ करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही वस्तुतः अभिनन्दनीय हैं। वे निस्सन्देह परम कल्याण पद के भागी होते हैं।

अंतःशुद्धि की प्रक्रिया :

अन्तःशुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार सामान्यजनों के सामने प्रस्तुत किए जाते हैं। उनकी भाषा में भेद हो सकता है, भाव में नहीं। मैं समझता हूँ, अन्तःशुद्धि के लिए साधक को सबसे पहले अपने अन्तरंग को टटोलना चाहिए।

आप आन्तरिक जगत् की ओर दृष्टिपात करेंगे, तो देखेंगे कि वहाँ राक्षस भी अपना अड्डा जमाये हुए हैं और देवता भी। राक्षसी भाव दुनिया की ओर घसीटते हैं, बुराइयों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर ले जाते हैं, और मनुष्य की जिंदगी को नरक में डाल देते हैं। दूसरी ओर, आत्मा में, जो दैवी संस्कार हैं, वही भीतर के देवता हैं। वे हमारी जिंदगी को अच्छाइयों की ओर ले जाते हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करते हैं।

देवासुर का अनन्त संघर्ष :

अन्दर के राक्षस और देवता परस्पर संघर्ष किया करते हैं, उनमें निरन्तर महाभारत छिड़ा रहता है। महाभारत तो एक बार हुआ था और कुछ काल तक रह कर खत्म भी हो गया, किन्तु हमारे अन्दर का महाभारत अनादिकाल से चल रहा है। उसकी कहीं आदि नहीं है और अन्त कब, और कैसे होगा, नहीं कहा जा सकता। इस महाभारत में भी कौरव और पाण्डव लड़ रहे हैं। हमारे अन्दर की बुराइयाँ कौरव हैं और अच्छाइयाँ पाण्डव हैं। इन दोनों के युद्ध का स्थल—कुरुक्षेत्र, हमारा स्वयं का हृदय है।

कौरव-पाँडव और विजय केन्द्र :

अब तक मानव-जीवन का इतिहास ऐसा रहा है कि हजार बार कौरव जीते, परन्तु अन्त में पाण्डवों की ही विजय हुई। पाण्डव जुआ खेलने में भी हारे और प्रारम्भिक युद्ध में भी हारे, किन्तु आखिरी युद्ध में वही जीते। और इधर अनन्तकाल से जो लड़ाई लड़ी जा रही है, उसमें क्रोध ने शान्ति पर विजय प्राप्त की, लोभ ने सन्तोष का गला घोंट दिया। अहंकार ने नम्रता को निष्प्राण कर दिया। स्पष्ट है, विकृतियाँ ही कौरव हैं, और वे अच्छाइयों को पराजित करते रहे हैं।

कौरव-पाण्डवों की अन्तिम लड़ाई कृष्ण के निर्देशन में लड़ी गई। कृष्ण पथ-प्रदर्शक बने और अर्जुन योद्धा बने। इस लड़ाई के सम्बन्ध में व्यास को यहाँ तक कहना पड़ा—

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेंगे, अर्जुन अपना धनुष उठाकर लड़ेंगे, वहाँ विजय के अतिरिक्त, और क्या हो सकता है? वहाँ विजय है, अभ्युदय है और जीवन की ऊँचाई है। यह मेरा निश्चित मत है।"[१]

हमारा हृदयस्थल : अर्जुन और कृष्ण का समन्वय :

वास्तव में यह मत गलत नहीं है कि महाभारत में जैसे कृष्ण और अर्जुन थे, वैसे ही हमारे हृदय में भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्म-योग के प्रतीक। कर्मयोग अकेला सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो अंधे की तरह टक-राएगा। उसको नेतृत्व मिलना चाहिए, एक समर्थ पथप्रदर्शक चाहिए। वह पथप्रदर्शक ज्ञान के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? ज्ञान जब कर्म का पथप्रदर्शन करता है, तो दोनों का समन्वय हो जाता है। यही कृष्ण और अर्जुन का समन्वय है। इस समन्वय के साथ जब जीवन का महाभारत लड़ा जाता है, तो उसमें विजय होना ध्रुव है, और वासना-रूपी कौरवों का पतन निश्चित है।

क्रोध और मान :

हमारे भीतर बहुत बड़ी-बड़ी बुराइयाँ घुसी हुई हैं, उनमें क्रोध और मान की गिनती पहले होती है। भगवान् महावीर ने भी कषायों में क्रोध और मान का नाम पहले लिया है। चार कषाय, जो जन्म-मरण का नाटक रचते रहते हैं और जन्म-जन्मान्तर से दुःख देते आ रहे हैं, इनमें क्रोध पहला और मान दूसरा है।

---

१. यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥—श्रीमद् भगवद् गीता, १८।८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकप्रियता क आधार : प्रेम :

यह तो आप जानते हैं कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेमपूर्वक चलना है। मनुष्य संसार में जहाँ कहीं भी रहना चाहता है, अकेला नहीं रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुड़ता है। परिवार में दस-बीस आदमी रह रहे हैं, तो प्रेम के कारण ही मिलकर रह सकते हैं। घृणा का काम तो जोड़ना नहीं, तोड़ना है, अलग करना है! इसी तरह समाज में हजारों आदमी जुड़े रहते हैं। उन्हें जोड़ने वाला एकमात्र प्रेम ही है। तो परिवार में पारिवारिक प्रेम, समाज में सामाजिक प्रेम और राष्ट्र में राष्ट्रिय प्रेम ही आपस में मनुष्य जाति को जोड़े हुए है। जिसके हृदय में प्रेम का वास है, वह अपने हजारों और लाखों प्रेमी बनाता चलता है।

प्रेम और क्रोध : परस्पर विरोधी :

मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नहीं हो सकता। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ क्रोध होगा, वहाँ प्रेम नहीं हो सकता और जहाँ प्रेम है, वहाँ क्रोध का अस्तित्व नहीं। ईश्वर की भी शक्ति नहीं कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एकत्र नहीं रह सकते। राम और रावण दोनों एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। एक बैठेगा, तो दूसरे को हटना पड़ेगा। राम की पूजा करनी है, तो रावण को सिंहासन से उतारना ही पड़ेगा और यदि रावण को पूजना है, तो राम को उतारना पड़ेगा।

मन का भयानक कालुष्य : क्रोध :

जब इन्सान के मन में मलिनता आती है, तो चमकती हुई ज्ञान की लौ धुँधली पड़ जाती है। और, जब मन में काम और क्रोध की लहर उठती है, तो मन का दर्पण मैला पड़ जाता है। आपको अनुभव ही होगा कि दर्पण में फूँक मार देने पर वह धुँधला हो जाता है। उसमें चेहरा देखने पर साफ नजर नहीं आता। दर्पण अपने स्वरूप में तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह की भाप ने असर किया, तो वह मैला बन गया। इसी प्रकार मन का दर्पण भी साफ है, ठीक हालत में है और वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है, तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब झलक नहीं पाता। जिनके मन का दर्पण साफ नहीं है, वे मित्र को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, पति को पति के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में और पिता-पुत्र को, पिता-पुत्र के रूप में नहीं देख पाते। उनके मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब जब इतने धुंधले होते हैं, तो वे अपने कर्तव्य को भी साफ-साफ नहीं देख पाते और न अपनी भूलों को ही देख पाते हैं।

क्रोध : एक भयानक विघातक :

क्रोध में पागलपन ही नहीं, पागलपन से भी कुछ अधिक ही होता है। जिसे दुनिया पागल समझती है, वह पागलपन उतना भयानक नहीं होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्तर् में क्रोध की आग सुलगते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा में मनुष्य जो न कर बैठे, वह गनीमत है! वह आत्मघात भी कर लेता है, पर का घात भी कर देता है और ऐसे-ऐसे काम भी कर डालता है कि जिनके लिए उसे जिन्दगी भर पछताना पड़ता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

क्रोध पर ही क्रोध :

अतः हमें यह निर्णय कर लेना है कि क्रोध हमारे जीवन के लिए सब प्रकार से घातक है, उसको अपने मन में कतई स्थान नहीं देना है। जब क्रोध आने को हो, तो उसको बाहर के दरवाजे से ही धक्का देकर निकाल देना चाहिए। हाँ, यदि क्रोध करना ही है तो, हमें क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि—"यदि क्रोध करना है, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको निकालने के लिए क्रोध पर ही क्रोध करो। क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।"

इस प्रकार जब क्रोध मन से निकल जाएगा, तो जीवन में स्नेह की धाराएँ स्वतः प्रवाहित होने लगेंगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जाएगा और बुद्धि निर्मल हो जाएगी।

शान्त मस्तिष्क ही निर्णय करने में समर्थ :

जब हम शान्त भाव में रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हममें सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। उसी समय हम ठीक विचार कर सकते है और दूसरों को भी ठीक बात समझा सकते है।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ़ गया, तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया, तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नहीं होगा। और कभी-कभी तो वह जीवन में बड़ा ही भयंकर साबित होता है। क्रोध के क्षणों में लिया गया निर्णय कभी भी शान्ति-दायक नहीं हो सकता। यदि हम अपने जीवन को शान्तिपूर्वक बिताना चाहते हैं, तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण कभी नहीं बन सकता।

क्रोध के शमन का मार्ग :

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर में आग लगती है, तो उसे बुझाने के लिए जिस प्रकार पानी का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार जब क्रोध आए तो उसे क्षमा एवं सहनशीलता के जल से बुझा दें। जब तक प्रतिपक्ष रूप विरोधी चीजें नहीं आएँगी, तब तक कुछ नहीं होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से कभी भी नहीं जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना कभी संभव नहीं। उसे काटने के लिए ठंडे लोहे का ही प्रयोग करना पड़ेगा। जब ठंडा लोहा गरम हो जाता है, तो उसकी अपने आपको बचाने की कड़क कम हो जाती है। वह ठंडा होने पर अधिक देर तक टिक सकता है, किन्तु गरम होकर तो वह अपनी शक्ति ही गँवा देता है। वह ठंडे लोहे से कटना शुरू हो जाता है। तो इस रूप में मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं काट सकते, उसको ठंडे लोहे से ही काटना संभव होगा।

भगवान् महावीर ने कहा कि—"क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है।"[1] इसका मतलब यह हुआ कि जो चीजें प्रेम के सहारे टिकने वाली है, क्रोध उन सबका नाश कर डालता है। इस रूप में विचार कीजिए तो मालूम होगा कि परिवार, समाज और गुरु-शिष्य आदि का सम्बन्ध स्नेह के आधार पर ही टिका हुआ है। अगर वहाँ क्रोध उत्पन्न हो जाए, तो फिर कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नहीं, यह अनुभवगम्य सत्य है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती है, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का प्रेम-सम्बन्ध भी टूट जाता है। और, तब परिवार में रहता हुआ भी इन्सान अकेला रह जाता है। देश में करोड़ों लोगों के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही भटकता है।

लक्ष्मी का निवास-स्थान :

अतः यह विचार स्पष्ट है कि जीवन का आदर्श है प्रेम। भारतीय साहित्य में जिक्र आता है कि एकबार इन्द्र कहीं जा रहे थे। उन्हें लक्ष्मी रास्ते में बैठी दिखलाई दी। इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा—आजकल आप कहाँ विराजती हैं? लक्ष्मी ने कहा—आजकल का प्रश्न क्यों? मैं तो जहाँ रहती हूँ, वहीं सदा रहती हूँ। मैं ऐसी भगोड़ी नहीं कि कभी कहीं और कभी कहीं रहूँ! और, हमेशा रहने की अपनी तो एक ही जगह है—

"इन्द्र मैं वहाँ रहती हूँ, जहाँ प्रेम का अखण्ड राज्य है, जिस परिवार, समाज एवं राष्ट्र में आपस में कलह नहीं है। मैं उन लोगों के पास रहती हूँ, जो परस्पर प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर

---

१. 'कोहो पीइं पणासेइ।'—दशवैकालिक, ८/३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम करते हैं। एक-दूसरे के सहयोगी बनकर जहाँ लोग अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। जहाँ आपस में संगठन है, जो एक-दूसरे के हित के लिए अपने स्वार्थ को निछावर कर देने को और अपनी इच्छाओं को कुचलने के लिए तैयार रहते हैं। जहाँ प्रेम-स्नेह की जीवन-दायिनी धाराएँ निरन्तर बहती रहती है, जहाँ कलह, घृणा, द्वेष नहीं होता, मैं वहीं निवास करती हूँ।"[1]

लक्ष्मी के इस कथन ने अनन्त-अनन्त काल के प्रश्न हल कर दिए। बड़ी सुन्दर बात कही है। यह तो संसार के लिए एक महान् आदर्श वाक्य है। वास्तव में लक्ष्मी ने अपनी ठीक जगह बतला दी है। बड़े-बड़े परिवारों को देखा है, जहाँ पर लक्ष्मी के ठाठ लगे रहते हैं। किन्तु, जब उन परिवारों में मन-मुटाव हुआ, क्रोध की आग जलने लगी, वैर-भाव पैदा हुआ, तो वह वैभव और आनन्द नहीं रह पाया। धीरे-धीरे ऐश्वर्य क्षीण होने लगा और लक्ष्मी रूठ कर चल दी वहाँ से।

जो बात क्रोध के सम्बन्ध में है, वही मान के सम्बन्ध में है। अभिमानी व्यक्ति किसी का कुछ भी नहीं रहता। वह कण भर कोई काम करता है, तो मण भर उसका अहंकार रखता है। वह समझता है, मेरे बराबर कोई है ही नहीं। वह सब पर अपना रौब गांठता है। किसी को कुछ नहीं समझता। गुणीजनों के प्रति आदर-भाव, प्रमोद-भाव, तो उसके उद्दण्ड मन में कभी उद्भूत होता ही नहीं। वह अपनी ही प्रशंसा का भूखा रहता है। दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते समय, तो उसकी स्व-प्रशंसा मुखर चपल जिह्वा को लकवा मार जाता है। अतः मान पर विजय आवश्यक है और वह विनय, विनम्रता एवं मधुरता से साध्य है।

अन्तिम दो कषाय हैं—माया और लोभ। माया, छल-कपट एक तरह से जीवन का कैंसर है। वह अन्दर-ही-अन्दर जीवन को विषाक्त बनाता रहता है। दंभी व्यक्ति का कोई मित्र नहीं रह सकता। मायावी व्यक्ति की जिह्वा पर अमृत रहता है, किन्तु मन में हलाहल विष भरा रहता है। अतः मैत्री की साधना के लिए माया का परिहार आवश्यक है और यह सहज सरलता के निर्मल भाव से हो सकता है।

लोभ-कषाय सब से भयंकर है। श्रमण भगवान् महावीर ने लोभ को सर्व विनाशी बताया है।[2] जहाँ लोभ है, वहाँ परिवार, समाज, और राष्ट्र सेवा एवं हित की भावना कहाँ रह सकती है? धर्म का तो उसमें अंश मात्र नहीं रहता। धर्म, निर्लोभता में, वीतरागता में रहता है। साधना का प्राण अनासक्ति है, निष्कामता है। अतः साधक के लिए लोभ-विजय आवश्यक है और वह हो सकता है, एकमात्र संतोष से।

उक्त विजय-यात्रा के लिए अपेक्षित है, निरन्तर स्वाध्याय, चिन्तन और मनन। विकृतियों में दोष-दर्शन और सुकृतियों में गुण-दर्शन, अन्तर्जीवन की पवित्रता के लिए मंगल मन्त्र हैं।

---

१. गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसंस्कृता।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहम्॥

२. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो।—दशवैकालिक सूत्र, ८, ३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कब से दिशाहीन बाहर में,
भटक रहा है व्याकुल चेतन।
व्यर्थ श्रान्त है, क्लेश-क्लान्त है,
शान्ति-सुधा का अमर-निकेतन ।।

अन्तस्तल में गहरे-उतरो,
क्या रखा है बाह्य दृष्टि में।
शान्ति-सुधा का अक्षय-सागर,
लहराता है, आत्म-सृष्टि में ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५

जीने की कला : कर्म में अकर्म

जीवन एक यात्रा है। यात्रा वह होती है, जिसमें लक्ष्य की प्राप्ति होने तक चरण कभी अवरुद्ध नहीं होते, गति कभी बन्द नहीं होती। मनुष्य के जीवन में यह यात्रा निरन्तर चलती रही है, कर्म की यह गति कभी भी अवरुद्ध नहीं हुई है, इसीलिए तो यह यात्रा है।

दुर्भाग्य ही कहिए कि भारतवर्ष में कुछ ऐसे दार्शनिक धर्माचार्य पैदा हुए हैं, जिन्होंने इस यात्रा को अवरुद्ध करने का, अंधकारमय बनाने का सिद्धान्त स्थापित किया है। उन्होंने कहा—निष्कर्म रहो, कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं, जो भगवान् ने रच रखा है, वह अपने आप प्राप्त होता जाएगा—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।"

ऐसे कथनों को जीवन सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया। 'कुछ करो मत, अजगर की तरह पड़े रहो, राम देने वाला है।'

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे विचारों से क्या यथार्थ समाधान मिला भी है कभी? जीवन में क्या शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ है? सर्व साधारण जन और इन सिद्धान्तों के उपदेष्टा स्वयं भी, क्या सर्वथा निष्कर्म रह कर जीवन की यात्रा पार कर सके? सबका उत्तर होगा—'नहीं'। तब तो इसका सीधा अर्थ है कि निष्कर्म रहने की वृत्ति सही नहीं है, मनुष्य निष्कर्म रह कर जी नहीं सकता।

सर्वनाशी-कषाय :

मनुष्य परिवार एवं समाज के बीच रहता है, अतः वहाँ की जिम्मेदारियों से वह मुँह नहीं मोड़ सकता। आप यदि सोचें—परिवार के लिए कितना पाप करना पड़ता है, यह बन्धन है, भागो इससे, इसे छोड़ो!—तो क्या काम चल सकता है? और छोड़कर भाग भी चलो, तो कहाँ? वनों और जंगलों में भागने वाला क्या निष्कर्म रह सकता है? पर्वतों की तमस्-गुहाओं में समाधि लेकर क्या बन्धन से सर्वथा मुक्त हुआ जा सकता है? सोचिए, ऐसा कौन-सा स्थान है, कौन-सा साधन है, जहाँ आप निष्कर्म रह कर जी सकते हैं। वस्तुतः निष्कर्म अर्थात् क्रियाशून्यता जीवन का समाधान नहीं है, अपितु जीवन से पलायन है।

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर समाधान दिया है—निष्कर्म रहना जीवन का धर्म नहीं है। जीवन है, तो कुछ-न-कुछ कर्म भी है। केवल कर्म भी जीवन का श्रेय नहीं, किन्तु कर्म करके अकर्म रहना, कर्म करके कर्म की भावना से अलिप्त रहना—यह जीवन का सम्यक् मार्ग है। बाहर में कर्म, भीतर में अकर्म—यह जीवन की कला है।

मैंने कहा—कोई भी मनुष्य निष्कर्म नहीं रह सकता। कर्म तो जीवन में क्षण-क्षण होता रहता है, श्रीमद् भगवद् गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण की वाणी है—

"न हि कश्चित् क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्!"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल प्रश्न कर्म का नहीं, कर्म के बन्धन का है। क्या हर कर्म, बन्धन का हेतु होता है? उत्तर है—नहीं होता।

बात यह है कि आप जब कर्म में लिप्त होने लगते हैं, आसक्त होते है, तो मोह पैदा होता है, तब कर्म के साथ बन्धन भी आ जाता है। जीवन में अच्छे-बुरे जो भी कर्म हैं, उनके-साथ मोह—राग और क्षोभ—द्वेष का सम्पर्क होने से वे सब बन्धन के कारण बन जाते हैं।

मैं जब प्रवचन करता हूँ, तो वह निर्जरा का कार्य है, पर उससे कर्म भी बाँध सकता हूँ। आलोचना और प्रशंसा सुन कर यदि राग-द्वेष के विकल्प में उलझ जाता हूँ, तो जो प्रवचन-रूप कर्म करके भी अकर्म करने का धर्म था, वह कर्म बन्ध का कारण बन गया। कर्म के साथ जहाँ भी मोह का स्पर्श होता है, वहीं बन्ध होता है।

तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था—न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन है। किन्तु, जो वहाँ दोनों के प्रत्यय से (निमित्त से) छन्द—राग अर्थात् स्नेह-भाव अथवा द्वेष-बुद्धि जागृत होती है, वही बन्धन है।[1]

भारतीय चिन्तन की यह वही प्रतिध्वनि है, जो उस समय के युग-चिन्तन में मुखरित हो रही थी। कर्म-अकर्म का विवेचन-विश्लेषण जब किया जा रहा था, तब भगवान् महावीर ने स्पष्ट उद्घोषित किया था।[2]

यह सम्भव नहीं है और शक्य भी नहीं कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों में शब्दादि विषय यथाप्रसंग अनुभूत होते ही हैं। अतः उनका त्याग यथाप्रसंग हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। किन्तु, उनके प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग अवश्य करने जैसा है। कर्मबन्ध वस्तु में नहीं, वृत्ति में होता है। अतः रागात्मक वृत्ति का त्याग ही कर्मबन्ध से मुक्त रहने का उपाय है, यही कर्म में अकर्म रहने की कला है। गीता की भाषा में इसे ही 'निष्काम कर्म' कहा गया है। समग्र भारतीय चिन्तन ने अगर जीवन का कोई दर्शन, जीवन की कोई कला, जीवन की कोई दृष्टि दी है, तो वह यह कि—निष्कर्म मत रहो, कर्म करो, किन्तु निष्काम रहो, कर्मफल की आसक्ति से मुक्त रहो।

अकर्म में कर्म :

हमारा जीवन-दर्शन जीवन और जगत् के सभी पहलुओं को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है। प्रत्येक पहलू का यहाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

जिस प्रकार 'कर्म में अकर्म' रहने की स्थिति पर हमने विचार किया है, कुछ उसी प्रकार 'अकर्म में कर्म' की स्थिति भी जीवन में बनती है, इस पहलू पर भी हमारे आचार्यों ने अपना बड़ा सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है, वे बहुत गहराई तक गए हैं।

अकर्म में कर्म की स्थिति जीवन में तब आती है, जब आप बाहर में बिलकुल चुपचाप निष्क्रिय पड़े रहते हैं, न कोई हलचल, न कोई प्रयत्न! किन्तु मन के भीतर अन्तर्जगत् में राग-द्वेष की तीव्र वृत्तियाँ मचलती-उछलती रहती हैं। बाहर में कोई कर्म दिखाई नहीं देता, पर आपका मन कर्मों का तीव्र बन्धन करता चला जाता है। यह 'अकर्म' में भी 'कर्म' की स्थिति है।

'अकर्म में कर्म' को स्पष्ट करने वाले दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारे साहित्य में, दर्शन-

---

१. न चक्खु रूपानं संयोजनं,
न रूपा चक्खुस्स संयोजनं
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति
छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं। —संयुक्तनिकाय ४।३५।२३२

न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥ —आचारांग, २।३।१५।१३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र में अत्यधिक प्रसिद्ध है। एक उदाहरण है—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का और दूसरा है—तन्दुल मत्स्य का।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर में ध्यान मुद्रा में स्थित निष्कर्म खड़े हैं, किन्तु मन के भीतर भयंकर कोलाहल मचा हुआ है, रणक्षेत्र बना हुआ है। मन घमासान युद्ध में संलग्न है और तब भगवान् महावीर के शब्दों में वह सातवीं नरक तक के कर्म दलिक बाँध लेता है।

तन्दुल मत्स्य का उदाहरण इससे भी ज्यादा बारीकी में ले जाता है। एक छोटा-सा मत्स्य! नन्हे चावल के दाने जितना शरीर! और आयुष्य कितना? सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त भर का! इस लघुतम देह और अल्पतम जीवन-काल में वह अकर्म में कर्म इतना भयंकर कर लेता है कि मर कर सातवीं नरक में जाता है।

कहा जाता है कि तन्दुल मत्स्य जब विशालकाय मगरमच्छ के मुँह में आती-जाती मछलियों को देखता है, तो सोचता है—कैसा है यह आलसी! इतनी छोटी-बड़ी मछलियाँ इसके मुँह में आ-जा रही हैं, लेकिन यह अपना जबड़ा बन्द क्यों नहीं करता, इन्हें निगल क्यों नहीं जाता। यदि मैं महाकाय होता, तो बस एक बार ही सबको निगल जाता। भीतर-ही-भीतर उनका कलेवा कर डालता।

ये उदाहरण सिर्फ आमतौर पर व्याख्यान में सुनाकर मन बहलाने के लिए नहीं है, इनमें बहुत सूक्ष्म चिन्तन छिपा है, जीवन की एक बहुत गहरी गुत्थी को सुलझाने का मर्म छिपा है इनमें।

मनसा पाप :

हम बोलचाल की भाषा में जिसे मनसा पाप कहते है, वह क्या है? वह यही तो स्थिति है कि मनुष्य बाहर में तो बड़ा शान्त, भद्र और निःस्पृह दिखाई दे, किन्तु भीतर-ही-भीतर क्रोध, ईर्ष्या और लोभ के विकल्प उनके हृदय को मथते रहें, क्षुब्ध महासागर की तरह मन तरंगाकुल हो, किन्तु तन बिलकुल शान्त!

आज के जन-जीवन में यह सबसे बड़ी समस्या है कि मनुष्य दुरंगा, दुहरे व्यक्तित्व वाला बन रहा है। वह बाहर में उतने पाप नहीं कर रहा है, जितने भीतर में कर रहा है। तन को वह कुछ पवित्र अर्थात् संयत रखता है, कुछ सामाजिक व राष्ट्रिय मर्यादाओं के कारण, कुछ अपने स्वार्थों के कारण भी! पर मन को कौन देखे? मन के विकल्प उसे रात-दिन मथते रहते हैं, बेचैन बनाए रखते हैं, हिंसा और द्वेष के दुर्भाव भीतर-ही-भीतर जलाते रहते हैं। इस मनसा पाप के दुष्परिणामों का निदर्शन आचार्यों ने उपर्युक्त उदाहरणों से किया है। और, यह स्पष्ट किया है कि यह 'अकर्म में कर्म' की स्थिति बहुत भयानक, दुःखप्रद और खतरनाक है।

कर्म में अकर्म :

बाहर में कर्म नहीं करते हुए भी भीतर में कर्म किए जाते हैं—यह स्थिति तो आज सामान्य है, किसी के अन्तर की खिड़की खोलकर देख लीजिए, अच्छा तो यह हो कि अपने ही भीतर की खिड़की उघाड़ कर देख लिया जाए कि अकर्म में कर्म का चक्र कितनी तेजी और कितनी भीषणता के साथ चल रहा है। किन्तु, यह स्थिति जीवन के लिए हितकर एवं सुखकर नहीं है, इसलिए वांछनीय भी नहीं है।

हमारा दर्शन हमें 'अकर्म में कर्म' से उठाकर 'कर्म में अकर्म' की ओर मोड़ता है। ज्यादा अन्तर नहीं है, शब्दों का थोड़ा-सा हेर-फेर है। अंग्रेजी में एक शब्द है डोग 'DOG' और इसी को उलटकर एक दूसरा शब्द है गोड 'GOD'। डोग कुत्ता है और गोड ईश्वर है! 'अकर्म में कर्म'—यह जीवन में डोग का रूप है, उसे उलट दिया तो 'कर्म में अकर्म'—यह गोड का रूप हो गया। मतलब इसका यह हुआ कि बाहर में अकर्म, निष्क्रियता और भीतर में कर्म—राग-द्वेष के विकल्प—यह जीवन की हीन वृत्ति है, क्षुद्र वृत्ति है। और, बाहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कर्म-क्रियाशीलता और भीतर में अकर्म—राग-द्वेष की भावना से अलिप्तता, यह जीवन की उच्च वृत्ति है, श्रेष्ठ अवस्था है।

'कर्म में अकर्म' हमारे उच्च एवं पवित्र जीवन की परिभाषा है। अब यह प्रश्न है, यह अवस्था कैसे प्राप्त की जाए? कर्म में अकर्म रहना कैसे सीखें, इसकी साधना क्या है?

कर्तृत्व बुद्धि का त्याग :

दर्शन और मनोविज्ञान, इस बात पर एक मत हैं कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर 'कर्तृत्व-बुद्धि' की स्फुरणा होती है। साधारण मनुष्य कुछ करता है, तो साथ ही सोचता भी है कि "यह मैंने किया, इसका करने वाला मैं हूँ।" कार्य के साथ कर्तापन की भावना स्फुरित होती है। और प्रत्येक कार्य के बीच में वह अपने 'मैं' 'अहं' को खड़ा कर देता है। वह सोचता है—मैं नहीं होता, तो यह काम नहीं होता। मैंने ही यह किया है, मेरे बिना परिवार की, समाज की गाड़ी नहीं चल सकती। इस प्रकार 'मैं' के, कर्ताबुद्धि के हजार-हजार विकल्प एक तूफान की तरह उसके चिन्तन में उठते हैं और परिवार तथा समाज में अशान्ति व विग्रह की सृष्टि कर डालते हैं। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और राष्ट्रिय जीवन—सभी आज इसी तूफान के कारण अशान्त है, समस्याओं से घिरे हैं। परिवार में जितने व्यक्ति हैं, सभी के भीतर 'मैं' का विषधर-नाग फुँकार मार रहा है, राष्ट्र में जितने नागरिक हैं, प्रायः प्रत्येक अपने कर्तृत्व के 'अहं' से बौराया हुआ-सा है। इस प्रकार एक-दूसरे का 'अहं' टकराता है, वैर-विद्वेष की अग्नि स्फुलिंग उछलते हैं, अशान्ति फैलती है और जीवन संकटग्रस्त बन जाता है।

अतः स्पष्ट है कि यह कर्तापन की बुद्धि ही मनुष्य को शान्त नहीं रहने देती। शान्ति की खोज आप करते हैं, आपको शान्ति चाहिए, तो फिर आवश्यक है कि इस कर्तृत्व-बुद्धि से छुटकारा लिया जाए, तभी अशान्ति से पिण्ड छूट सकेगा, अन्यथा नहीं।

कलकत्ता चातुर्मास के लिए जाते समय मैं बिहार की सुप्रसिद्ध 'गया' नगरी में भी गया था। वहाँ एक फल्गु नदी है। प्राचीन वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में उसका काफी वर्णन है। बुद्ध ने तो कहा है—**'सुद्धस्स वे सदा फग्गु'**[1] शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु है। अब तो वह प्रायः सूख गई है। फिर भी उसे पवित्र मान कर श्राद्ध करने के लिए वहाँ आए दिन काफी लोग आते रहते हैं। मैंने श्राद्ध के निमित्त आए एक सज्जन से पूछा—"घर पर भी आप लोग श्राद्ध कर सकते हैं, फिर 'गया' आकर फल्गु नदी के जल से ही श्राद्ध करने का क्या मतलब है?"

उस सज्जन ने बताया—"गयाजी में श्राद्ध कर लेने से एक ही साथ सब पितरों का श्राद्ध हो जाता है, सबसे सदा के लिए पिण्ड छूट जाता है।"

मैंने सोचा—"जिस आचार्य ने यह बात कही है, उसने काफी गहराई से सोचा होगा। आदमी कहाँ तक बड़े-बूढ़ों को सिर पर ढोए चलेगा, कहाँ तक मृत पूर्वजों को मन-मस्तिष्क में उठाए फिरेगा, आखिर उनसे पिण्ड छुड़ाना ही होगा, सबको 'वोसिरे-वोसिरे' (परित्याग) करना ही होगा"।

जीवन में कर्तृत्व के जो अहंकार हैं—मैंने यह किया, वह किया—के जो संकल्प हैं, आप इनको कबतक सिर पर ढोए चलेंगे? इन अहं के पितरों से पिण्ड छुड़ाए बिना शान्ति नहीं मिलेगी। जीवन में कब तक, कितने दिन तक ये विकल्प ढोते रहेंगे, कबतक इन मुर्दों को सिर पर उठाए रखेंगे। जो बीत गया, जो कर डाला गया, वह अतीत हो गया, गुजर गया। गुजरा हुआ, याद रखने के लिए नहीं, भुलाने के लिए होता है। पर, जीवन की स्थिति यह है कि यह गुजरा हुआ कर्तृत्व भूत बनकर सिर पर चढ़ जाता है और रात-दिन अपनी 'मैं' 'मैं' आवाज लगाता रहता है। न स्वयं व्यक्ति को चैन लेने देता है, न परिवार और समाज को ही!

---

१. मज्झिमनिकाय, १।७।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य और सीमा का विस्तार :

कर्तृत्व बुद्धि के अहंकार को विसारने और भुलाने का आखिर क्या तरीका है ?—आप यह पूछ सकते हैं ! मैंने इसका समाधान खोजा है। आपको बताऊँ कि अहंकार कब जागृत होता है ? जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य-सीमा को अतिरंजित रूपमें आँकने लगता है। जो है, उससे कहीं अधिक स्वयं को देखता है, वास्तविकता से अधिक लम्बा बना कर अपने को नापता है, औरों से अपना बड़ापन अधिक महसूस करता है और यही अहं भावना अहंकार के रूप में प्रस्फुटित होती है।

यदि मनुष्य अपने सामर्थ्य को सही रूप में आँकने का प्रयत्न करे, वह स्वयं क्या है और कितना उसका अपना सामर्थ्य है, यह सही रूप में जाने, तो शायद कभी अहंकार करने जैसी बुद्धि न जगे। मनुष्य का जीवन कितना क्षुद्र है, और वह उसमें क्या कर सकता है, एक साँस तो इधर-उधर कर नहीं सकता, फिर वह किस बात का अहंकार करे ?

साधारण मनुष्य तो क्या चीज है ? भगवान् महावीर जैसे अनन्त शक्ति के धर्ता भी तो अपने आयुष्य को एक क्षण भर आगे बढ़ा नहीं सके। देवराज इन्द्र ने जब उन्हें आयुष्य को थोड़ा-सा बढ़ाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने क्या कहा, मालूम है ? **'न भूयं न भविस्सइ'** देवराज ! ऐसा न कभी हुआ और न कभी होगा, संसार की कोई भी महाशक्ति, अधिक तो क्या, अपनी एक साँस भी इधर-उधर नहीं कर सकती।

मैं सोचता हूँ, महावीर का यह उत्तर मनुष्य के कर्तृत्व के अहंकार पर सबसे बड़ी चोट है। जो क्षुद्र मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ऐसा कर लूँगा, वैसा कर लूँगा, वह अपने सामर्थ्य की सीमा से अनजान है। जीवन के हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख जितने भी द्वन्द्व हैं, वे उसके अधिकार में नहीं हैं, उसके सामर्थ्य से परे हैं, तो फिर उसमें परिवर्तन करने की बात, क्या मूर्खता नहीं है ? मैं प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की अवहेलना नहीं करना चाहता, किन्तु पिछले प्रयत्न से जो भविष्य निश्चित हो गया है, वह तो भाग्य बन गया। आप अब जैसा प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करेंगे, वैसा ही भाग्य अर्थात् भविष्य बनेगा। भाग्य का निर्माण आपके हाथ में है, किन्तु भाग्य की प्रतिफलित निश्चित रेखा को बदलना आपके हाथ में नहीं है, यह बात भले ही विचित्र लगे, पर ध्रुव सत्य है।

इसका सीधा-सा अर्थ है कि हम कर्म करने के तो अधिकारी हैं, किन्तु कर्मफल में हस्तक्षेप करने का अधिकार हमें नहीं है। फिर कर्म की वासना से लिप्त क्यों होते हैं, कर्तापन के अहंकार से व्यर्थ ही अपने को धोखा क्यों देते हैं—यह बात समझने जैसी है।

भारतीय चिन्तन कहता है—मनुष्य ! तू अपने अधिकार का अतिक्रमण न कर ! अपनी सीमाओं को लाँघकर दूसरे की सीमा में मत घुस ! जब अपने सामर्थ्य से बाहर जाकर सोचेगा, तो अहंकार जगेगा, 'मैं' का भूत सिर पर चढ़ जाएगा और तेरे जीवन की सुख-शान्ति विलीन हो जाएगी।

शान्ति का मार्ग :

हमारे यहाँ एक कहानी आती है कि एक मुनि के पास कोई भक्त आया और बोला—महाराज ! मन को शान्ति प्राप्त हो सके, ऐसा कुछ उपदेश दीजिए !

मुनि ने भक्त को नगर के एक सेठ के पास भेज दिया। सेठ के पास आ कर उसने कहा—मुनि ने मुझे भेजा है, शान्ति का रास्ता बतलाइए !

सेठ ने समागत अतिथि को ऊपर से नीचे तक एक दृष्टि से देखा और कहा—'यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो, और देखते रहो।'

भक्त कुछ दिन वहाँ रहा, देखता रहा। सेठ ने उससे कुछ भी पूछा नहीं, कहा नहीं। रात-दिन अपने काम-धन्धे में जुटा रहता। सैकड़ों आदमी आते-जाते, मुनीम गुमास्ते बही-खातों का ढेर लगाए सेठ के सामने बैठे रहते। भक्त सोचने लगा—"यह सेठ, जो रात-दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया के चक्कर में फँसा है, इसे तो खुद ही शान्ति नहीं है, मुझे क्या शान्ति का मार्ग बताएगा। मुनि ने कहाँ भेज दिया ?"

एक दिन सेठ बैठा था, पास ही भक्त भी बैठा था। मुनीम घबराया हुआ आया और बोला—"सेठजी ! गजब हो गया। अमुक जहाज, जिसमें दस लाख का माल लदा आ रहा था, बन्दरगाह पर नहीं पहुँचा। पता लगा है, समुद्री तूफानों में घिर कर कहीं डूब गया है।"

सेठ ने गंभीरतापूर्वक कहा—"मुनीम जी, शान्त रहो ! परेशान क्यों होते हो ? डूब गया तो क्या हुआ ? कुछ अनहोनी तो हुई नहीं ? प्रयत्न करने पर भी नहीं बचा, तो नहीं बचा, जैसा होना था हुआ, अब घबराना क्या है ?"

इस बात को कुछ ही दिन बीते थे कि मुनीमजी दौड़े-दौड़े आये, खुशी में नाच रहे थे—"सेठ जी, सेठ जी ! खुशखबरी ! वह जहाज किनारे पर सुरक्षित पहुँच गया है, माल उतारने से पहले ही दुगुना भाव हो गया और बीस लाख में बिक गया है !"

सेठ फिर भी शान्त था, गंभीर था। सेठ ने उसी पहले जैसे शान्त मन से कहा—"ऐसी क्या बात हो गई ? अनहोनी तो कुछ नहीं हुई ! फिर व्यर्थ ही फूलना, इतराना किस बात का ? यह हानि और लाभ, तो अपनी नियति से होते रहते हैं, हम क्यों इनके पीछे रोएँ और हँसें ?"

भक्त ने यह सब देखा, तो उसका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो उठा। क्या गजब का आदमी है। दस लाख का घाटा हुआ, तब भी शान्त ! और, बीस लाख का मुनाफा हुआ, तब भी शान्त ! दैन्य और अहंकार तो इसे छू भी नहीं गये, कहीं रोमांच भी नहीं हुआ इसको ! यह गृहस्थ है या परम योगी ! उसने सेठ के चरण छू लिए और कहा—"जिस शान्ति की खोज में मुझे यहाँ भेजा गया था, वह साक्षात् मिल गई। जीवन में शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, इसका गुरुमन्त्र मिल गया मुझे !"

सेठ ने कहा—"जिस गुरु ने तुम्हें यहाँ भेजा, उसी गुरु का उपदेश मेरे पास है। मैंने कभी भी अपने कर्तृत्व का अहंकार नहीं किया, इसलिए मुझे कभी कोई द्वन्द्व नहीं होता। हानि-लाभ के चक्र में अपने को मैं निमित्त मात्र मानकर चलता हूँ, विश्व गतिचक्र की इस मशीन का एक पुर्जा मात्र ! इसलिए मुझे न शोक होता है, और न हर्ष ! न दैन्य और न अहंकार।"

भाग्य सम्मिलित और प्रच्छन्न :

इस दृष्टान्त से यह ज्ञात होता है कि कर्तृत्व के अहंकार को किस प्रकार शान्त किया जा सकता है। सेठ की तरह कोई यदि अपने को अहंकार-बुद्धि से मुक्त रख सके, तो मैं गारण्टी देता हूँ कि जीवन में उसको कभी भी दुःख एवं चिन्ता नहीं होगी।

मनुष्य परिवार एवं समाज के बीच बैठा है। बहुत से उत्तरदायित्व उसके कंधों पर हैं और उसी के हाथों से वे पूरे भी होते हैं। परिवार में दस-बीस व्यक्ति हैं और उनका भरण-पोषण सिर्फ उसी एक व्यक्ति के द्वारा होता है, तो क्या वह यह समझ बैठे कि वही इस रंगमंच का एकमात्र सूत्रधार है। उसके बिना यह नाटक नहीं खेला जा सकता। यदि वह किसी को कुछ न दे तो, बस सारा परिवार भूखा मर जाएगा, बच्चे भिखारी बन जाएँगे, बड़े-बूढ़े दाने-दाने को मुँहताज हो जाएँगे। मैं सोचता हूँ, इससे बढ़ कर अज्ञानता और क्या हो सकती है ?

बालक जब गर्भ में आता है, तो उसका भी भाग्य साथ में आता है, घर में प्रच्छन्न रूप से उसका भाग्य अवश्य काम करता है। कल्पसूत्र में आपने पढ़ा होगा कि जब भगवान् महावीर माता के गर्भ में आए, तब से उस परिवार की अभिवृद्धि होने लगी। उनके नामकरण के अवसर पर पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय, अपने मित्र-परिजनों के समक्ष पुत्र के नामकरण का प्रसंग लाते हैं, तो कहते हैं, जब से यह पुत्र अपनी माता के गर्भ में आया है, तब से हमारे कुल में धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, प्रीति-सत्कार आदि प्रत्येक दृष्टि से निरन्तर अभिवृद्धि होती रही है, हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ते रहे हैं, इसलिए इस कुमार का हम गुणनिष्पन्न वर्द्धमान' नाम रखते हैं—"तं होउ णं कुमारे वद्धमाणे नामेणं।"

किसी का भाग्य प्रच्छन्न काम करता है, किसी का प्रकट। संयुक्त परिवार में यह नहीं कहा जा सकता कि सिर्फ एक ही व्यक्ति उसका आधार है। वहाँ, केवल एक का नहीं, अपितु सबका सम्मिलित भाग्य काम करता है।

परिवार में बड़े-बूढ़ों के बारे में भी कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि यह तो बेकार की फौज है। कमाते नहीं, सिर्फ खाते हैं। मैं इनका भरण-पोषण कब तक करूँ? यदि दो-चार बूढ़े आदमी परिवार में १०-१५ साल रह गए, तो २०-२५ हजार के नीचे ले ही आएँगे।

यह सोचना, निरी व्यक्तिपरक एवं स्वार्थवादी बुद्धि है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसके आँकड़े सही हो सकते हैं, लेकिन क्या जीवन में कोई कोरा अर्थ-शास्त्री और गणित-शास्त्री बन कर जी सकता है? जीवन इस प्रकार के गणित के आधार पर नहीं चलता, बल्कि वह नीति और धर्म के आधार पर चलता है। नीति एवं धर्मशास्त्र यह बात स्पष्टतः कहते हैं—कि कोई कर्म करता है, और कोई नहीं करता, यह सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि है। वस्तुतः प्रच्छन्न रूप से सबका भाग्य कार्य कर रहा होता है, और उसी के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को मिलता भी रहता है।

वस्तुत हमारा जीवन-दर्शन आज धुँधला हो गया है। आज का मनुष्य भटक रहा है, जीवन के महासागर में तैरता हुआ इधर-उधर हाथ-पाँव मार रहा है, पर उसे कहीं भी किनारा नहीं दिखाई दे रहा है। इसका कारण यही है कि वह इस दृष्टि से नहीं सोच पाता कि कर्म करते रहना है, फिर भी करने के अहं से दूर रहना है—यही जीवन की सच्ची कला है। इसी कला से जीवन में सुख एवं शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म, कर्म रहता है, तब तक,
जब तक उसमें काम-बुद्धि है।
होता वही अकर्म सुनिश्चित,
अगर कामना-मुक्त शुद्धि है।।

विष भी अमृत हो जाता है,
कुशल वैद्य के बुद्धियोग से।
सब-कुछ संभव है जगती में,
मनो-भाव के सुप्रयोग से।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

समाज-सुधार की स्वर्णिम-रेखाएँ

समाज के सुधार के लिए, उसके उत्थान के लिए हम में सामूहिक चेतना का होना निहायत जरूरी है। व्यक्ति एवं अपने परिवार के बहुत छोटे-से सीमित दायरे में सोचने की धारणा हमें बदल देनी चाहिए और सामाजिक रूप में सोचने की प्रवृत्ति अपने अन्तर् में जागृत करनी चाहिए। धर्म और मोक्ष का मार्ग इसी प्रवृत्ति में सन्निहित है। मैं समझता हूँ कि धर्म और मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न नहीं है। भगवान् महावीर ने अपनी उक्त भावना इसी रूप में व्यक्त की है—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पाव-कम्मं न बंधइ॥"

—दशवैकालिक, ४, ९.

पाप और उससे मुक्ति :

एक बार भगवान् महावीर से यह प्रश्न पूछा गया कि—"जीवन में पग-पग पर पाप-ही-पाप दीखता है। जीवन का समस्त क्षेत्र पापों से घिरा हुआ है। और, जो धर्मात्मा बनना चाहता है, उसे पापों से बचना होगा, किन्तु पापों से बचाव कैसे हो सकता है?" भगवान् महावीर ने समाधान दिया—"पहले यह देख लो कि तुम संसार के प्राणियों के साथ एकरस हो चुके हो या नहीं? तुम्हारी सद्भावना उनके साथ एकरूप हो चुकी है या नहीं? तुम्हारी आँखों में उन सबके प्रति प्रेम बस रहा है या नहीं? यदि तुम उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहे हो, संसार के प्राणिमात्र को समभाव की दृष्टि से देख रहे हो, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ रहे हो, तो तुम्हें पाप-कर्म कभी भी नहीं बाँध पाएँगे।

अहिंसा-भावना का विकास :

अहिंसामय जीवन के विकास का भी एक क्रम है। कुछ अपवादों को अलग कर दिया जाए, तो साधारणतया उस क्रम से ही अहिंसात्मक भावना का यथोचित विकास होता है। मूल रूप में मनुष्य अपने आप में ही घिरा रहता है, अपने शरीर के मोह को लेकर उसी में बँधा रहता है। यदि मनुष्य में कुछ विकास क्रान्ति आई भी, तो वह अपने परिवार को महत्त्व देना शुरू कर देता है। तब वह अपने क्षुद्र सुख-दुःख से बाहर निकल कर माता, पिता, पत्नी और सन्तान आदि के पालन-पोषण के काम में लग जाता है। परिस्थिति विशेष में भले ही वह स्वयं भूखा रह जाए, किन्तु परिवार को भूखा नहीं रहने देता। खुद प्यासा रहकर भी परिवार को पानी पिलाने के लिए सदा तैयार रहता है। स्वयं बीमार रहता है, किन्तु माता, पिता, और सन्तान के लिए वह अवश्य औषधियाँ जुटाता है। इस रूप में उसकी सहानुभूति, आत्मीयता और संवेदना व्यक्ति के क्षुद्र घेरे को पार करके अपने कुटुम्ब में विकास पाती है। इस रूप में उसकी अहिंसा की वृत्ति आगे बढ़ती है और वह सम्यक् रूप से विकसित होने की ओर गतिशील होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनासक्त सेवा : धर्म का आधार :

अहिंसा का विकास होने पर भी यदि मनुष्य को निजी स्वार्थ घेरे रखता है, तो मानना चाहिए कि अमृत में जहर मिला है और उस जहर को अलग कर देना ही अपेक्षित है। अतः यदि मनुष्य अपने परिवार के लिए भी कर्तव्य-बुद्धि से काम कर रहा है, उसमें आसक्ति और स्वार्थ का भाव नहीं रख रहा है और उनसे सेवा लेने की वृत्ति न रख कर अपनी सेवा का दान देने की ही भावना रखता है, बच्चों को उच्च शिक्षण दे रहा है, समाज को सुन्दर और होनहार युवक देने की तैयारी कर रहा है, उसकी भावना यह नहीं है कि बालक होशियार होकर समय पर मेरी सेवा करेगा तथा मेरे परिवार में चार चाँद लगाएगा, अपितु व्यापक दृष्टि से आस-पास के समाज, राष्ट्र एवं जगत् की उन्नति में यथोचित योगदान करेगा—इस रूप में यदि मानव की उच्च भावना काम कर रही है, तो आप इस उच्च भावना को अधर्म कैसे कहेंगे ? मैं नहीं समझता कि वह अधर्म है।

मोह और उत्तरदायित्व :

जैन-धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से मोह-क्षोभ को दूर करने की बात कहता है, परन्तु वह प्राप्त उत्तरदायित्व को यों ही झटक कर फेंक देने की बात कदापि नहीं कहता। श्रावकों के लिए भी यही बात है और साधुओं के लिए भी। साधु अपने शिष्य को पढ़ाता है। यदि इस भावना से पढ़ाता है, कि शिष्य पढ़कर अपने जीवन को उच्च बना सके, अपना कल्याण कर सके और साथ ही अपने संघ एवं समाज का भी कल्याण साध सके, तो यह एक सुन्दर बात है। यदि इसके विपरीत स्वार्थमयी भावना को लेकर पढ़ाता है कि मेरे पढ़ाने के प्रतिदान स्वरूप वह मेरे लिए आहार-पानी ला दिया करेगा, मेरी सेवा किया करेगा, तो यह उचित नहीं है। ऐसी क्षुद्र-वृत्ति से अस्पृष्ट रह कर, यदि गुरु योग्य शिक्षा द्वारा अपने शिष्य को गुरु बनने की कला सिखा रहा है, तो भगवान् कहते हैं कि वह गुरु अपने लिए महत्त्वपूर्ण निर्जरा का कार्य कर रहा है, अपने पाप-कर्मों को खपा रहा है। यों तो कभी कोई गुरु अपने शिष्य के मोह में फंस भी जाता है, किन्तु जैनधर्म उस मोह से बचने की बात करता है, उत्तरदायित्व को दूर फेंकने की नहीं। यही बात गृहस्थ के विषय में भी समझनी चाहिए। मोह और कर्तव्य के अन्तर को ठीक तरह समझ लेना चाहिए।

समाज-सुधार का सही दृष्टिकोण :

आप जिस समाज में रह रहे हैं, आपको जो समाज और राष्ट्र मिला है, उसके प्रति सेवा की उच्च भावना आप अपने मन में संजो कर रखें, अपने व्यक्तित्व को समाजमय और देशमय और अन्त में सम्पूर्ण प्राणिमय बना डालें। आज दे रहे हैं, तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अन्दर में जो सौदेबाजी की वृत्ति है, स्वार्थ की वासना है—उसे निकाल फेंकें और फिर विशुद्ध कर्तव्य-भावना से, निःस्वार्थ भावना से जो कुछ भी करेंगे, वह सब धर्म बन जाएगा। मैं समझता हूँ, समाज सुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नहीं हो सकता।

समाज सुधार का सही मार्ग :

आप समाज-सुधार की बात करते हैं, किन्तु मैं कह चुका हूँ कि समाज नाम की कोई अलग चीज ही नहीं है। व्यक्ति और परिवार मिल कर ही समाज कहलाते हैं, अतएव समाज-सुधार का अर्थ है—व्यक्तियों का और परिवारों का सुधार करना। पहले व्यक्ति को सुधारना और फिर परिवार को सुधारना। और जब अलग-अलग व्यक्ति तथा परिवार सुधर जाते हैं, तो फिर समाज स्वयमेव सुधर जाएगा।

आप समाज को सुधारना चाहते हैं न ? बड़ी अच्छी बात है। आपका उद्देश्य प्रशस्त है और आपकी भावना स्तुत्य है, किन्तु यह बतला दीजिए कि आप समाज को नीचे से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुधारना चाहते हैं या ऊपर से ? पेड़ को हरा-भरा और सजीव बनाने के लिए पत्तों पर पानी छिड़क रहे हैं या जड़ में पानी दे रहे हैं ? अगर आप पत्तों पर पानी छिड़क कर पेड़ को हरा-भरा बनाना चाहते हैं, तो आपका उद्देश्य कदापि पूरा होने का नहीं है !

आज तक समाज-सुधार के लिए जो तैयारियाँ हुई हैं, वे ऊपर से सुधार करने की हुई हैं, अन्दर से सुधारने की नहीं। अन्दर से सुधार करने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति जो चाहता है कि समाज की बुराइयाँ दूर हों, उसे सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन में से उन बुराइयों को दूर कर देना चाहिए। उसे गलत विचारों, मान्यताओं और त्रुटिपूर्ण व्यवहारों से अपने आपको बचाना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में उन बुराइयों से मुक्त हो जाता है, और उन त्रुटियों को ठुकरा देता है, तो एकदिन वे परिवार में से भी दूर हो जाएँगी और फल-स्वरूप समाज अपने आप सुधर जाएगा।

समाज सुधार की बाधाएँ :

इसके विपरीत यदि कोई सामाजिक बुराइयों को दूर करने की बात करता है, समाज की रूढ़ियों को समाज के लिए राहु के समान समझता है, और उनसे मुक्ति में ही समाज का कल्याण मानता है, किन्तु उन बुराइयों और रूढ़ियों को न स्वयं ठुकराता है, ठुकराने की हिम्मत भी नहीं करता है, तो इस प्रकार की दुर्बलता से समाज का कल्याण कदापि संभव नहीं है। यह दुर्बल-भावना समाज-सुधार के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। कोई भी सुधार हो, उसका प्रारंभ सब से पहले स्वयं अपने से ही करना चाहिए।

समाज सुधार और रीति-रिवाज :

आपके यहाँ विवाह आदि सम्बन्धी जो अनेक रीतियाँ आज प्रचलित हैं, वे किसी जमाने में सोच-विचार कर ही चलाई गई थीं। और जब वे चलाई गई होंगी, उससे पहले संभवतः वे प्रचलित न भी रही हों। संभव है, आज जिन रीति-रिवाजों से आप चिपटे हुए हैं, वे जब प्रचलित किए गए होंगे, तो तत्कालीन पुरातन मनोवृत्ति के लोगों ने नयी चीज समझ कर उनका विरोध ही किया हो, और उन्हें अमान्य भी कर दिया हो। किन्तु तत्कालीन समाज के दूरदृष्टि नायकों ने साहस करके उन्हें अपना लिया हो और फिर वे ही रीति-रिवाज धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गए हों। स्पष्ट है, उस समय इनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी। परन्तु इधर-उधर के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे उन रीति-रिवाजों में बहुत-कुछ विकृतियाँ आ गईं। समय बदलने पर परिस्थितियों में भारी उलट-फेर हो गया। मुख्यतया इन दो कारणों से ही उस समय के उपयोगी-रीति-रिवाज आज के समाज के लिए अनुपयोगी हो गए हैं। यही कारण है कि उन रीति-रिवाजों का जो हार किसी समय समाज के लिए अलंकार था, वह आज बेड़ी बन गया है। इन बेड़ियों से जकड़ा हुआ समाज उनसे मुक्त होने को आज छटपटा रहा है। और जब कभी उनमें परिवर्तन करने की बात आती है, तो लोग कहते हैं कि पहले समाज उसे मान्य करले, फिर हम भी मान लेंगे, समाज निर्णय करके अपना ले, तो हम भी अपना लेंगे। यह कदापि उपयुक्त तथ्य नहीं है। इस मनःस्थिति से कभी कोई सामाजिक या धार्मिक सुधार संभव ही नहीं है।

पूर्वजों के प्रति आस्था :

आज जब समाज-सुधार की बात चलती है, तो कितने ही लोग यह कहते पाए जाते हैं कि हमारे पूर्वज क्या मूर्ख थे, जिन्होंने ये रिवाज चलाये ? निस्सन्देह अपने पूर्वजों के प्रति इस प्रकार आस्था का जो भाव उनके अन्दर है, वह स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा कहने वालों को अपने पूर्वजों के कार्यों को भी भली-भाँति समझना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि उनके पूर्वज उनकी तरह स्थितिपूजक नहीं थे। उन्होंने परम्परागत रीति-रिवाजों में, अपने समय और अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुधार किए थे। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुधार न किया होता और उन्हें ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण बनाए रक्खा होता, तो हमारे सामने ये रिवाज होते ही नहीं, जो आज प्रचलित हैं। फिर तो भगवान् ऋषभदेव के जमाने में जैसी विवाह-प्रथा प्रचलित थी, वैसी-की-वैसी आज भी प्रचलित होती। किन्तु बात यह नहीं है। काल के अप्रतिहत प्रवाह में बहते हुए समाज ने, समय-समय पर सैकड़ों परिवर्तन किए। यह सब परिवर्तन करने वाले पूर्वज लोग ही तो थे। आपके पूर्वज स्थिति-पालक नहीं थे। वे देश और काल को समझ कर अपने रीति-रिवाजों में परिवर्तन भी करना जानते थे और समय-समय पर परिवर्तन करते भी रहते थे। इसी फलस्वरूप यह समाज आज तक टिका हुआ है, सामयिक परिवर्तन के बिना समाज टिक नहीं सकता।

पूर्वजों के प्रति आस्था का सही रूप :

एक बात और विचारणीय है कि जो पोशाक पूर्वपुरुष पहनते थे, क्या वही पोशाक आज आप पहनते हैं? पूर्वज जो व्यापार-धन्धा करते थे, क्या वही आप आज करते हैं? पुरखा लोग जहाँ रहते थे, क्या वहीं आज आप रहते हैं? आपका आहार-विहार क्या अपने पूर्वजों के आहार-विहार के समान ही है? यदि इन सब बातों में परिवर्तन कर लेने पर भी आप अपने पूर्वजों की अवगणना नहीं कर रहे हैं और उनके प्रति आपकी आस्था ज्यों-की-त्यों विद्यमान है, तो क्या कारण है कि सामाजिक रीति-रिवाजों में समयोचित परिवर्तन कर लेने पर वह आस्था विद्यमान नहीं रह सकती?

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि यदि यह आस्था अपने पूर्वजों के प्रति सच्ची आस्था है, तो हमें उनके चरण-चिन्हों पर चल कर उनका अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए। जैसे उन्होंने अपने समय में परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके समाज को जीवित रखा और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उसी प्रकार आज हमें भी परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके, उसमें आए हुए विकारों को दूर करके, समाज को नव-जीवन देना चाहिए और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए।

अंध-प्रशंसा नहीं : सही अनुकरण :

वह पुत्र किस काम का है, जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, किन्तु जीवन में उनके अच्छे कार्यों का अनुकरण नहीं करता! सपूत तो वह है, जो पूर्वजों की भाँति, आगे आकर, समाज की स्थिति में कल्याणकारी गतिशील सुधार लाता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि दूसरे कौन क्या कहते हैं? सुधार करते हैं या नहीं? यदि पूर्वजों ने कायरता नहीं दिखलाई, तो आप आज कायरता क्यों दिखाते हैं?

धारणाओं की पंगुता :

आज सब जगह यही प्रश्न व्याप्त है। प्रायः सभी यही सोचते रहते हैं और सारे भारत को इसी मनोवृत्ति ने घेर रखा है कि—दूसरे वस्तु तैयार कर दें और हम उसका उपभोग कर लें। दूसरे भोजन तैयार कर दें और हम खा लिया करें। दूसरे कपड़े तैयार कर दें और हम पहन लें। दूसरे सड़क बना दें और हम चल लिया करें। स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते, प्रयत्न नहीं कर सकते और जीवन के संघर्षों से टक्कर भी नहीं ले सकते। अपना सहयोग दूसरों के साथ न जोड़ कर, सब यही सोचते हैं कि दूसरे पहले कर लें, तो फिर मैं उसका उपयोग कर लूं और उससे लाभ उठा लूं।

आज समाज-सुधार की बातें चल रही हैं। जिन बातों का सुधार करना है, वे किसी जमाने में ठीक रही होंगी, किन्तु अब परिस्थिति बदल गई है और वे बातें भी सड़-गल गई हैं तथा उनके कारण समाज बर्बाद हो रहा है अतः परिवर्तन उपेक्षित है। किन्तु खेद है, जब कोई सुधार करने का प्रश्न आता है, तो कहा यह जाता है कि पहले समाज ठीक कर ले, तो फिर मैं ठीक कर लूं, समाज रास्ता बना दे, तो मैं चलने को तैयार हूँ। परन्तु कोई भी आगे बढ़कर पुरुषार्थ नहीं करना चाहता, साहस नहीं दिखाना चाहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-सेवक का कर्तव्य :

काल-प्रवाह में बहते-बहते जो रिवाज सड़-गल गए हैं, उनके प्रति समाज को एक प्रकार से चिरंतनता का मोह हो जाता है। समाज परम्परा के सड़े-गले शरीर को भी छाती से चिपका कर चलना चाहता है। यदि कोई चिकित्सक उन सड़े-गले हिस्सों को अलग करना चाहता है, समाज को रोग से मुक्त करना चाहता है और ऐसा करके समाज के जीवन की रक्षा करना चाहता है, तो समाज तिलमिला उठता है, चिकित्सक को गालियाँ देता है और उसका अपमान करता है। किन्तु उस समय समाज-सेवक का क्या कर्तव्य है? उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं जिस समाज की भलाई के लिए काम करता हूँ, वह समाज मेरा अपमान करता है, तो मुझे क्यों इस झंझट में पड़ना चाहिए? मैं क्यों आगे आऊँ? उसका कर्तव्य है कि वह प्रसन्नता से अपमान के विष को पीए और समाज को मंगल-कल्याण का अमृत पिलाए।

नेतृत्व का सही मार्ग:

जब तक मनुष्य सम्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नहीं त्याग देता, तब तक वह समाज उत्थान के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य कभी समाज-सुधार के लिए नेतृत्व नहीं ग्रहण कर सकता।

स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति यह चाहता है कि समाज में वह जागृति और क्रांति लाए, उसके पुराने ढाँचे को तोड़ कर नया ढाँचा प्रस्तुत करे, तो आगे आने के लिए उसे पहले पहल अपमान की कड़ी चोट सहनी ही पड़ेगी। यदि नहीं सहेगा, तो वह आगे नहीं बढ़ पाएगा। भारत के मनीषियों का कहना है, कर्तव्य क्षेत्र में अपमान को आगे रखो और सम्मान को पीठ पीछे—

"अपमानं पुरस्कृत्य, मानं कृत्वा तु पृष्ठतः"

अपमान को देवता मानो :

यदि व्यक्ति समाज में क्रान्ति लाना चाहता है और समाज में नव-जीवन पैदा करना चाहता है, तो वह अपमान को देवता मानकर चले और यह समझ ले कि जहाँ भी जाऊँगा, मुझे अपमान का स्वागत करना पड़ेगा। वह सम्मान की ओर से पीठ फेर ले और समझ ले कि सारी जिन्दगी भर सम्मान से मुझे भेंट नहीं होने वाली है। और यह भी कि ईसा की तरह शूली पर चढ़ना होगा, फूलों की सेज पर बैठना मेरे भाग्य में नहीं बदा है। यदि ऐसी लहर लेकर चलेगा तभी व्यक्ति समाज का सही रूप से निर्माण कर सकेगा, अन्यथा नहीं।

मनुष्य टूटी-फूटी चीज को जल्दी सुधार देता है, और जब उस पर रंग-रोगन करना होता है, तो भी जल्दी कर देता है और उसे सुन्दर रूप से सजा कर खड़ी कर देता है। दीवारों पर चित्र बनाने होते हैं, तो सहज ही बना लिए जाते हैं। एक कलाकार लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा लेता है और उसे काट-छांट कर शीघ्र मूर्ति का रूप दे देता है। कलाकार के अन्तस्तल में जो भी भावना निहित होती है, उसी को वह मूर्त रूप में परिणत कर देता है। क्योंकि ये सब चीजें निर्जीव हैं, वे कर्ता का प्रतिरोध नहीं करतीं हैं, कर्ता की भावना के अनुरूप बनने में वे कोई हिचकिचाहट पैदा नहीं करती हैं।

किन्तु समाज ऐसा नहीं है। वह निर्जीव नहीं है। उसे पुरानी चीजों को पकड़ रखने का मोह है, हठ है। जब कोई भी समाज-सुधारक उसे सुन्दर रूप में बदलने के लिए प्रयत्न करता है, तो समाज काठ की तरह चुपचाप नहीं रह जाएगा कि कोई भी आरी चलाता रहे और वह कटता रहे। समाज की ओर से विरोध होगा और सुधारक को उसका डटकर सामना करना पड़ेगा। समाज सुधारक के अन्तर्मन में यह वज्र साहस होना ही चाहिए कि लोग गालियां देते रहें, और वह हंसता रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज सुधार प्रेम से ही सम्भव :

सभा में बैठकर प्रस्ताव पास कर लेने मात्र से भी समाज-सुधार होने वाला नहीं है। यदि ऐसा संभव होता, तो कभी का हो गया होता। समाज सुधार के लिए तो समाज से लड़ना होगा, किन्तु वह लड़ाई क्रोध की नहीं, प्रेम की लड़ाई होगी।

डॉक्टर जब किसी ग्रामीण अशिक्षित व्यक्ति के फोड़े की चीराफाड़ी करता है, तब वह गालियाँ देता है और चीराफाड़ी न कराने के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च कर देता है, किन्तु डाक्टर उस पर क्रोध नहीं करता, दया करता है और मुस्करा कर अपना काम करता जाता है। अन्त में जब रोगी को आराम हो जाता है, तो वह अपनी गालियों के लिए पश्चात्ताप करता है। सोचता है, उन्होंने तो मेरे आराम के लिए काम किया और मैंने उन्हें व्यर्थ में गालियाँ दीं। यह मेरी कैसी नादानी थी!

इसी प्रकार समाज की किसी भी बुराई को दूर करने के लिए प्रयत्न किया जाएगा, तो समाज चिल्लाएगा और छटपटाएगा, किन्तु समाज-सुधारक को समाज के प्रति कुछ भी बुरा-भला नहीं कहना है। उसे तो मुस्कराते हुए, सहज भाव से, चुपचाप, आगे बढ़ना है और अपमान के हलाहल विष को भी अमृत के रूप में ग्रहण करके अपना काम करते जाना है। यदि समाज सुधारक ऐसी भूमिका पर आ जाता है, तो वह अवश्य आगे बढ़ सकेगा, निर्धारित कार्य कर सकेगा। विश्व की कोई शक्ति नहीं, जो उसे रोक सके।

भगवान् महावीर की क्रांति :

भगवान् महावीर बड़े क्रान्तिकारी थे। जब उनका आविर्भाव हुआ, तब धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में और दूसरे अनेक क्षेत्रों में भी अनेकानेक बुराइयाँ घुसी हुई थीं। उन्होंने अपनी साधना परिपूर्ण करने के पश्चात् धर्म और समाज में जबर्दस्त क्रान्ति की।

जाति-प्रथा का विरोध :

भगवान् ने जाति-पाँति के बन्धनों के विरुद्ध सिंहनाद किया और कहा कि मनुष्य मात्र की एक ही जाति है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं है। लोगों ने कहा—यह नई बात कैसे कह रहे हो? हमारे पूर्वज कोई मूर्ख तो नहीं थे, जिन्होंने विभिन्न मर्यादा कायम करके जातियों का विभाजन किया। हम आप की बात मानने को तैयार नहीं है। किन्तु भगवान् ने इस चिल्लाहट की परवाह नहीं की, और वे कहते रहे—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।"

जाति के रूप में समग्र मनुष्य-जाति एक ही है। उसके वर्णों, जातियों में टुकड़े नहीं किए जा सकते। उसमें जन्मतः ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं है। श्रेष्ठता या हीनता जन्म पर नहीं; अच्छे, बुरे अपने कर्म पर आधारित है।

नारी-उत्थान का उद्घोष :

भगवान् ने एक और उद्बोधन दिया—तुम लोग महिला-समाज को गुलामों की तरह रख रहे हो, किन्तु वे भी समाज की महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उन्हें भी समाज में उचित स्थान मिलना चाहिए। इसके बिना समाज में समरसता नहीं आ सकेगी।

इस पर भी हजारों लोग चिल्लाए। कहने लगे—यह कहाँ से ले आए अपनी डफली, अपना राग? स्त्रियाँ तो मात्र सेवा के लिए बनी हैं, उन्हें कोई भी ऊँचा स्थान कैसे दिया जा सकता है?

केन्तु, भगवान् ने शान्त-भाव से जनता को अपनी बात समझाई और अपने संघ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वियों को वही स्थान दिया, जो साधुओं को प्राप्त था और श्राविकाओं को भी उसी ऊँचाई पर पहुँचाया, जिस पर श्रावक आसीन थे। भगवान् ने किसी भी योग्य अधिकार से महिला जाति को वंचित नहीं किया—पुरुषों के समान ही उसे गरिमा दी गई।

बलिप्रथा का विरोध :

यज्ञ के नाम पर हजारों पशुओं का बलिदान किया जा रहा था। पशुओं पर घोर अत्याचार हो रहे थे, घोर पाप का राज्य छाया हुआ था और समाज के पशुधन का कत्ले-आम हो रहा था। यज्ञों में हिंसा तो होती ही थी, उसके कारण राष्ट्र की आर्थिक स्थिति भी डाँवाडोल हो रही थी। भगवान् ने इन हिंसात्मक यज्ञों का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया।

उस समय समाज की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में थी। राजा क्षत्रिय थे। और वे प्रजा पर शासन करते थे, किन्तु राजा पर भी शासन ब्राह्मणों का था। इस रूप में उन्हें राजशक्ति भी प्राप्त थी और प्रजा के मानस पर भी उनका आधिपत्य था। वास्तव में ब्राह्मणों का उस समय बड़ा वर्चस्व था, यज्ञों की बदौलत ही हजारों-लाखों ब्राह्मणों का भरण-पोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति में, कल्पना की जा सकती है कि भगवान् महावीर के यज्ञविरोधी स्वर का कितना प्रचण्ड विरोध हुआ होगा! खेद है कि उस समय का कोई क्रमबद्ध इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है, जिससे हम समझ सकें कि यज्ञों का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर को कितना संघर्ष करना पड़ा और क्या-क्या सहन करना पड़ा। फिर भी आज जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका डटकर विरोध किया गया और खूब बुरा-भला कहा गया। पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उन्हें नास्तिक और आसुरी प्रकृति वाला तक कहा गया और अनेक तिरस्कारपूर्ण शब्द-बाणों की भेंट चढ़ाई गई। उन पर समाज के आदर्श को भंग करने का दोषारोपण तक भी किया गया।

फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग :

अभिप्राय यह है कि अपमान का उपहार तो तीर्थंकरों को भी मिला है। ऐसी स्थिति में हम और आप यदि चाहें कि हमें सब जगह सम्मान ही सम्मान मिले, तो यह कदापि संभव नहीं। समाज-सुधारक का मार्ग फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग है। उसे सम्मान पाने की अभिलाषा त्याग कर अपमान का आलिंगन करने को तैयार होना होगा, उसे प्रशंसा की इच्छा छोड़कर निन्दा का जहर पीना होगा, फिर भी शान्त और स्थिर भाव से सुधार के पथ पर अनवरत चलते रहना होगा। समाज-सुधारक एक क्रम से चलेगा। वह आज एक सुधार करेगा, तो कल दूसरा सुधार करेगा। पहले छोटे-छोटे टीले तोड़ेगा, फिर एक दिन हिमालय भी तोड़ देगा।

जागृति और साहस :

इस प्रकार, नई जागृति और साहसमयी भावना लेकर ही समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा और अपने जीवन को प्रशस्त बनाना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ, तो समाज-सुधार की बातें भले कर ली जाएँ, किन्तु वस्तुतः समाज का सुधार नहीं हो पाएगा।

समाज-सुधार का मूल-मन्त्र :

शिशु जब माँ के गर्भ से जन्म लेकर भूतल पर पहला पग रखता है, तभी से समष्टि-जीवन के साथ उसका गठबन्धन आरम्भ हो जाता है। उसका समाजीकरण उसी उषा-काल से होना आरम्भ हो जाता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर से अलग किसी अवयव-विशेष का कोई महत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार व्यक्ति का भी समाज से भिन्न कोई अस्तित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता है। किन्तु जिस प्रकार समग्र शरीर में किसी अवयव-विशेष का भी पूरा-पूरा महत्त्व होता है, व्यक्ति का भी उसी प्रकार समष्टि-जीवन में महत्त्व है। इस प्रकार अरस्तु ने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' इस प्रकार अंगांगी-सावयव सिद्धान्त के आधार पर हम देखते हैं कि व्यक्ति और समाज के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक-दूसरे का पूरक है, एक दूसरे का परिष्कार एवं परिवर्द्धन करने वाला है। अतः दोनों का यह पावन कर्तव्य हो जाता है कि दोनों ही परस्पर सहयोग, सहानुभूति एवं सम्यक् संतुलन रखते हुए समष्टि रूप से मानव-जीवन का उत्थान करें।

महात्मा गाँधी ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने सर्वोदयवाद की पीठिका का निर्माण किया था कि—"सबों के द्वारा सबों का उदय ही सर्वोदय है।" अर्थात् जब सभी एक-दूसरे के साथ मिलकर, परस्पर अनुरागबद्ध होकर, परस्पर सब के उत्थान का, हित का चिंतन करेंगे तथा तदनुरूप कार्य-पद्धति अपनाएंगे, तो समाज का स्वतः सुधार हो जाएगा।" सामाजिक पुनर्गठन अथवा पुनरुद्धार की जो बात महात्माजी ने चलाई, उसके मूल में यही भावना निहित थी। सहस्राधिक वर्ष पूर्व महान् आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर के धर्मतीर्थ को इसी व्यापक भाव में सर्वोदय-तीर्थ के पवित्र नाम से अभिहित किया था—"सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।"

तात्पर्य यह कि समाज का सुधार तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच परस्पर बन्धुत्व की उत्कट भावना, कल्याण का सरस प्रवाह हिलोरें मार रहा हो। इसी बन्धुत्व भाव के आधार पर दुनिया की तमाम असंगतियाँ, अव्यवस्थाएँ, अनीतिता, अनयता एवं अनाचारिता का मूलोच्छेदन हो जाएगा और समाज उत्थान की उच्चतम चोटी पर चढ़कर कल्याण की वंशी टेरने लगेगा। यही सारे सुधारों का केन्द्रबिन्दु है। भूतल को स्वर्ग बनाने का यही एक अमोघ मन्त्र है।

आज की गालियाँ : कल का अभिनन्दन :

स्मरण रखिए, आज का समाज गालियाँ देगा, किन्तु भविष्य का समाज 'समाज-निर्माता' के रूप में आपको सादर स्मरण करेगा। आज का समाज आपके सामने काँटे बिखेरेगा, परन्तु भविष्य का समाज श्रद्धा की सुमन-अंजलियाँ भेंट करेगा। अतएव आप भविष्य की ओर ध्यान रखकर और समाज के वास्तविक कल्याण का विचार करके, अपने मूल केन्द्र को सुरक्षित रखते हुए, समाज-सुधार के पुनीत कार्य में जुट जाएँ, भविष्य आपका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७

विद्यार्थी-जीवन : एक नव-अंकुर

विद्यार्थी-जीवन एक बहुत ही विस्तृत एवं व्यापक जीवन का पर्याय है। इसकी कोई सीमाएँ-परिसीमाएँ नहीं हैं। जिज्ञासु-मानव, जीवन के जिस अंतराल में जीवन की तैयारी की शिक्षा—अध्ययन, मनन, चिंतन एवं अपनी अनुभूतियों द्वारा—ग्रहण करता है, हम इसे ही विद्यार्थी का जीवन किंवा छात्र-जीवन कहते हैं। सिद्धान्त की बात यह है कि छात्र-जीवन का सम्बन्ध किसी आयु-विशेष के साथ नहीं है। यह भी नहीं है कि जो किसी पाठ-शाला—विद्यालय या महाविद्यालय में नियमित रूप से पढ़ते हैं, वे ही छात्र कहलाएँ। मैं समझता हूँ कि जिसमें जिज्ञासा वृत्ति अंतर्हित है, जिसे कुछ भी नूतन ज्ञान अर्जित करने की इच्छा है, वह मनुष्यमात्र विद्यार्थी है, चाहे वह किसी भी आयु का हो अथवा किसी भी परिस्थिति में रहता हो। और यह जिज्ञासा की वृत्ति किसमें नहीं होती ? जिसमें चेतना है, जीवन है, उसमें जिज्ञासा अवश्य ही होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य, जन्म से लेकर मृत्यु की अन्तिम घड़ी तक, विद्यार्थी ही बना रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो बड़े-बूढ़े हैं, जिन्होंने अपने जीवन में सत्य का प्रकाश प्राप्त कर लिया है और जिनकी चेतना पूर्णता पर पहुँच चुकी है, आगम की वाणी में जिन्होंने सर्वज्ञता पा ली है, वे विद्यार्थी न रह कर विद्याधिपति हो जाते हैं। उन्हें आगम में 'स्नातक' कहते हैं। और, जो अभी तक शास्त्रोक्त इस स्नातक-अवस्था की पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाए हैं, भले ही वे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक ही क्यों न हो चुके हों, वास्तव में विद्यार्थी ही हैं। इस दृष्टि से मनुष्यमात्र विद्यार्थी है। और उसे विद्यार्थी बनकर ही रहना चाहिए। इसी में उसके जीवन का सही विकास निहित है।

मनुष्य मात्र ही विद्यार्थी :

अपने जीवन में मनुष्य विद्यार्थी ही है और साथ ही मनुष्य मात्र ही विद्यार्थी है। आप जानते हैं कि पाठशालाएँ नरक और स्वर्ग में नहीं हैं। और, पशुयोनि में हजारों-लाखों जातियाँ होने पर भी उनके लिए कोई स्कूल नहीं खोले गए हैं। आमतौर पर पशुओं में तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं होती और न ही जीवन को समझने की कोई लगन देखी जाती है। तो एक तरफ सारा संसार है और दूसरी तरफ अकेला मनुष्य है। जब हम इस विराट् संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो उसके विकास पर सब जगह मनुष्य की छाप लगी हुई स्पष्ट दिखाई देती है और जान पड़ता है कि एकमात्र मनुष्य ने ही संसार को यह विराटता प्रदान की है।

संसार की विराटता और जिज्ञासा :

मनुष्य ने संसार को जो विराट् रूप प्रदान किया, उसके मूल में उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य में ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही ऊँचाई पर क्यों न रहते हों, उनको भी विद्यार्थी का महिमावान पद प्राप्त नहीं है। यह तो मनुष्य ही है, जो विचार का प्रकाश लेने को आगे बढ़ा है और जो अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोलकर सब ओर प्रकाश लेने और देने के लिए आगे आया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य, एक विराट् शक्ति केन्द्र है। वह केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र नहीं है, जो सिर को ऊपर उठाए दो पैरों के बल पर खड़ा होनेवाला कोई बानर हो। वह केवल शारीरिक ऊँचाई ही नहीं रखता, उसकी मानसिक उच्चता भी महान् है, जो उसे प्राणि-जगत् में श्रेष्ठता प्रदान करती है।

मानव की विकास-कालीन बाह्य परिस्थितियाँ :

आप देखें और सोचें, कर्मभूमि के प्रारम्भ में, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारम्भ हुआ था, तब मनुष्य को क्या प्राप्त था ? भगवान् ऋषभदेव के समय से पूर्व उसको केवल बड़े-बड़े पर्वत, मैदान, लम्बी-चौड़ी पृथ्वी, जंगल और नदी-नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोंपड़ी भी नहीं थी और न वस्त्र के नाम पर एक धागा ही था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक दाना था, न बर्तन थे, न चूल्हा था, न चक्की थी। कुछ भी तो नहीं था। मतलब यह कि एक ओर मनुष्य खड़ा था और दूसरी ओर थी प्रकृति, जो मौन और चुप थी। पृथ्वी और आकाश, दोनों मौन थे।

उसके बाद भगवान् ऋषभदेव के नेतृत्व में मानव की विकास-यात्रा शुरू हुई, तो एक विराट् संसार खड़ा हुआ और नगर बस गए। मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण कायम किया और उत्पादन की ओर गति की। फलतः मनुष्य ने स्वयं खाया और सारे जग को खिलाया। स्वयं का तन ढंकने के साथ, दूसरों के तन भी ढांके। और उसने केवल इसी दुनिया की ही तैयारी नहीं की, प्रत्युत उसके आगे का भी मार्ग तय किया। अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य की बातें प्रकाशमान हो गईं और विश्व का विराट् चिन्तन हमारे सामने प्रस्तुत हो गया।

वह समय युगलियों का था। वह ऐसा काल था, जब मनुष्य पृथ्वी पर पशुओं की भाँति घूम रहा था। उसके मन में इस दुनिया को तथा अगली दुनिया को समझने तक का कोई प्रश्न न था। फिर यह सब कहाँ से आ गया ? स्पष्ट है, इसके मूल में मनुष्य की प्रगतिशील भावना ही काम कर रही थी। उसने युगों से प्रकृति के साथ संघर्ष किया और एक दिन उसने प्रकृति और पृथ्वी पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया, एक नई सृष्टि बना कर खड़ी कर दी।

मनुष्य को बाहर की प्रकृति से ही नहीं, अन्दर की प्रकृति से भी लड़ना पड़ा अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि की अपनी वासनाओं से भी खूब लड़ना पड़ा। उसने अपने हृदय को खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यहाँ कौन-सा हमारे कल्याण का मार्ग है और कौन-सा अकल्याण का। हमारे व्यक्तिगत जीवन में तथा राष्ट्र के जीवन में क्या उपयोगी है, और क्या अनुपयोगी ?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेषण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेषण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक बन रहे हैं और कहाँ स्वर्ग बन रहे हैं ? कहाँ बन्धन खुल रहे हैं और कहाँ बँध रहे हैं ? हम किस रूप में संसार में आए हैं, और अब हमें लौटना किस रूप में है ?

मानव-मस्तिष्क : ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र :

इस प्रकार बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया, वह सब मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही ज्ञान की सारी धाराएँ फूटी हैं। यह अलंकार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र प्रभृति नाना विषय मानव-मस्तिष्क से ही निकले हैं। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते हैं, सभी कुछ मनुष्य के मस्तिष्क की ही देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है तथा वह यह सोचता और मार्ग खोलता है कि अपने इस प्राप्त मानव-जीवन का उपयोग क्या है ? इसको विश्व से कितना कुछ पाना है और विश्व को कितना कुछ देना है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर बढ़ता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। परन्तु यह सब संभव तभी हुआ, जबकि वह प्रकृति की पाठशाला में एक विनम्र विद्यार्थी होकर प्रविष्ट हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जब तक विद्यार्थी रहेगा उसका विकास बराबर होता रहेगा।

अक्षर-ज्ञान ही शिक्षा नहीं :

अक्षरों की शिक्षा ही सब-कुछ नहीं है। कोरी अक्षर-शिक्षा में जीवन का विकास नहीं हो सकता। जब तक अपने और दूसरे के जीवन का ठीक अध्ययन नहीं है, व्यापक बुद्धि नहीं है, समाज और राष्ट्र की गुत्थियों को सुलझाने की और अमीरी तथा गरीबी के प्रश्नों को हल करने की क्षमता नहीं आती है, तब तक शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है। केवल पुस्तकें पढ़ लेने का अर्थ शिक्षित हो जाना नहीं है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः"

अर्थात् बड़े-बड़े पोथे पढ़ने वाले भी मूर्ख होते हैं। जिसने शास्त्र तोते की तरह रट कर मात्र कंठस्थ कर लिए हैं, किन्तु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की बुद्धि नहीं पाई है, उसके शास्त्र-पठनन का कोई मूल्य एवं अर्थ नहीं है। इस तरह के शुक-अध्ययन के सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु ने ठीक ही कहा है—"गधे की पीठ पर चन्दन की बोरियाँ भर-भर कर लाद दी गईं, काफी वजन लद गया, फिर भी उस गधे के भाग्य में क्या है? जो बोरियाँ लद रही हैं, वे उसके लिए क्या हैं? उसकी तकदीर में तो बोझ ढोना ही बदा है। उसके ऊपर चाहे लकड़ियाँ लाद दी जाएँ या चन्दन, हीरे और जवाहरात लाद दिए जाएँ, या मिट्टी-पत्थर, वह तो सिर्फ वजन ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्त्व और मूल्य आंक पाना उसके भाग्य में नहीं है।"[1]

विद्या का वास्तविक अर्थ :

कुछ लोग शास्त्रों को और विद्याओं को, चाहे वह इस लोक-सम्बन्धी हों या परलोक सम्बन्धी, भौतिक विद्याएँ हों या आध्यात्मिक विद्याएँ, सबको अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे हैं, किन्तु वस्तुतः ये केवल उस गधे की तरह ही मात्र भार ढोने वाले हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की गूढ़ फक्किकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है? क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है? वह ज्ञान ही क्या, वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो? जो जीवन की बेड़ियाँ न तोड़ सकती हो, ऐसी विद्या बन्ध्या है, ऐसा ज्ञान निष्फल है। ऐसी शिक्षा तोतारटंत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए ठीक ही कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

अर्थात् विद्या वही है, जो हमें विकारों से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमें स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनों को तोड़ने वाली हो।

मुक्ति का अर्थ है—स्वतन्त्रता। समाज की कुरीतियों, कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों, गलतफहमियों और बहमों से, जिनसे वह जकड़ा है, छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

---

१. जहा खरो चंदण-भारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स।—आवश्यक निर्युक्ति, १००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के छात्र और फैशन :

आज के अधिकांश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बन्धनों में पड़े हैं, फिर भी फैशन की फाँसी उनके गले से नहीं छूटती। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूँ, क्या तुम्हारी विद्या इन बन्धनों के कारागार से मुक्त होने को उद्यत है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों की दीवारों को तोड़ने को तैयार है? यदि तुम अपने बन्धनों को ही तोड़ने में समर्थ नहीं हो, तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनों की दीवारों को तोड़ने में कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनों को तोड़ने का सामर्थ्य प्राप्त करो, तभी राष्ट्र और समाज के बन्धनों को काटने के लिए शक्तिमान हो सकोगे। और, यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों को तोड़ने में समर्थ नहीं है, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है, अतः उसका उचित फल तुम्हें नहीं मिलने का।

शिक्षा और कुशिक्षा :

यदि तुमने अध्ययन करके किसी भद्र व्यक्ति की आँखों में धूल झोंकने की चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या ही सीखी है, तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नहीं, कुशिक्षा ही पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक भयानक होती है। कभी-कभी पढ़े-लिखे आदमी अनपढ़ एवं अशिक्षितों से भी कहीं ज्यादा मक्कारियाँ सीख लेते हैं। स्पष्ट है, यह ऐसी शिक्षा, शिक्षा नहीं है, ऐसी कला, कला नहीं है, वह तो धोखेबाजी है, आत्म-वंचना है। और, ऐसी आत्म-वंचना है, जो जीवन को बर्बाद कर देने में सहज समर्थ है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य :

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है? शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ दबी पड़ी हैं, उन्हें प्रकाश में लाना ही शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शक्ति के विकास में शिक्षा की सफलता नहीं है, अपितु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण में प्रयुक्त होती हैं, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे हैं कि मस्तिष्क की शक्तियों का विकसित हो जाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है, परन्तु यह समझ सर्वथा अधूरी है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ हृदय का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और वह विकास अपनी और अपने समाज एवं देश की भलाई के काम आना चाहिए, तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अध्ययन-काल की निष्ठा :

जो छात्र प्रारम्भ से ही समाज और देश के हित का पूरा ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है, वही आगे चलकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। ऐसा करने पर बड़ी-से-बड़ी उपाधियाँ उनके चरणों में आकर स्वयं लौटने लगती हैं। प्रतिष्ठा उनके सामने स्वयं हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं। विद्याध्ययन काल में विद्यार्थी की लगन एवं निष्ठा ही भविष्य में उसकी विद्या को सुफलदायिनी बनाती है।

विद्यार्थी जीवन : एक नव-अंकुर :

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ नव-अंकुर है। उसे प्रारम्भ से ही सार-संभाल कर रखा जाए, तो वह पूर्ण विकसित हो सकता है। बड़ा होने पर उसे सुन्दर बनाना, बहुत मुश्किल हो जाता है। आपने देखा होगा—घड़ा जब तक कच्चा होता है, तब तक कुम्हार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा बना सकता है। किन्तु, वही घड़ा जब आपाक में पक जाता है, तब कुम्हार की कोई ताकत नहीं कि वह उसे छोटा या बड़ा बना सके, उसकी आकृति में कुछ भी अभीष्ट परिवर्तन कर सके।

यही बात छात्रों के सम्बन्ध में भी है। माता-पिता चाहें तो प्रारम्भ से ही बालकों को सुन्दर शिक्षा और सुसंस्कृत वातावरण में रखकर उन्हें राष्ट्र का होनहार नागरिक बना सकते हैं। वे अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चों का वर्तमान एवं भावी जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना होता है। वे चाहें तो उसे बिगाड़ सकते हैं और चाहें तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतों को बनाना उन्हीं के हाथ में है।

वर्तमान विषाक्त वातावरण, और हमारा दायित्व :

दुर्भाग्य से आज इस देश में चारों ओर घृणा, विद्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता-पिता कहलाने वालों में भी दुर्गुण भरे पड़े हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों में सुन्दर संस्कारों का बीजारोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि उनकी जिम्मेदारी केवल सन्तान को उत्पन्न करने और पालन-पोषण करने मात्र में ही पूर्ण नहीं हो जाती है। जब तक सन्तान को, सुशिक्षित एवं सुसंकार-सम्पन्न नहीं बना दिया जाता, तब तक वह पूरी नहीं होती।

आज, जबकि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रों के जीवन का सही निर्माण करने की बड़ी आवश्यकता है। छात्रों का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, और न केवल पाठशाला में ही। बालक घर में संस्कार ग्रहण करता है और पाठशाला में शिक्षा। दोनों उसके जीवन-निर्माण के स्थल हैं। अतएव घर और पाठशाला, दोनों ही जगह परस्पर यथोचित सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनों ही जगह के वायु-मण्डल को एक-दूसरे का पूरक और पृष्ठ-पोषक होना चाहिए।

आज, घर और पाठशाला में कोई सम्पर्क नहीं है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे बालक के घर के वातावरण की कल्पना तक नहीं होती। और, माता-पिता प्रायः पाठशाला से अनभिज्ञ होते हैं। पाठशाला में जाकर बालक क्या सीखता है और क्या करता है, प्रायः माँ-बाप इस पर ध्यान नहीं देते हैं। बालक स्कूल चला गया और माता-पिता को छुट्टी मिल गई। फिर वह वहाँ जाकर कुछ करे या न करे, और कुछ सीखे या न सीखे, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है। यह उपेक्षा-बुद्धि बालक के जीवन-निर्माण में बहुत घातक होती है।

सत्य और असत्य की विसंगति का कारण :

घर और पाठशाला के वायुमंडल में भी प्रायः विरूपता देखी जाती है। पाठशाला में बालक नीति की शिक्षा लेता है और सच्चाई का पाठ पढ़ कर आता है। वह जब घर आता है या दुकान पर जाता है, तो वहाँ वह असत्य का साम्राज्य पाता है। बात-बात में माता-पिता असत्य का प्रयोग करते हैं। शिक्षक सत्य बोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य बोलने का सबक सिखलाते हैं। इस तरह से परस्पर विरोधी वातावरण में पड़ कर बालक दिग्भ्रान्त हो जाता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे शिक्षक के बताए मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता-पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर। कुछ समय तक उसके अन्तःकरण में संघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक निष्कर्ष निकाल लेता है। निष्कर्ष यह कि वैसे तो सत्य ही उचित है, किन्तु जीवन व्यवहार में प्रयोग असत्य का ही करना चाहिए। इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन में विरूपता आ जाती है। वह कहता है, नीति की बात, परन्तु चलता है, अनीति की राह पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालक के निर्माण में माता-पिता का हाथ :

माता-पिता यदि बालक में नैतिकता को उभारना चाहते हैं, तो उन्हें अपने घर को भी पाठशाला का रूप देना चाहिए। बालक पाठशाला से जो पाठ सीख कर आए, घर उसके प्रयोग की भूमि तैयार करे। इस प्रकार उसका जीवन भीतर-बाहर से एकरूप बनेगा और उसमें उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। तब कहीं वह अपनी जिन्दगी को शानदार बना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कहीं भी रहेगा, वह सर्वत्र अपने देश, अपने समाज और अपने माता-पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ़-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नहीं करेगा, देश के लिए भार और कलंक नहीं बनेगा, बल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर की ऊँचाई को ऊँची-से-ऊँची चोटी पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को भी पवित्र बना पाएगा।

पिता-पुत्र का संघर्ष :

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क में बहुत बड़ा विभेद खड़ा हो गया है। विद्यार्थी पढ़-लिख कर एक नये जीवन में प्रवेश करता है, एक नया स्पन्दन लेकर आता है, अपने भविष्य-जीवन को अपने ढंग से बिताने के मंसूबे बाँध कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है। परन्तु, उसके माता-पिता पुराने विचारों के होते हैं। उन्हें न तो अपने लड़के की जिज्ञासा का पता चलता है और न वे उस ओर ध्यान ही दे पाते हैं। वे एक नये गतिशील संसार की ओर सोचने के लिए अपने मानस-पट को बन्द कर लेते हैं। पर, जो नया खिलाड़ी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देखकर पिता से संघर्ष करने को तत्पर हो जाता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेंगे, जहाँ पिता-पुत्र के बीच आपसी संघर्ष चलते रहते हैं। पुत्र अपनी आकांक्षाएँ पूरी न होते देख कर जीवन से हताश हो जाता है, फलतः कभी-कभी चुपके-से घर छोड़कर पलायन भी कर जाता है। आए दिन अखबारों में छपने वाली 'गुमशुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत-कुछ इसी संघर्ष का परिणाम है। कभी-कभी आवेश में आकर आत्मघात करने की नौबत भी आ पहुँचती है, ऐसी अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं। दुर्भाग्य की बात समझिए, कि भारत में पिता-पुत्र के संघर्ष ने गहरी जड़ जमा ली है।

माता-पिता का दायित्व :

आज की इस तीव्रगति से आगे बढ़ती हुई युगधारा के बीच प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे इस गतिधारा को पहचानें। वे स्वयं जहाँ हैं, वहीं अपनी सन्तान को रखने की अपनी व्यर्थ की चेष्टा का त्याग कर दें। ऐसा नहीं करने में स्वयं उनका और उनकी सन्तान का कोई भी हित नहीं है। अतएव आज प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी सन्तान को अपने विचारों में बाँध कर रखने का प्रयत्न न करें, उसे युग के साथ चलने दें। हाँ, इस बात की सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि सन्तान कहीं अनीति की राह पर न चल पड़े। परन्तु, इसके लिए उनके पैरों में बेड़ियाँ डालने की कोशिश न करके उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और अपना पथ आप प्रशस्त करने का प्रयत्न उन्हें करने देना चाहिए।

बालकों का दायित्व :

मैं बालकों से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता-पिता की मानसिक स्थिति को समझें और अपने सुन्दर, शुभ एवं प्रगतिशील विचारों पर दृढ़ रहते हुए, नम्रतापूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करें, परन्तु साथ ही माता-पिता को भी कष्ट न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त में उन सद्विचारों की प्रगतिशीलता की ही विजय होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रामक धारणाएँ :

बहुत से माता-पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रों से लड़-झगड़ कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लड़कियों के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। प्रायः लड़कियों का जीवन तो तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है।

इस प्रकार, समाज में जब होनहार युवाशक्ति के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है। उनको अपने माता-पिता से जीवन बनाने की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती। माता-पिता उलट उनके मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। उन्हें रोजमर्रा के परम्परागत व्यापार की चक्की में जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवकों को पैसा बनाने की मशीन बना देते हैं, जीवन की ओर कतई ध्यान नहीं दिया जाता। देश के हजारों नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घड़ियों को खो कर केवल पैसे कमाने की कला में ही लग जाते हैं। इसलिए समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नहीं बन पाते।

तोड़ना नहीं, जोड़ना सीखें :

लेकिन छात्रों को किसी से अपने सम्बन्ध तोड़ने नहीं हैं, सबके साथ सम्यक् व्यवहार करना है। हमें जोड़ना सीखना है, तोड़ना नहीं। तोड़ना आसान है, पर जोड़ना कठिन है। जो मनुष्य किसी-न-किसी रूप में हर एक से जोड़ने की कला सीख जाता है, वह जीवन-संग्राम में कभी भी हार नहीं खाता। वह विजयी होकर ही लौटता है।

श्री अब्दुर्रहीम खानखाना, अपने युग के एक महान् विचारक, प्रबुद्ध सेनापति हुए हैं। उन्होंने कहा था—

"मेरा काम तोड़ना नहीं, जोड़ना है। मैं तो सोने का घड़ा हूँ, टूटने पर सौ बार जुड़ जाऊँगा। मैं जीवन में चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड़ गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घड़ा नहीं हूँ, जो एक बार टूटने पर फिर कभी जुड़ता ही नहीं। मैंने अपनी जिन्दगी में मात्र जुड़ना ही सीखा है।" उनकी इस बात का उनकी अपनी सेना और पुरजन-परिजनों पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा।

तो छात्रों को सोने के घड़े की तरह, माता-पिता द्वारा चोट पहुँचाए जाने पर भी टूट कर जुड़ जाना चाहिए, बर्बाद न हो जाना चाहिए।

असफलता ही, सफलता की जननी है :

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एक बार थोड़ा-सा असफल हो जाने पर निराश हो जाता है। बस एकबार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। परन्तु जीवन में सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले, असफलता का मुंह कभी भी देखना न पड़े, यह कदापि सम्भव नहीं। सच्चाई तो यह है कि असफलता से टकराव के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह कहीं और अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह यदि असफलता का भी स्वागत नहीं कर सकते, तो कम-से-कम उससे हताश तो नहीं ही होना चाहिए। असफल होने पर मन में धैर्य की मजबूत गाँठ बाँध लेनी चाहिए, घबराना कभी भी नहीं चाहिए। असफल होने पर घबराना, पतन का चिन्ह है, और धैर्य रखना, उत्साह रखना, उत्थान का चिन्ह है। उत्साह सिद्धि का मन्त्र है। छात्रों को असफल होने पर भी नीचे जोर से पटकी हुई गेंद की तरह पुनः उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साहित होकर अपना काम छोड़कर बैठ नहीं जाना चाहिए। कहा भी है—'असफलता ही सफलता की जननी और आनन्द का अक्षय भण्डार है।'

परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या करने की खबरें, आए दिन समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। विद्यार्थियों के लिए यह बड़े कलंक की बात है। चढ़ती हुई जवानी में तो मनुष्य को उत्साह और पौरुष का मूर्तिमान रूप होना चाहिए, उसमें असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने का हौसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारे तोड़ लाने तक का साहस होना चाहिए, बड़ी-से-बड़ी कठिनाई को भी पार कर जाने की हिम्मत होनी चाहिए। यदि वे साहस की प्रतिमूर्ति हो कर भी परीक्षा आदि में अनुत्तीर्ण होने मात्र से हताश हो कर आत्मघात के लिए तैयार हो जाएँ, यह उन्हें शोभा नहीं देता। छात्रों में इस प्रकार की दुर्बलता का होना राष्ट्र के भविष्य के लिए भी महान् चिन्ता की बात है।

छात्रों की मानसिक दुर्बलता का कारण :

आज छात्रों के मन में जो इतनी दुर्बलता आ गई है, उसका कारण उनके अभिभावकों की भूल है। वे महल तो गगन-चुम्बी तैयार करना चाहते हैं, परन्तु उसमें सीढ़ी एक भी नहीं लगाना चाहते। और, बिना सीढ़ी के महल में रहना पसन्द ही कौन करेगा? माता-पिता प्रारम्भिक संस्कार सीढ़ियाँ बनने नहीं देते और उन्हें पैसा कमाने के गोरखधंधे में डाल देने की ही धुन में लगे रहते हैं।

ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कहानी में लिखा है—

एक सेठ ने एक बड़ा इंजीनियर रख कर एक बहुत बड़ा दो मंजिल का सुन्दर महल बनवाया। लोग सेठ के महल को देखने आये। पहली मंजिल बड़ी शानदार बनी थी। उसे देखभाल कर जब वे दूसरी मंजिल पर जाने लगे तो सीढ़ियाँ ही नहीं मिलीं। इधर देखा, उधर देखा, परन्तु सीढ़ियों का कहीं कोई पता न चला। आखिरकार वे सेठ को कहने लगे—"सेठजी यह क्या ताबूत खड़ा कर दिया है? ऊपर की मंजिल में जाने के लिए तो सीढ़ियाँ तक भी नहीं बनवाई हैं। आपकी वह ऊपर की मंजिल किस काम आएगी? लोगों की आलोचना सुनकर सेठजी अपनी भूल पर मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे।"

कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त सेठ की तरह इंजीनियररूपी शिक्षक लगाकर माता-पिता छात्ररूपी महल तो खड़ा कर लेते हैं, वह दिखाई भी बड़ा शानदार देता है, परन्तु उसमें सुसंस्कारों की सीढ़ियाँ नहीं लग पातीं। इस कारण वह महल निरुपयोगी हो जाता है और सूना होकर पड़ा-पड़ा खराब हो जाता है। संस्कारों के अभाव में वह जिन्दगी बर्बाद हो जाती है। ऐसे छात्र छोटी-छोटी बात पर भी माता-पिता को धमकी दे कर घर तक से निकल भागते हैं।

लड़कों की आत्महत्या और उनके फरार होने का उत्तरदायित्व माताओं पर भी कम नहीं है। वे पहले तो लड़के को लाड़-प्यार करके सिर चढ़ा लेती हैं, उसे बिगाड़ देती हैं, उसे उच्छृंखल बना देती हैं, और जब वह बड़ा होता है, तो उसकी इच्छाओं पर कठिन प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर देती हैं। जब लड़का अपने चिर-परिचित वातावरण और व्यवहार के विरुद्ध आचरण देखता है, तो उसे सहन नहीं कर पाता और फिर आवेश में न करने योग्य काम भी कर बैठता है।

छात्रों की दुर्बलता : उनका महान् कलंक :

कारण चाहे कुछ भी हो, कहीं से भी हो, हमारे नव-युवकों की यह दुर्बलता उनके लिए कलंक की बात है। नवयुवक को तो प्रत्येक परिस्थिति का दृढ़ता और साहस के साथ सामना करना चाहिए। उसे प्रतिकूलताओं से जूझना चाहिए, असफलताओं से लड़ना चाहिए, विरोध के साथ संघर्ष करना चाहिए, कठिनाइयों को कुचल डालने के लिए तैयार रहना चाहिए और बाधाओं को उखाड़ फेंकने की हिम्मत अपने अंतर्मन में रखनी चाहिए। उसे कायरता नहीं सोहती। दुर्बलता उसके पास फटकनी नहीं चाहिए। आत्मघात का विचार साहसी पुरुषों का नहीं, अपितु वह अतिशय नामर्दों, कायरों और बुजदिलों का मार्ग है।

जीवन से उदासीनता : आत्मा का अपमान :

किसी भी प्रकार की असफलता के कारण जीवन से उदासीन हो जाना अपने शौर्य का, अपने पौरुष का, अपने पराक्रम का और अपनी आत्मा का अपमान करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक आचार्य कहते हैं :—'**नात्मानमवमन्येत।**' अर्थात्—अपनी आत्मा का अपमान मत करो। तुम्हें मनुष्य की जिन्दगी मिली है, तो उसका सदुपयोग करो। यदि तुम्हें देश के नैतिक स्तर को उठाना है, तो जीवन में प्रारम्भ से ही ऊँचे संस्कार डालो। अच्छे संस्कार केवल पोथियाँ पढ़ने से नहीं, सत्संगति से ही प्राप्त होते हैं। अतएव पढ़ने-लिखने से जो समय बचे, उसे श्रेष्ठ सदाचारी पुरुषों और सन्तों के सम्पर्क में लगाना चाहिए।

छात्र और चलचित्र :

आजकल अधिकांश विद्यार्थियों का संध्या का समय प्रायः चलचित्र देखने में व्यतीत होता है। चारों ओर आज चलचित्रों की धूम मची है। स्वीकार करना चाहिए कि सिनेमा से लाभ भी उठाया जा सकता है, परन्तु हमारे यहाँ जो फिल्में आजकल बन रही हैं, वे जनता को लाभ पहुँचाने की बात तो दूर, उलटे उसकी जगह हानि ही ज्यादा पहुँचाती हैं। उनसे समाज में बहुत सी बुराइयाँ फैली हैं और आज भी फैल रही हैं। प्रायः बाजारू प्रेम के किस्से और कुरुचिपूर्ण गायन तथा नृत्य आदि के प्रदर्शन बालकों के अपक्व मस्तिष्क में जहर भरने का काम कर रहे हैं। छोटे-छोटे अबोध बालक और नवयुवक जितना इन चित्रों को देखकर बिगड़ते हैं, उतना शायद किसी दूसरे तरीके से नहीं बिगड़ते।

यूरोप आदि देशों में बालकों को सहज रूप में विविध विषयों की शिक्षा देने के लिए चलचित्रों का उपयोग किया जाता है। वहाँ के समाज ने इस कला का सदुपयोग किया है। परन्तु, हमारे यहाँ इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। खेद है, कि स्वतन्त्र भारत की सरकार भी, जिससे इस विषय में सुधार की आशा की जाती थी, इस ओर कोई सक्षम एवं उपयुक्त कार्य नहीं कर रही है।

एक तरफ सरकार इधर ध्यान नहीं दे रही है और दूसरी तरफ फिल्म निर्माता अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में, हम नवयुवकों से ही कहेंगे कि वे पैसे देकर बुराइयाँ न खरीदें। अपने जीवन-निर्माण के इस स्वर्ण-काल को सिनेमा देख-देख कर और उनसे कुत्सित-संस्कार ग्रहण कर अपने ही हाथों अपना सर्वनाश न करें।

छात्रों का महान् कर्तव्य :

विद्यार्थी सब प्रकार के दुर्व्यसनों से बच कर अध्ययन एवं चिन्तन-मनन में ही अपने समय का सदुपयोग करें। अपने जीवन को नियमित बनाने का प्रयास करें। समय को व्यर्थ नष्ट न करें। इसी में उनका कल्याण है।

असफलताओं से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग करना है। तुम्हारा मुखमंडल विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चाहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हें हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द, डरपोक, एवं उदास दिखाई देते हो? क्या पशुओं को कभी हँसते देखा है? शायद कभी नहीं। सिर्फ मनुष्य को ही प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हें चलना है, रुकना नहीं। चलना ही गति है, जीवन है और रुक जाना अगति है, मरण है।

विनम्रता : लक्ष्यपूर्ति का मूलमन्त्र :

तुम्हारा गन्तव्य अभी दूर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस एवं धैर्य रखो और आगे बढ़ते जाओ। नम्रता रख कर, विनयभाव और संयम रख कर चलते चलो। अपने हृदय में कलुषित भावनाओं को मत आने दो। क्षण भर के लिए भी हीनता का भाव अपने ऊपर मत लाओ। अपने महत्त्व को समझो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में सफलता का एकमात्र मूल मंत्र है, व्यक्ति की अपनी अकृत्रिम सहज विनम्रता। नीति भी है—

"विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥"

एक अंग्रेज विचारक ने भी यही कहा है—

"He that is down needs fear no fall."

तुलसीदासजी ने इसे एक रूपक के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥"

अतः स्पष्ट है, जिसके अन्तर्मन में विनम्रता का वास है, वही सफल है। विद्या प्राप्ति का यही सामाजिक एवं धार्मिक उच्चतम लक्ष्य है।

छात्र : भविष्य के एकमात्र कर्णधार :

छात्र देश के दीपक हैं, जाति के आधार हैं और समाज के भावी निर्माता हैं। विश्व का भविष्य उनके हाथों में है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का महान् कार्य उन्हीं को करना है। उन्हें स्वयं महान् बनना है और मानव जाति के मंगल के लिए अथक श्रम करना है। विद्यार्थी जीवन इसकी तैयारी का स्वर्ण-काल है। अतः छात्रों को अपने सर्वोपयोगी विराट् जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रहना है। एक अपूर्व आशा से भरे कोटि-कोटि नेत्र उनकी ओर देख रहे हैं। अतः उन्हें अपने जीवन में मानव-समाज के लिए मंगल का अभिनव द्वार खोलने का संकल्प लेना है। इस महान् दायित्व को अपने मन में धारण करके उन्हें अपने जीवन का निर्माण शुरू कर देना है। इसी से विश्व का कल्याण हो सकता है और उनकी आशाएँ सफल हो सकती हैं।

शिक्षा, समस्या और समाधान :

आज के युग में शिक्षा का प्रचार-प्रसार बड़ी तीव्रगति से हो रहा है। धड़ल्ले के साथ नए-नए विद्यालय, पाठशालाएँ एवं कालेज खुलते जा रहे हैं, और जिधर देखो, उधर ही विद्यार्थियों की भीड़ जमा हो रही है। जिस गति से विद्यालय खुलते जा रहे हैं, उससे भी अधिक तीव्रगति से विद्यार्थी बढ़ रहे हैं। कहीं दो-दो और कहीं तीन-तीन शिफ्ट चल रही हैं। दिन के भी और रात के भी कालेज चल रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आज का युग शिक्षा की ओर तीव्रगति से बढ़ रहा है। गुजराती में एक कहावत है, जिसका भाव है—आज के युग में तीन चीजें बढ़ रही हैं "चणतर, जणतर और भणतर।" नये-नये निर्माण हो रहे हैं। बाँध और विशाल भवन बन रहे हैं। जिधर देखो, भवन खड़े हो रहे हैं, बड़ी तेजी से पाँच-पाँच, सात-सात, दस-दस मंजिल की अट्टालिकाएँ सिर उठाकर आकाश से बातें करने को उद्यत हैं। भवन-निर्माण, जिसे गुजराती में 'चणतर' कहते हैं, पहले की अपेक्षा सैकड़ों गुना बढ़ गया है। फिर भी लाखों मनुष्य बे-घरबार हैं, दिन-भर सड़कों पर इधर-उधर भटकते हैं और रात को फुटपाथ पर जीवन बिताते हुए, एक दिन दम तोड़ देते हैं। जिन्दगी उनकी खुले आसमान के नीचे बीतती है। सिर छिपाने को उन्हें एक दीवाल का कोना भी नहीं मिलता। यह स्थिति क्यों हो रही है? कारण यह है कि जिस तेजी से 'चणतर' के रूप में ये मकान बन रहे हैं, उससे भी अधिक तीव्र गति से 'जणतर' के रूप में जन्म लेने वाले भी बढ़ रहे हैं। यदि एक बम्बई जैसे शहर में दिन-भर में औसत एक मकान बनता होगा, तो नए मेहमान सौ से भी ऊपर पैदा हो जाते हैं। जणतर अबाध-गति से बढ़ रहा है, इसीलिए देश के सामने खाद्य-संकट की समस्या विकराल सुरसा राक्षसी के समान मुंह फैलाए निगल जाने को लपक रही है। क्या मकान-संकट, क्या वस्त्र-संकट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भी जितने संकट या अभाव आज मनुष्य को परेशान कर रहे हैं, यदि गहराई से देखा जाए, तो उनके मूल में यही जनसंख्या-वृद्धि की ही बीमारी है। संसार के बड़े-बड़े समाज-शास्त्री एवं वैज्ञानिक आज चिन्तित हो उठे हैं कि यदि जनसंख्या इसी गति से बढ़ती रही, तो प्रस्तुत शताब्दी के अन्त तक संसार की जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। इसका मतलब हुआ कि जिस भारतवर्ष में आज लगभग पचास करोड़ मनुष्य हैं, वहाँ आने वाले तीस वर्षों में एक अरब से भी अधिक हो जाएँगे। इसका सीधा-सा अर्थ है कि प्रतिवर्ष एक करोड़ से अधिक जनसंख्या की वृद्धि हो रही है! आप सुनकर चौंक उठेंगे, पर यह जनगणना करने वालों के आँकड़े हैं, जो काफी तथ्य पर आधारित हैं, कोई कल्पित नहीं हैं। अब आप अनुमान कर सकते हैं कि इन अभावों, संकटों की जड़ कहाँ है? आप स्वयं ही तो इनकी जड़ में हैं।

'जणतर' की वृद्धि के साथ तीसरी बात है—भणतर की, याने पढ़ाई की। जैसा कि मैंने ऊपर बताया है, आज शिक्षा की गति भी बड़ी तीव्रता के साथ बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि देश में कोई अशिक्षित-निरक्षर न रह। पर शिक्षा का प्रचार जिस गति और वेग के साथ हो रहा है, देश का जितना श्रम, समय और अर्थ इस पर खर्च हो रहा है, उतनी सफलता नहीं मिल रही है, यह स्पष्ट है।

समाचार पत्र हमारे सामने हैं। अधिकतर छात्र ही हैं, जो आए दिन कोई-न-कोई आन्दोलन चला रहे हैं, तोड़-फोड़ कर रहे हैं, अध्यापकों एवं प्रोफेसरों की पिटाई कर रहे हैं, स्कूल, ऑफिस और सरकारी दफ्तरों में आग लगा रहे हैं, बसें, मोटरें और रेलें जला रहे हैं, देश में चारों ओर हिंसा, उपद्रव और विनाश की लीला रच रहे हैं। भले ही राजनीतिक दल इसके पीछे अपना रोष, आक्रोश और प्रतिपक्षीय भावनाओं को बल दे रहे हों, पर इन हड़तालों और उपद्रवों का प्रबल हथियार विद्यार्थी-वर्ग ही बन रहा है, क्या यह शर्म और दुःख की बात नहीं है?

मैं कभी-कभी सोचता हूँ—शिक्षण के साथ बच्चों में जो ये उपद्रवी संस्कार आ रहे हैं, वे उन्हें किस अन्धगर्त में ले जा कर धकेलेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी यह शक्ति, उनका यह अध्ययन और ज्ञान उन्हें रावण की परम्परा में ले जाकर खड़ा करेगा या राम की भूमिका पर? रावण वस्तुतः अज्ञानी नहीं था, वह एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था अपने युग का, साथ ही कुशल राजनीतिज्ञ, शक्तिशाली योद्धा और शिक्षाविद भी था वह। जल, थल और नभ पर उसका शासन था। आकाश में उसके पुष्पक-विमान उड़ते थे, समुद्र में उसके जलयान तैरते थे। अग्नि और वायु तत्त्व के उसने अनेकों प्रयोग किए थे, कहते हैं देवताओं को उसने अपनी कैद में बैठा रखा था। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि उसने प्रकृति की दिव्य शक्तियों को अपने नियंत्रण में ले रखा था। उसके इंजीनियरों ने सोने की विशाल लंका नगरी का निर्माण किया था। कितना बड़ा ऐश्वर्य और वैभव था उसका? पर आखिर हुआ क्या? महान् बुद्धिमान और वैज्ञानिक राजा रावण को राक्षस क्यों कहा गया? मनुष्य था वह हमारे जैसा ही। पर भारतीय-संस्कृति ने उसको राक्षस के रूप में चित्रित किया है। क्यों? इसीलिए कि उसकी शक्ति, उसका ज्ञान संसार के निर्माण के लिए नहीं, विनाश के लिए प्रयुक्त हो गया था। उसकी देह की आकृति मनुष्य की थी, पर उसका हृदय एवं उसके संस्कार आसुरी थे, राक्षसी थे।

दुःशासन और दुर्योधन का चरित्र जब हम पढ़ते हैं, तो लगता है, वे कितने बुद्धिमान थे? उनमें कितनी शक्ति थी और कितना बल था? कैसा विज्ञान था उनके पास कि बड़े-बड़े नगरों का निर्माण किया, कितने विचित्र भवन बनाए और देश रक्षा के नाम पर कितने भयंकर अस्त्र और शस्त्र तैयार किए? किन्तु फिर भी उस दुर्योधन को, जिसका नाम माता-पिता ने बड़े प्यार से सुयोधन रखा था, उसे संसार दुर्+योधन अर्थात् 'दुष्ट योद्धा', 'दुष्ट वीर' क्यों कहता है? उसे कुल-कलंक और कुलांगार क्यों कहा गया? यही तो एक उत्तर है कि उसके विचार और संस्कार सुयोधन के नहीं, दुर्योधन के ही थे। वह कुल का फूल नहीं, बल्कि कंटक ही बना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रावण और दुर्योधन को, इतनी शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज संसार घृणा की दृष्टि से देखता है। आज कोई भी माता-पिता अपने पुत्र का नाम रावण या दुर्योधन के नाम पर नहीं रखना चाहता। राम का नाम आज घर-घर में मिल जाएगा। रामचन्द्र, रामलाल, रामसिंह और रामकुमार, चाहे जिधर आवाज दे लीजिए, कोई-न-कोई हुँकार करेगा ही, पर कोई रावणलाल, रावणसिंह या रावणकुमार भी मिलेगा? दैवी और आसुरी-वृत्तियाँ की भावना ही इस अन्तर के मूल में है। रावण, दुर्योधन और कंस में जहाँ आसुरी-वृत्तियाँ मुखर थी, वहाँ राम और कृष्ण में दैवी वृत्तियों का प्रस्फुटन था। यही कारण है कि किसी पंडित ने रामकुमार या कृष्णकुमार की जगह रावण कुमार, दुर्योधन कुमार या कंसकुमार नाम नहीं निकाला।

यह सब प्राचीन भारतीय तत्त्व-चिन्तन की एक विशेष मनोवृत्ति की झलक है। भारतीय तत्त्व-दर्शन कहता है कि संस्कृति का निर्माण संस्कारों से होता है, कोरे शिक्षण या अध्ययन से नहीं! आज भारत में राम की संस्कृति चलती है, कृष्ण की संस्कृति जीवित है और धर्मपुत्र-युधिष्ठिर की संस्कृति भी घर-घर में प्रचलित है, परन्तु क्या कहीं रावण की संस्कृति भी संस्कृति मानी गयी है? रावण और दुर्योधन के संस्कार, वस्तुतः संस्कार नहीं थे, उन्हें तो विकार ही कहना उचित है, जो आज हमारे समाज में पुनः सिर उठा रहे हैं। हिंसा, उपद्रव और तोड़फोड़ के रूप में वे अप-संस्कार हमारे समाज के बच्चों में फिर करवट ले रहे हैं, अतः राम की संस्कृति के पुजारियों को सावधान हो जाना चाहिए कि रावण के संस्कारों को कुचले बिना, उन्हें बदले बिना राम की संस्कृति ज्यादा दिन जीवित नहीं रह सकेगी! राम-रावण संघर्ष आज 'व्यक्ति-वाचक' नहीं, बल्कि 'संस्कार-वाचक' हो गया है और वह संघर्ष आज फिर खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है।

विद्या का लक्ष्य :

आप यदि विद्यार्थी वर्ग में पनपने वाले इन रावणीय संस्कारों को बदलना चाहते हैं, और विश्व में राम की संस्कृति एवं परम्परा को आगे बढ़ाना चाहते हैं, तो आपको अपना उत्तरदायित्व समझना होगा। यदि अगली पीढ़ी को दिव्य उत्थान के लिए तैयार करना है, तो अभी से उसके निर्माण की चिन्ता करनी होगी। बच्चों का बाह्य निर्माण तो प्रकृति ने कर दिया है, पर उनके आन्तरिक संस्कारों के निर्माण का कार्य अभी शेष है। खेद है, बालक और बालिकाओं के इस संस्कार से सम्बन्धित जीवन-निर्माण की दिशा में आज चिन्तन नहीं हो रहा है। आप यदि चाहते हैं, कि आपके बालकों में, आपकी सन्तान में पवित्र और उच्च संस्कार जागृत हों, वे अपने जीवन का निर्माण करने में समर्थ बनें और समाज एवं राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक के रूप में प्रस्तुत हो सकें, तो आपको अभी से इसका विचार करना चाहिए। आप इस विषय में चिन्ता जरूर कर रहे होंगे, पर आज चिन्ता का युग नहीं, चिन्तन का युग है। चिन्ता को दूर फेंकिए और मस्तिष्क को उन्मुक्त करके चिन्तन कीजिए कि बच्चों में शिक्षण के साथ उच्च एवं पवित्र संस्कार किस प्रकार जागृत हों।

किसी भी विद्यार्थी से आप पूछ लीजिए कि आप पढ़कर क्या करेंगे? कोई कहेगा—डॉक्टर बनूंगा, कोई कहेगा इन्जीनियर बनूंगा, कोई वकील बनना चाहेगा तो कोई अधिकारी। कोई इधर-उधर की नौकरी की बात करेगा, तो कोई दुकानदारी की। किन्तु यह कोई नहीं कहेगा कि मैं समाज एवं देश की सेवा करूँगा, धर्म और संस्कृति की सेवा करूँगा। उनके जीवन में इस प्रकार का कोई उच्च संकल्प जगाने की प्रेरणा ही नहीं दी जाती। भारतीय संस्कृति के स्वर उनके जीवन को स्पर्श भी नहीं करते। हमारी भारतीय संस्कृति का यह उद्घोष है—तुम अध्ययन कर रहे हो, शिक्षण प्राप्त कर रहे हो, किन्तु उसके लिए महत् संकल्प जगाओ। वहाँ स्पष्ट निर्देश किया गया है—**"सा विद्या या विमुक्तये"** 'तुम्हारे अध्ययन और ज्ञान की सार्थकता तुम्हारी विमुक्ति में है।' जो विद्या तुम्हें और तुम्हारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज को अन्ध-विश्वासों से मुक्त करा सके, दुःख और कष्टों से मुक्ति दिला सके, वही सच्ची विद्या है। विद्या भोग-विलास की या बौद्धिक कसरत की वस्तु नहीं है। वह अपने में एक परम पवित्र संस्कारी भाव है। बुद्धि को स्वार्थ और अज्ञान के घेरे से निकालकर परमार्थ, जन-सेवा और ज्ञान के उन्मुक्त वातावरण में लाकर उपस्थित कर देने में ही विद्या की उपादेयता है। जब तुम्हारे स्वार्थ परिवार के हितों से टकराते हों, तो तुम अपने स्वार्थों की बलि देकर परिवार का हित करने का निर्णय कर सको और पारिवारिक हित के सामने समाज के हितों को मुख्यता देकर चल सको, तब तो तुम्हारे ज्ञान की, बुद्धि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा अपने स्वार्थ हेतु तो जीवन भर कीड़े-मकोड़े भी, पशु-पक्षी-जलचर भी और वन-मानुष भी यत्नशील रहते ही हैं। राष्ट्र और समाज के हितों के प्रश्न पर आप भी, अपने भाई-भतीजे और बिरादरी का ही एकांगी स्वार्थ ले कर सोचते हैं। क्षुद्र प्रलोभनों के सामने आपका समाज और राष्ट्र प्रेम यदि पराजित हो जाता है, तो आप वास्तव में शिक्षित नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत यदि आप आगे बढ़ कर समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए एक दिन अपने समस्त स्वार्थों का समग्र रूप से बलिदान कर सकें, अपने व्यक्तिगत भोग और सुख की अपेक्षाओं को ठोकर मार कर जीवन में संयम और इन्द्रिय-निग्रह का आदर्श उपस्थित कर सकें, तो आप सही अर्थ में सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा सभ्य हैं। आप के शिक्षण एवं ज्ञान से यही अपेक्षा है, भारतीय-संस्कृति को।

मैं आपसे ऊपर कह चुका हूँ कि रावण इतना बड़ा विद्वान् होते हुए भी ज्ञानी क्यों नहीं माना गया? चूंकि उसका ज्ञान इन्द्रियों की दासता के लिए था। वह पंडित होकर भी अपने आप पर संयम नहीं रख सका था। सीता को लाते समय वह जानता था कि यह मेरे विनाश का निमन्त्रण है। सोने की लंका के सुन्दर उपवनों को जलाने के लिए यह दहकती हुई आग है। किन्तु यह जानकर भी वह आत्मसंयम खो बैठा और अपने हाथ अपनी चिता तथा अपने साम्राज्य की चिता तैयार कर ली। इसीलिए भारतीय संस्कृति का यह सन्देश है कि ज्ञान का सार है—संयम! अपने आप पर संयम! विद्या का उद्देश्य है—विमुक्ति! अपने स्वार्थ और अहंकार से मुक्ति!

हमारे शिक्षण केन्द्र :

एक बात यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हम जिस प्रकार की शिक्षा, ज्ञान और विद्या का आदर्श उपस्थित करते हैं, क्या उस प्रकार की शिक्षा हमारी शिक्षण संस्थाएँ आज दे रही हैं? जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। आज की जो शिक्षा-पद्धति है, वह मूलतः गलत समझ पर चल रही है। भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि विद्यार्थियों को, विद्यालयों में, शिक्षण केन्द्रों में, जो शिक्षा और संस्कार मिलने चाहिए, वे नहीं मिल रहे हैं। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच जो मधुर और शिष्ट सम्बन्ध रहने चाहिए, वे आज कहाँ हैं? भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य के संबंध का एक उच्च आदर्श है। गुरु उसका अध्यापक भी होता है और अभिभावक भी। वह शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है। उच्च संस्कारों और संकल्पों का सर्जक होता है। अपने उज्ज्वल चरित्र और सत्कर्मों की प्रतिच्छाया शिष्य के हृदय-पटल पर गुरु जितनी कुशलता से अंकित कर सकता है, उसमें जीवन भर सकता है, वह दूसरों के लिए सहज संभव नहीं है। पर आज गुरु-शिष्य का सम्बन्ध क्या है? आज का अध्यापक अपने को एक वेतनभोगी नौकर मानता है। वह अपने आपको 'गुरु' अनुभव ही नहीं करता, उसके मन में कर्तव्य और उत्तरदायित्व की कोई धारणा ही नहीं होती, कोई उदात्त परिकल्पना ही नहीं जगती।

प्राचीन समय में गुरुकुल पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। उस काल की स्थितियों को देखने से पता चलता है कि छात्र गुरुकुल में अपने सहपाठियों एवं शिक्षकों के साथ बड़े ही आनन्द एवं उल्लास के साथ सह-जीवन प्रारम्भ करता था, गुरुकुलों का वातावरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक विशेष आत्मीयता के रस से ओत-प्रोत होता था। वहाँ की नीरव शान्ति, स्वच्छ और शान्त वातावरण उच्च संकल्पों की प्रेरणा देता हुआ-सा लक्षित होता था। वहाँ की हवा में स्निग्धता और संस्कारिता के परमाणु प्रसारित रहते थे। छात्र परिवार से और समाज से दूर रहकर एक नई सृष्टि में जीना प्रारम्भ करता था। जहाँ किसी प्रकार का छल, छद्म, हिंसा, असत्य, चोरी और अन्य विकारों का दूषित एवं घृणित वायुमण्डल नहीं था। भिन्न-भिन्न जातियों, समाजों और संस्कारों के विद्यार्थी एक साथ रहते थे, उससे उनमें जातीय सौहार्द, प्रेम और सौम्य संस्कारों की एकात्मकता के अंकुर प्रस्फुटित होते थे। गुरु और शिष्य का निकट सम्पर्क दोनों में आत्मीय एकरसता के सूत्र को जोड़ने वाला होता था। गुरु का अर्थ, वहाँ केवल अध्ययन कराने वाले शिक्षकों से ही नहीं था, अपितु गुरु उस काल का पूर्ण व्यक्तित्व होता था—जो शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेकर चलता था। उसके रहन-सहन, खान-पान और प्रत्येक व्यवहार में से छनते हुए उसके चरित्र का निरीक्षण करता था। उसके जीवन में वह उच्च संस्कार जगाता था और ज्ञान का आलोक प्रदान करता था। इस प्रकार छात्र गुरुकुल में सिर्फ ज्ञान ही नहीं पाता था, बल्कि सम्पूर्ण जीवन पाता था। संस्कार, व्यवहार, सामाजिकता के नियम, कर्तव्य का बोध और विषय वस्तु का ज्ञान—इस प्रकार जीवन का सर्वांगीण अध्ययन एवं शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था।

उपनिषद् में एक संदर्भ है। गुरु शिष्य को दीक्षान्त सन्देश देते हुए कहते हैं—**"सत्यं वद! धर्मं चर! स्वाध्यायान्माप्रमदः...यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासित्वयानि, नो इतराणि"** शिष्य अपना विद्याध्ययन पूर्ण करके जब गुरु से विदा माँगता है, तब गुरु दीक्षान्त सन्देश देते हैं कि—"तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, जो अध्ययन किया है, उसके स्वाध्याय-चिन्तन में कभी लापरवाह मत होना और जीवन में कर्तव्य करते हुए जब कभी कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न तुम्हारे सामने आये, सदाचार और अनाचार की शंका उपस्थित हो, तो जो हमने सद् आचरण किये हैं, जो हमारा सुचरित्र है, उसी के अनुसार तुम आचरण करते जाना, पर अपने कर्तव्य से कभी मत भटकना।" आप देखेंगे कि इस दीक्षान्त सन्देश में गुरु शिष्य के प्रति हृदय का कितना स्नेह उँड़ेल रहा है, उसकी वाणी में अन्तरात्मा का कितना सहज वात्सल्य छलक रहा है, उच्च प्रेरणा और महान् शुभ-संकल्पों का कितना बड़ा संकेत है, इस सन्देश में। गुरु शिष्य में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, इसलिए वह उसे सम्बोधित करता है कि—तुम हमारे सदाचरण के अनुसार अपने आचार का निश्चय करना। शिष्य का जीवन पवित्र बनाने के लिए गुरु स्वयं अपना जीवन पवित्र रखते हैं और उसे एक आदर्श की तरह शिष्य के समक्ष उपस्थित करते हैं। जीवन की इस निश्छलता और पवित्रता के अमिट संस्कार जिन शिष्यों के जीवन में उद्भासित होते हैं, वे शिष्य गुरुकुल से निकलकर गृहस्थ जीवन में आते हैं, तो एक सच्चे गृहस्थ, सुयोग्य नागरिक और राष्ट्रीय पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। उनका जीवन समाज और राष्ट्र का एक आदर्श जीवन होता है। प्राचीन गुरुकुल के सम्बन्ध में यदि एक ही बात हम कहें, तो वह यह है कि गुरुकुल हमारे विद्या और ज्ञान के ही केन्द्र नहीं थे, बल्कि सच्चे मानव और सुयोग्य नागरिकों का निर्माण करने वाले केन्द्र थे।

शिक्षा का माध्यम :

समय और स्थितियों ने आज गुरुकुल की पावन परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया। अध्ययन-अध्यापन की पद्धति बदलती गई, विषय बदलते गए और आज तो यह स्थिति है कि अध्ययन केन्द्र एक मेले की, समारोह की संज्ञा ले रहे हैं। और गुरु अपने आपको नौकर समझने लग गए हैं। शिक्षणकेन्द्र विद्यार्थियों के ऐसे जमघट बन गए हैं, जहाँ वे कुछ समय के लिए आते हैं, साथी-दोस्तों से दो-चार गपशप कर लेते हैं, रजिस्टर में उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति लिखवा देते हैं, मन हुआ तो किसी अध्यापक का थोड़ा-सा भाषण सुन लेते हैं, नहीं तो किताबें बन्द करके इधर-उधर मटरगश्ती करने चले जाते हैं।

अध्यापक भी आज अपना उत्तरदायित्व सीमित कर रहे हैं, स्कूल-कालेज में दो-चार घण्टा के अतिरिक्त विद्यार्थी के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। बात यह है कि इस सम्पर्क का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व भी नहीं है। अध्यापकता को वे एक नौकरी समझते हैं, और उसके अतिरिक्त समय में विद्यार्थी से सम्पर्क रखना, एक झंझट मानते हैं।

आज की शिक्षा-पद्धति में जो दोष और बुराईयाँ आ गई हैं, उनमें पहला कारण यह है कि शिक्षा का उद्देश्य गलत दिशा में जा रहा है। शिक्षा के साथ सेवा और श्रम की भावना नहीं जग रही है। इसका कुछ उत्तरदायित्व तो है माता-पिताओं पर और कुछ है शिक्षण संस्थाओं पर। दूसरा कारण, शिक्षण केन्द्रों की गलत व्यवस्था है। वहाँ विद्यार्थी और अध्यापक के बीच कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। आत्मीयता का भाव तो दूर रहा, एक-दूसरे का परिचय तक नहीं हो पाता। अलगाव की एक बहुत बड़ी खाई दोनों के बीच पड़ी हुई है। दोनों में अपने-अपने उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना बल पकड़ रही है, श्रद्धा और स्नेह का कोई संचार वहाँ नहीं हो पा रहा है।

शिक्षा पद्धति का तीसरा कारण कुछ गम्भीर है, और वह है विदेशी भाषा में शिक्षण। हर एक देश की अपनी संस्कृति होती है, अपनी भाषा होती है। जो विचार और संस्कार अपनी भाषा के माध्यम से हमारे मन में उतर सकते हैं, वे एक विदेशी भाषा के सहारे कभी भी नहीं उतर सकते। जो भाव और श्रद्धा 'भगवान्' शब्द के उच्चारण के साथ हमारे हृदय में जागृत होती है, वह 'गौड' शब्द के सौ बार उच्चारण से भी नहीं हो सकती—यह एक अनुभूत सत्य है। दूसरी बात मातृभाषा के माध्यम से विद्यार्थी जितना विस्तृत ज्ञान सहजतया प्राप्त कर सकता है, उतना विदेशी भाषा के माध्यम से कभी भी नहीं कर सकता। अन्य भाषा सीख कर उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई और श्रम उठाना पड़ता है और इस कारण विद्यार्थी का ज्ञान-क्षेत्र सीमित तथा संकुचित रह जाता है। संसार के प्रायः समस्त उन्नतिशील एवं स्वतन्त्र राष्ट्रों में शिक्षा का माध्यम वहाँ की मातृभाषा या फिर राष्ट्रीय भाषा ही है, परन्तु भारत आज स्वतन्त्र होकर भी विदेशी भाषा में अपनी सन्तानों को शिक्षित कर रहा है, यह जहाँ उपहासास्पद बात है, वहाँ विचारणीय भी है। अपनी सभ्यता, संस्कृति और जीवन के सम्यक्-निर्माण के लिए अपनी मातृ-भाषा या राष्ट्र-भाषा में शिक्षण होना बहुत ही आवश्यक है।

मैं समझता हूँ, आज हमारी शिक्षा, हमारे शिक्षार्थी और शिक्षक तीनों ही राष्ट्र के सामने एक समस्या बनकर खड़े हो रहे हैं। इस दिनोंदिन उलझती हुई समस्या का हल हमें खोजना है। देश को यदि अपनी संस्कृति और सभ्यता से अनुप्राणित रखना है, तो हमें इन तीनों बातों के सन्दर्भ में आज की समस्या को देखना चाहिए और उसका यथोचित हल खोजना चाहिए। शिक्षा जो जीवन का पवित्र और महान् आदर्श है, उसे अपने पवित्रता के धरातल पर स्थिर रखने के लिए हमें इस विषय को गहराई से सोचना चाहिए। जीवन के द्वारा, जीवन के लिए, जीवन की शिक्षा ही वस्तुतः शिक्षा का आदर्श स्वरूप है। इसीसे निकली हुई शिक्षा से, हम जीवन के सर्वांगीण—शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की आशा कर सकते हैं। अतः शिक्षा को जीवन की समस्या नहीं, अपितु समाधान बनना चाहिए। और वह समाधान तभी बनेगी, जब उसमें साँस्कृतिक-चेतना जागृत होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह शिक्षा, कैसी शिक्षा, जो—
मानव को तम में भटकाए।
शिक्षा वह है, जो मानव को,
नित नव प्रकाश में ले जाए।।

जब तक मानवता ना जागे,
तब तक शिक्षा अर्थ-हीन है।
मानवता के बिना, स्पष्ट ही,
मनुज चतुष्पद-तुल्य दीन है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८

नारी : धर्म एवं संस्कृति की सजग प्रहरी

महिलाएँ समाजरूपी गाड़ी के एक समर्थ पहिये के रूप में सर्वथा महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। महिलाओं पर समाज का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। उन पर जितना अपने जीवन का दायित्व है, उतना ही अपने परिवार, समाज और धर्म का भी उत्तरदायित्व है। आज तक के लाखों वर्षों अतीत के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करते हैं, तो मालूम होता है कि उनके पैर सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में कभी पीछे नहीं रहे हैं, बल्कि आगे ही रहे हैं। जब हम तीर्थंकरों के जीवन को पढ़ते हैं, तो पता चलता है कि उन महापुरुषों के संघ में सम्मिलित होने के लिए, उनकी वाणी का अनुसरण करने के लिए और उनके पावन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने तथा जन-जन में प्रसारित करने के लिए, अधिक-से-अधिक संख्या में, शक्ति के रूप में, बहनें ही आगे आती हैं।

महावीरकालीन महिला-जीवन :

दूसरे तीर्थंकरों की बातें शायद आपके ध्यान में न हों, किन्तु अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का इतिहास तो आपको विदित होना ही चाहिए। महावीर प्रभु ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में धर्म के चार तीर्थ स्थापित किए और उन्हें एक संघ का रूप दिया गया। शास्त्रों में चारों तीर्थों की संख्या का उल्लेख मिलता है और उस इतिहास को हम बराबर हजारों वर्षों से दुहराते आ रहे हैं। वह इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान् महावीर के शासन में यदि चौदह हजार साधु थे, तो छत्तीस हजार साध्वियाँ भी थीं। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या में कितना अन्तर है! ढाई गुणी से भी ज्यादा है यह संख्या।

यह ठीक है कि पुरुषवर्ग में से भी काफी साधु आए, और यह भी सही है कि वे अपने पूर्व जीवन में बड़े ऐश्वर्यशाली और धनपति थे, तथा भोग-विलासों में उनका जीवन गुजर रहा था। किन्तु, भगवान् महावीर की वाणी जैसे ही उनके कानों में पड़ी, वे महलों को छोड़ कर नीचे उतर आए। और, बड़े-बड़े विद्वान् भी, जो तत्कालीन समाज का नेतृत्व कर रहे थे, भिक्षु के रूप में दीक्षित हुए तथा उन्होंने महान् होते हुए भी जनता के एक छोटे-से सेवक के रूप में अपने अन्तर्मन से भरपूर जन-सेवा की।

यह सब होते हुए भी जरा संख्या पर तो ध्यान दीजिए, कहाँ चौदह हजार और कहाँ छत्तीस हजार!

महिला-जीवन का आदर्शोपम अतीत :

कहना चाहिए कि भगवान् की वाणी का अमृत रस, सबसे ज्यादा उन बहनों ने ग्रहण किया, जो सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई थीं और जिन्हें हम अज्ञान और अंधकार में रहने को मजबूर करते चले आ रहे थे। वास्तव में वे शक्तियाँ रूढ़ियों के शिलाखण्डों से दबी हुई थीं, परन्तु ज्योंही उन्हें उभरने का अवसर मिला, भगवान् की पावन वाणी का प्रकाश मिला, त्यों ही वे एक बहुत बड़ी संख्या में साधना की काँटों भरी राह पर बढ़ आईं। जिनका जीवन महलों में गुजरा था, जिनके एक इशारे पर हजारों दास और दासियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन-रात नाचने को तैयार खड़ी रहती थीं, जिन्होंने अपने जीवन में कभी सर्दी या गर्मी बर्दाश्त नहीं की थी, जिनका जीवन फूलों की सेज पर बीता था, उन देवियों के मन में जब वैराग्य की लहर उठी, तो वे संसार की विपरीत परिस्थितियों एवं विपत्तियों से टक्करें लेती हुई, भयानक से भयानक सर्दी-गर्मी और वर्षा की यातनाएँ झेलती हुई भी भिक्षुणी बनकर विचरने लगीं। उनका शरीर फूल के समान सुकुमार था, जो कभी हवा के एक हलके उष्ण झोंके से भी मुरझा जाता था, किन्तु हम देखते हैं कि वे ही देवियाँ भीषण गर्मी और कड़कड़ाती हुई सर्दी के दिनों में भी भगवान् महावीर का मंगलमय सन्देश घर-घर में पहुँचाती थीं। जिनके हाथों ने देना-ही-देना जाना था, आज वे ही राजरानियाँ अपनी प्रजा के सामने, यहाँ तक कि झोंपड़ियों में भी भिक्षा के लिए घूमती थीं और भगवान् महावीर की वाणी का अमृत बाँटती फिरती थीं।

साधक-जीवन की समानता :

मैं समझता हूँ, कि अन्तरात्मा की जब दिव्यशक्तियाँ जाग उठती हैं, तो यह नहीं होता कि कौन पीछे है और कौन आगे जा चुका है। कभी आगे रहने वाले पीछे रह जाते हैं और कभी पीछे रहने वाले बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

जब हम श्रावकों की संख्या पर ध्यान करते हैं, तो यही बात याद आ जाती है। श्रावकों का जीवन कठोर जीवन अवश्य रहा है, किन्तु उनकी संख्या १,५९,००० ही रही और उनकी तुलना में श्राविकाओं की संख्या तीन लाख से भी ऊपर पहुँच गई।

तेजोमय इतिहास :

कहने का अर्थ यह है कि हमारी श्राविका बहनों का इतिहास भी बड़ा ही तेजोमय रहा है। आज वह इतिहास धुंधला पड़ गया है और हम उसे भूल गए हैं। अतः बहनें आज फिर अँधेरी कोठरी में रह रही हैं, उन्हें ज्ञान का पर्याप्त प्रकाश नहीं मिल रहा है। किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पहले के युग को देखने पर विदित होता है कि चौदह हजार की तुलना में छत्तीस हजार और १,५९,००० की तुलना में ३,१८,००० श्राविकाओं के रूप में सामने आकर अपनी समुन्नत, सुरम्य एवं सर्वथा स्पृह्य झाँकी उपस्थित कर देती हैं।

महिलाओं का दुष्कर साहसी जीवन :

बहुत-सी बहनें ऐसी भी थीं, जिनके पति दूसरे धर्मों को मानने वाले थे। उन पुरुषों (पतियों) ने अपने जीवन-क्रम को नहीं बदला, किन्तु इन बहिनों ने इस बात की कतई परवाह न कर अपना स्वयं का जीवन-क्रम बदल डाला और सत्य की राह पर आगईं। ऐसा करने में उन्हें बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े, भयानक यातनाएँ भुगतनी पड़ीं और धर्म के मार्ग पर आने का बहुत महँगा मूल्य चुकाना पड़ा। जब उन बहनों के घर वालों की मान्यताएँ भिन्न प्रकार की रहीं, उनके पति का धर्म दूसरा रहा, तब उन्होंने अनेक प्रकार का विरोध सह कर भी अपने सम्मान, अपनी प्रतिष्ठा को खतरे में डालकर भी तथा नाना प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए भी वे प्रभु के पथ का अनुसरण करती रहीं।

तात्पर्य यह है कि जब हम नारी जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो देखते हैं कि उनका जीवन बहुत ऊँचा जीवन रहा है। जब हम उनकी याद करते हैं, तो हमारा मस्तक श्रद्धा से स्वतः झुक जाता है।

सम्राट् श्रेणिक और महाराणी चेलना :

मगध सम्राट् राजा श्रेणिक का इतिहास, भारतीय इतिहास के कण-कण में आज भी चमक रहा है। भगवान् महावीर के साथ-साथ श्रेणिक का नाम भी हमें बरबस याद आ जाता है। उसे अलग नहीं किया जा सकता। आप जानते हैं, वह महान् सम्राट् श्रेणिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् के चरणों में पहुँचा, इसका श्रेय किसे प्राप्त है? किसने भगवान् के चरणों तक पहुँचाया था उसे? सम्राट् श्रेणिक सहज ही नहीं पहुँच गया था, क्योंकि वह दूसरे मत का अनुयायी था। उसे भगवान् के चरणों में पहुँचाने वाली हमारी एक बहिन थी, जिसका नाम था चेलना। उसे इस पवित्र कार्य को करने में कड़े संघर्षों का सामना भी करना पड़ा, बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ीं। अपने पति को भगवान् के मंगल-मार्ग पर लाने के लिए उसने न जाने कितने खतरे अपने सर पर लिए, कितनी बड़ी जोखिमें उठाईं! हम रानी चेलना के महान् जीवन को कभी भुला नहीं सकते, जिसने अपनी सम्पूर्ण चेतना एवं शक्ति के साथ अपने सम्राट् पति को धर्म के मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयास किया और अन्त में वह अपने प्रयास में सफलता प्राप्त कर के ही रही।

त्याग की उज्ज्वल मूर्ति : नारी :

उस समय के इतिहास को देखने से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि बहनों के त्यागमय महान् कार्यों से ही समाज, और धर्म का जीवन-पथ आलोकित था। उनको संसार का बड़े-से-बड़ा वैभव मिला था, किन्तु वे उस वैभव की दलदल में फँसी नहीं रहीं, और उन्होंने अकेले ही धर्म का मार्ग अंगीकार नहीं किया, प्रत्युत घर में जो सास, ससुर, देवर, ननद, पति, पुत्र तथा अपने पिता, माता, भ्राता आदि कुटुम्बीजन थे, उन सबको साथ लेकर धर्म का मार्ग तय किया है। इस रूप में हमारी बहिनों का इतिहास बड़ा ही उज्ज्वल और गौरवमय रहा है।

चिन्तन के क्षेत्र में नारी :

प्राचीन ग्रन्थों को देखने के क्रम में मुझे एक बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ देखने को मिला। यह पन्द्रहवीं शती का एक साध्वी का लिखा हुआ ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ के अक्षर बड़े ही सुन्दर, मोती-सरीखे हैं, साथ ही अत्यन्त शुद्ध भी। यह नारी की उच्च चिन्तना एवं मौलिक सर्जना का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

पाँच सौ वर्षों के बाद, आज, सम्भव है, उसके परिवार में कोई भी आदमी न बचा हो, किन्तु उसने जिस सुन्दर वस्तु की सर्जना की है, वह आज भी एकबारगी मन को गुदगुदा देती है। उसे देख कर मैंने विचार किया—अगर वह साध्वी उस शास्त्र को ठीक तरह न समझती होती, तो इतना शुद्ध और सुन्दर कैसे लिख सकती थी? उसकी लिखावट की शुद्धता से पता चलता है कि उसमें ज्ञान की गम्भीरता और चिन्तन की चारुता सहज समाहित थी।

इसके अतिरिक्त मैंने और भी शास्त्र-भण्डार देखे हैं, जिनमें प्रायः देखा है, अनेक शास्त्रों का लेखन आदि या तो किसी की माता या बहन या बेटी या धर्म-पत्नी आदि के द्वारा कराया गया है। इस प्रकार बहुत से शास्त्र एवं ग्रन्थ हमारी बहनों के धार्मिक एवं साहित्यिक-चेतना के ही प्रतिफल हैं। मेरा विचार है, कि धर्म-साधना के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से भी बहनों का जीवन बड़ा शानदार रहा है।

वर्तमान युग में नारियों का दायित्व :

आज समाज में, जो गड़बड़ियां फैली हुई हैं, उनका उत्तरदायित्व पुनः बहनों पर आया है। क्योंकि मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग बहनों की ही गोद में तैयार होता है। उन्हें सन्तान के रूप में एक तरह से कच्ची मिट्टी का लोंदा मिला है। उसे क्या बनाना है और क्या नहीं बनाना है? यह निर्णय करना उनके ही अधिकार क्षेत्र में है। जब माताएँ योग्य होती हैं, तो वे अपनी सन्तान में त्याग, तप एवं करुणा का रस पैदा कर देती हैं और धर्म एवं समाज की सेवा के लिए उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा जगा देती हैं। ऐसी सन्नारियों के बीच मदालसा का नाम चमकता हुआ हमारी आँखों के सामने बरबस आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। जब उसे पुत्र होता है, तब वह एक लोरी गाती है और उसमें आत्म-तत्त्व की शुद्ध-चेतना का पावन संदेश देती है--

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि,
संसार - माया - परिवर्जितोऽसि।"

यह एक लम्बी और विराट् लोरी है, जो दार्शनिक-क्षेत्र में बड़ी ही चित्ताकर्षक है। इसमें कहा गया है—तू शुद्ध है, तू निरंजन है, अतः तू विकारों में, संसार की माया में मत फंस जाना। तू बुद्ध है, ज्ञानी है, अतः अज्ञान में न भटक जाना। तू यदि अज्ञान और अविवेक में फंसा रहा, और तेरे मन का द्वार खुला न रहा, तो तू समाज में अंधकार फैला देगा। तू जगत् को प्रकाश देने आया है और तेरा ज्ञान तुझे ही नहीं जगत् को भी प्रकाश की ओर ले जाएगा।

मदालसा का यह उद्बोधन, भारत का शाश्वत उद्बोधन है और वह हीनता, दीनता एवं मलिनता के अन्धगर्त में पड़ी हुई हर आत्मा के उत्थान के लिए, अपने स्वरूप-बोध के लिए है—तू निरंजन है, परम चेतनामय है, तू क्षुद्र संसारी जीव नहीं है। तू इस संसार के मायाजाल में फंसने हेतु नहीं आया है। तुझे अपने और संसार के मैल को साफ करना है। तू संसार की गलियों में कीड़ोंवत् रेंगने के लिए नहीं है। तू तो ऊर्ध्व-चेतन का परम पुरुष है, परम ब्रह्म है।

हाँ तो, भारत के इतिहास-पृष्ठ पर जीवन-जागरण का यह मंगल-गीत आज भी अंकित है। और, मदालसा की उदात्त प्रेरणा हमारे सामने प्रकाशमान है।

अब भी यदि कोई यह कहे कि बहिनें सदा से मूर्ख रही हैं, और उन्होंने संसार को अन्धकार में ले जाने का ही प्रयत्न किया है, तो इसका उत्तर है कि वे महान् नारी ही हैं, जिन्होंने ऐसे-ऐसे पुत्र-रत्न दिये जो हर क्षेत्र में महान् बने। यदि कोई साधु बना, तो भी महान् बना और यदि राजगद्दी पर बैठा, तो भी महान् बना! कोई सेनापति के रूप में वीरता के पथ पर अग्रसर हुआ, तो देश की रक्षा करके जनता का मन जीतता चला गया और पृथ्वी पर जहाँ भी अपने पैर जमाये, वहीं एक मंगलमय साम्राज्य खड़ा कर दिया।

महत्ता की जननी : नारी :

प्रश्न है, ये सब चीजें कहाँ से आईं? माता की गोदी में से नहीं आईं, तो क्या आकाश से बरस पड़ीं? पुत्रों और पुत्रियों का निर्माण तो माता की गोद में ही होता है। यदि माता योग्य है, तो कोई कारण नहीं कि पुत्र योग्य न बने और माता अयोग्य है, तो कोई शक्ति नहीं, जो पुत्र को योग्य बना सके। वे संसार को जैसा चाहें, वैसा बना सकती हैं।

मेरी एक रचना के शिशु-गीत में एक बालक स्वयं कहता है कि—"मैं महान् हूँ! मैंने बड़े-बड़े काम किये हैं। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध वगैरह सब मुझ में से बने हैं।" इस प्रकार बहुत कुछ कहने के बाद अन्त में कहता है—"आखिर मैं माता-पिता का खिलौना हूँ। वे जो बनाना चाहते हैं, वही मैं बन जाता हूँ। मैं देवता भी बन सकता हूँ और राक्षस भी बन सकता हूँ। मेरे अन्दर दोनों तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं। यदि माता-पिता देवता हैं, उनमें ठीक तरह सोचने की शक्ति है और मुझे देवता बनाना चाहते हैं, तो वे मुझे अवश्य ही देवता बना देंगे। यदि माता-पिता की गलतियों से, राक्षस बनने की शिक्षा मिलती रही और आसपास के वातावरण ने बुरे संस्कारों को जागृत कर दिया, तो मैं बड़े-से-बड़ा राक्षस भी बन सकता हूँ।"[1]

---

१. अन्त में माता-पिता के खेल का सामान हूँ मैं।
जो विचारें वह बना लें, देव हूँ, शैतान हूँ मैं॥—'अमर माधुरी'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-निर्माण में नारी का स्थान :

समाज का जो पूर्ण शरीर है, उसके एक ओर नारीवर्ग है और दूसरी ओर पुरुष-वर्ग। कहीं ऐसा तो नहीं है कि शरीर के एक हिस्से को लकवा मार जाए, वह बेकार हो जाए और शेष आधा शरीर ज्यों-का-त्यों सबल और कार्यकारी बना रहे। यह ठीक है कि एक हाथ और एक पैर के सुन्न हो जाने पर भी दूसरा हाथ और दूसरा पैर हरकत में रह सकता है, किन्तु काम करने को यथोचित सक्षम नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि शरीर के दोनों हिस्से ठीक अवस्था में रह कर गति करते हैं, तो वे अवश्य काम करेंगे और ऐसा ही जीवन समाज को कुछ दे सकेगा और कुछ ले भी सकेगा।

आज ऐसा लगता है, समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है और वह बेकार हो गया है। उसके पास वह निर्मल विचार और चिन्तन नहीं रहा, जो अपनी सन्तान को महान् बना सके। आज जो अभद्र गालियाँ, लड़के-लड़कियों की जुबान पर आती हैं, बहनों की ओर से ही आती हैं। हजारों कुसंस्कार और मेरे-तेरे की दुर्भावना, प्रायः अबोध माताओं की ही देन है। निरन्तर द्वैतवाद की विषाक्त कड़वी घुट्टियाँ पिलाते रहने का अन्तिम यही दुष्परिणाम होता है।

इस प्रकार, बच्चों के मन में जहाँ अमृत भरा जाना चाहिए, वहाँ जहर भरा जाता है और आगे चलकर माता-पिता को जब उसका परिणाम भोगना पड़ता है, तब वे रोते-चिल्लाते हैं! आज बच्चों का जो ऐसा भ्रष्ट जीवन बन रहा है, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी बहनों की मानसिकता ऊँची नहीं रही।

पक्षी को आकाश में उड़ने के लिए दोनों पंखों से मजबूत होना आवश्यक है। जब दोनों पंख सशक्त होंगे, तभी वह उड़ सकेगा, एक पंख से नहीं। यही बात समाज के लिए भी है। समाज का उत्थान पुरुष-स्त्री दोनों के समान शक्ति-सम्पन्न होने पर निर्भर है। आज हमारा समाज जो इतना गिरा हुआ है, उसका मूल कारण यही है कि उसका एक पंख इतना दुर्बल और नष्ट-भ्रष्ट हो गया है कि उसमें कर्तृत्वशक्ति नहीं रही, जीवन नहीं रहा। एक पंख के निर्जीव हो जाने पर दूसरा पंख भी काम नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में पतन के सिवा उत्थान की सम्भावना ही क्या है?

आज सर्वत्र विषम हवाएँ चल रही हैं। जब-तब यह सुनने को मिलता है कि आज घर-घर में कलह की आग सुलग रही है। प्रश्न उठता है—यह कलह जागता कहाँ से है? मालूम करेंगे, तो पता चलेगा कि ९० प्रतिशत झगड़े इन्हीं बहनों के कारण होते हैं। उसके मूल में किसी-न-किसी बहन की नासमझी ही होती है। झगड़े और मन-मुटावों का पता करने चलेंगे, तो पाएँगे कि उनमें से अधिकांश का उत्तरदायित्व बहनों पर ही है। इसका कारण बहनों का अज्ञान है। उनकी अज्ञानता ने ही उन्हें ऐसी स्थिति में ला दिया है। यदि वे ज्ञान का प्रकाश पा जाएँ और अपने हृदय को विशाल एवं विराट् रखें, अपने जीवन को महान् बनाएँ और मात्र लेने की बुद्धि न रखकर समय पर कुछ देने की बुद्धि भी रखें, यदि उनके मन इतने महान् बन जाएँ कि अपने-पराये सभी के सुख-दुःख में समान भाव से सस्नेह सहयोग दे सकें, सेवा कर सकें, तो परिवारों के झगड़े, जो विराट् रूप ले लेते हैं, न ले सकें और न किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर ही आ सके।

नारी की आदर्श दानशीलता :

यहाँ इतिहास की एक घटना याद आ जाती है, एक महान् नारी की महान् उदारता की। उसका नाम आज भले ही किसी को याद न हो, किन्तु उसकी दिव्य जीवन-ज्योति हमारे सामने प्रकाशमान है।

भारत में बड़े-बड़े दार्शनिक कवियों ने जन्म लिया है। संस्कृत भाषा के ज्ञाता यह जानते हैं कि संस्कृत साहित्य में माघ कवि का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है? माघ कवि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत के गिने-चुने कवियों में से एक माने जाते हैं और उनकी कविता की भाँति उनकी जीवन-गाथा भी समान रूप से मूल्यवान है।

कविता की बदौलत लाखों का धन आता, किन्तु माघ का यह हाल कि इधर आया और उधर दे दिया। अपनी उदारवृत्ति के कारण वह जीवन भर गरीब ही बने रहे। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी आ जाती कि आज तो खाने को है, किन्तु कल क्या होगा, कुछ पता नहीं। कभी-कभी तो उसे भूखा ही रहना पड़ता। किन्तु, उस माई के लाल ने जो कुछ भी प्राप्त किया, उसे देने से कभी भी इन्कार नहीं किया। लोकोक्ति है—'माघ का महत्त्व पाने में नहीं, देने में है।'

एक बार वह एकान्त में अपनी बैठक में बैठे थे और अपनी एक रचना को परिमार्जित कर रहे थे। इसी बीच जेठ की उस कड़कड़ाती हुई गर्मी में, दोपहर के समय, एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। ज्योंही वह ब्राह्मण आया और नमस्कार करके सामने खड़ा हुआ कि इनकी दृष्टि उसकी दीनता को भेद गई। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया पड़ रही थी और थकावट तथा परेशानी स्पष्ट झलक रही थी।

कवि ने ब्राह्मण से पूछा—क्यों भैया! इस धूप में आने का कैसे कष्ट किया?

ब्राह्मण—जी, और तो कोई बात नहीं है, एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे यहाँ एक कन्या है। वह जवान हो गई है। उसके विवाह की व्यवस्था करनी है, किन्तु साधन कुछ भी नहीं है। अर्थाभाव के कारण मैं बहुत उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से चला आ रहा हूँ। आपकी कृपा से मुझ गरीब की कन्या का भाग्य बन जाए, यही याचना है।

माघ कवि ब्राह्मण की दीनता को देखकर विचार में डूब गए। उनका विचार में पड़ जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस समय उनके पास एक शाम खाने को भी कुछ नहीं बचा था। परन्तु एक गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है। अतः कवि की उदार भावना दबी न रह सकी। उसने ब्राह्मण को बिठलाया और आश्वासन देते हुए कहा—"अच्छा भैया, बैठो, मैं अभी आता हूँ।"

माघ घर में गए। इधर-उधर देखा, तो कुछ न मिला। अब उनके पश्चात्ताप का कोई पार न रहा। सोचने लगे—"माघ! आज क्या तू घर आए याचक को खाली हाथ लौटा देगा? नहीं, आज तक तूने ऐसा नहीं किया है। तेरी अन्तरात्मा यह सहन नहीं कर सकती। किन्तु, किया क्या जा सकता है? कुछ हो देने को तब तो न?"

माघ विचार में डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नहीं सूझ रहा था। आखिर एक किनारे सोई हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। पत्नी के हाथों में सोने के कंगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर वे ही कंगन उसकी सम्पत्ति थे।

माघ ने सोचा—"कौन जाने, माँगने पर यह दे, या न दे! इसके पास और कोई धन-सम्पत्ति तो है नहीं, कोई अन्य आभूषण भी नहीं। यही कंगन है, तो शायद देने से इन्कार कर दे! संयोग की बात है कि यह सोयी हुई है। अच्छा अवसर है। क्यों न चुपचाप एक कंगन निकाल लिया जाए!"

माघ, पत्नी के हाथ का एक कंगन निकालने लगे। कंगन सरलता से खुला नहीं और जोर लगाया तो थोड़ा झटका लग गया। पत्नी की निद्रा भंग हो गई। वह चौंक कर जगी और अपने पति को देखकर बोली—आप क्या कर रहे थे?

माघ—कुछ नहीं, एक सामान टटोल रहा था।

पत्नी—नहीं, सच कहिए। मेरे हाथ में झटका किसने लगाया?

माघ—झटका तो मुझी से लगा था।

पत्नी—तो आखिर बात क्या है? क्या आप कंगन खोलना चाहते थे?

माघ—हाँ, तुम्हारा सोचना सही है।

पत्नी—लेकिन, किसलिए?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माघ—एक गरीब ब्राह्मण दरवाजे पर बैठा है। वह एक बड़ी आशा लेकर यहाँ आया है। वह बेचारा बहुत गरीब है। एक जवान लड़की है, जिसकी शादी उसे करनी है, किन्तु करे तो कैसे? पास कुछ हो, तब तो! अतः वह अपने यहाँ कुछ पाने की आशा से आया है। मैंने देखा, घर में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो उसे दिया जा सके। तब तुम्हारा कंगन नजर आया और यही खोलकर उसे दे देने का सोचा। मैंने तुम्हें जगाया नहीं, क्योंकि मुझे भय था कि कहीं तुम कंगन देने से इन्कार न कर दो।

पत्नी—तब तो आप चोरी कर रहे थे!

माघ—हाँ, बात तो सही ही है, पर और करता भी क्या? दूसरा कोई चारा भी तो नहीं था।

पत्नी—मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गए, किन्तु देखती हूँ, आप आज तक मुझे नहीं पहचान सके! आप तो एक ही कंगन ले जाने की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व भी आप ले जाएँ, तो भी मैं प्रसन्न ही होऊँगी। पत्नी का इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा कि वह पति के साथ मानव-कल्याण-कार्य में काम आती रहे। बुलाइए न, वह ब्राह्मण देवता कहाँ है? शुभ काम में देरी क्यों?

और, माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को बुलाया तथा अन्दर ले जाकर कहा—देखो भाई, मुझे घर में कुछ नहीं मिल रहा है, जो तुम्हें दे सकूं। यह कंगन है, जो तुम्हारी इस पुत्री के पहनने के लिए है। उसी की ओर से तुम्हें यह भेंट किया जा रहा है। मेरे पास तो देने को कुछ भी नहीं है।

पत्नी ने दोनों कंगन उतार कर सहर्ष ब्राह्मण को दे दिए। ब्राह्मण गद्गद हो उठा। विस्मय और हर्ष के आवेग में उसकी आँखों से झर्-झर् आंसू की धाराएँ फूट चलीं। वह भगवान् को धन्यवाद देता हुआ तथा ऐसे महान् दम्पती का गौरवगान करता चला गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष में ऐसी बहनें भी हुई हैं, जिन्होंने अपनी दारुण दारिद्रय एवं दुस्सह दीनता की हालत में भी आशा लेकर घर आए हुए अतिथि को खाली हाथ नहीं लौटाया। उन बहनों ने मानो यही सिद्धान्त बना लिया था—

'दानेन पाणिर्नतु कंकणेन'।

—हाथ दान देने से सुशोभित होता है, कंगन से नहीं।

गौरव की अधिकारिणी कौन?

ऐसी विराट् हृदय वाली बहनों ने ही महिला-समाज के गौरव को बढ़ाया है। ऐसी-ऐसी बहनें भी हो चुकी हैं, जिन्होंने अपरिचित भाइयों की भी उनकी गरीबी की हालत में सेवा की है और उन्हें अपने बराबर धनाढ्य भी बना दिया है। जैन इतिहास में उल्लेख आता है कि पाटन की रहने वाली एक बहन लच्छी (लक्ष्मी) ने एक अपरिचित जैन युवक को उदास देख कर ठीक समय उसकी सहायता की और उसे अपने बराबर धनाढ्य बना दिया। वही एक दिन का भूला-भटका हुआ, रोटी की तलाश में धक्के खाने वाला मरुधर देश का युवक ऊदा, एक दिन गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह का महामन्त्री उदयन बना और गुजरात के युगनिर्माता के रूप में जिसका नाम भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर आज भी चमक रहा है।

ऐसी बहनें ही जगत् में गौरव की अधिकारिणी हैं। वे महिला-जाति में मुकुटमणि हैं। उनके आदर्श देश-काल की सीमाओं से परे हैं।

परन्तु, कई बहिनें ऐसी भी हैं, जिनका घर भरा-पूरा है, जिन्हें किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी अपने हाथ से, किसी को एक रोटी का भी दान नहीं दे सकतीं! किन्तु याद रखो, गृहिणी की शोभा दान देने से ही है, उदारता से ही है। जो दानशीला और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदारमना हैं, वही लक्ष्मी की सच्ची मालकिन कही जा सकती हैं। जैन-साहित्य के महान् मनीषी ने कहा है—

"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।"

—ईटों और पत्थरों का बना हुआ घर, घर नहीं कहलाता, सद्-गृहिणी के होने पर ही, घर वस्तुतः घर कहलाता है।

खेद है कि आजकल ऐसी आदर्श गृहिणियों के बहुत कम दर्शन होते हैं। धनाढ्य लोगों के घरों में भी प्रायः ऐसी गृहणियाँ होती हैं, जो घर आए किसी गरीब-दुःखी को सान्त्वना देने के बदले गालियाँ देकर, धक्का दिलवाकर निकाल देती हैं। किन्तु जो सद्-गृहिणियाँ होती हैं, वे बड़ी संजीदगी से पेश आती हैं। वे कभी किसी के प्रति न तो कटु व्यवहार करती हैं और न कभी अपने चेहरे पर क्रोध की कोई एक रेखा ही आने देती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

देश की विकट समस्या : भूख

जब हम अपने जीवन के सम्पूर्ण पक्षों—अतीत, वर्तमान और भविष्य पर विचार करने लगते हैं, तो हमारे सामने एक अजीब-सादृश्य उभर आता है। हमारा अतीत जितना उज्ज्वल रहा है, वर्तमान उतना ही असंतोषजनक और धूमिल। और, भविष्य? भविष्य के आगे, तो एक प्रकार से सघन अंधकार-ही-अंधकार का साम्राज्य दिखाई पड़ने लगता है। एक विचारक ने सत्य ही कहा है—

"Past is always Glorious
Present is always Insatisfactory
And Future is always in Dark".

"उज्ज्वल सुख कर पूत-पुरातन,
वर्तमान कसमस पीड़ाच्छन्न,
और, भविष्यत् तमसावर्तन।"

हमारा स्वर्णिम अतीत :

हम जैसे-जैसे अपने अतीत के पृष्ठों का अवलोकन करते हैं, एक सुखद गौरव-गरिमा से हमारा अन्तस्तल खिल उठता है। हमारा वह परिमित ऐश्वर्य, वह विपुल वैभव, दूध-सी स्वच्छ लहराती नदियाँ, सुदूर क्षितिज तक फैला दिन-रात गर्जता सागर, आकाश को छूती मीलों लम्बी पर्वत-शृंखलाएँ, जहाँ कहीं-न-कहीं प्रति दिन छहों ऋतुएँ अटखेलियाँ करतीं हैं। हमारा वह सादा सुखमय जीवन, किन्तु उच्च विचार, जिसके बीच से 'ओम्', 'अर्हम्' का प्रणवनाद गूंजा करता था, हमारा वह देवों से भी उत्तम जीवन, जिसकी देवता भी स्पृहा करते थे। विष्णु-पुराण में यही ध्वनि मुखरित हुई है—

"गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत-भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पद-मार्ग —— भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥" २।३।४.

यह गौरवमय दिव्यनाद जब भी हमारे श्रुतिपथ में झंकृत होता है, हमें क्षण भर को न जाने किस अज्ञात सुखद लोक में उड़ा ले जाता है। हम हंस-के-से स्वप्निल पंखों पर उड़कर स्वर्गिक सुख का उपभोग करने लगते हैं। सचमुच हमारा अतीत कितना सुहाना था, कितना श्रेयष्कर! हम आज भी उसको यादकर गौरव से फूले नहीं समाते! इतिहास कहता है, सबसे पहले हमारे यहाँ ही मानव-सभ्यता का अरुणिम प्रकाश प्राची में फूटा था—

"ऊषा ने हँस अभिनन्दन किया,
और पहनाया हीरक हार!"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहे जैन-धर्म हो, चाहे बौद्ध-धर्म हो, चाहे वैदिक-धर्म हो, चाहे अन्य कोई भी परम्परा—सभी ने हमारे अतीत की बड़ी ही रम्य झाँकी प्रस्तुत की है। वह दिव्यातिदिव्य स्वर हमारा ही स्वर था, जो सब ओर प्रतिध्वनित होकर विश्व के कोने-कोने में जागरण का पावन सन्देश दे सका।

हमारा क्षुधित वर्तमान :

किन्तु, उस अतीत की गाथाओं को दुहराने मात्र से भला अब क्या लाभ? आज तो हमारे सामने, हमारा वर्तमान एक विराट् प्रश्न बनकर खड़ा है। वह समाधान माँग रहा है कि कल्पना की सुषमा को भी मात कर देने वाला हमारा वह भारत आज कहाँ है? क्या आज भी किसी स्वर्ग में देवता इसकी महिमा के गीत गाते हैं? भारतवासियों के सम्बन्ध में क्या आज भी वे वही पुरानी यशस्वी गाथाएँ दुहराते होंगे? आज के भारत को देखकर तो ऐसा लगता है कि वे किसी कोने में बैठकर हजार-हजार आँसू बहाते होंगे और सोचते होंगे—आज का भारत कैसा है? क्या यह वही भारत है, जहाँ अध्यात्म की दिव्य प्राण-शक्ति कभी राम, तो कभी कृष्ण, और कभी बुद्ध, तो कभी महावीर बनकर जिसकी मिट्टी को महिमान्वित करती थी? जहाँ प्रेय श्रेय के चरणों की धूल का तिलक करता था। क्या यह वही भारत है?

अंग्रेजी कवि हेनरी डिरोजियो ने अपने काव्य 'झंगीरा का फकीर' की भूमिका में ठीक ऐसी ही मनःस्थिति में लिखा था—

"My Country: in the days of Glory Past
A beauteous halo circled round thy brow
And worshipped as a deity thou wast:
Where is that glory, where is that reverence now
The eagle pinion is chained down at last
And grovelling in the lowly dust art thou:
Thy minstrel hath no wreath to weave for thee
Save the sad story of they misery."

आज यही सत्य हमारे सामने आ खड़ा है। आज का भारत अत्यन्त गरीब है। सुदूर अतीत नहीं, सतरहवीं शताब्दी के भारत को ही ले लीजिए। उस समय के भारत को देखकर फ्रांसीसी यात्री बरनियर ने क्या कहा था? उसने कहा था—

"यह हिन्दुस्तान एक अथाह गड्ढा है, जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारों तरफ से अनेक रास्तों से आ-आकर जमा होता है और जिससे बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता।"[1]

किन्तु, लगभग दो सौ वर्षों की दुःसह गुलामी के बाद भारत के उस गड्ढे में ऐसे-ऐसे भयंकर छिद्र बने कि भारत का रूप बिलकुल ही विरूप हो गया। उस दृश्य को देखते आँखें झेंपती हैं, आत्मा कराह उठती है। विलियम डिगवी, सी० आई० ई० एस० पी० के शब्दों में—

"बीसवीं सदी के शुरू में करीब दस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं, जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिल पाता.....इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखाई नहीं दे सकती।"[2]

---

१. भारत में अँग्रेजी राज (द्वितीय खण्ड) सुन्दरलाल,
२. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह सोने का देश भारत आज इस हालत में पहुँच चुका है कि जिस ओर दृष्टि डालिए उस ओर ही हाय-हाय, तड़प-चीख और भूख की हृदय-विदारक चित्कार सुनाई देती है। विषमता की दुर्लंध्य खाई के बीच कीड़े के समान आज का मानव कुलबुला रहा है। एक तरफ काम करने वाले श्रमिक कोल्हू के बैल-से पिसते-पिसते कृश एवं क्षीण होते जा रहे हैं, दूसरी तरफ ऊँची हवेलियों में रहने वाले ऐशो-आराम की जिन्दगी गुजार रहे हैं। एक नव-वधू के लज्जा-वसन बेच कर ब्याज चुकाता है, दूसरा तेल-फुलेलों पर पानी-सा धन बहाकर दंभी जीवन बिताता है। परन्तु, आज के ये धन्ना सेठ भी अन्दर में कहाँ सुखी हैं। शोषण की नींव पर खड़े महलों में दुःख के, पीड़ा के, तृष्णा के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं। कुछ और, कुछ और की चाह उन्हें न दिन में हँसने देती है, न रात में सोने देती है। आज का भारत तो अस्थिपंजर का वह कंकाल-बना हुआ है कि जिसे देखकर करुणा को भी करुणा आती है। वह स्वर्ग का योग-क्षेम-कर्ता आज असहाय भिक्षुक बना पथ पर ठोकरें खाता फिरता है—

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुंह फटी पुरानी झोली को फैलाता।
.....
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे, कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

यह है आज के हमारे भारत की सच्ची तसवीर! वही यह देश है, जो कभी संसार को अन्न का अक्षय दान देता था। संसार को रोटी और कपड़े का दान देता था। जिसकी धर्म की पावन टेर आज भी सागर की लहरों में सिसक रही है—सर तोड़ती, उठती-गिरती! जिसके स्मृति चिन्ह आज भी जावा, सुमात्रा, लंका आदि देशों में देखने को मिल जाते हैं। जिसकी दी हुई संस्कृति की पावन भेंट संसार को मनुष्यता की सीख देती रही है, क्या इसमें आज भी वह क्षमता है? किन्तु कहाँ? आज तो, कल का दाता, आज का भिक्षुक बना हुआ है। कल का सहायता देने वाला आज सहायता पाने को हाथ पसारे अन्य देशों की ओर अपलक निहार रहा है। 'एगे आया' का व्याख्याता, 'वधसुधैव कुटुम्बकम्' के पावन संदेश का उद्गाता भारत आज स्वयं नोन, तेल, लकड़ी के चक्कर में तबाह हो रहा है।

आज हमारे सामने इतिहास का एक जलता प्रश्न खड़ा है कि हम कैसे रहें? कैसा जीवन अपनाएँ। प्रश्न साधारण नहीं है। अतः उत्तर भी यों ही कोई चलता नहीं दिया जा सकता। आइए, इस पर कुछ चर्चा करें।

हमारा युग-धर्म :

मैं उस आध्यात्मिक-परम्परा को महत्त्व देता हूँ, जिसमें मैंने यह साधुवृत्ति ली है। मैंने आर्हत् धर्म की विचारधारा का गहन अध्ययन किया है। उसमें मुझे बड़ा रस आया है, हार्दिक आनन्द भी मिला है। किन्तु, सवाल यह है कि क्या हम उस महान् विचार-धारा को सिर्फ पढ़कर, समझकर आनन्द लेते रहें, मात्र आदर्श का कल्पनामय सुख ही प्राप्त करते रहें, या यथार्थ को भी पहचानें, युगधर्म की आवाज भी सुनें? भारतवर्ष का,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ काल से यह दुर्भाग्य रहा है कि वह अपने जीवन के आदर्शों को, अपने जीवन की ऊँचाइयों को लेकर, जिन्हें कि कभी पूर्व पुरुषों ने प्राप्त किया था, बड़ी लम्बी-लम्बी उड़ानें भरता रहा है। और, उस लम्बी उड़ान में इतना उड़ता रहा है कि यथार्थ उससे कोसों दूर छूट गया है। वह जीवन की समस्याओं को भुलाकर, उन पर विचार करना तक छोड़कर मरणोत्तर स्वर्ग और मोक्ष की बातें करके अपने अहं की तुष्टि करता रहा है। स्वर्ग और मोक्ष की मोहक आकांक्षा में वह कड़ी-से-कड़ी साधनाएँ तो करता रहा है, परन्तु यथार्थ के ऊपर कभी भूल से भी विचारणा नहीं की। धर्म को यदि हम देखें, तो इसके मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—१. शरीर-धर्म और २. आत्म-धर्म—आत्मा का धर्म। इन दोनों का समन्वित रूप ही जीवन का युगधर्म है। सिर्फ आत्मा का धर्म अपनाना भी उतना ही एकांगी है, जितना सिर्फ शरीर का धर्म ही धारण करना। दोनों में तट और तरी का सम्बन्ध है, गुंबद और नींव का सम्बन्ध है। जिस प्रकार बिना तरी के धारा के पार तट की कल्पना कल्पना भर है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म, शरीर धर्म के बिना, नींव के बिना भवन-निर्माण से कुछ ज्यादा नहीं जान पड़ता। एक विचारक ने सत्य ही कहा है—

"Sound mind in a sound body"

"नीरुज तन में शुचिमन संधान।
क्षीणता हीनतामय अज्ञान।।"

जीवन का आधार :

मैं समझता हूँ, कोई भी देश स्वप्नों की दुनिया में जीवित नहीं रह सकता। माना, स्वप्न जीवन से अधिक दूर नहीं होता, जीवन में से ही जीवन का स्वप्न फूटता है, परन्तु कोई-कोई स्वप्न दिवास्वप्न भी होता है—ख्याली पुलाव, बेबुनियाद हवाई किला-सा। पक्षी आकाश में उड़ता है, उसे भी आनन्द आता है, दर्शक को भी; किन्तु क्या उसका आकाश में सदा उड़ते रहना सम्भव है? कभी नहीं। आखिर दाना चुगने के लिए तो उसे पृथ्वी पर उतरना ही पड़ेगा! कोई भी संस्कृति और धर्म जीवन की वास्तविकता से दूर, कल्पना की दुनियाँ में आबद्ध नहीं रह सकता। यदि रहे, तो उसीमें घुटकर मर जाए, जीवित न रहे। उसे कल्पना की संकीर्ण परिधि के पार निकलना ही होगा, जहाँ जीवन यथार्थ-आधार की ठोस भूमि पर नानाविध समस्याएँ लिए खड़ा है। उसे इन्हें सुलझाना ही होगा। ऐसा किए बिना हम न तो अपना भला कर सकते हैं, न देश का ही। विश्व कल्याण का स्वप्न तो स्वप्न ही बना रहेगा। मैं कोरे आदर्शवादियों से मिला हूँ और उनसे गम्भीरता से बातें भी की हैं। कहना चाहिए, हमारे विचारों को, हमारी वाणी को कहीं आदर भी मिला है, तो कहीं तिरस्कार भी मिला है। जीवन में कितनी बार कड़वे घूंट पीने पड़े हैं, किन्तु इससे क्या? हमें तो उन सिद्धान्तों व विचारों के पीछे, जो जीवन की समस्याओं का निदान यथार्थवादी दृष्टिकोण से करने का मार्ग दिखाते हैं, कड़वे घूंट पीने के लिए तैयार रहना चाहिए। और, यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि सत्य के लिए लड़ने वालों को सर्वप्रथम सर्वत्र जहर के प्याले ही पीने को मिलते हैं, अमृत की रसधार नहीं। विश्व का कल्याण करने वाला जब तक हलाहल का पान न करेगा, वह कल्याण करेगा कैसे? विष पीये बिना, कोई भी शिव शंकर नहीं बन सकता।

हाँ तो, आज भारतवर्ष की बड़ी पेचीदा स्थिति है। जीवन जब पेचीदा हो जाता है, तो वाणी भी पेचीदा हो जाती है और जीवन उलझा हुआ होता है, तो वाणी भी उलझ जाती है। जीवन का सिद्धान्त साफ नहीं होगा, तो वाणी भी साफ नहीं होगी। अतः हमें समस्याओं को सुलझाना है और तदर्थ वाणी को भी साफ बनाना है। जबतक धर्मगुरु तथा राष्ट्र और समाज के नेता अपनी वाणी को शाब्दिक माया-जाल में से बाहर निकाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं लेंगे और अपने मन को स्पष्ट, निर्मल और साफ नहीं बना लेंगे, तब तक संसार को देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है।

लोग मरने के बाद स्वर्ग की बातें करते हैं, किन्तु स्वर्ग की बात तो इस जीवन में भी सोचनी चाहिए। जो वर्तमान जीवन में होता है, वही भविष्य में प्राप्त होता है। जो जीते-जी यहाँ जीवन में कुछ नहीं बना है, वह मरने के बाद भी देश को मृत्यु की ओर ही ले जाएगा। वह देश को जीवन की ओर कदापि नहीं ले जा पाएगा।

हम देहात से गुजरते हैं, तो देखते हैं कि बेचारे गरीब ऐसी रोटियाँ, ऐसा अन्न खाते हैं कि शायद आप उसे देखना भी पसंद न करें, हाथ से छुएँ भी नहीं। यही आज भारत की प्रधान समस्या है और इसी को आज सुलझाना है। आप जबतक अपने आपमें बंद रहेंगे, कैसे मालूम पड़ेगा कि संसार कहाँ रह रहा है? किस स्थिति में जीवन गुजार रहा है? आप जैसे मानव-बन्धुओं को ठीक तरह समय पर रोटी मिल रही है कि नहीं? तन ढँकने को कपड़ा मिल रहा है या नहीं?

आज का भारतवर्ष इतना गरीब है कि बीमार व्यक्ति अपने लिए यथोचित दवा भी नहीं जुटा सकता और बीमारी की कमजोर हालत में यदि कुछ दिन आराम लेना चाहता है, तो वह भी नहीं ले सकता! जिसके पास एक दिन के लिए दवा खरीदने को भी पैसा नहीं है, वह आराम किस बूते पर कर सकेगा? इन सब बातों पर आपको गंभीरता से विचार करना है।

पृथ्वी के तीन रत्न :

अन्न की समस्या ऐसी विकट समस्या है कि सारे धर्म-कर्म की विचारधाराएँ और फिलॉसफियाँ उसके नीचे दब जाती हैं। बड़े-से-बड़े त्यागी-तपस्वी भी अन्न के बिना एक दो दिन तो बिता सकते हैं, जोर लगाकर कुछ और ज्यादा दिन भी निकाल देंगे, किन्तु आखिरकार उन्हें भी भिक्षा के लिए पात्र उठाना ही पड़ेगा। एक आचार्य ने कहा है—

"पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते॥"
"भूमण्डल पर तीन रत्न हैं, जल, अन्न, सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न कल्पना पामर प्राणी॥"

इस पृथ्वी पर तीन ही मुख्य रत्न हैं—अन्न, जल और मीठी बोली। जो मनुष्य पत्थर के टुकड़ों में रत्न की कल्पना कर रहे हैं, आचार्य कहते हैं कि उनसे बढ़ कर पामर प्राणी और कोई नहीं है। जो अन्न, जल तथा मधुर बोली को रत्न के रूप में स्वीकार नहीं करता है, समझ लीजिए, वह जीवन को ही स्वीकार नहीं करता है। सचमुच वह दया का पात्र है।

अन्न : पहली समस्या :

अन्न मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता है। मनुष्य अपने शरीर को, पिण्ड को लिए खड़ा है और इसके लिए सर्वप्रथम अन्न की और फिर कपड़े की आवश्यकता है। इस शरीर को टिकाए रखने के लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन की आवश्यकता पूरी हो जाती है, तो धर्म की बड़ी-से-बड़ी साधना भी सध जाती है। हम पुराने इतिहास को देखें और विश्वामित्र आदि की कहानी पढ़ें, तो मालूम होगा कि बारह वर्ष के दुष्काल में वह कहाँ-से-कहाँ पहुँचे और क्या-क्या करने को तैयार हो गए! वे अपने महान् सिद्धान्त से गिर कर कहाँ-कहाँ न भटके! मैंने वह कहानी पढ़ी है और यदि उसे आपके सामने दुहराने लगूं, तो सुनकर आपकी अन्तरात्मा भी तिलमिलाने लगेगी। द्वादशवर्षीय अकाल में बड़े-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े महात्मा केवल दो रोटियों के लिए इधर-से-उधर भटकने लगते हैं और धर्म-कर्म को भूलने लगते हैं। स्वर्ग और मोक्ष किनारे पड़ जाते हैं और पेट की समस्या के कारण, लोगों पर जैसी गुजरती है, उससे देश की संस्कृति नष्ट हो जाती है और केवल रोटी की फिलॉसफी ही सामने रह जाती है। विश्वामित्र जैसे महर्षि भी चाण्डाल के यहाँ भोजन हेतु पहुँच जाते हैं।

भूख : हमारी ज्वलंत समस्या :

आज आपके देश की दशा कितनी दयनीय हो चुकी है! अखबारों में आए दिन देखते हैं कि अमुक युवक ने आत्महत्या कर ली है, रेलगाड़ी के नीचे कट कर मर गया। किसी ने तालाब में डूब कर अपने प्राण त्याग दिये हैं और पत्र लिख कर छोड़ गया है कि मैं रोटी नहीं पा सका, भूखों मरता रहा, अपने कुटुम्ब को भूखों मरते नहीं देख सका, इस कारण आत्म-हत्या कर रहा हूँ। जिस देश के नौजवान और जिस देश की इठलाती हुई जवानियाँ रोटी के अभाव में ठंडी हो जाती हैं, जहाँ के लोग मर कर ही अपने जीवन की समस्या को हल करने की कोशिश करते हैं, उस देश को क्या कहें? स्वर्गभूमि कहें या नरक भूमि? मैं समझता हूँ, किसी भी देश के लिए इससे बढ़कर कलंक की बात दूसरी नहीं हो सकती। जिस देश का एक भी आदमी भूख के कारण मरता हो और गरीबी से तंग आकर मरने की बात सोचता हो, उस देश के रहने वाले समृद्ध लोगों के ऊपर यह बहुत बड़ा वज्र पाप है। राज्य-शासन भी इस पाप से अछूता नहीं रह सकता।

एक मनुष्य भूखा क्यों मरा? इस प्रश्न पर यदि गम्भीरता के साथ विचार नहीं किया जाएगा और एक व्यक्ति की भूख के कारण की हुई आत्महत्या को राष्ट्र की आत्महत्या न समझा जाएगा, तो समस्या हल नहीं होगी। जो लोग यहाँ बैठे हैं और मजे में जीवन गुजार रहे हैं और जिनकी निगाह अपने सुन्दर महलों की चहारदिवारी एवं महकती पाक-शाला से बाहर नहीं जा रही है और जिन्हें देश की हालत पर सोच-विचार करने की फुर्सत नहीं है, वे इस जटिल समस्या को नहीं सुलझा सकते।

आज भुखमरी की समस्या देश के लिए सिर-दर्द हो रही है। इस समस्या की भीषणता जिन्हें देखनी है, उन्हें वहाँ पहुँचना होगा। उस गरीबी में रह कर दो-चार मास व्यतीत करने होंगे! देखना होगा कि किस प्रकार वहाँ की माताएँ और बहिनें रोटियों के लिए अपनी इज्जत बेच रही हैं और अपने दुधमुंहे लालों को, जिन्हें वह स्वर्ण और रत्नों का ढेर पाने पर भी देने को तैयार नहीं हो सकती, दो-चार रुपयों में बेच रही हैं!

इस पेचीदा स्थिति में आपका क्या कर्तव्य है? इस समस्या को सुलझाने में आप क्या योग दे सकते हैं? याद रखिए कि राष्ट्र नामक कोई अलग पिण्ड नहीं है। एक-एक व्यक्ति मिल कर ही समूह और राष्ट्र बनता है। अतएव जब राष्ट्र के कर्तव्य का प्रश्न आता है, तो उसका अर्थ, वास्तव में राष्ट्र के सभी सम्मिलित व्यक्तियों का कर्तव्य ही होता है। राष्ट्र को यदि अपनी कोई समस्या हल करनी है, तो राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को वह समस्या हल करनी है। हाँ तो, विचार कीजिए, आप अन्न की समस्या को हल करने में अपनी ओर से क्या योगदान कर सकते हैं?

समस्या का ठोस निदान :

अभी-अभी जो बातें आपको बतलाई गई हैं, वे अन्न-समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए हैं। परन्तु इस समय देश की हालत इतनी खतरनाक है कि स्थायी उपायों के साथ-साथ हमें कुछ तात्कालिक उपाय भी काम में लाने पड़ेंगे। मकान में आग लगने पर कुआँ खोदने की प्रतीक्षा नहीं की जाती। उस समय तात्कालिक उपाय बरतने पड़ते ह। तो अन्न-समस्या को सुलझाने या उसकी भयंकरता को कुछ हल्का बनाने के लिए आपको तत्काल क्या करना है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो लोग शहर में रह रहे हैं, वे सबसे पहले तो दावतें देना छोड़ दें। विवाह-शादी आदि के अवसरों पर जो दावतें दी जाती हैं, उनमें काफी अन्न बर्बाद होता है। दावत, अपने साथियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने का एक तरीका है। जहाँ तक प्रेम-प्रदर्शन की भावना का प्रश्न है, मैं उस भावना का अनादर नहीं करता हूँ, किन्तु इस भावना को व्यक्त करने के तरीके देश और काल की स्थिति के अनुरूप ही होने चाहिए। भारत में दावतें किस स्थिति में आईं? एक समय था जबकि यहाँ अन्न के भण्डार भरे थे। खुद खाएँ और संसार को खिलाएँ, तो भी अन्न समाप्त होने वाला नहीं था। पाँच-पचास की दावत कर देना तो कोई बात ही नहीं थी! किन्तु आज वह हालत नहीं रही है। देश दाने-दाने के लिए मुंहताज है। ऐसी स्थिति में दावत देना देश के प्रति द्रोह है, एक राष्ट्रीय पाप है। एक ओर लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हों और दूसरी ओर हलवा-पूड़ी, कचौरियाँ और मिठाइयाँ जबर्दस्ती गले में ठूंसी जा रही हों—इसे आप क्या कहते हैं? इसमें करुणा है? दया है? सहानुभूति है? अजी, मनुष्यता भी है या नहीं? यह तो विचार करो।

मैंने सुना है, मारवाड़ में मनुहार बहुत होती है। थाली में पर्याप्त भोजन रख दिया हो, बाद में और अधिक लेने के लिए साग्रह यदि पूछा नहीं गया, तो जीमने वालों की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। मनुहार का मतलब ही यह है कि दबादब-दबादब थाली में डाले जाना और इतना डाले जाना कि खाया भी न जा सके, और व्यर्थ ही खाद्य-पदार्थ अधिकांश बर्बाद हो जाए! जूठन न छोड़ी गई, तो न खाने वाले की कुछ शान है, और न खिलाने वाले की।

उत्तर प्रदेश के मेरठ और सहारनपुर जिलों से सूचना मिली है कि वहाँ के वैश्यों ने, जिनका ध्यान इस समस्या की ओर गया, बहुत बड़ी पंचायत जोड़ी है और यह निश्चय किया है कि विवाह में इक्कीस आदमियों से ज्यादा की व्यवस्था नहीं की जाएगी। उन्होंने स्वयं यह प्रण किया है और गाँव-गाँव में यही आवाज पहुँचा रहे हैं तथा इसके पालन कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या ऐसा करने से उनकी इज्जत बर्बाद हो जाएगी? नहीं, उनकी इज्जत में चार चाँद और लग जाएँगे। आपकी तरह वे भी खूब अच्छा खिला सकते हैं और चोर-बाजार से खरीद कर हजारों आदमियों को खिलाने की क्षमता रखते हैं। किन्तु उन्होंने सोचा, इस तरह तो हम मानव जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। यह खिलवाड़ अमानुषिक है। हमें इसे जल्द-से-जल्द बन्द कर देना चाहिए।

हाँ तो, सर्व-प्रथम बात यह है—बड़ी-बड़ी दावतों का यह जो दुर्नाम सिलसिला चल रहा है, शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए। विवाह-शादी या धार्मिक-उत्सवों के नाम पर, जो दावतें चल रही हैं, कोई भी विवेकशील आदमी उन्हें आदर की दृष्टि से देख नहीं सकता। यदि आप सच्चा आदर पाना चाहते हैं, तो आपको यह संकल्प कर लेना है—आज से हम अपने देश के हित में दावतें बन्द करते हैं। जब देश में अन्न की बहुतायत होगी, तो भले ही उत्सव मनाएँगे, खाएँगे और खिलाएँगे।

दूसरी बात है, जूठन छोड़ने की। भारतवासी जब खाने बैठते हैं, तो वे खाने की मर्यादा का बिल्कुल ही विचार नहीं करते। पहले अधिक-से-अधिक लेते हैं और फिर जूठन छोड़ते हैं।

किन्तु, भारत का कभी आदर्श था कि जूठन छोड़ना पाप है। जो कुछ लेना है, मर्यादा से लो, आवश्यकता से अधिक मत लो। और जो कुछ लिया है, उसे जूठा न छोड़ो। जो लोग जूठन छोड़ते हैं, वे अन्न का अपमान करते हैं। उपनिषद् का आदेश है—**'अन्नं न निन्द्यात।'**

जो अन्न को ठुकराता है, अन्न का अपमान करता है, उसका भी अपमान अवश्यंभावी है। अन्न का इस प्रकार अपमान करने वाला भले ही कोई व्यक्ति हो, परिवार हो, समाज हो या राष्ट्र हो, एक दिन वह अवश्य ही तिरस्कृत होता है।

एक वैदिक ऋषि ने महत्त्वपूर्ण उद्घोष किया है—**"अन्नं वै प्राणाः।"**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न मानव के प्राण हैं। अन्न का तिरस्कार करना, अपने जीवनाधार प्राणों का तिरस्कार करना है। इस प्रकार जूठन छोड़ना भारतवर्ष में सदा से अपराध समझा जाता रहा है। हमारे प्राचीन महर्षियों ने तो उसे एक बहुत बड़ा पाप कहा है।

आमतौर पर जूठन छोड़ना एक मामूली बात समझी जाती है। लोग सोचते हैं कि आधी छटाँक जूठन छोड़ दी, तो क्या हो गया? इतने अन्न से क्या बनने-बिगड़ने वाला है? परन्तु यदि इस आधी छटाँक का हिसाब लगाने बैठें, तो आँखें खुल जाएँगी। इस रूप में एक परिवार का हिसाब लगाएँ तो साल भर में इक्यानवे पौंड अनाज देश की नालियों में बह जाता है। अगर ऐसे पाँच हजार परिवारों में जूठन के रूप में छोड़े जाने वाले अन्न को बाँट दिया जाए, तो बारह सौ आदमियों को राशन मिल सकता है।

यह विषय इतना सीधा-सा है कि उसे समझने के लिए वेद और पुराण के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं है। आज के युग का तकाजा है कि थाली में जूठन के रूप में कुछ भी न छोड़ा जाए। न जरूरत से ज्यादा लिया ही जाए और न जबरदस्ती परोसा ही जाए। यही नहीं, जो जरूरत से ज्यादा देने-लेने वाले हैं, उनका खुलकर विरोध किया जाए और उन्हें सभ्य समाज में निंदित किया जाए।

ऐसा करने में न तो किसी को कुछ त्याग ही करना पड़ता है और न किसी को कोई कठिनाई ही उठानी पड़ती है। यही नहीं, बल्कि सब दृष्टियों से—स्वास्थ्य की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से और सांस्कृतिक दृष्टि से—लाभ ही लाभ है। ऐसी स्थिति में आप क्यों न यह संकल्प कर लें कि हमें जूठन नहीं छोड़नी है और जितना खाना है, उससे ज्यादा नहीं लेना है। अगर आपने ऐसा किया, तो अनायास ही करोड़ों मन अन्न बच सकता है। उस हालत में आपका ध्यान अन्न के महत्त्व की ओर सहज रूप से आकर्षित होगा और अन्न की समस्या को सुलझाने की सूझ-बूझ भी आपको स्वतः प्राप्त हो जाएगी।

आज राशन पर तो नियन्त्रण हो रहा है, किन्तु खाने पर कोई नियन्त्रण नहीं है। जब आप खाने बैठते हैं, तो सरकार आपका हाथ नहीं पकड़ती। वह यह नहीं कहती कि इतना खाओ और इससे ज्यादा न खाओ। मैं नहीं चाहता कि ऐसा नियन्त्रण आपके ऊपर लादा जाए। परन्तु मालूम होना चाहिए कि आप थाली में डालकर ही अन्न को बर्बाद नहीं करते, बल्कि पेट में डालकर भी बर्बाद करते हैं। इसके लिए आचार्य विनोबा ने ठीक ही कहा है कि—'जो लोग भूख से—पेट से ज्यादा खाते हैं, वे चोरी करते हैं।' चोरी, अपने समाज की है, अपने देश की है। अपने शरीर को ठीक रूप में बनाए रखने के लिए जितने परिमाण में भोजन की आवश्यकता है, अनेक लोग प्रायः उससे बहुत अधिक खा जाते हैं। आवश्यकता से अधिक खाए गए भोज्य-पदार्थों का ठीक तरह रस नहीं बन पाता और इस प्रकार वह भोजन व्यर्थ जाता है। ठीक तरह चबाया जाए और इतना चबाया जाए कि भोजन लार में मिलकर एक रस हो जाए, तो ऐसा करने से मौजूदा भोजन से आधा भोजन भी पर्याप्त हो सकता है। अल्प भोजन का प्रयोग करने वालों का यह अनुभूत अभिमत है—अगर इस तरह अल्प भोजन करना आरम्भ कर दें, तो आपका स्वास्थ्य भी अच्छा बन सकता है और अन्न की भी बहुत बड़ी बचत हो सकती है।

उपवास का महत्त्व :

अन्न की समस्या के सिलसिले में उपवास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी हमारे सामने है। भारत में सदैव उपवास का महत्त्व स्वीकार किया गया है। खासतौर से जैन-परम्परा में तो उसकी बड़ी महिमा है। आज भी बहुत-से भाई-बहन उपवास किया करते हैं। प्राचीन काल के जैन महर्षि लम्बे-लम्बे उपवास किया करते थे। आज भी महीने में कुछ दिन ऐसे आते हैं, जो उपवास में ही व्यतीत किए जाते हैं।

वैदिक-परम्परा में भी उपवास का महत्त्व कम नहीं है। इस परम्परा में, जैसा कि मैंने पढ़ा है, वर्ष के तीन सौ साठ दिनों में ज्यादा दिन उपवास के ही पड़ते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जब देश में अन्न की प्रचुरता थी और उपभोक्ताओं के पास आवश्यकता से अधिक परिमाण में अन्न मौजूद था, तब भी भारतवर्ष में उपवास किए जाते थे, तो आज की स्थिति में यदि उपवास आवश्यक हो, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? किन्तु आप हैं, जो गोदाम की तरह रोज-रोज पेट को अन्न से भरते जा रहे हैं! जड़ मशीन को भी सप्ताह में एक दिन आराम दिया जाता है, परन्तु, आप अपनी होजिरी को एक दिन भी आराम नहीं देते। निरन्तर पचाने की क्रिया के बोझ से दबे रहने से वह निर्बल एवं रुग्न हो जाती है। आपकी पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, तब आप डाक्टरों की शरण लेते हैं और पाचनशक्ति बढ़ाने की दवाइयाँ तलाश करते फिरते हैं! मतलब यह है कि आवश्यकता से अधिक खा रहे हैं, बीमार पड़ रहे हैं, और फिर भी अधिक खाने की इच्छा रख रहे हैं। एक तरफ तो करोड़ों को जीवन-निर्वाह के लिए भी खाना नहीं मिल रहा है, देश के हजारों-लाखों आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं और दूसरी तरफ लोग अनाप-शनाप खाये जा रहे हैं और भूख को और अधिक उत्तेजना देने के लिए दवाइयाँ तलाश कर रहे हैं!

इस अवस्था में उपवास करना एक ओर धर्मलाभ है, तो दूसरी ओर लोकलाभ भी है। देश की भी सेवा है और आध्यात्मिक-साधना भी है। जीवन और देश की राह में जो खंदक पड़ गई है, उसे पाटने के लिए उपवास एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उपवास करने से हानि तो कुछ भी नहीं, लाभ-ही-लाभ है। शरीर को लाभ, आत्मा को लाभ और देश को लाभ, इस प्रकार इस लोक के साथ-ही-साथ परलोक का भी लाभ है।

हाँ, एक बात ध्यान में अवश्य रखनी चाहिए। जो लोग उपवास करते हैं, वे अपने राशन का परित्याग कर दें। यही नहीं कि इधर उपवास किया और उधर राशन भी जारी रखा। एक सज्जन ने अठाई की और आठ दिन तक कुछ भी नहीं खाया। वह मुझसे मिले तो मैंने कहा—"तुमने यह बहुत बड़ा काम किया है, किन्तु यह बताओ कि आठ दिन का राशन कहाँ है? उसका भी कुछ हिसाब-किताब है?" उसका हिसाब-किताब यही था कि वह ज्यों-का-त्यों आ रहा था और घर में जमा हो रहा था। यह पद्धति ठीक नहीं है। उपवास करने वालों को अपने आपमें प्रामाणिक और ईमानदार बनना चाहिए। अतः जब वे उपवास करें तो उन्हें कहना चाहिए कि आज हमको अन्न नहीं लाना है। मैंने उपवास किया है, तो मैं आज अन्न कैसे ला सकता हूँ?

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए, तो जो व्यक्ति अन्न नहीं खा रहा है, उसका इस तरह अन्न संग्रह करना चोरी है। मेरे इस कथन में कटुता हो सकती है, परन्तु सच्चाई है। अतएव उपवास करने वालों को इस चोरी से बचना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि प्रामाणिकता के साथ अगर उपवास किया जाए, तो देश का काफी अन्न बच सकता है और भारत की खाद्य समस्या के हल करने में बड़ा भारी सहयोग मिल सकता है। सप्ताह में या पक्ष में एक दिन भोजन न करने से कोई मर नहीं सकता, उलटा मरने वाले का जीवन बच सकता है! इससे आत्मा को भी बल मिलता है, मन को भी बल मिलता है और आध्यात्मिक चेतना भी जागृत होती है। इस प्रकार आपके एक दिन का भोजन छोड़ देने से लाखों लोगों को खाना मिल सकता है।

गो-पालन :

किसी समय भारत में इतना दूध था कि लोगों ने स्वयं पिया, दूसरों को पिलाया, अपने पड़ोसियों को बाँटा! आवश्यकता हेतु कोई आदमी दूध के लिए आया और उसे दूध न दिया, तो किसी युग में यह एक पाप माना जाता था। भारत के वे दिन कैसे महनीय थे कि किसी ने पानी माँगा, तो उसे दूध पिलाया गया। विदेशियों की कलमों से भारत की यह प्रशस्ति लिखी गई है कि भारत में किसी दरवाजे पर आकर यदि कोई पानी मांगता है, तो उसे दूध मिलता है! एक युग था, जब यहाँ दूध की नदियाँ बहती थीं!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु, आज ? आज तो यह स्थिति है कि किसी बीमार व्यक्ति को भी दूध मिलना मुश्किल हो जाता है ! आज दूध के लिए पैसे देने पर भी दूध के बदले पानी ही पीने को मिलता है। और, वह पानी भी दूषित होता है, जो दूध के नाम से देश के स्वास्थ्य को नष्ट करता है।

गायों के सम्बन्ध में बात चलती है, तो हिन्दू कहता है—"वाह ! गाय हमारी माता है ! गाय में तेतीस कोटि देवताओं का वास है ! गाय के सिवा हिन्दू-धर्म में और है ही क्या ?"

और जैन अभिमान के साथ कहता है—"देखो हमारे पूर्वजों को, एक-एक ने हजारों-हजारों और लाखों-लाखों गायें पाली थीं !"

इस प्रकार, क्या वैदिक और क्या जैन—सभी अपने वेदों, पुराणों और शास्त्रों की दुहाइयाँ देने लगते हैं। किन्तु जब उनसे पूछते हैं—तुम स्वयं कितनी गायें पालते हो, तो दाँत निपोर कर रह जाते हैं ! कोई उनसे कहे कि तुम्हारे पूर्वज गायें पालते थे, तो उससे आज तुम्हें क्या लाभ है ?

जिस देश में गाय का असीम और असाधारण महत्त्व माना गया, जिस देश ने गाय की सेवा को धार्मिक रूप तक प्रदान कर दिया, जिस देश के एक-एक गृहस्थ ने हजारों-लाखों गायों का संरक्षण और पालन-पोषण किया और जिस देश के अन्यतम महापुरुष कृष्ण ने अपने जीवन-व्यवहार के द्वारा गोपालन की महत्त्वपूर्ण परम्परा स्थापित की, जिस देश की संस्कृति ने गायों के सम्बन्ध में उच्च-से-उच्च और पावन-से-पावन भावनाएँ जोड़ीं, वह देश आज अपनी संस्कृति को, अपने धर्म को और अपनी भावना को भूलकर इतनी दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है कि वह यथावसर बीमार बच्चों को भी दूध नहीं पिला सकता ! शुद्ध दूध के लिए गोपालन नहीं कर सकता।

दूसरी ओर अमेरिका है, जिसे कुछ लोग म्लेच्छ देश तक कह देते हैं और उसके प्रति घृणा प्रदर्शित करते हैं ! आज उसी अमेरिका में प्राप्त होने वाले दूध का यह हिसाब है, कि वहाँ एक दिन में इतना दूध होता है कि तीन हजार मील लम्बी, चालीस फुट चौड़ी और तीन फुट गहरी नदी दूध से पाटी जा सकती है !

हमारे सामने यह बड़ा ही करुण प्रश्न उपस्थित है कि हमारा देश कहाँ-से-कहाँ चला गया है ! यह देवों का देश आज किस दशा में पहुँच गया है ! देश की इस दयनीय दशा को दूर करके यदि समस्या को हल करना है, तो उसे अपनी जन-कल्याणी संस्कृति और धर्म से अनुप्राणित करना होगा। इन्सान जब भूखा मरता है, तो यह मत समझिए कि वह भूखा रह कर यों ही मर जाता है। उसके मन में घृणा और वैर होता है; और जब ऐसी हालत में मरता है, तो देश के निवासियों के प्रति घृणा और वैर लेकर ही जाता है ! वह समाज और राष्ट्र के प्रति एक कुत्सित भावना लेकर परलोक के लिए प्रयाण करता है। और खेद है कि हमारा देश आज हजारों मनुष्यों को इसी रूप में विदाई देता है ! किन्तु प्राचीन समय में ऐसी बात नहीं थी। भारत ने मरने वालों को प्रेम और स्नेह दिया है और उनसे प्रेम और स्नेह ही लिया है। उनसे द्वेष और अभिशाप नहीं लिया था !

आप चाहते हैं कि भारत से और सारे विश्व से चोरी और झूठ आदि पाप कम हो जाएँ। किन्तु भूख की समस्या को सन्तोषजनक रूप में हल किए बिना यह पाप किस प्रकार दूर किए जा सकते हैं ? आज किसी व्यसन से प्रेरित होकर और केवल चोरी करने के अभिप्राय से चोरी करने वाले उतने नहीं मिलेंगे, जितने अपनी और अपनी पत्नी तथा बच्चों की भूख से प्रेरित होकर, सब ओर से निरुपाय होकर, चोरी करने वाले मिलेंगे। उन्हें और उनके परिवार को भूखा रख कर आप उन्हें चोरी करने से कैसे रोक सकते हैं ? धर्म-शास्त्र का उपदेश वहाँ कारगर नहीं हो सकता। नीति की लम्बी-चौड़ी बातें उन्हें पाप से रोकने में समर्थ नहीं हैं। नीतिकार ने तो साफ-साफ कह दिया है—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूखा क्या नहीं कर गुजरता ? वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, हत्या कर बैठता है, दुनिया भर के जाल, फरेब और मक्कारियाँ भी वह कर सकता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भूख की समस्या का धर्म के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है और इस समस्या के समाधान पर ही धर्म का उत्थान निर्भर है।

अहिंसा के देश में :

आप जानते हैं कि भारत में आज क्या हो रहा है ? जैन तो अहिंसा के उपासक रहे ही हैं, वैष्णव भी अहिंसा के बहुत बड़े पुजारी रहे हैं, किन्तु उन्हीं के देश में, हजारों-लाखों रुपयों की लागत से बड़े-बड़े तालाबों में मछलियों के उत्पादन का और उन्हें पकड़ने का काम शुरू हो रहा है। यही नहीं, धार्मिक स्थानों के तालाबों में भी मछलियाँ उत्पन्न करने की कोशिश की जा रही है ! यह सब देखकर मैं सोचता हूँ कि आज भारत कहाँ जा रहा है ! आज यहाँ हिंसा की जड़ जम रही है और हिंसा का खुला मार्ग खोला जा रहा है।

अगर देश की अन्न समस्या हल नहीं की गई और अन्न के विशाल संग्रह काले बाजार में बेचे जाते रहे, तो उसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि मांसाहार बढ़ जाएगा। अहिंसक शाकाहारी घरों में भी मांस-मछली का प्रवेश हो जाएगा, हिंसा का ताण्डव होने लगेगा और भगवान् महावीर और बुद्ध की यह भूमि रक्त से रंजित हो जाएगी। इस महापाप के प्रत्यक्ष नहीं, तो परोक्ष भागीदार वे लोग भी बनेंगे, जिन्होंने अन्न का अनुचित संग्रह किया है, अपव्यय किया है और चोर बाजारी की है ! दुर्भाग्य से देश में यदि एकबार माँसाहार की जड़ जम गई, तो उसका उखाड़ना बड़ा कठिन हो जाएगा। यद्यपि कालान्तर में सुभिक्ष होने पर भरपूर अन्न पैदा हो जाएगा, अन्न की कुछ भी कमी न रहेगी, फिर भी माँसाहार कम नहीं होगा ! माँस का चस्का बुरा होता है और लग जाने पर उसका छूटना सहज नहीं है। अतएव दीर्घदर्शिता का तकाजा यही है कि पानी आने से पहले पाल बाँध ली जाए, बुराई पैदा होने से पहले ही उसे रोक दिया जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूख, भूख ही नहीं, मनुज की—
पीड़ा है सबसे भीषणतम।
कभी-कभी उत्तम जन को भी,
कर देती है अति अधमाधम।।

जीवन-तरु का मूल अन्न है,
एक-एक कण संरक्षित हो।
अन्न-विनाशक मनुज-जाति का,
शत्रु भयानक उद्घोषित हो।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०

युग-युग की मांग : समानता

जैन-धर्म एक अध्यात्मवादी धर्म है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि मानव-आत्मा पर टिकी हुई है। वह दृष्टि मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, बाह्य-वेष, लिंग, वंश और जाति—इन सबकी दीवारों को भेदती हुई, सूक्ष्म आत्मा को ग्रहण करती है। वह आत्मा की बात करता है, आत्मा की भाषा बोलता है। सुख-दुःख के विकल्प, उच्चता-नीचता के मानदंड और यहाँ तक कि लोक-परलोक की चिन्ता से भी परे, वह शुद्ध अध्यात्म की बात करता है। इसका मतलब यह है कि संसार के जितने भी बाह्य विकल्प हैं ऊँच-नीच के, चाहे वे जाति की दृष्टि से हों, चाहे धन की दृष्टि से हों, चाहे शासन-अधिकार की दृष्टि से हों अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से हों, वहाँ ये विकल्प तुच्छ पड़ जाते हैं, ये सब धारणाएँ उसकी दृष्टि से निष्प्राण-निर्मूल्य एवं निरर्थक हैं। आत्मा के साथ इन धारणाओं का कहीं कोई मेल नहीं बैठता। भले ही पश्चाद्वर्ती व्यक्तियों ने कुछ ब्लेकमेल किया हो, किन्तु जैन-धर्म के महान् उद्गाता भगवान् महावीर के वचनों का जो महाप्रकाश हमें मिला है, उसके आलोक में देखने से पता चलता है कि जैन-धर्म का शुद्ध रूप आत्मा को छूता है। जाति, सम्प्रदाय, वंश और लिंग का 'ब्लैक मेल'—साँठ-गाँठ करने वाले, जैन-धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं।

सबमें समान आत्मा है :

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, अपने जीवन में जो विलक्षण कार्य किए, वे इस बात के साक्षी हैं कि जैन-धर्म का सन्देश आत्मा को जगाने का संदेश है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक की आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसके समक्ष जितने आत्म-गौरव के साथ एक कुलीन ब्राह्मण आ सकता है, उतने ही गौरव के साथ एक नीच और अन्त्यज कहा जाने वाला शूद्र चाण्डाल भी आ सकता है। वह यदि ब्राह्मणकुमार इन्द्रभूति गौतम का स्वागत करता है, तो श्वपाकपुत्र हरिकेशीबल और चाण्डालसुत महर्षि मेतार्य का भी उसी भाव और श्रद्धा के साथ स्वागत, सम्मान एवं आदर करता है। आत्मा किसी भी परिस्थिति में चल रही हो, किसी नाम, रूप और जाति की सीमाओं में खड़ी हो, पर उसमें भी वही आत्म-ज्योति जल रही होती है, जो तुम्हारे भीतर भी है। भगवान् महावीर ने कहा है—यदि तुम्हारे सम्पर्क में कोई आता है, तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके अच्छे-बुरे नाम, रूप आदि में मत उलझो। तुम आत्मवादी हो, तो आत्मा को देखो। शरीर को देखना, नाम, रूप एवं जाति को देखना, शरीरवादी अर्थात् भौतिकवादी दृष्टि है। आत्मवादी इन प्रपंचों में नहीं उलझता है, उसकी दृष्टि में तेज होता है, अतः वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्य स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नहीं अटकती। वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी तत्त्व का सम्मान करता है।

भगवान् महावीर के, जो प्राचीनतम भाषा में उपदेश प्राप्त होते हैं, वे बहुत-कुछ आज भी आचारांग में उपलब्ध हैं। भाषा—शैली की दृष्टि से वह सब आगमों में प्राचीन है और महावीर युग के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है—

"जहा पुणस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ,
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तुम्हारे सामने यदि कोई सम्राट् आता है, जिसके पीछे लाखों-करोड़ों सेवकों का दल खड़ा है, धन-वैभव का अम्बार लगा है, स्वर्ण-सिंहासन और शासन-शक्ति उसके पीछे है, किन्तु यदि उसे उपदेश देने का प्रसंग आता है, तो उसके धन और शक्ति पर दृष्टि मत डालो, उसके सोने के महलों की तरफ नजर तक न उठाओ, बल्कि उसे एक भव्य आत्मा समझकर उपदेश करो। और, तुम यह देखो कि उसकी सुप्त आत्मा जागृत हो, उसमें विवेक की ज्योति प्रज्वलित हो, बस यही ध्येय रखकर उपदेश करो और निर्भीक होकर करो।"

"और, यदि तुम्हारे समक्ष कोई दरिद्र भिखारी गली-कूचों में ठोकरें खाने वाला, श्वपाक या अन्त्यज चाण्डाल, जो संसार की नजरों में नीच कहा जाता है, वह भी आ जाए, तो, जिस प्रकार से तथा जिस भाव से तुमने सम्राट् को उपदेश दिया है, उसी प्रकार से और उसी भाव से उस तुच्छ और साधारण श्रेणी के व्यक्ति को भी देखो, और उसे उपदेश दो, उसके बाहरी रूप और जाति पर मत उलझो। यह देखो कि वह भी एक भव्य आत्मा है और उसकी आत्मा को जागृति का सन्देश देना हमारा धर्म है।"

आप देखेंगे कि जैन-धर्म का स्वर कितनी ऊँचाई तक पहुँच गया है। साधारण-जनता जिस प्रकार एक सम्राट् और एक श्रेष्ठी के प्रति सम्मान और सभ्य भाषा का प्रयोग करती है, एक कंगाल-भिखारी और एक अन्त्यज के प्रति भी जैन-धर्म उसी भाषा और उसी सभ्यता का पालन करने की बात कहता है। जितनी दृढ़ता और निर्भयता मन में होगी, सत्य का स्वर भी उतना ही स्पष्ट एवं मुखर होगा। अतः भिखारी और दरिद्र के सामने तुम जितने निर्भय और स्पष्टवादी होकर सत्य को प्रकट करते हो, उतने ही निर्भय और दृढ़ बनकर एक सम्राट् को भी सत्य का सन्देश सुनाओ। तुम्हारे स्पष्ट और सुदृढ़ सत्य की अपनी तेजस्विता स्वर्ण की चमक के सामने कम न होने पाए। सोने के ढक्कन से उसका मुंह बन्द न हो जाए जैसा कि ईशोपनिषद् में कहा गया है—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं" सोने के पात्र से सत्य का मुंह ढका हुआ है।" सम्राट् और तुम्हारे बीच में सम्राट् के धन और वैभव, शक्ति और साम्राज्य का विचार खड़ा मत होने दो। और, न दरिद्र और तुम्हारे बीच में दरिद्र की नगण्यता एवं तुच्छता का क्षुद्र विचार ही खड़ा हो। दोनों की आत्मा को समान समझो। अतः दोनों को समान भाव से धर्म का सन्देश दो, निर्भय और निरपेक्ष होकर, निष्काम और तटस्थ होकर।

जाति नहीं, चरित्र ऊंचा है :

जैनधर्म शरीरवादियों का धर्म नहीं है। यदि अष्टावक्र ऋषि के शब्दों में कहा जाए, तो वह 'चर्मवादी' धर्म नहीं है। वह शरीर, जाति या वंश के भौतिक आधार पर चलने वाला 'पोला धर्म' नहीं है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खड़ा है। वह यह नहीं देखता है कि कौन भंगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय से जुड़ा हुआ है? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, सत्य की जागृति एवं जिज्ञासा को देखता है और देखता है उसकी आत्मिक पवित्रता को।

भारत का मध्य-युगीन इतिहास, जब हम देखते हैं, तो मन पीड़ा से आक्रांत हो जाता है। और, हमारे धर्म एवं अध्यात्म के प्रचारकों के चिन्तन के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है कि वे क्या सोचते थे? और कैसा सोचते थे? प्राणिमात्र में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखने वाले भी श्रेष्ठी और दरिद्र की आत्मा को, ब्राह्मण और चाण्डाल की आत्मा को एक दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने हर वर्ग के बीच भेद और घृणा की दीवारें खड़ी कर दी। शूद्र की छाया पड़ने से वे अपने को अपवित्र समझ बैठते थे। इतनी नाजुक थी, उनकी पवित्रता कि किसी की छाया मात्र से वह दूषित हो उठती थी। कोई भी शूद्र धर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता था। क्या धर्मशास्त्र इतने पोचे थे कि शूद्र के छूते ही वे भ्रष्ट हो जाते? जरा सोचें, तो लगेगा कि कैसी भ्रान्त धारणाएँ थीं कि—जो शास्त्र ज्ञान का आधार माना जाता है, जिससे प्रवाहित होने वाली ज्ञान की पावन-धारा अन्तरंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कलुष को, अनन्त-अनन्त जन्मों के पाप को धोकर स्वच्छ कर देती है, प्रकाश जगमगा देती है, संसार को दासता और बन्धनों से मुक्त करके आत्म-स्वातन्त्र्य और मोक्ष के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है, वह शास्त्र और उसकी ज्ञानधारा उन्होंने एक वर्गविशेष के हाथों में सौंप दी और कह दिया कि दूसरों को इसे पढ़ने का अधिकार नहीं। पढ़ने का अधिकार छीना सो तो छीना, उसे सुनने तक का भी अधिकार नहीं दिया। जो शूद्र पवित्र शास्त्र का उच्चारण कर दे, उसकी जीभ काट दी जाए, और जो उसे सुन ले, उसके कानों में खौलता हुआ शीशा डाल कर शास्त्र सुनने का दण्ड दिया जाए![1] कैसा था वह मानस? मनुष्य-मनुष्य के बीच इतनी घृणा? इतना द्वेष? जो शास्त्र महान् पवित्र वस्तु मानी जाती थी, उसमें भाषा को लेकर भी विग्रह पैदा हुए। एक ने कहा—संस्कृत देवताओं की भाषा है, अतः उसमें जो शास्त्र लिखा गया है, वह शुद्ध है, पवित्र है और प्राकृत तथा अन्य भाषाओं में जो भी तत्त्वज्ञान है, शास्त्र है, वह सब अपवित्र है, अधर्म है! एक ने संस्कृत को महत्त्व दिया, तो दूसरे ने प्राकृत को ही महत्त्व दिया। उसे ही देवताओं की भाषा माना, पवित्र माना। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ इतिहास के पृष्ठों पर आज भी अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर जाति, वंश, धर्म और भाषा का एक भयंकर अहंकार जन्म ले रहा था, ऐसा अहंकार जो संसार में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए दूसरों की श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और सम्मान को खण्ड-खण्ड करने पर तुल गया था। दूसरों की प्रतिष्ठा का महत्त्व गिरा कर अपनी प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता के महल, उन खण्डहरों पर खड़ा करना चाहता था। उन्होंने मनुष्य के सम्मान का, उसकी आत्मिक पवित्रता का और आत्मा में छिपी दिव्य-ज्योति का अपमान किया, उसकी अवगणना की और उसे नीचे गिराने एवं लुप्त करने की अनेक चेष्टाएँ कीं। उन्होंने चरित्र एवं सदाचार का मूल्य जाति और वंश के सामने गिरा दिया। इस प्रकार अध्यात्मवाद का ढिंढोरा पीटकर भी वे भौतिकवादी बन रहे थे। भगवान् महावीर ने यह स्थिति देखी, तो उनके अन्दर में क्रान्ति की लहर लहरा उठी। उनके क्रान्त स्फूर्त-स्वर गूंज उठे—

"कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"—उत्त. २५, ३३.

श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नहीं है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म के आधार पर ही होते हैं। संसार में कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त हैं। इसमें जाति कोई कारण नहीं है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है, न कि जाति पर? **"न दीसई जाइविसेस कोई"** जातिविशेष का कोई कारण नहीं दीख रहा है। मनुष्य कर्म के द्वारा ऊँचा होता है, जीवन की ऊँचाइयों को नापता है और कर्म के द्वारा ही नीचे गिरता है, पतित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में मानव के मन में—जातिवाद और वर्गवाद का जो एक काँटों का घेरा खड़ा हो गया था, उसे जैन-धर्म ने तोड़ने की कोशिश की, मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एवं समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया।

प्रत्येक आत्मा समान है :

जैन-धर्म ने विश्व को यह सन्देश दिया है कि 'तुम यह भावना अन्तर्मन में से विलीन कर दो कि—कोई व्यक्ति जाति से नीचा है या ऊँचा है, बल्कि यह सोचो कि उसकी आत्मा

---

१. तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यं, अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूर्णम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेद इत्यादिना शूद्रस्य वेदश्रवणादेर्निषिद्धत्वात्।—श्रीभाष्यम् (श्रुतप्रकाशिका वृत्ति) अ. १, पा. १, सूत्र १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसी है ? प्रश्न जाति का नहीं, आत्मा का करो। आत्मा की दृष्टि से वह शुद्ध और पवित्र है या नहीं, इसी प्रश्न पर विचार करो।

पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओं को समत्व दृष्टि देते हुए कहा है कि—संसार की समस्त आत्माओं को हम दो दृष्टियों से देखते हैं—एक द्रव्य दृष्टि से और दूसरी पर्याय दृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते हैं, पर्याय की दृष्टि से विचार करते हैं, तो संसार की समस्त आत्माएँ अशुद्ध मालूम पड़ती हैं। चाहे वह ब्राह्मण की आत्मा हो अथवा शूद्र की आत्मा, यहाँ तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यों न हो, वह जब तक संसार की भूमिका पर स्थित है, अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो बन्धन है, वह तो सबके लिए ही बन्धन है। लोहे की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन है और सोने की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन ही है। जब तक तीर्थंकर प्रारब्ध-कर्म के बन्धन से परे नहीं होते हैं, तब तक वह भी संसार की भूमिका में होते हैं, और संसार की भूमिका अशुद्ध भूमिका है। आत्मा जब विशुद्ध होती है, पर्याय की दृष्टि से भी विशुद्ध होती है, तब वह मुक्त हो जाती है, संसार की भूमिका से ऊपर उठ कर मोक्ष की भूमिका पर चली जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर और साधारण आत्माएँ संसार की भूमिका पर पर्याय की दृष्टि से एक समान हैं। आप सोचेंगे, तो पाएंगे कि जैन-धर्म ने कितनी बड़ी बात कही है। जब वह सत्य की परतें खोलने लगता है, तो किसी का कोई भेद नहीं रखता। सिर्फ सत्य को स्पष्ट करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है।

यदि हम द्रव्य दृष्टि से आत्मा को देखते हैं—तो द्रव्य अर्थात् मूलस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा शुद्ध एवं पवित्र है। जल में चाहे जितनी मिट्टी मिल गई हो, कोयले का चूरा पीस कर डाल दिया गया हो, अनेक रंग मिला दिये गए हों, जल कितना ही अशुद्ध, अपवित्र और गन्दा क्यों न प्रतीत होता हो, पर यदि आपकी दृष्टि में सत्य को समझने की शक्ति है, तो आप समझेंगे कि जल अपने आप में क्या चीज है ? जल स्वभावतः पवित्र है या मलिन ? वह मलिनता और गन्दगी जल की है या मिट्टी आदि की ? यदि आप इस विश्लेषण पर गौर करेंगे तो यह समझ लेंगे कि जल जल है, गन्दगी गन्दगी है, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी, अभिन्न सम्पर्क में रहते हुए भी, दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क चला आ रहा है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जुड़ा आ रहा है, पर वास्तव में आत्मा आत्मा है, वह कर्म नहीं है। जड़ कर्म अपनी उसी जड़ धुरी पर आज भी है, उसी स्थिति में है, वह कभी चित्स्वरूप आत्मा नहीं बन सका है और न बन सकेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल स्वरूप की दृष्टि से विश्व की प्रत्येक आत्मा पवित्र है, शुद्ध है। वह जल के समान है, उसमें जो अपवित्रता दिखाई पड़ रही है, वह उसकी स्वयं की नहीं, अपितु कर्म के ही कारण है—असत् कर्म, असत् आचरण और असत् संकल्पों के कारण है।

आत्मा : परम पवित्र है :

यह बात जब हम समझ रहे हैं कि आत्मा की अपवित्रता मूल आत्मा की दृष्टि से नहीं, बाह्य कर्म के कारण है, तब हमें यह भी सोचना होगा कि वह अपवित्र क्यों होती है और फिर पवित्र कैसे बनती है ?

हमारे मन में जो असत् संकल्प की लहर उठ रही है, दुर्विचार जन्म ले रहे हैं, घृणा, वैर और विद्वेष की भावनाएँ जग रही हैं, वे हमें असत् कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता है, इधर-उधर घृणा फैलाता है। इस प्रकार स्वार्थ जब टकराते हैं, तब विग्रह और युद्ध जन्म लेते हैं। वासना और व्यक्तिगत भोगेच्छा जब प्रबल होती है, तो वह हिंसा और अन्य बुराइयों को पैदा करती है। आज के जीवन में हिंसा और पापाचार की जो इतनी वृद्धि हो रही है, वह मनुष्य की लिप्सा और कामनाओं के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। ऐसा लगता है कि संसार भर के पाप आज मनुष्य के अन्दर आ रहे हैं और स्वप्न-जाल की तरह अपने नये-नये रूपों से संसार को आक्रांत करना चाहते हैं। मनुष्य इतना क्रूर बन रहा है कि अपने स्वार्थ के लिए, भोग के लिए वह भयंकर से भयंकर हत्याएँ तक कर रहा है। और, इस कारण कभी-कभी इस पर सन्देह होने लगता है कि उसके हृदय है भी या नहीं? एक जमाना था, जब देवी-देवताओं के नाम पर पशु-हत्या की जाती थी, मूक और निरीह प्राणियों की बलि दी जाती थी। युग ने करवट बदली, अहिंसा और करुणा की पुकार उठी और व हत्याकांड काफी सीमा तक बन्द हो गए। पर, आज जिस उदर देवता के लिए लाखों पशु प्रतिदिन बलि हो रहे हैं, क्या उसे कोई रोक नहीं सकता? पहले देवताओं को खुश करने के लिए पशु-हत्याएँ होती थीं, आज इस उदर-देवता, नहीं नहीं, राक्षस के भोजन और खाने के नाम पर पशु-हत्या का चक्र चल रहा है। आज का सभ्य मनुष्य भोजन के नाम पर अपने ही पेट में मूक पशुओं की कब्र बना रहा है। कहना चाहिए कि वह आज पशुओं की कब्र पर ही सो रहा है। यह भोजन सम्बन्धी तथा सौन्दर्य-प्रसाधन के रूप में फैसन सम्बन्धी भयंकर पशु-पक्षी-संहार तब तक नहीं रुक सकता, जबतक मनुष्य के अन्दर शुद्ध देवत्व जागृत न हो, शुद्ध दृष्टिकोण न जगे, प्रत्येक जीवधारी में अपने समान ही आत्मा के दर्शन न करे।

मनुष्य की भोगेच्छा आज इतनी प्रबल हो रही है कि उसकी बुद्धि कर्तव्य से चुंधिया गई है। अहंकार जाग्रत हो रहा है, फलतः वह सृष्टि का सर्वोत्तम एवं सबसे महान् प्राणी अपने को ही समझ रहा है। उसकी यह दृष्टि बदलनी होगी, आत्मा की समानता का भाव जगाना होगा। उसे यह अनुभव करना होगा कि जिस प्रकार की पीड़ा तुझे अनुभव होती है, वैसी ही पीड़ा की अनुभूति प्रत्येक प्राणी में है। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि हम सिर्फ उपदेश देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अध्यात्मवाद और अध्यात्म-दृष्टि का गंभीर विश्लेषण करके उसे छोड़ देते हैं। विचारों से उतर कर अध्यात्मवाद आचार में नहीं आ रहा है, मुँह से बाहर निकल रहा है, पर मन की गहराई में नहीं उतर रहा है। जबतक अध्यात्म की चर्चा करनेवालों के स्वयं के जीवन में इसका महत्त्व नहीं समाएगा, नहीं उतरेगा, तब तक अध्यात्म को भूत-प्रेत की तरह भयानक समझ कर डरने वालों को हम इस ओर आकर्षित कैसे कर सकेंगे? इसके लिए आवश्यक है कि हमारी धर्म-दृष्टि, हमारा अध्यात्म, पहले अपने जीवन में मुखर हो। इसका प्रचार हमें अपने जीवन से शुरू करना चाहिए, तभी हमारी अध्यात्म दृष्टि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

करुणा :

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठण्डा पानी पी लेता है, या मजे से शर्बत बनाकर पी लेता है, प्यास शान्त हो जाती है। तो क्या इसमें कुछ पुण्य हुआ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ? साता वेदनीय का बंध हुआ? कुछ भी तो नहीं। अब यदि आप वहीं पर किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तड़पता देखते हैं, तो आपका हृदय करुणा से भर आता है और आप उसे पानी पिला देते हैं, उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय में भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है। अब इसकी गहराई में जाकर जरा सोचिए कि यह करुणा का उदय क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? और पुण्य क्या है? अपने वैयक्तिक भोग, या अन्य के प्रति अर्पण? जैन-परम्परा ने व्यक्तिगत भोगों को पुण्य नहीं माना है। अपने भोग-सुखों की पूर्ति के लिए आप जो प्रवृत्ति करते हैं, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा, समाज के हित के लिए जागृत होती है, उसकी भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्य और धर्म का रूप ले लेती है। जैन धर्म की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उसके प्रत्येक तत्त्व-चिन्तन पर छाई हुई है। उसके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री :

जैन-परम्परा के महान् उद्गाता एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने एक बार अपनी शिष्य-मंडली को सम्बोधित करते हुए कहा था—"मेत्ति भूएसु कप्पए" तुम प्राणि मात्र के प्रति मैत्री की भावना लेकर चलो!" जब साधक के मन में मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार में परमार्थ का प्रकाश झलक सकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—**"परहित चिन्ता मैत्री।"**—दूसरे के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना। जिस प्रकार हमारा मन प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरों की प्रसन्नता की भावना करना, इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेध रूप नहीं, बल्कि विधायक है, निवृत्ति मार्गी नहीं, बल्कि प्रवृत्ति-मार्गी है। जब हम दूसरों के जीवन का मूल्य और महत्त्व अपने समान ही मानते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, जब वह कष्ट में होता है, तो उसको यथोचित सहयोग देकर सुखी करना, उसके दुःख में भागीदार बनना और उसकी पीड़ाएँ बाँटकर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो प्रवृत्ति जगती है, मन में सदभावों का जो स्फुरण होता है,—बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

दान :

जैन-दर्शन के आचार्यों ने बताया है कि साता-वेदनीय कर्म का बन्ध किन-किन परिस्थितियों में होता है, और किस प्रकार के निमित्तों से होता है। उन्होंने बताया है कि संसार में जो भी प्राणी हैं, चाहे तुम्हारी जाति के हों, बिरादरी के हों, या देश के हों, अथवा किसी भिन्न जाति, बिरादरी या देश के हों, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति संवेदना और सुख के लिए कामना एवं प्रयत्न करना, यह तुम्हारे साता-वेदनीय के पुण्य-बन्ध का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण यह बताया गया है कि—व्रती, संयमी और सदाचारी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना। गुणश्रेष्ठ व्यक्ति का आदर सम्मान करना, उनकी सेवाभक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओं की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना, साता-वेदनीय का द्वितीय बन्ध-हेतु है।

और तीसरा साधन है—दान। यहाँ आकर सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, तिजोरियाँ और पेटियाँ न भरें, यह एक निषेधात्मक रूप है। किन्तु जो पास में है, उसका क्या करें, उसकी ममता किस प्रकार कम करें? इसके लिए कहा है कि 'दान करो।' मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाएँ हैं, उन्हें अकेला ही उपयोग में न ले, बल्कि समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमन्द व्यक्तियों में बाँटकर उनका उपयोग करें।

दान का अर्थ यह नहीं है कि किसी को यों ही उपेक्षा से एक-आध टुकड़ा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने में एक बहुत उच्च और पवित्र कर्तव्य है। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन में अनुभव करना, पात्र के कम्पन के प्रति विचारों में अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के नाते दोनों में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए अखण्ड एवं व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप में हम दोनों सगे बन्धु हैं, और इस प्रकार दो ही क्यों, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्मबन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त भावना-पवन आपके मानस मानसरोवर को तरंगित करे, आप स्नेहार्द्र बन्धुभाव से दान करें—दान नहीं, संविभाग करें, उचित बँटवारा करें—यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—"संविभागो दानम्"—समवितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक-दूसरे को प्रेम पूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन में अहं जगता है और न दीनता। चूँकि भाई को बराबर का एक साझीदार या अपने समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही अधिकारी मान लिया जाता है, फलतः देने वाले को अहंकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पड़े, ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करते हैं, तो उसे 'समविभागी' यानि बराबर का समझकर अर्पण करो जो उसके उपयुक्त हो और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, उसके वितरण में न आपके मन में दाता बनने का अहंकार जगे, और न लेने वाले के मन में कृतज्ञता के विपरीत अपने आपको तुच्छ मानने की भावना उठे और न ही दीनता का संकल्प ही जगे, यही उत्तम स्व-पर-कल्याणकारी दान है।

अतः आज मानव-कल्याण की दिशा एवं दशा में सही परिवर्तन लाने के लिए समानता की भावना का जन-जन में स्वतःस्फूर्त होना परम आवश्यक है। समता की सभी क्षेत्रों में आज ज्वलंत मांग है, जिसे टाला नहीं जा सकता। यहीं एक कड़ी है, जिससे मानव-मानव के बीच भावनात्मक एकता की स्थापना संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ विषमता वहाँ नरक है,
समता में ही स्वर्ग बसा है।
ऊँचे-नीचे गिरि-गर्तों में,
रोता है, जो पथिक फसा है।।

विविध जाति के, विविध पंथ के,
विविध अर्थ के द्वन्द्व खड़े हैं।
इन द्वन्द्वों से जन-जीवन के,
अंग-अंग सब भाँति सड़े हैं।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११

राष्ट्रिय-जागरण

भारत की वर्तमान परिस्थितियों एवं समस्याओं पर जब हम विचार करते हैं, तो अतीत और भविष्य के चित्र बरबस मेरी कल्पना की आँखों के समक्ष उभर कर आ जाते हैं। इन चित्रों को वर्तमान के साथ सम्बद्ध किए बिना वर्तमान-दर्शन नितान्त अधूरा रहेगा, भूत और भावी के फ्रेम में मढ़कर ही वर्तमान के चित्र को सम्पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

स्वर्णिम चित्र :

अध्ययन और अनुभव की आँख से जब हम प्राचीन भारत की ओर देखते हैं, तो एक गरिमा-मण्डित स्वर्णिम चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। उस चित्र की स्वर्ण-रेखाएँ पुराणों और स्मृतियों के पटल पर अंकित हैं, रामायण और महाभारतकार की तूलिका से सँजोई हुई है। जैन आगमों और अन्य साहित्य में छविमान हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में भी उसकी स्वर्णिम-आभा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। भारत के अतीत का वह गौरव सिर्फ भारत के लिए ही नहीं, अपितु समग्र विश्व के लिए एक जीवन्त आदर्श था। अपने उज्ज्वल चरित्र और तेजस्वी चिन्तन से उसने एक दिन सम्पूर्ण संसार को प्रभावित किया था। उसी व्यापक प्रभाव का ब्रह्मनाद महर्षि मनु की वाणी से ध्वनित हुआ था—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र - जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"—मनुस्मृति २, २०

"इस देश में जन्म लेने वाले चरित्र-सम्पन्न विद्वानों से भूमण्डल के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र-कर्तव्य की शिक्षा ले सकते हैं।"—मनु की यह उक्ति कोई गर्वोक्ति नहीं, अपितु उस युग की भारतीय स्थिति का एक यथार्थ चित्रण है, सही मूल्यांकन है। भारतीय जनता के निर्मल एवं उज्ज्वल चरित्र के प्रति श्रद्धावनत होकर यही बात पुराणकार महर्षि व्यासदेव ने इन शब्दों में दुहराई थी—

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥"
—विष्णु पुराण, २।३।४.

स्वर्ग के देवता भी स्वर्ग में भारत भूमि के गौरव-गीत गाते रहते हैं कि वे देव धन्य हैं, जो यहाँ से मरकर पुनः स्वर्ग और अपवर्ग-मोक्ष के मार्गस्वरूप पवित्र भारतभूमि में जन्म लेते हैं।

भगवान् महावीर के ये वचन कि—'देवता भी भारत जैसे आर्य देश में जन्म लेने के लिए तरसते हैं'—जब स्मृति में आते हैं, तो सोचता हूँ, ये जो बातें कही गई हैं, मात्र आलंकारिक नहीं हैं, कवि की कल्पनाजन्य उड़ानें नहीं हैं, बल्कि सत्य के साक्षात् दृष्टाओं की साक्षात् अनुभूति का स्पष्ट उद्घोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास के उन पृष्ठों को उलटते ही एक विराट् जीवन-दर्शन हमारे सामने आ जाता है। त्याग, स्नेह और सद्भाव की वह सुन्दर तसवीर खिच जाती है, जिसके प्रत्येक रंग में एक आदर्श प्रेरणा और विराटता की मोहक छटा भरी हुई है। त्याग और सेवा की अखण्ड ज्योति जलती हुई प्रतीत होती है।

रामायण में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है, वह भारत की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। राम को जब अपने राज्याभिषेक की सूचना मिलती है, तो उनके चेहरे पर कोई हर्ष-उल्लास नहीं चमकता है और न वनवास की स्थिति आने पर खिन्नता की कोई शिकन ही पड़ती है—

"प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतः,
तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।"

राम की यह कितनी ऊँची स्थितप्रज्ञता है, कितनी महानता है कि जिसके सामने राज्यसिंहासन का न्यायप्राप्त अधिकार भी कोई महत्त्व नहीं रखता। जिसके लिए जीवन की भौतिक सुख-सुविधा से भी अधिक मूल्यवान है पिता की आज्ञा, विमाता की मनस्तुष्टि! यह आदर्श एक व्यक्तिविशेष का ही गुण नहीं, बल्कि समूचे भारतीय जीवन-पट पर छाया हुआ है। राम तो राम हैं ही, किन्तु लक्ष्मण भी कुछ कम नहीं है। लक्ष्मण जब राम के वनवास की सूचना पाते हैं, तो वे उसी क्षण महल से निकल पड़ते हैं। नवोढ़ा पत्नी का स्नेह भी उन्हें रोक नहीं सका, राजमहलों का वैभव और सुख राम के साथ वन में जाने के निश्चय को बदल नहीं सका। वे माता सुमित्रा के पास आकर राम के साथ वन में जाने की अनुमति माँगते हैं। और माता का भी कितना विराट् हृदय है, जो अपने प्रिय पुत्र को वन-वन में भटकने से रोकती नहीं, अपितु कहती है—राम के साथ वनवास की तैयारी करने में तुमने इतना बिलम्ब क्यों किया? तुम्हें तत्काल ही राम के साथ चल देना चाहिए था। देखो बेटा, वन में तुम्हारा राम और सीता के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए—

"रामं दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्,
अयोध्यामटवीं विद्धि, गच्छ पुत्र! यथासुखम्।"
—वाल्मीकि रामायण, ४०।६

—हे वत्स! राम को पिता दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरे समान समझना और वन को अयोध्या मानना। राम के साथ वन में जा, देख राम की छाया से भी कभी दूर मत होना।

यह भारतीय जीवन का आदर्श है, जो प्रत्येक भारतीय आत्मा में झलकता हुआ दिखाई देता है। यहाँ परम्परागत अधिकारों को भी ठुकराया जाता है, स्नेह और ममता के बन्धन भी कर्तव्य की धार से काट दिए जाते हैं और एक-दूसरे के लिए समर्पित हो जाते हैं।

महावीर और बुद्ध का युग देखिए जब तरुण महावीर और बुद्ध विशाल राजवैभव, सुन्दरियों का मधुर स्नेह और जीवन की समस्त भौतिक सुविधाओं को ठुकराकर सत्य की खोज में शून्य-वनों एवं दुर्गम-पर्वतों में तपस्या करते घूमते हैं और सत्य की उपलब्धि कर समग्र जनजीवन में प्रसारित करने में लग जाते हैं। उनके पीछे सैकड़ों-हजारों राजकुमार, सामन्त और सामान्य नागरिक श्रमण भिक्षुक बनकर प्रेम और करुणा की अलख जगाते हुए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम का सन्देश देते हैं। वे प्रकाश बनकर स्वयं तो दीप्त हैं ही, परन्तु दूर-दूर तक घूम-घूम कर घर-घर में, जन-जन में सत्य ज्ञान-ज्योति का अखंड उजाला फैलाते हैं।

अध्ययन की आँखों से जब हम इस उज्ज्वल अतीत को देखते हैं, तो मन श्रद्धा से भर आता है। भारत के उन आदर्श पुरुषों के प्रति कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है, जिन्होंने स्वयं अमृत प्राप्त किया और जो अमृत मिला, उसे सब ओर बाँटते चले गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीत के इस स्वर्णिम चित्र के समक्ष जब हम वर्तमान भारतीय जीवन का चित्र देखते हैं, तो मन सहसा विश्वास नहीं कर पाता कि क्या यह इसी भारत का चित्र है? कहीं हम धोखा तो नहीं खा रहे हैं? लगता है, इतिहास का वह साक्षात् घटित सत्य आज इतिहास की गाथा बनकर ही रह गया है।

आज का मनुष्य कटी हुई पतंग की तरह दिशा-हीन उड़ता जा रहा है। जिसे न तो कहीं रुकने की फुर्सत है, और न सामने कोई मञ्जिल ही है। अपने क्षुद्र स्वार्थ, दैहिक भोग और हीन मनोग्रन्थियों से वह इस प्रकार ग्रस्त हो गया है कि उसकी विराटता, उसके अतीत आदर्श, उसकी अखण्ड राष्ट्रिय भावना सब कुछ छुई-मुई हो गई है।

भारतीय चिन्तन ने मनुष्य के जिस विराट् रूप की परिकल्पना की थी—**'सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** वह आज कहाँ है? हजारों-हजार मस्तक, हजारों-हजार आँखें और हजारों-हजार चरण मिलकर जो अखण्ड मानवता निर्मित होती थी, जिस अखण्ड राष्ट्रिय-चेतना का विकास होता था, आज उसके दर्शन कहाँ हो रहे हैं? आज की संकीर्ण मनोवृत्तियाँ देखकर मन कुलबुला उठता है। क्या वास्तव में ही मानव इतना क्षुद्र और इतना दीन-हीन होता जा रहा है कि अपने स्वार्थों और अपने कर्तव्यों के आगे पूर्णविराम लगाकर बैठ गया है। आपसे आगे आपके पड़ोसी का भी कुछ स्वार्थ है, कुछ हित है; समाज, देश और राष्ट्र के लिए भी आपका कोई कर्तव्य होता है, इसके लिए भी सोचिए। चिन्तन का द्वार खुला रखिए। आपका चिन्तन, आपका कर्तव्य, आपका हित, आपके लिए केवल बीच के अल्पविराम से अधिक नहीं है, अगर आप उसे ही पूर्णविराम समझ बैठे हैं, इति लगा बैठे हैं, तो यह भयानक भूल है। भारत का दर्शन 'नेति नेति' कहता आया है। इसका अर्थ है कि जितना आप सोचते हैं और जितना आप करते हैं, उतना ही सब कुछ नहीं है, उससे आगे भी अनन्त सत्य है, कर्तव्य के अनन्त क्षेत्र पड़े हैं। किन्तु आज हम यह सन्देश भूलते जा रहे हैं और हर चिन्तन और कर्तव्य के आगे 'इति-इति' लगाते जा रहे हैं। यह क्षुद्रता, यह बौनापन आज राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा संकट है।

भ्रष्टाचार किस संस्कृति की उपज है?

मैं देखता हूँ—आजकल कुछ शब्द चल पड़े हैं—'भ्रष्टाचार, बेईमानी, मक्कारी, काला बाजार'—यह सब क्या है? किस संस्कृति की उपज है यह? जिस अमृत कुण्ड की भावधारा से सिंचन पाकर हमारी चेतना और हमारा कर्तव्य क्षेत्र उर्वर बना हुआ था, क्या आज वह धारा सूख गई है? त्याग, सेवा, सौहार्द और समर्पण की फसल जहाँ लहलहाती थी, क्या आज वहाँ स्वार्थ, तोड़फोड़, हिंसा और बात-बात पर विद्रोह की कँटीली झाड़ियाँ ही खड़ी रह गई हैं? देश में आज बिखराव और अराजकता की भावना फैल रही है, इसका कारण क्या है?

मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ, इन सब अव्यवस्थाओं और समस्याओं का मूल है—हमारी आदर्श-हीनता। मुद्रा के अवमूल्यन से आर्थिक क्षेत्र में जो उथल-पुथल हुई है, जीवन के क्षेत्र में उससे भी बड़ी और भयानक उथल-पुथल हुई है आदर्शों के अवमूल्यन से। हम अपने आदर्शों से गिर गए हैं, जीवन का मूल्य विघटित हो गया है, राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध के आदर्शों का भी हमने अवमूल्यन कर डाला है। बस, इस अवमूल्यन से ही यह गड़बड़ हुई है, यह अव्यवस्था पैदा हुई है।

महात्मा गाँधी मजबूरी का नाम?

एक बार एक सज्जन से चर्चा चल रही थी। हर बात में वे अपना तकियाकलाम दुहराते जाते थे, 'महाराज! क्या करें, मजबूरी का नाम महात्मा गांधी है।' इसके बाद अन्यत्र भी यह दुर्वाक्य कितनी ही बार सुनने में आया है। मैं समझ नहीं पाया, क्या मतलब हुआ इसका? क्या महात्मा गान्धी एक मजबूरी की उपज थे? गान्धी का दर्शन, जो प्राचीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन का आधुनिक नवस्फूर्त संस्करण माना जाता है, क्या वह कोई मजबूरी का दर्शन है? भारत की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी आन्दोलन तथा अहिंसा और सत्य के प्रयोग क्या केवल दुर्बलता थी, मजबूरी थी, लाचारी थी? क्या कोई महान् एवं उदात्त आदर्श जैसा कुछ और नहीं था? क्या गाँधीजी की तरह ही महावीर और बुद्ध का त्याग भी एक मजबूरी थी? राम का वनवास तो आखिर किस मजबूरी का समाधान था? वस्तुतः यह मजबूरी हमारे प्राचीन आदर्शों की नहीं, अपितु हमारे वर्तमान स्वार्थ-प्रधान चिन्तन की है, जो आदर्शों के अवमूल्यन से पैदा हुई है।

मनुष्य झूठ बोलता है, बेईमानी करता है और जब उससे कहा जाता है कि ऐसा क्यों करते हो? तो उत्तर मिलता है, क्या करें, मजबूरी है! पेट के लिए यह सब-कुछ करना पड़ता है। अभाव ने सब चौपट कर रखा है। मैं सोचता हूँ यह मजबूरी, यह पेट और अभाव, क्या इतना विराट् हो गया है कि मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना को भी निगल जाए? महापुरुषों के प्राचीन आदर्शों को यों डकार जाए? मेरे विचार से मजबूरी और अभाव उतना नहीं है, जितना महसूस किया जा रहा है। अभाव में पीड़ा का रूप उतना नहीं है, जितना स्वार्थ के लिए की जाने वाली अभाव की बहानेबाजी हो रही है।

असहिष्णुता क्यों?

मैं इस सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि देश में आज कुछ हद तक अभावों की स्थिति है। किन्तु उन अभावों के प्रति हममें सहिष्णुता का एवं उनके प्रतिकार के लिए उचित संघर्ष का अभाव भी तो एक बहुत बड़ा अभाव है। पीड़ा और कष्ट कहने के लिए नहीं, सहने के लिए आते हैं। किसी बात को लेकर थोड़ा-सा भी असन्तोष हुआ कि बस, तोड़-फोड़ पर उतारू हो गए। सड़कों पर भीड़ इकट्ठी हो गई, राष्ट्र की सम्पत्ति की होली करने लगे, राष्ट्र-नेताओं के पुतले जलाने लगे—यह सब क्या है? क्या इन तरीकों से अभावों की पूर्ति की जा सकती है? क्या सड़कों पर अभावपूर्ति के फैसले किए जा सकते हैं? ये हमारी पाशविक वृत्तियाँ है, जो असहिष्णुता से जन्म लेती हैं, अविवेक से भड़कती हैं और फिर उद्दाम होकर विनाश-लीला का नृत्य कर उठती है। मैं यह समझ नहीं पाया कि जो सम्पत्ति जलाई जाती है, वह आखिर किसकी है? राष्ट्र की ही है न यह! आप की ही तो है यह! फिर यह विद्रोह किसके साथ किया जा रहा है? अपने ही शरीर को नोंचकर क्या आप अपनी खुजली मिटाना चाहते हैं? यह तो निरी मूर्खता है। इससे समस्या सुलझ नहीं सकती, असन्तोष मिट नहीं सकता और न अभाव एवं अभाव-जन्य आक्रोश ही दूर किया जा सकता है। अभाव और मजबूरी का इलाज सहिष्णुता है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए किए जाने वाले श्रम में योगदान है। असन्तोष का समाधान धैर्य है, और है उचित पुरुषार्थ! आप तो अधीर हो रहे हैं, इतने निष्क्रिय एवं असहिष्णु हो रहे हैं कि कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर सकते! यह असहिष्णुता, यह अधैर्य, इतना व्यापक क्यों हो गया है?

राष्ट्रिय-स्वाभिमान की कमी :

आज मनुष्य में राष्ट्रिय स्वाभिमान की कमी हो रही है। राष्ट्रिय-चेतना लुप्त हो रही है। अपने छोटे-से घोंसले के बाहर देखने की व्यापक दृष्टि समाप्त हो रही है। जब तक राष्ट्रीय-स्वाभिमान जागृत नहीं होगा, तबतक कुछ भी सुधार नहीं होगा। घर में, दुकान में या दफ्तर में, कहीं भी आप बैठें, किन्तु राष्ट्रिय-स्वाभिमान के साथ बैठिए। अपने हर कार्य को अपने क्षुद्र हित की दृष्टि से नहीं, राष्ट्र के गौरव की दृष्टि से देखने का प्रयत्न कीजिए। आपके अन्दर और आपके पड़ोसी के अन्दर जब एक ही प्रकार की राष्ट्रिय-चेतना जागृत होगी, तब एक समान अनुभूति होगी और आपके भीतर राष्ट्रिय स्वाभिमान जाग उठेगा।

राष्ट्रिय-स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में समूचे राष्ट्र में अखण्ड राष्ट्रिय-चेतना का एक प्रवाह उमड़ा था। एक लहर उठी थी, जो पूर्व से पश्चिम तक को, उत्तर से दक्षिण तक को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक साथ आन्दोलित कर रही थी। स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि उन दिनों किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई की तरह मातृभूमि के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे थे। उत्तर और दक्षिण मिलकर एक अखंड भारत हो रहे थे। सब लोग एक साथ यातनाएँ झेलते थे और अपने सुख-दुःख के साथ किस प्रकार एकाकार हो कर चल रहे थे। राष्ट्र के लिए अपमान, संकट, यन्त्रणा और फाँसी के फन्दे तक को भी हँसते-हँसते चूम लेते थे। मैं पूछता हूँ क्या आज वैसी यातना और यन्त्रणा के प्रसंग आपके सामने हैं? नहीं! बिलकुल नहीं! जो हैं वे नगण्य हैं और बहुत ही साधारण हैं! फिर क्या बात हुई कि जो व्यक्ति जेलों के सीखचों में भी हँसते रहते थे, वे आज अपने घरों में भी असन्तुष्ट, दीन-हीन, निराश और आक्रोश से भरे हुए हैं। असहिष्णुता की आग से जल रहे हैं! क्या कारण है कि जो राष्ट्र एकजुट होकर एक शक्ति-सम्मन्न विदेशी शासन से अहिंसक लड़ाई लड़ सकता है, वह जीवन के साधारण प्रश्नों पर इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े होता जा रहा है? रोता-बिलखता जा रहा है? मेरी समझ में एकमात्र मुख्य कारण यही है कि आज भारतीय जनता में राष्ट्रिय-स्वाभिमान एवं राष्ट्रिय-चेतना का अभाव हो गया है। देश के नवनिर्माण के लिए समूचे राष्ट्र में वह पहले-जैसा संकल्प यदि पुनः जागृत हो उठे, वह जन-चेतना यदि राष्ट्र के मूच्छित हृदयों को पुनः प्रबुद्ध कर सके, तो फिर मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी नहीं, बल्कि आदर्शों का नाम महात्मा गाँधी होगा। फिर झोंपड़ी में भी मुस्कराते चेहरे मिलेंगे, अभावों की पीड़ा में भी श्रम की स्फूर्ति चमकती मिलेगी। आज जो व्यक्ति अपने सामाजिक एवं राष्ट्रिय उत्तरदायित्वों को स्वयं स्वीकार न करके फुटबाल की तरह दूसरों की ओर फेंक रहा है, वह फूलमाला की तरह हर्षोल्लास के साथ उनको अपने गले में डालेगा और अपने कर्तव्यों के प्रति प्रतिपद एवं प्रतिपल सचेष्ट होगा।

आशापूर्ण भविष्य :

मैं जीवन में निराशवादी नहीं हूँ। भारत के सुनहले अतीत की भाँति सुनहले भविष्य की तस्वीर भी मैं अपनी कल्पना की आँखों से देख रहा हूँ। देश में आज जो अनुशासन-हीनता और विघटन की स्थिति पैदा हो गई है, आदर्शों के अवमूल्यन से मानव गड़बड़ा गया है, वह स्थिति एकरोज अवश्य बदलेगी। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए संक्रांतिकाल में प्रायः अन्धकार के कुछ क्षण आते हैं, अभाव के प्रसंग आते हैं, परन्तु ये क्षण एवं प्रसंग स्थायी नहीं होते। भारत में वह समय आएगा ही, जब शुद्ध राष्ट्रिय-चेतना का शंखनाद गूंजेगा, व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर राष्ट्र का गौरव जागेगा, राष्ट्रिय-स्वाभिमान प्रदीप्त होगा। और यह राष्ट्र जिस प्रकार अपने अतीत में गौरव-गरिमा से मंडित रहा है, उसी प्रकार अपने वर्तमान और भविष्य को भी गौरवोज्ज्वल बनाएगा। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब कि आपके अन्तर में अखण्ड राष्ट्रिय-चेतना जागृत होगी, कर्तव्य की हुँकार उठेगी, परस्पर सहयोग एवं सद्भाव की ज्योति प्रकाशमान होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राष्ट्र जागरण की गरिमा का,
जब तक सच्चा भाव न जागे।
तब तक देश-निवासी जन-जन,
रहते संकट-ग्रस्त अभागे।।

दुःख-मुक्ति के, सुख-संपद के,
उन्नति के पथ कब प्रशस्त हों?
जब दायित्वों के पालन-हित,
जागृत सब जन राष्ट्र-भक्त हों।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२

वसुधैव कुटुम्बकम् : बूंद नहीं, सागर

भारतीय संस्कृति में आज हजारों वर्षों के बाद भी कंस और कूणिक के प्रति जनसाधारण में घृणा और तिरस्कार का भाव विद्यमान है। मैं समझता हूँ, वह घृणा और तिरस्कार उनकी इच्छा-दासता और स्वार्थवृत्ति के प्रति है। भारतीय-संस्कृति का स्वर उद्घोषणा करता रहा है—मनुष्य, तेरा आनन्द स्वयं के सुख भोग में नहीं है, स्वयं की इच्छापूर्ति में ही तेरी परितृप्ति नहीं है, बल्कि दूसरों के सुख में ही तेरा आनन्द छिपा हुआ है, दूसरों की परितृप्ति में ही तेरी परितृप्ति है। तेरे पास जो धन है, सम्पत्ति है, शक्ति है, बुद्धि है, वह किसलिए है? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है? क्या स्वयं की सुख-सुविधा के लिए ही यह सब-कुछ है? अपने सुख-भोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अपनी बुद्धि और बल से स्वयं की सुरक्षा करता है, इच्छापूर्ति करता है। फिर पशुता और मनुष्यता में अन्तर क्या है? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वयं के सुखोपभोग में नहीं, बल्कि दूसरों को अर्पण करने में है। मनुष्य के पास जो भी उपलब्धि है, वह अपने बन्धु के लिए, अपने पड़ोसी के लिए भी है। अपने ही समान दूसरे चैतन्य को समर्पण करने में जो सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, वही सच्ची मनुष्यता है।

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का नाम आपने सुना होगा? एक व्यक्ति उनकी उदार एवं दयालु माता के दर्शन करने के लिए घर पर पहुँचा। जब विद्याभूषण की माता उस श्रद्धालु सज्जन के सामने आई, तो वह आँखें फाड़-फाड़ कर उनके हाथों की ओर देखने लगा। माताजी ने उसकी इस उत्कट जिज्ञासा का कारण पूछा, तो वह बोला—"सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे धनाढ्य विद्वान् की माँ के हाथों में हीरे और मोती के स्वर्ण-आभूषण की जगह पीतल के आभूषण देखकर मैं चकित हूँ कि यह क्या है, क्यों है? आपके हाथों में ये शोभा नहीं देते।"

माता ने गम्भीरता से कहा—"बेटा! इन हाथों की शोभा तो दुष्काल के समय बंग पुत्रों को मुक्त-भाव से अन्न-धन अर्पण करने में रही है। सेवा ही इन हाथों की सच्ची शोभा है। सोना और चाँदी हाथ की शोभा और सुन्दरता के कारण नहीं होते, बेटा!"

मनुष्यता का यह कितना विराट् रूप है! जो देवी अपने हाथ के आभूषण तक उतार कर भूखे-प्यासे बन्धुओं के पेट की ज्वाला को शान्त करती है, उनके सुख में ही अपना सुख देखती है, वह वस्तुतः मानव देहधारिणी सच्ची देवी है।

भारतीय-संस्कृति में यह समर्पण की भावना, करुणा और दान के रूप में विकसित हुई है। करुणा मानव-आत्मा का मूल स्वर है। किन्तु खेद है, उस करुणा का जो सर्व-व्यापक और सर्वग्राही रूप पहले था, वह आज कुछ सीमित एवं संकीर्ण विधि-निषेधों में सिमट कर रह गया है। करुणा का अर्थ संकुचित हो गया है, काफी सीमित हो गया है। करुणा और दया का अर्थ इतना ही नहीं है कि कुछ कीड़ों-मकोड़ों की रक्षा करली जाए, कुछ बकरों और गायों को कसाई के हाथों से छुड़ा लिया जाए और अमुक तीर्थक्षेत्रों में मछली मारने के ठेके बन्द कर दिए जाएँ। अहिंसक-समाज-रचना की भावना, जो आज हमारे समक्ष चल रही है, उसका मूल अभिप्राय समझना चाहिए। यह ठीक है कि पशु-दया भी करुणा का एक रूप है, पर करुणा और अहिंसा की यहीं पर इतिश्री नहीं हो जानी चाहिए, यह तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुत विशाल है। हमें व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ना है। अपने मन की करुणा को आस-पास के समाज में बाँटते चलो। जो सुख-साधन और उपलब्धियाँ आपके पास हैं, उन्हें समाज के कल्याण-मार्ग में लगाते चलो। समाज की सेवा में समर्पण का जो दृष्टिकोण है, वह एक व्यापक दृष्टिकोण है। व्यक्ति सामाजिक जीवन के दूर किनारों तक अपने वैयक्तिक जीवन की लहरों को फैलाता चलेगा, उन्हें समाज के साथ एकाकार करता चलेगा, वह जितना ही आगे बढ़ेगा, जितना ही अपने सुख को समाज के सुख के साथ जोड़ता चलेगा, उतना ही व्यापक बनता चला जाएगा। व्यक्ति-भाव का क्षुद्र घेरा तोड़कर समाज-भाव एवं विश्व-भाव के व्यापक क्षेत्र में उतरता जाएगा।

वैदिक-दर्शन में ईश्वर को सर्वव्यापक माना गया है। वह व्यापकता शरीर-दृष्टि से है, अथवा आत्म-दृष्टि से या भाव-दृष्टि से है? चूंकि यह भी माना गया है कि हर आत्मा परमात्मा बन सकती है। प्रत्येक आत्मा में जब परमात्मा बनने की योग्यता है, तो वस्तुतः आत्मा ही ईश्वर है। आत्मा आवरण से घिरी हुई है, इसलिए जो अखण्ड आनन्द का स्रोत है, वह अभी दबा हुआ है, और जो अनन्त प्रकाश है, वह अभी संकीर्ण हो गया है, सीमित हो गया है और धुंधला हो गया है। इस प्रकार दो बातें हमारे सामने आती हैं। एक यह कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है, और दूसरी यह कि परमात्मा सर्वव्यापक है। जैन दृष्टिकोण के साथ इसका समन्वय करें, तो मात्र कुछ शब्दों के जोड़-तोड़ के सिवा और कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देगा। हमारे पास समन्वय बुद्धि है, अनेकान्त दृष्टि है और यह दृष्टि तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाती है—सत्य को खण्डित करना नहीं, बल्कि पूर्ण करना बताती है। सर्वव्यापक शब्द को हम समन्वय बुद्धि से देखें, तो इसका अर्थ होगा, आत्मा अपने स्वार्थों से निकल कर आसपास की जनता के, समाज के तथा देश के और अन्ततः विश्व के प्राणियों के प्रति जितनी दूर तक दया, करुणा और सद्भावना की धारा बहाती चली जाती है, प्रेम और समर्पण की वृत्ति जितनी दूर तक जगती चली जाती है, उतनी ही वह व्यापक बनती जाती है। हम आन्तरिक जगत् में, जितने व्यापक बनते जाएँगे, हमारी सद्वृत्तियाँ जितनी दूर तक विस्तार पाती जाएँगी और उनमें जन-हित की सीमा जितनी व्यापक होती जाएगी, उतना ही ईश्वरीय अंश हमारे अन्दर प्रकट होता जाएगा। जितना-जितना ईश्वरत्व जागृत होगा, उतना-उतना ही आत्मा परमात्मा के रूप में परिणत होता चला जाएगा।

सुख बाँटते चलो :

आपका परमात्मा आपके अन्दर कितना जागृत हुआ है, इसको नापने का 'बैरोमीटर' भी आपके पास है। उस 'बैरोमीटर' से आप स्वयं को भी जान पाएँगे कि अभी आप कितने व्यापक बने हैं! कल्पना कीजिए, आप के सामने आप का परिवार है, उस परिवार में बूढ़े माँ-बाप हैं, भाई-बहन हैं और दूसरे सगे-सम्बन्धी भी हैं। कोई रोगी भी है, कोई पीड़ित भी है। कोई ऐसा भी है, जो न तो कुछ कमा सकता है और न ही कुछ श्रम कर सकता है। ऐसे परिवार का उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। इस स्थिति में आपके मन में कल्पना उठती है कि "सब लोग मेरी कमाई खाते हैं, सब के सब बेकार पड़े हैं, अन्न के दुश्मन बन रहे हैं, काम कुछ नहीं करते। बूढ़े माँ-बाप अभी तक परमात्मा की शरण में नहीं जा रहे हैं, जब बीमार पड़ते हैं, तो उन्हें दवा चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए। और, इस कुण्ठित विचार के बाद आप उन्हें उपदेश दें कि अब क्या रखा है संसार में? छोड़ो संसार को। बहुत दिन खाया-पीया। कब तक ऐसे रहोगे? आखिर तो मरना ही है एक दिन।' यह उपदेश तो आपका काफी ऊँचा है, बहुत पहुँची हुई बात है आपकी, पर आपका दृष्टिकोण कहाँ तक पहुँचा है, यह भी तो देखिए। वास्तव में आप यह उपदेश किसी सहज वैराग्य से प्रेरित हो कर दे रहे हैं, या अपने सुख का और सुख के साधनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो बँटवारा हो रहा है, उसे रोकने के लिए दे रहे हैं ? जो समय और श्रम आपको उनकी सेवा में लगाना पड़ रहा है, उससे ऊब कर ही तो आप यह वैराग्य की बात कर रहे हैं ? यदि अपने स्वार्थ और सुख के घेरे में बन्द होकर ही आप यह वैराग्य की बात करते हैं, तो फिर सोचिए कि जब आप अपने परिवार में ही व्यापक नहीं बन पा रहे हैं, माता-पिता तक के हृदय को अभी तक स्पर्श नहीं कर सके हैं। उसके लिए भी कुछ त्याग और बलिदान नहीं कर सकते हैं, भाई-बहनों के अन्तस्तल को नहीं छू सकते हैं, तब समाज के हृदय तक पहुँचने की तो बात ही क्या करें ? यदि परिवार की छोटी-सी चारदीवारी के भीतर भी आप व्यापक नहीं बन पाए हैं, तो वह विश्वव्यापी परमात्मतत्त्व आप में कैसे जागृत होगा ? अपने सुख को माता-पिता और भाई-बहनों में भी आप नहीं बाँट सकते, तो समाज को बाँटने की बात कैसे सोची जा सकती है ?

विचार कीजिए—घर में आपका पुत्र पौत्रादि का परिवार है, आपका सहोदर भाई भी है, उसका भी परिवार है, पत्नी है, बाल-बच्चे हैं—लड़के-लड़कियाँ है। अब आपके मन में अपने लिए अलग बात है, अपने भाई के लिए अलग बात है। अपनी पत्नी के लिए आपकी मनोवृत्ति अलग ढंग की है और भाई की पत्नी के लिए अलग ढंग की। लड़के-लड़कियों के लिए भी एक भिन्न ही प्रकार की मनोवृत्ति काम कर रही है। इस प्रकार घर में एक परिवार होते हुए भी मन की सृष्टि में अलग-अलग टुकड़े हैं, सब के लिए अलग-अलग खाने हैं और अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। एक ही रक्त के परिवार में इन्सान जब इस प्रकार खण्ड-खण्ड होकर चलता है, क्षुद्र घेरे में बँट कर चलता है, तब उससे समाज और राष्ट्रिय-क्षेत्र में व्यापकता की क्या आशा की जा सकती है ?

मैं विचार करता हूँ, मनुष्य के मन में जो ईश्वर की खोज चल रही है, परमात्मा का अनुसन्धान हो रहा है, क्या वह सिर्फ एक धोखा है ? वंचना मात्र है ? क्या हजारों-लाखों मालाएँ जपने मात्र से ईश्वर के दर्शन हो जाएँगे ? व्रत और उपवास आदि का नाटक रचने से क्या परमात्म-तत्त्व जागृत हो जाएगा ? जब तक यह अलग-अलग सोचने का दृष्टिकोण नहीं मिटता, मन के ये खण्ड-खण्ड सम्पूर्ण मन के रूप में परिवर्तित नहीं होते, अपने समान ही दूसरों को समझने की वृत्ति जागृत नहीं होती, अपने चैतन्य देवता के समान ही दूसरे चैतन्य देवता का महत्त्व नहीं समझा जाता, अपने समान ही उसका सम्मान नहीं किया जाता और अपने प्राप्त सुख को इधर-उधर बाँटने का भाव नहीं जगता, तबतक आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता। जब आप सोचेंगे कि जो अभाव मुझे सता रहे हैं, वे ही अभाव दूसरों को भी पीड़ा देते हैं। जो सुख-सुविधाएँ मुझे अपेक्षित हैं, वे ही दूसरों को भी अपेक्षित हैं। अतः जो संवेदन, अनुभूति स्वयं के लिए की जाती है, उसी तीव्रता से जब वह दूसरों के लिए की जाएँगी, तब कहीं आप के अन्तर् में विश्वात्म-भाव प्रकट हो सकेगा।

विश्वात्मानुभूति :

इधर-उधर के दो-चार प्राणियों को बचा लेना या दो-चार घण्टा या कुछ-दिन अहिंसा व्रत का पालन कर लेना, अहिंसा और करुणा की मुख्य भूमिका नहीं है। विश्व-समाज के प्रति अहिंसा की भावना जब तक नहीं जगे, व्यक्ति-व्यक्ति में समानता और सह-जीवन के संस्कार जब तक नहीं जन्में, तब तक अहिंसक-समाज-रचना की बात केवल विचारों में ही रहेगी। समाज में अहिंसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपने-पराए के ये क्षुद्र घेरे, स्वार्थ और इच्छाओं के ये कलुषित-कठघरे तोड़ डालने होंगे। विश्व की प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख के साथ ऐक्यानुभूति का आदर्श, जीवन में लाना होगा। भारतीय-संस्कृति का यह स्वर सदा-सदा से गूंजता रहा है—

"अयं निजः परो वेत्ति गणना लघु-चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हृदय की गहराई से निकले हुए ये स्वर परमात्म-चेतना के व्यापक स्वर हैं। जहाँ परमात्मतत्त्व छिपा बैठा है, आत्मा के उसी निर्मल उत्स से वाणी का यह निर्झर फूटा है। यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार अपने और पराए के रूप में जो संसार के प्राणियों का बँटवारा करता चला जाता है, उसके मन की धारा बहुत सीमित है, क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्र मनोवृत्ति का मानव समाज के किसी भी क्षेत्र में अपना उचित दायित्व निभा सकेगा, अपने परिवार का दायित्व भी ठीक से वहन कर सकेगा, जो जिम्मेदारी कंधों पर आ गई है उसे ठीक तरह पूरी कर सकेगा—इसमें शंका है। कभी कोई अतिथि दरवाजे पर आए और वह उसका खुशी से स्वागत करने के लिए खड़ा हो जाए तथा आदर और प्रसन्नतापूर्वक अतिथि का उचित स्वागत करे—यह आशा उन मनुष्यों से नहीं की जा सकती, जो 'अपने-पराए' के दायरे में बँधे हुए हैं। किस समय उनकी क्या मनोवृत्ति रहती है, किस स्थिति में उनका कौन अपना होता है, और कौन पराया होता है—यह सिर्फ उनके तुच्छ स्वार्थों पर निर्भर रहता है, और कुछ नहीं।

इसके विपरीत जिनके मन के क्षुद्र घेरे हट गए हैं, जो स्वार्थों की कैद से छूट गए हैं, उनका मन विराट् रहता है। विश्व-मंगल और अभ्युदय की निर्मल धारा उनके हृदय में निरन्तर बहती रहती है। विश्व की आत्माओं के सुख-दुःख के साथ उनके सुख-दुःख बँधे रहते हैं। किसी प्राणी को तड़पते देखकर उनकी आत्मा द्रवित हो उठती है, फलस्वरूप किसी के दुःख को देखकर सहसा उसे दूर करने के लिए वे सक्रिय हो उठते हैं। उनका कभी कोई पराया होता ही नहीं। सभी अपने होते हैं। सब घर, अपने घर! सब समाज, अपना समाज! अपने परिवार के साथ उनका जो स्नेह-सौहार्द है, वही पड़ोस के साथ, वही मोहल्ले वालों के साथ और वही गाँव, प्रान्त और राष्ट्र के साथ। उनका यह व्यापक स्नेह और सौहार्द नितांत निश्छल एवं निर्मल होता है। उसमें वैयक्तिक स्वार्थ की कोई गन्ध नहीं होती। आज की तरह इनका प्रान्तीय स्नेह केवल राजनीतिक स्वार्थ साधने का हथियार नहीं होता है। आज सब ओर नारे लग रहे हैं, 'अपना प्रान्त अलग बनाओ, तभी उन्नति होगी।' वस्तुतः देखा जाए, तो इन तथाकथित नेताओं को प्रान्त की उन्नति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि स्वयं की उन्नति की चिन्ता है। प्रान्त का भला कुछ कर सकेंगे या नहीं, यह तो दूर की बात है, पर अपना भला तो कर ही लेंगे। जन-सेवा हो, या न हो, किन्तु अपने राम की तो अच्छी सेवा हो ही जाएगी। सेवा का मेवा मिल ही जाएगा। प्रान्त और देश में दूध-दही की नदी तो दूर, पानी की नहर या नाला भी बने या न बने, पर अपने घर में तो सम्पत्ति की गंगा आ ही जाएगी। आज के ये सब ऐसे स्वार्थ और क्षुद्र विचार हैं, जिनसे देश के खण्ड-खण्ड हो रहे हैं, मानवता के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। जातिवाद, प्रान्तवाद, सम्प्रदायवाद आदि कुछ ऐसी कैंचियाँ हैं, जिनसे इन्सानों के दिल काटे जाते हैं, मानवता के टुकड़े किए जाते हैं, और अपने पद प्रतिष्ठा, और सुख-ऐश्वर्य के प्रलोभन में मानव जाति का सर्वनाश किया जाता है। जो इन सब विकल्पों से परे मानव का 'शुद्ध मानव' के रूप में दर्शन करता है, उसे ही अपना परिवार एवं कुटुम्ब समझता है, वह व्यापक चेतना का स्वामी नर के रूप में नारायण का अवतार है।

कल्पना कीजिए, आप किसी रास्ते से गुजर रहे हैं। आपने वहाँ किसी बच्चे को देखा, जो घायल है, वेदना से कराह रहा है। आपका हृदय द्रवित हो गया और आपके हाथ ज्यों ही उसे उठाने को आगे बढ़ते हैं, आवाज आती है, यह तो 'चण्डाल' है, भंगी है और आप सहसा रुक गए। इसका क्या अर्थ हुआ? आप में अहिंसा और करुणा की एक क्षीण ज्योति जली तो थी, पर जातिवाद की हवा के एक हल्के-से झोंके से वह सहसा बुझ गई। आप करुणा को भूलकर जातिवाद के चक्कर में आ जाते हैं कि यह तो भंगी का लड़का है, भला इसे मैं कैसे छू सकता हूँ? चमार का लड़का है, कैसे उठाएँ? इस क्षुद्र भावना की गन्दी धारा में बह जाते हैं आप, जहाँ प्रेम का पवित्र जल नहीं, किन्तु जातिवाद का गन्दा पानी बहता है। आपके मन में ऐसे समय में यह भावना होनी चाहिए कि जो वेदना से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराह रहा है, वह आत्मा है। शरीर का जन्म चाहे जहाँ हुआ हो, चाहे जिस घर में हुआ हो, आत्मा का जन्म तो कहीं नहीं होता। आत्मा, तो आत्मा है। वह ब्राह्मण के यहाँ हो तो क्या, शूद्र के यहाँ हो तो क्या? हम तो आत्मा की सेवा करते हैं, शरीर की नहीं।

आत्मा की सेवा करनी है, तो फिर शरीर के सम्बन्ध में यह क्यों देखा जाता है कि यह भंगी का शरीर है, या चमार का? भंगी और चमार की दृष्टि यदि है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि आपने अब तक आत्मा को आत्मा के रूप में ठीक तरह देखा ही नहीं। आत्मा के नहीं, शरीर के ही दर्शन आप कर रहे हैं। बाहर में जो जाति-पाँति के झगड़े हैं, दायरे हैं, आप अभी तक उन्हीं में बन्द हैं। आत्मा न भंगी है, न चमार है, न स्त्री है, न पुरुष है और न काला है, न गोरा है। आत्मा-आत्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा में परमात्मा का वास है। वस्तुतः जो आत्मा है, वही परमात्मा है। ये उदात्त विचार, यह विशाल दृष्टिकोण जबतक आपके हृदय में जागृत नहीं होता, तबतक आप परमात्मतत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य परस्पर में भेद की दीवारें खड़ी कर देता है, अपने मन में इतने क्षुद्र घेरे बना लेता है, उसकी दृष्टि जातीयता के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है, तो वह अपने ही समान मानव जाति की सेवा और सहायता नहीं कर पाता।

भारतीय संस्कृति की विराट् भावनाएँ, उच्च अवधारणाएँ यहाँ तक पहुँची है कि यहाँ साँप को भी दूध पिलाया जाता है। संसार भर में भारत ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ पशु-पक्षियों के भी त्योहार मनाये जाते हैं। नाग पंचमी आई तो साँप को दूध पिलाया गया, गोपाष्टमी आई तो गाय और बछड़े की पूजा की गई। 'सीतला' (राजस्थान का त्योहार) आई तो बिचारे गर्दभराज को पूजा प्रतिष्ठा मिल गई। यहाँ की दया और करुणा का स्वर कितना मुखर है कि जो साँप दूध पीकर भी जहर उगलता है, मनुष्य को काटने के लिए तैयार रहता है, जो मनुष्य के प्राणों का शत्रु है, उसे भी दूध पिलाया जाता है, शत्रु को भी मित्र की तरह पूजा जाता है।

जहाँ पर दया और करुणा का, पवित्र मानवता का इतना उच्च विकास हुआ है, वहाँ मानव आज अपने ही स्वार्थों और इच्छाओं का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राणों से खेल रहा है। जबतक ये वासना और विकार के बंधन नहीं टूटते, स्वार्थ की बेड़ियाँ नहीं टूटतीं, तबतक मनुष्य अपने आप में कैद रहेगा। और अपने ही क्षुद्र घेरे में, पिंजड़े में बन्द पशु की तरह घूमता रहेगा। संसार का तो क्या भला करेगा वह, स्वयं अपना ही भला नहीं कर सकेगा।

जब तक मानव-मानव के मन में यह भावना गहराई में उतर न जाएगी कि—"हम सभी एक ही प्रभु की सन्तान हैं, सबके अन्दर एक ही प्रभु विराजित है, अतः हम सभी भाई-भाई हैं"—तबतक किसी बन्धुभाव-स्थापना की कल्पना करना मात्र कल्पना ही रहेगी। भेद-मुक्त सर्वतोमुखी व्यापक विचार-चेतना ही विश्व-बन्धुता का मूलाधार है। चिंतन एवं विचार की यही एक स्वस्थ, सही एवं सुगम पीठिका है, जहाँ मानव-मन के अन्दर 'वसुधैव कुटुम्बम्' की विराट् भावना का उदय हो सकता है। विश्व-कल्याण एवं विश्व-शान्ति की, विराट् कामना, तभी पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना और पराया क्या है?
अपने ही हैं सब कोई जन।
अस्तु सभी के हित में तत्पर,
रखो सर्वदा अपने तन-मन।।

भू-मण्डल पर मनुज-जाति का,
एक बृहत् परिवार बसा है।
धन्य वही नर जो सबसे मिल,
कमल-पुष्प-सा सदा हंसा है।।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३

विश्वकल्याण का चिरंतन-पथ : सेवा का पथ

संसार के सभी विचारकों ने मनुष्य को एक महान् शक्ति के रूप में देखा है। मानव की आत्मा महान् आत्मा है, अनन्त-अनन्त शक्तियों का स्रोत छिपा है उसमें। अणु से विराट् बनने का पराक्रम है उसके पास। भगवान् महावीर ने बताया है कि—मनुष्य का जीवन साधारण चीज नहीं है, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है विश्व की। संसार की समस्त योनियों में आत्मा भटकती-भटकती जब कुछ विशुद्ध होती है, अशुभ कर्मों का भार कुछ कम होता है, तब वह मनुष्य की योनि में आती है—

"जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं।"

कर्म के आवरण जब धीरे-धीरे हटते हैं, तो दिव्य प्रकाश फैलता है, जीवन की यात्रा कुछ आगे बढ़ती है। आत्मा पर लगा हुआ मैल ज्यों-ज्यों साफ होता है, त्यों-त्यों वह धीरे-धीरे विशुद्ध होती जाती है। अर्थात् जब कुछ प्रकाश फैलता है, कुछ शुद्धि प्राप्त होती है, तब आत्मा मनुष्य की योनि में जन्म धारण करती है। मानव जीवन की महत्ता का यह आध्यात्मिक पक्ष है।

सिर्फ जैन दर्शन ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष का प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय इस विचार पर एकमत है कि मानव जीवन पवित्रता के आधार पर चलता है। मानव की चेतना पवित्रता की जितनी उच्च भूमि पर पहुँची हुई होती है, उसका विकास उतना ही उत्कृष्ट होता है। उस पवित्रता को यदि हम कायम रख सके, तो हम मानव रह सकते हैं। यदि उसको उर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते हैं, तो मानव से महामानव और आत्मा से परमात्मा के पद तक पहुँच सकते हैं।

मानव, जीवन के एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ चारों ओर से आने वाले रास्ते मिलते हैं और चारों ओर जाने वाले भी। यदि वह बढ़ना चाहे, तो पवित्रता के पथ से उस ओर भी बढ़ सकता है, जिधर अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का अक्षय खजाना है, वह अपने जीवन को स्वच्छ एवं निर्मल बनाकर परम पवित्र बन सकता है, नर से नारायण बन सकता है, जन से जिन की भूमिका पर जा सकता है, अविद्या से मुक्त होकर बुद्ध का पद प्राप्त कर सकता है और आत्मा से परमात्मा की संज्ञा पा सकता है।

यदि वह इस पवित्रता के मार्ग से हटकर संसार के भौतिक मार्ग पर बढ़ चले, तो वहाँ पर भी अपार वैभव एवं ऐश्वर्य के द्वार खोल सकता है। प्रकृति के कण-कण को अपने सुख-भोग के लिए इस्तेमाल कर सकता है, उन पर नियन्त्रण कर सकता है, और जीवन की अभीष्ट सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर सकता है।

किन्तु, इसके विपरीत भी स्थिति हो सकती है। यदि मानव, विकास की ओर न बढ़ कर विनाश की ओर मुड़ जाता है, तो उसका भयंकर-से-भयंकर पतन भी हो सकता है। पशुयोनि एवं नरक जीवन की घोर यंत्रणाएँ भी उसे भोगनी पड़ सकती है। हर प्रकार से वह दीन, हीन, दुःखी और दलित हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे इस प्रसंग पर एक बात याद आ रही है। एक बार जोधपुर के राजा मानसिंहजी एक दिन अपने पर्वतीय किले की ऊँची बुर्ज पर बैठे थे, पास में राज-पुरोहित भी थे। दोनों दूर-दूर तक के दृश्य निहार रहे थे। राजा ने नीचे देखा, तो बहुत ही भयानक अन्ध-गर्त की तरह तलहटी दीखने लगी। राजा ने मजाक में पूछा—"पुरोहित जी! अगर मैं यहाँ से गिर जाऊँ तो मेरा धमाका कितनी दूर तक सुनाई देगा, और यदि आप गिर जाएँ, तो आपका धमाका कितनी दूर जाएगा!"

पुरोहित ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! भगवान् न करें, ऐसा कभी हो। किन्तु, बात यह है कि यदि मैं गिर जाऊँ, तो मेरा धमाका क्या होगा! ज्यादा-से-ज्यादा मेरी हवेली तक सुनाई देगा। बाल-बच्चे अनाथ हो जाएँगे बस, वहाँ तक ही रोना-चीखना और शोरगुल हो पाएगा, आगे कुछ नहीं। परन्तु, यदि आप गिर गए, तो उसका धमाका तो पूरे देश में सुनाई देगा। रियासत अनाथ हो जाएगी, देश भर में शोक और दुःख छा जाएगा।"

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है—मनुष्य जितनी ऊँचाई पर चढ़ता है, उसकी गिरावट उतनी ही भयंकर होती है। यदि ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है, तो परम पवित्र स्थिति में—जिसे हम मोक्ष कहते हैं, पहुँच जाता है। और, यदि गिरना शुरू होता है, तो गिरता-गिरता पतित-से-पतित दशा में पहुँच जाता है, घोरातिघोर सातवीं नरक तक भी चला जाता है।

मनुष्य का जीवन एक क्षुद्र कुआँ या तलैया नहीं है, वह एक महासागर की तरह विशाल और व्यापक है। मनुष्य समाज में अकेला नहीं है, परिवार उसके साथ है, समाज से उसका सम्बन्ध है, देश का वह एक नागरिक है, और इस पूरी मानव-सृष्टि एवं प्राणि-जगत् का वह एक सदस्य है। उसकी हलचल का, क्रिया-प्रतिक्रिया का असर सिर्फ उसके जीवन में ही नहीं, पूरी मानव जाति और समूचे प्राणिजगत् पर होता है। इसलिए उसका जीवन व्यष्टिगत नहीं, बल्कि समष्टिगत है।

जितने भी शास्त्र हैं—चाहे वे भगवान् महावीर के कहे हुए आगम हैं, या बुद्ध के कहे हुए पिटक हैं, या वेद-उपनिषद्, कुरान, बाईबिल हैं, आखिर वे किसके लिए हैं?

क्या पशु-पक्षियों को उपदेश सुनाने के लिए हैं? क्या कीड़े-मकोड़ों को सद्बोध देने के लिए हैं? नरक के जीवों के लिए भी नहीं हैं। नारक जीवों की कहाँ भूमिका है उपदेश पाने की? वे विचारे तो रात-दिन यातनाओं से तड़प रहे हैं, हाहाकार कर रहे हैं। और स्वर्ग के देवों के लिए भी तो उनका क्या उपयोग है? कहाँ है उन देवताओं को फुर्सत, और फुर्सत भी है, तो उपदेश सुनकर ग्रहण करने की योग्यता कहाँ है उनमें? रात-दिन भोग-विलास और ऐश्वर्य में डुबे रहने के कारण देवता भी अपने आप को इन्द्रियों की दासता से मुक्त नहीं कर सकते। तो, आखिर ये सब किसके लिए बने हैं। मनुष्य के लिए ही तो! मानव की आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिए ही तो, सब शास्त्रों ने वह ज्योति जलाई है, वह उद्घोष किया है, जिसे देख और सुनकर उस का सुप्त ईश्वरत्व जाग सके।

दुःख का कारण :

संसार में जितने भी कष्ट हैं, संकट और आपत्तियाँ हैं, उलझनें और संघर्ष हैं, उनकी गहराई में जा कर यदि हम ठीक-ठीक विश्लेषण करें, तो यही पता चलेगा कि जीवन में जो भी दुःख हैं वे पूर्णतः मानवीय हैं, मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लादे गए हैं। हमारे जो पारस्परिक संघर्ष हैं, उनके मूल में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ निहित होता है, जब स्वार्थ टकराता है, तो संघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लगती हैं। जब प्रलोभन या अहंकार पर चोट पड़ती है, तो वह फुंकार उठता है, परस्पर वैमनस्य और विद्वेष भड़क उठता है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति, एक समाज से दूसरा समाज, एक सम्प्रदाय से दूसरा सम्प्रदाय और एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र अपने स्वार्थ और अहंकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए परस्पर लड़ पड़ते हैं, एक-दूसरे के मार्ग में काँटे बिखेरते हैं, एक-दूसरे की प्रगति का रास्ता रोकने का प्रयत्न करते हैं और परिणामस्वरूप संघर्ष, आपत्तियाँ और विग्रह खड़े हो जाते हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तबाह हो जाते हैं। आप देखते हैं कि संसार में जो महायुद्ध हुए हैं, नर संहार हुए हैं, और अभी जो चल रहे हैं, वे प्राकृतिक हैं, या मानवीय? स्पष्ट है, प्रकृति ने उन युद्धों की आग नहीं सुलगाई है, अपितु मनुष्य ने ही वह आग लगाई है। मनुष्य की लगाई हुई आग में आज मनुष्य जाति नष्ट हो रही है, परेशान और संकटग्रस्त बन रही है।

अहिंसा-करुणा का जीवन में स्थान :

जैन-दर्शन कहता है, और हमारे पड़ोसी अन्य दर्शन भी कहते हैं कि जीवन में संघर्षों का मूल ढूँढ़ो! और, उसका निराकरण करो। जैसा कि हमने ऊपर विचार किया है, संघर्ष का मूल, हमें मिलता है—स्वार्थ और अहंकार में। किन्तु, मनुष्य का जीवन स्वार्थों और अहंकारों की दहकती आग पर नहीं चल सकता, बल्कि उसका विकास करुणा और अहिंसा की शीतल धरती पर ही हो सकता है।

अहिंसा की एक धारा करुणा भी है, जिसे हम समझने की भाषा में स्नेह तथा प्रेम भी कह सकते हैं। उसी के आधार पर मनुष्य का पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन टिका हुआ है। जीवन में पति-पत्नी एक भूमिका पर स्थित हुए हैं, एक-दूसरे के जीवन में सहयोगी बन कर चल रहे हैं, सुख-दुःख को परस्पर बाँट कर चल रहे हैं। इस प्रकार सेवा, समर्पण के आधार पर उनका जीवन-चक्र जो चल रहा है, उसके मूल में क्या है? हृदय की भावना-प्रधान रागात्मक करुणा। राग है, स्नेह है पर वह किसका परिणाम है? आखिर अहिंसा की सामाजिक-धारा ही तो उनके अन्तर्-जीवन में बह रही है। वही धारा तो उन्हें एक-दूसरे के दायित्वरूप भार को वहन करने में सक्षम बना रही है। माता-पुत्र के जो सम्बन्ध हैं, बहन-भाई के जो बन्धन हैं, वे आखिर क्या हैं? कोई आकस्मिक तो नहीं हैं, संयोग मात्र तो नहीं हैं? वस्तुतः जीवन में संयोग जैसी कोई बात ही नहीं होती है, जो होता है, उसका बीज संस्काररूप में बहुत पुराना, जन्म-जन्मान्तर से चला आता है। ये जो सम्बन्ध हैं, परस्पर राग के सम्बन्ध हैं, स्नेह के सम्बन्ध हैं, किन्तु उनमें जो त्याग और बलिदान की भावना चल रही है, सहिष्णुता और समर्पण के जो बीज हैं, कोमलता और करुणा का जो भाव है, वह एक तात्त्विक वृत्ति है, अहिंसा की ही एक भावना है, भले ही वह राग का आधार लेकर फूटी हो, स्नेह का सहारा पाकर विकसित हुई हो, कोई अंतर नहीं। इसलिए जीवन के जो भी सम्बन्ध हैं, वे सब रागात्मक करुणा के आधार पर ही चल सकते हैं। एक-दूसरे से सापेक्ष, एक-दूसरे के हितों से चिन्तित, यही तो मनुष्य का सामाजिक स्वरूप है।

वैराग्य का सही मार्ग :

यह जो कहा जाता है कि सब बन्धन तोड़ डालो, सब सम्बन्ध झूठे हैं, स्वार्थ के हैं, इसमें कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु वह सत्य जीवन का निर्माणकारी अंग नहीं है। वैराग्य की यह उथली भावना जीवन को जोड़ती नहीं है, अपितु उसको टुकड़े-टुकड़े करके रख देती है। इस भावना ने संसार का लाभ उतना नहीं किया, जितना कि ह्रास किया है। वैराग्य तो चाहिए, पर कैसा वैराग्य? यह वैराग्य नहीं कि कौन किसका है? कोई मरे, तो हमें क्या। संसार तो जन्म-मरण का ही नाम है, हम किस-किस की फिकर करें? यह वैराग्य, मुर्दा वैराग्य है। मानव को मुर्दा वैराग्य नहीं, जीवित वैराग्य चाहिए, जीवन में विश्वास और आस्था पैदा करने वाला वैराग्य चाहिए। धन, संपत्ति नश्वर है, तो फिर उसका उपयोग किसी दीन-दुःखी का दर्द मिटाने के लिए किया जाए! जीवन क्षणिक है, तो उसे किसी की सेवा के लिए अर्पण कर दिया जाए। हमारे वैराग्य में यह मोड़ आए, तब तो वह जीवनदायी है, अन्यथा नहीं। मैं तो यह कहता हूँ कि जीवन में जबतक वैराग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अंकुर नहीं फूटेंगे, तब-तक मनुष्य अपने बहुमूल्य साधन एवं जीवन को किसी के लिए अर्पित करे भी, तो कैसे करेगा? अपना प्रेम कैसे लुटाएगा? बिना वैराग्य के त्याग और बलिदान की भावना नहीं जगेगी, और उसके बिना मनुष्य में उदारता का भाव कैसे पैदा होगा? जबतक हमें अपने जीवन का मोह है, वैयक्तिक सुख-भोग की लालसा है, तबतक हम अपने जीवन को, अपनी सुख-सुविधाओं को किसी दूसरे जीवन के लिए, धर्म और समाज के लिए, देश और राष्ट्र के लिए बलिदान करने को तैयार नहीं हो सकते।

शास्त्र में कहा है—जो व्यक्ति और कुछ भी तत्त्वज्ञान नहीं जानता, विशेष सत्कर्म भी नहीं करता, किन्तु सिर्फ माँ-बाप की सेवा करता है, निष्ठा और भक्तिपूर्वक उनके सुखों के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देता है, तो उस सेवा के प्रभाव से ही उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। इसी प्रकार पति-पत्नी यदि जीवन में कृतज्ञता की भावना से चलते हैं, तो वे भी जीवन-विकास के उच्च आरोहण में अग्रसर होते हैं, अपने ध्येय की ओर गतिशील होते हैं।

जीवन में यह जो सामाजिक सेवा और समर्पण की स्वर्ण-मुद्रा है, यदि साधना के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य नहीं होता, तो फिर उससे स्वर्ग के द्वार खुलने की बात क्यों कही जाती? यदि वह पाप ही है, तो उससे नरक के द्वार खुलते, स्वर्ग के नहीं। जब प्राचीन ऋषि-मुनियों ने उस सेवा को कुछ महत्त्व दिया है, तो उसका आधार वैराग्य और करुणा ही हो सकता है, स्वार्थ या अहंकार नहीं। माना कि वह एक रागात्मक भूमिका है, पर इतने मात्र से क्या वह पाप हो गया? उस राग के साथ यदि त्याग और उदारता का भाव नहीं जगा होता, तो मनुष्य किसी अभाव-ग्रस्त दूसरे व्यक्ति के लिए अपने आपको, अपने सुखों को निछावर करने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता।

सेवा : तप से भी महान्:

चिन्तन की गहराई में उतरने पर आप जान सकते हैं कि जीवन के जितने भी पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध हैं, वे सब मानवीय हृदय के आधार पर टिके हुए हैं, करुणा और स्नेह के बल पर वे चलते हैं। उनमें उदारता और सहिष्णुता का भाव भरा रहता है। उक्त सम्बन्धों पर यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करें, तो राग का प्रश्न भी हल हो सकता है। सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों में जो रागात्मक अंश है, यदि उसे निकाल दें, स्वार्थ का जितना भाव है, उसे त्याग दें, और जो भी सत्प्रयत्न एवं सत्कर्म किया जाए, वह मात्र निष्काम भाव से किया जाए, किसी भी प्रकार के स्वार्थ या प्रतिफल की आकांक्षा के बिना केवल कर्तव्य के नाते किया जाए, तो वह सत्कर्म हमारे जीवन के बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति के द्वार भी खोल सकता है। यह वह स्थिति है, जहाँ जीवन की आध्यात्मिक पवित्रता के सम्पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

जीवन में यदि वैयक्तिक स्वार्थों के द्वन्द्व से मुक्त होकर एक भी सद्गुण को निष्ठापूर्वक विकसित किया जाए, तो वह भी मनुष्य को महान् बना देता है। और, जहाँ अनेक सद्गुण जीवन में विकास पाते हैं, जीवन के मलों को धो कर उसे परम पवित्र बनाते हैं, वहाँ तो मुक्ति के द्वार, अनन्त सुख के द्वार, मनुष्य के सामने स्वतः ही खुल जाते हैं।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जीवन में जो रागात्मक अंश है, उसे समाप्त करने का अर्थ इतना ही है कि हम अपने स्वार्थ या लाभ की कामना से दूर हट कर निष्काम भाव से कर्म करें। किन्तु, फिर भी उसमें मानवीय सहज स्नेह का निर्मल अंश तो रहता ही है। यदि यह स्नेह न हो, तो मानव, मानव ही नहीं रहता, पशु से भी निकृष्ट बन जाता। यह स्नेह ही मानव को परस्पर सहयोग, समर्पण और सेवा के उच्चतम आदर्श की ओर प्रेरित करता है। व्यक्तिगत जीवन से समष्टिगत जीवन की व्यापक महानता की ओर अग्रसर करता है।

जैन-साधना में व्यक्तिगत जीवन की साधना से भी अधिक महत्त्व सामाजिक साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का है। सामाजिक साधना से मेरा मतलब है—निष्काम भाव से जन-सेवा। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि—एक व्यक्ति तप करता है, कठोर एवं लम्बे तप के द्वारा अपने को तपा रहा है। इसी बीच कहीं अन्यत्र आवश्यकता हुई सेवा करने की, तो वह अब क्या करे? प्राथमिकता किसे दी जाए, सेवा को या तप को? यदि वह इतना समर्थ है कि किसी वृद्ध या रोगी आदि की सेवा करता हुआ भी अपना तप चालू रख सकता हो, तब तो तप भी चालू रखे और सेवा भी करे। और यदि दोनों काम एक साथ चालू रखने में समर्थ न हो, तो फिर तप छोड़ कर सेवा करे। उपवास आदि तप को गौण किया जा सकता है, परन्तु सेवा को गौण नहीं किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि उपवास, जो कि हमारा आध्यात्मिक प्राण है, यदि उसे तोड़ते हैं, तो पाप लगना चाहिए? इसके उत्तर में आचार्य जिनदास, आचार्य सिद्धसेन आदि, जिनका कि चिन्तन जितना गहरा था, उतना ही उन्मुक्त भी था, जो सत्य उन्होंने समझ लिया, उसे व्यक्त करने में कभी आगा-पीछा नहीं किया, वे कहते हैं कि उपवास करने से जितनी शुद्धि और पवित्रता होती है, उससे भी अधिक शुद्धि-पवित्रता सेवा में होती है। उपवास तुम्हारी व्यक्तिगत साधना है, उसका लाभ सिर्फ तुम्हारे तक ही सीमित है, परन्तु सेवा एक विराट् साधना है। सेवा दूसरों के जीवन को भी प्रभावित करती है। जिस व्यक्ति की जीवन-नौका सेवा के बिना डगमगा रही है, विचलित हो रही है, जिसकी भावना चंचल हो रही है, धर्म-साधना गड़बड़ा रही है, सेवा उसे सहारा देती है, साधना में स्थिर बनाती है। इस प्रकार एक बुझता हुआ दीपक फिर से जगमगा उठता है, सेवा का स्नेह पाकर। दीप-से-दीप जलाने का यह पवित्र कार्य सेवा के माध्यम से ही बन पड़ता है। एक आत्मा को जागृत करना और उसमें आनन्द की लौ जगा देना, कितनी उच्च साधना है, और यह साधना सेवा के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसलिए जो आनन्द और पवित्रता सेवा के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है, वह तप के द्वारा नहीं। जब तप करने के लिए तैयार हो तो पहले साधक को यह देखना है कि किसी को मेरी सेवा की तो आवश्यकता नहीं? वह तप की प्रतिज्ञा करते समय भी मन में यह संकल्प रखता है कि यदि मेरी सेवा की कहीं आवश्यकता हुई तो मैं तप को बीच में छोड़कर सेवा को प्राथमिकता दूँगा। सेवा मेरा पहला धर्म होगा।

सेवा : सच्ची आराधना है :

जैन-धर्म ने जीवनोपयोगी इन्हीं सूक्ष्म बातों पर विचार किया है और गम्भीर विचार के बाद यह उपदेश दिया है कि सेवा उपवास आदि तप से भी बढ़कर महान् धर्म है, प्रमुख कर्तव्य है। भगवान् महावीर ने कहा है—उपवास आदि बहिरंग तप है, और सेवा अन्तरंग तप है। बहिरंग से अन्तरंग श्रेष्ठ है, बन्धन मुक्ति का साक्षात् हेतु अन्तरंग है, बहिरंग नहीं।

सेवा के सम्बन्ध में एक बहुत गम्भीर प्रश्न जैन-शास्त्रों में उठाया गया है। गणधर गौतम एक बार भगवान् महावीर से पूछते हैं—"प्रभु एक व्यक्ति आपकी सेवा करता है, आपका ही भजन करता है, उसकी साधना के प्रत्येक मोड़ पर आपका ही रूप खड़ा है, आपकी सेवा, दर्शन, भजन, ध्यान के सिवा उसे जन-सेवा आदि अन्य किसी भी कार्य के लिए अवकाश ही नहीं मिलता है।

दूसरा, एक साधक वह है, जो दीन-दुखियों की सेवा में लगा है, रोगी और वृद्धों की संभाल करने में ही जुटा है, वह आपकी सेवा-स्मरण और पूजन के लिए अवकाश तक नहीं पाता, रात-दिन जब देखो, बस उसके सामने एक ही काम है—जन-सेवा! तो प्रभु! इन दोनों में कौन धन्य है? कौन धन्यवादार्ह है?

महाप्रभु ने कहा—"गौतम! जो वृद्ध, रोगी और पीड़ितों की सेवा करता है, मैं उसे ही धन्यवाद का पात्र मानता हूँ।"[१]

---

१. जे गिलाणं पडियरई से धन्ने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौतम का मन अचकचाया, इस सत्य को कैसे स्वीकार करे? पूछा—"प्रभु! यह कैसे हो सकता है, कहाँ आप जैसे महान् धर्मावतार की सेवा, दर्शन और स्मरण? और कहाँ वह संसार का दुःखी, दीन-हीन प्राणी, जो अपने कृत-कर्मों का फल भोग रहा है? फिर आपकी सेवा से बढ़कर उसकी सेवा महान् कैसे हो सकती है? वह धन्य किस दृष्टि से है?"

भगवान् ने उक्त प्रतिप्रश्न का जो प्रत्युत्तर दिया, वह इतिहास के पृष्ठों पर आज भी महान् ज्योति की तरह जगमगा रहा है। उन्होंने कहा—"गौतम! समझते हो, भगवान् की उपासना क्या चीज है? भगवान् की देह की पूजा करना, देह के दर्शन करना मात्र उपासना नहीं है। सच्ची उपासना है, उनके आदेश एवं उपदेश का पालन करना।"[1] भगवान् की आज्ञा की आराधना करना ही भगवान् की आराधना है। उनके सद्गुणों को, सेवा, करुणा और सहिष्णुता के आदर्शों को जीवन में उतारना, यही सबसे बड़ी सेवा है। आत्माएँ सब समान हैं। जैसा चैतन्य एक दीन-दुःखी में है, वैसा ही चैतन्य मुझ में है। प्रत्येक चैतन्य दुःख-दर्द में घबराता है, सुख चाहता है, इसलिए उस चैतन्य को सुख पहुँचाना, आनन्द और प्रकाश की लौ जगाकर उसे प्रफुल्लित कर देना, यही मेरा उपदेश है। इस उपदेश का, जो भी पालन करता है, वह मेरी ही उपासना करता है, अतः वही धन्यवाद का योग्य पात्र है।

किन्तु, आज जब मानव के व्यावहारिक जीवन पर दृष्टिपात् करता हूँ, तो कुछ और ही पाता हूँ। वहाँ भगवान् के उक्त उपदेश का विपरीत प्रतिफलन ही देखा जा रहा है। मैं पूछता हूँ, भगवान् के नाम पर बाहरी ऐश्वर्य का अम्बार तो आपने लगा दिया, भगवान् को चारों ओर सोने से मढ़ दिया है। कहना चाहिए, एक तरह से सोने के नीचे दबा दिया है। मन्दिरों के कलशों पर सोना चमक रहा है। पर, कभी यह भी देखा है आपने कि यह आपके अन्तर्मन के कलश का सोना, काला पड़ रहा है या चमक रहा है, मन दरिद्र बना हुआ है या ऐश्वर्यशाली है? यह आडम्बर किसके लिए है? भगवान् की पूजा और महिमा के लिए या अपनी पूजा-महिमा के लिए? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह सब अपने अहंकार को तृप्त करने के ही साधन बन रहे हैं। व्यक्ति के अपने अहंकार-पोषण हो रहे हैं, इन आडम्बरों के द्वारा और इतना ही नहीं, दूसरों के अहं को ललकारने के माध्यम भी बनते हैं, ये मर्यादाहीन प्रदर्शन!

एक ओर तो हम कहते हैं—**"अप्पा सो परमप्पा"** आत्मा ही परमात्मा है। **"यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"** जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। ईश्वर का, भगवान् का प्रतिबिम्ब प्रत्येक आत्मा में पड़ रहा है। हमारे धर्म एक ओर प्रत्येक प्राणी में भगवान् का रूप देखने की बात करते हैं। परन्तु दूसरी ओर अन्य प्राणी की बात तो छोड़ दीजिए, सृष्टि का महान् प्राणी—मनुष्य जो हमारा ही जाति-भाई है, वह भूख से तड़प रहा है। चैतन्य भगवान् छटपटा रहा है और हम मूर्ति के भगवान् पर दूध और मिश्री-मक्खन का भोग लगा रहे हैं, मेवा-मिष्टान्न चढ़ा रहे हैं। यह मैं पूर्वाग्रहवश किसी विशेष पूजा-पद्धति एवं परम्परा की आलोचना नहीं कर रहा हूँ। किसी पर आक्षेप करना न मेरी प्रकृति है और न मेरा सिद्धान्त। मैं तो साधक के अन्तर में विवेक जागृत करना चाहता हूँ और चाहता हूँ, उसे अतिरेक से बचाना। कभी-कभी भक्ति का विवेक शून्य अतिरेक भक्ति-सिद्धान्त की मूल भावना को ही नष्ट कर डालता है और इस प्रकार की उपासना कभी-कभी एक बिडम्बना मात्र बन कर रह जाती है।

भारतीय चिन्तन सदा से यह पुकार रहा है कि भक्त ही भगवान् है। भगवान् की विराट् चेतना का छोटा संस्करण ही भक्त है। बिन्दु और सिन्धु का अन्तर है। बिन्दु बिन्दु है जरूर, पर उसमें सिन्धु समाया हुआ है। यदि बिन्दु ही नहीं है, तो फिर सिन्धु

---

१. आणाराहणं दंसणं खु जिणाणं
—उत्तराध्ययन, अ. २, कमल संयमी वृत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ से आएगा ? सिन्धु की पूजा करने का मतलब है, पहले बिन्दु की पूजा की जाए ! माला फेरने या जप करने मात्र से उसकी पूजा नहीं हो जाती, बल्कि बिन्दु में जो उसकी विराट् चेतना का प्रतिबिम्ब है, उसकी पूजा-सेवा करने से ही उसकी (प्रभु की) पूजा-सेवा हो सकती है। अतः भगवान् को मन्दिरों में ही नहीं, अपने अन्दर में भी देखना है। जीवन में देखना है, जन-जीवन में देखना है, जनार्दन की सेवा को जन-सेवा में बदलना है।

देश में आज कहीं दुर्भिक्ष की स्थिति चल रही है, दुष्काल की काली घटा छाई हुई दीख रही है, कहीं बाढ़ और तूफान उफन रहे हैं, तो कहीं महँगाई आसमान छू रही है। पर सच बात तो यह है कि अन्न की महँगाई उतनी नहीं बढ़ी है, जितनी महँगाई सद्-भावनाओं की हो गई है। आज सद्भाव, प्रेम और सेवा-भाव महँगा हो रहा है। एक-दूसरे की हितचिंता महँगी हो रही है। इन्हीं चीजों का दुष्काल अधिक हो रहा है। स्वार्थ, अहंकार आज खुल कर खेल रहे हैं। और जीवन में, परिवार में, समाज और देश में नित नए संकट के शूल बिछाए जा रहे हैं। मैंने जो आपको पहले बताया है कि यह मानव जीवन सुखों की महानतम ऊँचाई पर भी पहुँच सकता है, और दुःखों के गहन गर्त में भी जाकर गिर सकता है। उसके सुख-दुःख स्वयं उसी पर निर्भर हैं। जब वह अपने अन्तर में से स्वार्थ और अहंकार को बाहर निकालकर अपने अंदर सेवा की भावना भरकर कार्य करना आरम्भ कर देता है, तब निश्चय ही विश्वकल्याण का पावन पथ प्रशस्त हो सकता है। और, यही आज के संघर्षरत एवं समस्याग्रस्त विश्व-कल्याण का सहज-सुलभ मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org